श्रीवर्द्धमानाय नमः ।

जैनहितैषी ।

अक्टूबर १९१९ ।

विषय-सूची ।

आवश्यकता ।

१ हमें कुछ महीनोंकेलिये एक ऐसे कनड़ी भाषा जाननेवाले विद्वानकी आवश्यकता है जिसकी दूसरी भाषा हिन्दी, संस्कृत अथवा अंग्रेजी हो और जो इन भाषाओंमेंसे किसी भाषामें कनड़ी भाषाका अभिप्राय प्रकट कर सकता हो । वेतन योग्यतानुसार दिया जायगा । जो महाशय आना चाहें उन्हें, अपनी योग्यता आदिका परिचय देते हुए, हमसे शीघ्र हिन्दी आदिमें पत्रव्यवहार करना चाहिये ।

२ सम्पादक जैनहितैषीको एक सुयोग्य हिन्दी और संस्कृत जाननेवाले क्लार्ककी जरूरत है । वेतन योग्यतानुसार दिया जायगा । जो भाई आना चाहें उन्हें, अपनी योग्यता आदिका परिचय देते हुए, सम्पादक 'जैनहितैषी' सरसावा जि० सहारनपुरके पतेपर पत्रव्यवहार करना चाहिये ।

सम्पादक ।

सम्पादक, बाबू जुगलकिशोर मुख्तार ।

मुंबई वैभव प्रेस-

प्रार्थनायें ।

१ जैनहितैषी किसी स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर निजी लाभके लिए नहीं निकाला जाता है । इसके लिए जो समय, शक्ति और धनका व्यय किया जाता है वह केवल निष्पक्ष और ऊँचे विचारोंके प्रचारके लिए । अतः इसकी उन्नतिमें हमारे प्रत्येक पाठकको सहायता देनी चाहिए ।

२ जिन महाशयोंको इसका कोई लेख अच्छा मालूम हो उन्हें चाहिए कि उस लेखको वे जितने मित्रोंको पढ़कर सुना सकें अवश्य सुना दिया करें ।

३ यदि कोई लेख अच्छा न मालूम हो अथवा विरुद्ध मालूम हो तो केवल उसीके कारण लेखक या सम्पादकसे द्वेष भाव धारण न करनेके लिए सविनय निवेदन है ।

४ लेख भेजनेके लिए सभी सम्प्रदायके लेखकोंको आमंत्रण है । —सम्पादक ।

नियमावली ।

१ जैनहितैषीका वार्षिक मूल्य २) दो रुपया पेशगी है ।

२ ग्राहक वर्षके आरंभसे किये जाते हैं और बीचमें ७ वें अंकसे । आधे वर्षका मूल्य १।)

३ प्रत्येक अंकका मूल्य तीन आने ।

४ लेख, बदलेके पत्र, समालोचनार्थ पुस्तकें आदि "**बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा (सहारनपुर)**" के पास भेजना चाहिए । सिर्फ प्रबन्ध और मूल्य आदि सम्बन्धी पत्रव्यवहार इस पतेसे किया जाय:—

मैनेजर, **जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो० गिरगांव, बम्बई ।

ग्राहकोंको आवश्यक सूचनायें ।

१ दो वर्ष पहले जैनहितैषीके जो सज्जन ग्राहक थे, उन सब सज्जनोंको यह अंक भेजा जाता है । जो महाशय इस अंकको रख लेंगे और हमें किसी प्रकारकी सूचना नहीं देंगे, उनका नाम इस वर्षके ग्राहकोंमें लिख लिया जायगा और आगामी तीसरा या चौथा अंक वी० पी० से भेज दिया जायगा ।

२ जो महाशय ग्राहक न रहना चाहें उन्हें इस अंकके पहुँचते ही एक कार्डसे सूचित कर देना चाहिए, या इसी अंकको वापस कर देना चाहिए ।

३ जिन महाशयोंके पते ठिकाने बदल गये हों, उन्हें नये पतोंकी सूचना दे देनी चाहिए ।

४ जिन सज्जनोंको हितैषीसे प्रेम हो, उन्हें इसी समय एक एक दो दो नये ग्राहक बनानेका प्रयत्न करनेकी कृपा करनी चाहिए, जिससे आगेके अंक यथेष्ट संख्यामें छपाये जा सकें ।

५ वी० पी० के द्वारा रुपये वसूल करनेमें बड़ी झंझटें हैं, इसलिए जो महाशय मनीआर्डर द्वारा रुपये भेज देनेकी कृपा करेंगे, वे हमपर बड़ा उपकार करेंगे । इसमें हमें भी सुभीता होगा, और ग्राहकोंको भी । अकसर वी० पी० का रुपया हमें बहुत देरसे मिलता है और तब तक हम ग्राहकोंको नया अंक नहीं भेज सकते हैं । —मैनेजर

नये जैनग्रन्थ ।

१ **उत्तरपुराण** । आचार्य गुणभद्रकृत मूल और पं० लालारामजीकृत भाषानुवादसहित । मू० १०)

२ **त्रैलोक्यसार** । मूल और पं० टोडरमलजीकृत भाषावचनिका सहित । मू० ५)

३ **क्रियाकोश** । पं० दौलतरामजीकृत छन्दोबद्ध ग्रन्थ । मू० २॥)

४ **समयसार** । आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीका, तात्पर्यवृत्ति और भाषाटीकासहित । निर्णयसागरका छपा हुआ। मूल्य ४॥)

५ **तीस चौबीसीपाठ** । कविवर वृन्दावनजीकृत । मू० २)

६ **जैनसिद्धान्तप्रवेशिका** । स्वर्गीय पं० गोपालदासजी कृत । मू० ।≈)

मैनेजर, **जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई

विनामूल्य ।

निम्नलिखित पुस्तकें सम्पादक 'जैनहितैषी' के पाससे विना मूल्य मिलती हैं । जिन भाइयोंको जिस पुस्तककी आवश्यकता हो उन्हें डाक खर्चके लिये आधआनेका टिकट भेजकर उसे सरसावा जि० सहारनपुरसे मँगा लेना चाहिये । १ विवाहका उद्देश्य, २ अनित्य भावना, ३ मेरी भावना ।

हितं मनोहारि च दुर्लभः वचः ।

चौदहवाँ भाग । अंक १

जैनहितैषी ।

अक्टूबर १९१९ कार्तिक २४४६

न हो पक्षपाती बतावे सुमार्ग, डरे ना किसीसे कहे सत्यवाणी ।
बने है विनोदी भले आशयोंसे, सभी जैनियोंका हितैषी हितैषी ॥

प्रारंभिक निवेदन ।

फरवरी सन् १९१८ में मैंने जैनहितैषीके कार्यसे छुट्टी ली थी । उस समय यह नहीं सोचा था कि 'हितैषी' को बिलकुल बन्द रखना पड़ेगा । मुझे आशा थी कि मेरे मित्र बाबू जुगलकिशोरजी—जो कि जैनहितैषीके प्रधान लेखक हैं और जैनहितैषीको सदासे ही प्रेमकी दृष्टिसे देखते हैं—इस कार्यको स्वीकार कर लेगें । परन्तु 'यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति ।' उसी समय एकाएक उक्त बाबू साहबकी गृहिणी अपनी कुछ ही दिनोंकी दुग्धपोष्य कन्याको छोड़कर स्वर्गवासिनी हो गई । यह एक बड़ी भारी विपत्ति थी, इससे बाबू साहबका हृदय टूट गया और वे उस समय जैनहितैषीकी सेवा करनेके लिए तैयार न हो सके ।

धीरे धीरे एक वर्ष भी बीत गया । मेरा कर्तव्य था कि फरवरी १९१९ के लगभग मैं अपने कार्यको यथापूर्व करने लगता । परन्तु उस एक वर्षके विश्रामने भी न तो मुझे यथेष्ट मानसिक स्वास्थ्य प्रदान किया और न शारीरिक । बल्कि शारीरिक स्वास्थ्य तो और भी बिगड़ता गया और अन्तमें गत अप्रैलमें एकाएक मेरा पुराना वायुरोग उठ खड़ा हुआ । इसके विकट आक्रमणने प्राणोंका संशय उपस्थित कर दिया और कोई चार महीने तक खाटसे भी न उठने दिया ।

इस समय मैं उक्त रोगसे मुक्त हो गया हूँ; परन्तु वह अपनी जगहपर एक और प्रतिनिधि—उदररोग—छोड़ गया है । तीन महीनेसे इसका उपाय हो रहा है; परन्तु अभी तक कुछ भी लाभ नहीं हुआ है और यही कारण है जो आज पौने दो वर्षके लगभग बीत जानेपर भी मैं हितैषीकी सेवा करनेके लिए तैयार नहीं हूँ ।

परन्तु 'हितैषी' का बन्द रहना अब असह्य हो गया है । इस समय उसकी आवश्यकता

और भी अधिक स्पष्टरूपसे प्रतीत होने लगी है। हितैषीके प्रेमी और शुभचिन्तक पाठक भी उसके अदर्शनसे व्याकुल हैं। उनके आग्रह और उलहनोंसे भरे हुए पत्र इस बातके निदर्शन हैं कि हितैषीको वे हृदयसे चाहते हैं और उसे जैन-समाजके कल्याणका एक प्रधान अंग समझते हैं।

अतः अब मैंने उचित समझा कि एक बार फिर बाबू जुगलकिशोरजीसे प्रार्थना की जाय। पाठक यह जान कर प्रसन्न होंगे कि बाबू साहबने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली है और अब वे ही आपके इस प्रेमपात्र पत्रका आनरेरी तौर-पर सम्पादन किया करेंगे।

बाबू जुगलकिशोरजी जैनसमाजके सुपरिचित लेखक हैं। वे कई वर्षतक बड़ी योग्यताके साथ 'जैनगजटका' का सम्पादन कर चुके हैं। उनके सम्पादकत्वमें 'जैनगजट' चमक उठा था। जैनहितैषीमें भी पिछले कई वर्षोंसे आप बराबर लिखते रहे हैं। इस कारण हमारे पाठक आपकी योग्यतासे भली भाँति परिचित हैं। आप बड़े ही विचारशील लेखक हैं। आपकी कलमसे कोई कच्ची बात नहीं निकलती। जो लिखते हैं, वह सप्रमाण और सुनिश्चित। आपका अध्ययन और अध्यवसाय बहुत बढ़ा चढ़ा है। गत पाँच वर्षोंसे आपने 'मुख्तारी' का कार्य छोड़ दिया है। निःस्वार्थ भावसे निरन्तर अध्ययन और मनन ही इस समय आपका नित्यका व्यवसाय है। जैनहितैषीका सौभाग्य है कि वह ऐसे सुयोग्य सम्पादकके हाथमें जा रहा है। आपके सम्पादकत्वमें वह अवश्य ही उन्नति करेगा और अपनी पूर्वसम्पादित कीर्तिको और भी वर्द्धित करता रहेगा।

यहाँ मैं अपने प्यारे पाठकोंकी जानकारीके लिए यह भी निवेदन कर देना उचित समझता हूँ कि जैनहितैषीसे मैं अपना सम्बन्ध बिल्कुल ही नहीं छोड़ रहा हूँ। अपने जीतेजी मैं इसे छोड़ भी नहीं सकता। छोड़नेकी कल्पनामात्रसे मुझे दुःख होता है। मैं आपको शब्दोंद्वारा नहीं समझा सकता कि 'हितैषी' मेरी कितनी प्यारी चीज है। मैंने अपने सारे विश्रामको, अवकाशको, सुखको और सर्वस्वको लगाकर इसका लालन-पालन किया है। इसके एक एक पृष्ठमें मेरी जीवनी शक्तिके अंश लगे हुए हैं। अतः इस अस्वस्थावस्थामें भी मुझसे इसकी जो कुछ सेवा बन सकेगी, करता ही रहूँगा। प्रत्येक अंकमें कमसे कम एक लेख तो अवश्य ही लिखनेका प्रयत्न करूँगा।

इसके प्रबन्धका और घाटे आदिका सब भार यथापूर्व जैन-ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालयके ऊपर ही रहेगा। इस विषयमें ग्राहकोंको उसीसे पत्रव्यवहार करना चाहिए। लेख, समालोचनार्थ पुस्तकें और बदलेके पत्र आदि 'बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार, सम्पादक जैनहितैषी, पो० सरसावा (सहारनपुर)" के ठिकानपर भेजने चाहिए।

इस बार पत्रका मूल्य तीन रुपयेके स्थानमें दो रुपया कर दिया गया है और पृष्ठसंख्या फिलहाल ३२ रहेगी।

अन्तमें हम अपने प्रेमी पाठकोंसे यह आशा रखते हुए इस निवेदनको समाप्त करते हैं कि वे इस पर पूर्वके समान ही स्नेहदृष्टि रक्खेंगे और इसकी ग्राहकसंख्या बढ़ानेमें तथा इसके विचारोंके प्रचारमें अधिकाधिक प्रयत्नशील रहेंगे। यह बात हमारे किसी भी हितैषीको न भूल जानी चाहिए कि जैनहितैषीके लिए जो कुछ श्रम, समय और धन लगाया जाता है, वह किसी स्वार्थसाधनाके लिए नहीं, किन्तु अच्छे और ऊँचे विचारोंके प्रचारके लिए तथा जैनधर्मका वास्तविक स्वरूप जनसाधारणके समक्ष उपस्थित करनेके लिए ही लगाया जाता है और हमारा यह प्रयत्न ग्राहकों और पाठकोंकी सहायता सहयोगितासे ही सफल हो सकता है।

कार्तिक वदी २
सं० १९७६ } **नाथूराम प्रेमी।**

वैधव्य और विधवाविवाह।

देशभक्त महात्मा गाँधीने नवजीवनके छठे अंकमें 'विधवानो बलापो' नामका एक छोटासा परन्तु महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया है। इस लेखसे पाठक जान सकेंगे कि आर्य सभ्यताको सम्मानकी दृष्टिसे देखने और माननेवाले विचारशील पुरुषोंके वैधव्य और विधवाविवाहके सम्बन्धमें क्या विचार हैं।

सूरतकी ११ बालविधवाओंने—जो वणिक जातिकी हैं और वैष्णवधर्मको मानती हैं—अभी हाल ही महात्मा गाँधीजीके पास दो प्रार्थनापत्र भेजे हैं; उन्हींको लक्ष्य करके महात्माजीने अपने विचार प्रकट किये हैं।

इन ग्यारह विधवाओंमेंसे तीन पढ़ी लिखी हैं—और शेष अक्षरशून्य हैं। जातिमें ये बड़ी बुरी नजरसे देखी जाती हैं; 'भक्षिणी' कह लाती है, और अधम पुरुषोंके आश्रयमें रहती हैं। सूरतमें बणिकोंकी ४१ जातियाँ हैं और उनमें बालविधवाओंकी संख्या ७०० के लगभग है! धर्म क्या चीज हैं, यह उनमेंसे कोई भी नहीं जानता। दुखिनी विधवायें लिखती हैं:—"हम विधवा-धर्मको समझती हैं; परन्तु इस धर्मकी रक्षा की जा सके हमें ऐसे साधन उपलब्ध नहीं हैं। हमें किसी आश्रममें रखकर अच्छी शिक्षा दी जाय और सेवाधर्म सिखलाया जाय तो हम अपने धर्मकी रक्षा करनेके लिए तैयार हैं। पर यदि ऐसा न हो तो हमारे सामने इतने अधिक प्रलोभन रहते हैं कि हमको पति-संगकी आवश्यकता है। ××× जिस समय ज्ञानमार्ग मन्द पड़ा था, उस समय वल्लभाचार्यने भक्तिमार्गका प्रचार किया था। देशकालके अनुसार रूढ़ियोंमें फेरफार होते हैं, तदनुसार ही हमारे—विधवाओंके—विषयमें भी होना चाहिए।" इसी प्रकारकी और भी अनेक बातें लिखी हैं। पर सारांश सब बातोंका ऊपरके वाक्योंमें आ चुका है।

अब इस पर महात्माजीका जो कुछ वक्तव्य है, उसे और सुन लीजिए—

"विधवाओंका प्रश्न हिन्दुओंके लिए कोई छोटा मोटा प्रश्न नहीं है। शायद ही कोई ऐसा हिन्दू कुटुम्ब हो जिसके सिरपर विधवाओंकी जवाबदारी न हो। सुधारकोंने इस प्रश्नका एकदेशीय उत्तर दे दिया है। उनका कथन है कि बस पुनर्विवाह कर देना ही विधवाओंके दुःख दूर कर देनेका उपाय है। परन्तु मुझे यह विचार बहुत भयंकर जान पड़ता है। वैधव्यके भीतर मुझे कोई बड़ा रहस्य छुपा दिखलाई देता है। वैधव्यका उपयोग भी बहुत बड़ा है। यदि पुरुष भी एक स्त्रीके मर जानेपर पुनर्विवाहका विचार न करते, तो बहुत अच्छा होता। परन्तु इस प्रकारका आन्दोलन कहीं भी, थोड़ासा भी, होता नजर नहीं आता। पर ऐसे विचारसे अथवा इस विचारके अमलमें आ जानेसे भी बालविधवाओंके विलाप कैसे बन्द हो जायँगे? हजारों पुरुष भी यदि स्त्रियोंके मर जानेपर स्वेच्छापूर्वक पुनर्विवाह न करें तो इससे जिन्हें बलात्कारपूर्वक वैधव्य भोगना पड़ता है, उन बेचारी विधवाओंको क्या लाभ होगा? उनके लिए आप कौनसा मार्ग बतलाते हैं? विधवाको पुनर्विवाह करनेसे हठपूर्वक रोकना, क्या यह कोई धर्म है? विधवाओंको ऐसी स्थितिमें पहुँचाये बिना जिसमें कि वे अपने वैधव्यको शोभित कर सकें, क्या उनसे पवित्रताकी आशा रक्खी जा सकती है?

इन सब समस्याओंकी मीमांसा शीघ्र नहीं हो सकती। प्रत्येक पक्षमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य है। परन्तु मैं वादविवादके मैदानमें न आकर नीचे लिखे हुए निर्णय हिन्दू संसारके समक्ष रख देना चाहता हूँ:—

१ वैधव्यको भंग करनेका प्रयत्न धर्मको हानि पहुँचानेवाला है।

२ विवाह धार्मिकक्रिया है। प्रेम एक ही बार विवाह कर सकता है।

३ विधवा पूज्य है। उसका तिरस्कार करना पाप है। पवित्र विधवाका दर्शन शुभ शकुन है। उसे अपशकुन गिनना पाप है।

४ यदि विवाह धार्मिकक्रिया है और वह केवल पवित्र प्रेमका चिह्न गिना जाता है, तो बेजोड़ विवाहको और बालविवाहको पाप ही समझना चाहिए। यदि पचास वर्षकी उम्रमें नौ वर्षकी किसी लड़कीको ब्याहनेमें कोई रुकावट न हो और ऐसे ब्याह करनेवालेको जातिसे बाहर न किया जाता हो, तो उसी लड़कीको, विधवा हो जाने पर पुनर्विवाह करनेसे रोकना अथवा पुनर्विवाह कर लेनेसे उसे जातिच्युत करना या और किसी रीतिसे दण्डित करना, यह भी पाप ही गिना जायगा।

धर्मके पालनमें बलात्कारको अवकाश ही नहीं है। अतः सूरतकी बालविधवाओंके विषयमें वैष्णवोंको और दूसरे हिन्दू कुटुम्बोंको मैं तो यही सम्मति देता हूँ कि तुम कोई ऐसी तजवीज सोचो और उसे अमलमें लाओ जिससे कि विधवाओंका मन और शरीर अच्छे कामोंसे लगा रहे। ऐसा करनेपर भी जो सर्वथा बालविधवायें हैं, उन्हें विवाहके लिए न ललचाना यह जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक यह भी है कि यदि उन्हें विवाह करना हो तो उनके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न किया जाय। **वैधव्य (विधवाका ब्रह्मचर्य) पालना यह पुण्यकर्म है, परन्तु विधवा-विवाह सर्वथा पापकर्म तो कभी नहीं हो सकता।** यदि हमारी जातियाँ वर्णाश्रम धर्मको शोभित करना चाहती हों, उसको लोप न होने देना चाहती हों तो उन्हें अपनेमें प्रचलित हुई, अनेक कुव्यवस्थाओंको—कुरीतियोंको दूर करना पड़ेगा और अपनेमें उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक प्रश्नका निर्णय धार्मिकदृष्टिसे करना होगा। मैं विधवाओंसे कहता हूँ कि तुम अपने वैधव्यको पवित्र मानकर उसको सुशोभित करती रहो। हिन्दू-संसारमें ऐसे अनेक उदाहरण पड़े हैं। साथ ही जातियोंसे कहता हूँ कि यदि बालविधवायें पुनर्विवाह करना चाहें तो न उनका तिरस्कार करो और न उन्हें जातिसे बाहर करो।”

आशा है कि हमारे समाजके विद्वान् महात्मा गाँधीके विचारों पर शान्तिपूर्वक विचार करनेकी कृपा करेंगे। —नाथूराम प्रेमी।

महावीरकी वाणी।

(सोहनी।)

अखिल-जग-तारनको जल-यान।
प्रकटी, वीर, तुम्हारी वाणी,
जगमें सुधा समान॥ १॥

अनेकान्तमय, स्यात्पद-लांछित,
नीति-न्यायकी खान।
सब कुवादका मूल नाश कर,
फैलाती सत ज्ञान॥ २॥

नित्य-अनित्य-अनेक-एक-
इत्यादिक वादि महान।
नतमस्तक हो जाते संमुख,
छोड़ सकल अभिमान॥ ३॥

जीव-अजीवतत्त्व निर्णयकर,
करती संशय-हान।
साम्यभावरस चखते हैं जो,
करते इसका पान॥ ४॥

ऊँच, नीच औ लघु-सुदीर्घका,
भेद न कर भगवान।
सबके हितकी चिन्ता करती,
सब पर दृष्टि समान॥ ५॥

अन्धी श्रद्धाका विरोध कर,
हरती सब अज्ञान।
युक्ति-वादका पाठ पढ़ाकर,
कर देती सज्ञान॥ ६॥

ईश न जगकर्ता, फलदाता,
स्वयं सृष्टि-निर्माण।
निज उत्थान-पतन निज करमें,
करती यों सुविधान॥ ७॥

हृदय बनाती उच्च, सिखाकर,
धर्म सुदया-प्रधान।
जो नित समझ आदरें इसको,
वे ‘युग-वीर’ महान॥ ८॥

जैनाचार्योंका शासन-भेद ।

कुछ समय हुआ जब हमने 'जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद' नामका एक लेख लिखा था, जो अगस्त सन् १९१६ के जैनहितैषीमें प्रकाशित हुआ है । इस लेखमें श्रीवट्टकेराचार्यप्रणीत 'मूलाचार' ग्रंथके आधारपर यह प्रदर्शित और सिद्ध किया गया था कि, **समस्त जैन तीर्थंकरोंका शासन एक ही प्रकारका नहीं रहा है। बल्कि समयकी आवश्यकतानुसार—लोकस्थितिको देखते हुए—उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन जरूर होता रहा है** । और इस लिये जिन लोगोंका ऐसा खयाल है कि जैन तीर्थंकरोंके उपदेशमें रंचमात्र भी भेद या परिवर्तन नहीं होता—जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुखसे खिरती है वही, जँची तुली, दूसरे तीर्थंकरके मुँहसे निकलती है, उसमें जरा भी फेरफार नहीं होता—यह खयाल निर्मूल जान पड़ता है । साथ ही, मूलगुण उत्तर गुणोंकी प्ररूपणाके कुछ रहस्यका दिग्दर्शन कराते हुए, यह भी बतलाया था कि **सर्व समयोंके मूल गुण कभी एक प्रकारके नहीं हो सकते**। किसी समयके शिष्य संक्षेपप्रिय होते हैं और किसी समयके विस्तार रुचिवाले । कभी लोगोंमें ऋजु जडताका अधिक संचार होता है, कभी वक्र जडताका और कभी इन दोनोंसे अतीत अवस्था होती है । किसी समयके मनुष्य स्थिरचित्त, दृढबुद्धि और बलवान् होते हैं और किसी समयके चलचित्त, विस्मरणशील और निर्बल । कभी लोकमें मूढ़ता बढ़ती है और कभी उसका ह्रास होता है । इस लिये **जिस समय जैसी जैसी प्रकृति और योग्यताके शिष्योंकी—उपदेशपात्रोंकी—बहुलता होती है, उस समय उस वक्तकी जनताको लक्ष्य करके तीर्थंकरोंका उसके उपयोगी वैसा ही उपदेश तथा वैसा ही व्रतनियमादिकका विधान होता है**। उसीके अनुसार मूलगुणोंमें भी हेरफेर हुआ करता है ।

आज हम अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीके पश्चात् होनेवाले जैनाचार्योंके परस्पर शासन-भेदको दिखलाना चाहते हैं । यह परस्परका शासनभेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही संप्रदायोंमें पाया जाता है । अतः हम, इस लेखमें, दिगम्बराचार्योंके शासन-भेदको प्रकट करते हुए श्वेताम्बराचार्योंके शासनभेदको भी यथाशक्ति दिखलानेकी चेष्टा करेंगे । इस शासन-भेदको प्रदर्शित करनेमें हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि **जैनियोंको वस्तु-स्थितिका यथार्थ परिज्ञान हो जाय,** वे अपने वर्तमान आगमकी वास्तविक स्थिति और उसके यथार्थ स्वरूपको भले प्रकार समझने लगें और इस तरहसे प्रबुद्ध होकर अपना वास्तविक हितसाधन करनेमें समर्थ हो सकें । साथ ही, भेद-विषयोंके सामने आनेपर विद्वानोंद्वारा उनके कारणोंका गहरा अनुसंधान हो सके और फिर इस अनुसंधान-द्वारा तत्तत्कालीन सामाजिक तथा देशिक परिस्थितियोंका बहुत कुछ पता चलकर ऐतिहासिक क्षेत्रपर एक अच्छा प्रकाश पड़ सके । हमारे जैनी भाई, आमतौरपर, अभीतक यह समझे हुए हैं कि हिन्दू धर्मके आचार्योंमें ही परस्पर मत-भेद था । इसीसे उनके श्रुति-स्मृति आदि ग्रंथ विभिन्न पाये जाते हैं । जैनाचार्य इस मतभेदसे रहित थे । **उन्होंने जो कुछ कहा है वह सब सर्वज्ञोदित अथवा महावीर भगवानकी दिव्यध्वनि द्वारा उपदेशित ही कहा है** । और इस लिये, उन सबका एक ही शासन और एक ही मत था । परन्तु

४ यदि विवाह धार्मिकक्रिया है और वह केवल पवित्र प्रेमका चिह्न गिना जाता है, तो बेजोड़ विवाहको और बालविवाहको पाप ही समझना चाहिए। यदि पचास वर्षकी उम्रमें नौ वर्षकी किसी लड़कीको ब्याहनेमें कोई रुकावट न हो और ऐसे ब्याह करनेवालेको जातिसे बाहर न किया जाता हो, तो उसी लड़कीको, विधवा हो जाने पर पुनर्विवाह करनेसे रोकना अथवा पुनर्विवाह कर लेनेसे उसे जातिच्युत करना या और किसी रीतिसे दण्डित करना, यह भी पाप ही गिना जायगा।

धर्मके पालनमें बलात्कारको अवकाश ही नहीं है। अतः सूरतकी बालविधवाओंके विषयमें वैष्णवोंको और दूसरे हिन्दू कुटुम्बोंको मैं तो यही सम्मति देता हूँ कि तुम कोई ऐसी तजवीज सोचो और उसे अमलमें लाओ जिससे कि विधवाओंका मन और शरीर अच्छे कामोंसे लगा रहे। ऐसा करनेपर भी जो सर्वथा बालविधवायें हैं, उन्हें विवाहके लिए न ललचाना यह जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक यह भी है कि यदि उन्हें विवाह करना हो तो उनके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न किया जाय। **वैधव्य (विधवाका ब्रह्मचर्य) पालना यह पुण्यकर्म है, परन्तु विधवा-विवाह सर्वथा पापकर्म तो कभी नहीं हो सकता।** यदि हमारी जातियाँ वर्णाश्रम धर्मको शोभित करना चाहती हों, उसको लोप न होने देना चाहती हों तो उन्हें अपनेमें प्रचलित हुई, अनेक कुव्यवस्थाओंको—कुरीतियोंको दूर करना पड़ेगा और अपनेमें उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक प्रश्नका निर्णय धार्मिकदृष्टिसे करना होगा। मैं विधवाओंसे कहता हूँ कि तुम अपने वैधव्यको पवित्र मानकर उसको सुशोभित करती रहो। हिन्दू-संसारमें ऐसे अनेक उदाहरण पड़े हैं। साथ ही जातियोंसे कहता हूँ कि यदि बालविधवायें पुनर्विवाह करना चाहें तो न उनका तिरस्कार करो और न उन्हें जातिसे बाहर करो।"

आशा है कि हमारे समाजके विद्वान् महात्मा गाँधीके विचारों पर शान्तिपूर्वक विचार करनेकी कृपा करेंगे। —नाथूराम प्रेमी।

महावीरकी वाणी।

(सोहनी।)

अखिल-जग-तारनको जल-यान।
प्रकटी, वीर, तुम्हारी वाणी,
जगमें सुधा समान॥ १॥

अनेकान्तमय, स्यात्पद-लांछित,
नीति-न्यायकी खान।
सब कुवादका मूल नाश कर,
फैलाती सत ज्ञान॥ २॥

नित्य-अनित्य-अनेक-एक-
इत्यादिक वादि महान।
नतमस्तक हो जाते संमुख,
छोड़ सकल अभिमान॥ ३॥

जीव-अजीवतत्त्व निर्णयकर,
करती संशय-हान।
साम्यभावरस चखते हैं जो,
करते इसका पान॥ ४॥

ऊँच, नीच औ लघु-सुदीर्घका,
भेद न कर भगवान।
सबके हितकी चिन्ता करती,
सब पर दृष्टि समान॥ ५॥

अन्धी श्रद्धाका विरोध कर,
हरती सब अज्ञान।
युक्ति-वादका पाठ पढ़ाकर,
कर देती सज्ञान॥ ६॥

ईश न जगकर्ता, फलदाता,
स्वयं सृष्टि-निर्माण।
निज उत्थान-पतन निज करमें,
करती यों सुविधान॥ ७॥

हृदय बनाती उच्च, सिखाकर,
धर्म सुदया-प्रधान।
जो नित समझ आदरें इसको,
वे 'युग-वीर' महान॥ ८॥

जैनाचार्योंका शासन-भेद ।

कुछ समय हुआ जब हमने 'जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद' नामका एक लेख लिखा था, जो अगस्त सन् १९१६ के जैनहितैषीमें प्रकाशित हुआ है। इस लेखमें श्रीवट्टकेराचार्यप्रणीत 'मूलाचार' ग्रंथके आधारपर यह प्रदर्शित और सिद्ध किया गया था कि, **समस्त जैन तीर्थंकरोंका शासन एक ही प्रकारका नहीं रहा है। बल्कि समयकी आवश्यकतानुसार—लोक स्थितिको देखते हुए—उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन जरूर होता रहा है**। और इस लिये जिन लोगोंका ऐसा खयाल है कि जैन तीर्थंकरोंके उपदेशमें रंचमात्र भी भेद या परिवर्तन नहीं होता—जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुखसे खिरती है वही, जँची तुली, दूसरे तीर्थंकरके मुँहसे निकलती है, उसमें जरा भी फेरफार नहीं होता—यह खयाल निर्मूल जान पड़ता है। साथ ही, मूलगुण उत्तर गुणोंकी प्ररूपणाके कुछ रहस्यका दिग्दर्शन कराते हुए, यह भी बतलाया था कि **सर्व समयोंके मूल गुण कभी एक प्रकारके नहीं हो सकते**। किसी समयके शिष्य संक्षेपप्रिय होते हैं और किसी समयके विस्तार रुचिवाले। कभी लोगोंमें ऋजु जडताका अधिक संचार होता है, कभी वक्र जडताका और कभी इन दोनोंसे अतीत अवस्था होती है। किसी समयके मनुष्य स्थिरचित्त, दृढबुद्धि और बलवान् होते हैं और किसी समयके चलचित्त, विस्मरणशील और निर्बल। कभी लोकमें मूढ़ता बढ़ती है और कभी उसका ह्रास होता है। इस लिये **जिस समय जैसी जैसी प्रकृति और योग्यताके शिष्योंकी—उपदेशपात्रोंकी—बहुलता होती है, उस समय उस वक्तकी जनताको लक्ष्य करके तीर्थंकरोंका उसके उपयोगी वैसा ही उपदेश तथा वैसा ही व्रतनियमादिकका विधान होता है**। उसीके अनुसार मूलगुणोंमें भी हेरफेर हुआ करता है।

आज हम अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीके पश्चात् होनेवाले जैनाचार्योंके परस्पर शासन-भेदको दिखलाना चाहते हैं। यह परस्परका शासनभेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही संप्रदायोंमें पाया जाता है। अतः हम, इस लेखमें, दिगम्बराचार्योंके शासन-भेदको प्रकट करते हुए श्वेताम्बराचार्योंके शासनभेदको भी यथाशक्ति दिखलानेकी चेष्टा करेंगे। इस शासन-भेदको प्रदर्शित करनेमें हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि **जैनियोंको वस्तु-स्थितिका यथार्थ परिज्ञान हो जाय,** वे अपने वर्तमान आगमकी वास्तविक स्थिति और उसके यथार्थ स्वरूपको भले प्रकार समझने लगें और इस तरहसे प्रबुद्ध होकर अपना वास्तविक हितसाधन करनेमें समर्थ हो सकें। साथ ही, भेद-विषयोंके सामने आनेपर विद्वानोंद्वारा उनके कारणोंका गहरा अनुसंधान हो सके और फिर इस अनुसंधान-द्वारा तत्तत्कालीन सामाजिक तथा देशिक परिस्थितियोंका बहुत कुछ पता चलकर ऐतिहासिक क्षेत्रपर एक अच्छा प्रकाश पड़ सके। हमारे जैनी भाई, आमतौरपर, अभीतक यह समझे हुए हैं कि हिन्दू धर्मके आचार्योंमें ही परस्पर मत-भेद था। इसीसे उनके श्रुति-स्मृति आदि ग्रंथ विभिन्न पाये जाते हैं। जैनाचार्य इस मतभेदसे रहित थे। **उन्होंने जो कुछ कहा है वह सब सर्वज्ञोदित अथवा महावीर भगवानकी दिव्यध्वनि द्वारा उपदेशित ही कहा है**। और इस लिये, उन सबका एक ही शासन और एक ही मत था। परन्तु

यह सब समझना उनकी भूल है। जैनाचार्योंमें भी बराबर मत-भेद होता आया है। यह दूसरी बात है कि उसकी मात्रा, अपेक्षाकृत, कुछ कम रही हो, परन्तु मतभेद रहा जरूर है। मत-भेदका होना सर्वथा ही कोई बुरी बात भी नहीं है जिसे घृणाकी दृष्टिसे देखा जाय। सदुद्देश्य और सदाशयको लिये हुए मत-भेद बहुत ही उन्नतिजनक होता है और उसे धर्म तथा समाजकी जीवनी शक्ति और प्रगतिशीलताका द्योतक समझना चाहिये। जब, थोड़े ही काल × बाद, महावीर भगवानको श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकरके शासनसे अपने शासनमें, समयानुसार, कुछ विभिन्नताएँ करनी पड़ीं; जैसा कि श्री मूलाचार ग्रंथसे प्रकट है, तब दोढाई हजार वर्षके इस लम्बे चौड़े समयके भीतर, देश—कालकी आवश्यकताओं आदिके अनुसार, यदि जैनाचार्योंके शासनमें परस्पर कुछ भेद होगया है—वीर भगवानके शासनसे भी उनके शासनमें कुछ विभिन्नता आगई है—तो इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात अथवा अप्राकृतिकता नहीं है। जैनाचार्य देश-कालकी परिस्थितियोंके शासनसे बाहर नहीं हो सकते। * इन्हीं सब बातोंपर प्रकाश डालनेके लिये यह जैनाचार्योंके शासन-भेदको प्रदर्शित करनेका प्रयत्न किया जाता है।

यहाँपर हम इतना और भी प्रकट कर देना जरूरी समझते हैं कि जैनतीर्थंकरोंके विभिन्न शासनमें परस्पर उद्देश्यभेद नहीं होता। समस्त जैनतीर्थंकरोंका वही मुख्यतया एक उद्देश्य **'आत्मासे कर्ममलको दूर करके उसे शुद्ध, सुखी, निर्दोष और स्वाधीन बनाना'** होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि संसारी जीवोंको संसार-रोग दूर करनेके मार्ग पर लगाना ही जैनतीर्थंकरोंके जीवनका प्रधान उद्देश्य होता है। एक रोगको दूर करनेके लिये जिस प्रकार अनेक ओषधियाँ होती हैं और वे अनेक प्रकारसे व्यवहारमें लाई जाती हैं; रोगशान्तिके लिये उनमेंसे जिस वक्त जिस जिस ओषधिको जिस जिस विधिसे देनेकी जरूरत होती है वह उस वक्त उसी विधिसे दी जाती है—इसमें न कुछ विरोध होता है और न कुछ बाधा ही आती है, उसी प्रकार संसाररोग या कर्मरोगको दूरकरनेके भी अनेक साधन और उपाय होते हैं और जिनका अनेक प्रकारसे प्रयोग किया जाता है; उनमेंसे तीर्थंकर देव अपनी अपनी समयकी स्थितिके अनुसार जिस जिस उपायका जिस जिस रीतिसे प्रयोग करना उचित समझते हैं उसका उसी रीतिसे प्रयोग करते हैं। उनके इस प्रयोगमें किसी प्रकारका विरोध या बाधा उपस्थित होनेकी संभावना नहीं हो सकती। परन्तु जैनाचार्योंके सम्बन्धमें--उनके विभिन्न शासनके विषयमें--ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता; वह परस्पर विरुद्ध, बाधित और उद्देश्य-भेदको लिये हुए भी हो सकता है। क्योंकि जैनाचार्य तीर्थंकरों अथवा इतर केवल ज्ञानियोंके समान ज्ञानादिककी चरम सीमाको पहुँचे हुए नहीं होते। उनका ज्ञान परिमित, पराधीन और परिवर्तनशील होता है। अज्ञान और कषायका भी उनके उदय पाया जाता है। वे राग-द्वेषसे सर्वथा रहित नहीं होते। साथ ही, उन्हें आगमज्ञानकी जो कुछ प्राप्ति होती है वह सब गुरुपरम्परासे होती है। गुरुपरम्परामें केवलियोंके

× सिर्फ अढ़ाई सौ वर्षके बाद ही; क्योंकि पार्श्वनाथसे महावीरका अवतार इतने ही वर्षोंके बाद कहा जाता है। * इन्द्रनन्दिने अपने 'नीतिसार' ग्रंथमें, यह प्रकट करते हुए कि पंचम कालमें महावीर भगवानका शासन इस भरतक्षेत्रमें नानासंघोंसे आकुल (पीडित) हो गया है, खेदके साथ लिखा है कि 'विचित्राः कालशक्तयः' अर्थात्—कालकी शक्तियाँ बड़ी ही विचित्र हैं। उनका शासन सभी पर होता है; कोई उससे बच नहीं सकता।

पश्चात् जितने भी आचार्य हुए हैं वे सब क्षायोपशमिक ज्ञानके धारक हुए हैं—सबोंका बुद्धिवैभव समान नहीं था, उनके ज्ञानमें बहुत तरतमता पाई जाती थी—इस लिये वे सभी आगम ज्ञानको अपने मति-विभवानुरूप ही ग्रहण करते आए हैं। धारणाशक्ति और स्मृतिज्ञान भी सबोंका बराबर नहीं था, बल्कि उसमें उत्तरोत्तर कमीका उल्लेख पाया जाता है, इसलिए उन्होंने स्वकीय गुरुओंसे जो कुछ आगमज्ञान प्राप्त किया उसे ज्योंका त्योंही अपने शिष्यादिकोंके प्रति प्रतिपादन कर दिया, ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि, जो उपदेश अनेक अज्ञानवासित और कषायानुरंजित हृदयोंमेंसे होकर प्रतिकूल परिस्थितियोंकी कड़ी धूपमें बाहर आता है वह ज्योंका त्यों ही बना रहता है, उसमें भिन्न प्रकारके गंध-वर्णके संसर्गकी संभावना ही नहीं हो सकती, अथवा वह बाह्य परिस्थितियोंके तापसे उत्तप्त ही नहीं होता। ऐसी हालत होते हुए आचार्योंके शासनमें—उनके वर्तमान ग्रंथोंमें—यदि कहीं परस्पर विरोध, बाधा और असमीचीनताका भी दर्शन होता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है।

आश्चर्यकी बात तब होगी यदि कोई विद्वान् इस बातके कहनेका साहस करे कि संपूर्ण जैनाचार्योंने—जिनमें भट्टारक लोग भी शामिल हैं—जो कुछ भी, विरुद्धाविरुद्धरूपसे, कथन किया है वह सब महावीर भगवान्के द्वारा ही प्रतिपादित हुआ है। वास्तवमें महावीर भगवानके द्वारा इन सब विभिन्न मतोंका प्रतिपादन होना नहीं बनता। संभव है कि उन्होंने इनमेंसे किसी एक मतका प्रतिपादन किया हो, अथवा यह भी संभव है कि उन्हें इन विभिन्नमतोंमेंसे किसी भी मतके प्रतिपादन करनेकी जरूरत ही पैदा न हुई हो, और ये सब विभिन्न कल्पनाएँ आचार्योंके मस्तिष्कोंसे ही उत्पन्न हुई हों। कुछ भी हो, आचार्योंके मस्तकोंसे देशकालानुसार नवीन कल्पनाओंका उत्पन्न होना भी कोई बुरी बात नहीं है, यदि वे कल्पनाएँ जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंके विरुद्ध न हों। ऐसी कल्पनाएँ कभी कभी बहुत ही कार्यसाधक और उपयोगी सिद्ध होती हैं। परन्तु देखना यह है कि ऐसी विभिन्न कल्पनाओं अथवा विभिन्न शासनोंकी हालतमें हमारा क्या कर्तव्य है। हमारा कर्तव्य है कि हम साम्प्रदायिक मोह, व्यक्तिगत मोह तथा पक्षपातको छोड़कर अपनी बुद्धिसे उनकी जाँच करें और जाँच करने पर उनमेंसे जो कल्पना तथा मत हमें युक्ति-प्रमाणसे सिद्ध, जैनसिद्धान्तोंके अविरुद्ध और साथ ही समयानुसार उपयोगी प्रतीत हो उसको ग्रहण करें, **शेषका सादर परित्याग किया जाय**। यदि हमारी सदसद्विवेकवती बुद्धिमें, देशकालकी वर्त्तमान स्थितियोंके अनुसार, किसी ऐसी कल्पना तथा मतमें कुछ अविरुद्ध परिवर्तन करनेकी जरूरत हो तो **उसे उक्त परिवर्तनके साथ स्वीकार करें**। और यदि एकसे अधिक मत तथा कल्पनाएँ हमें युक्तियुक्त, अविरुद्ध और उपयोगी प्रतीत हों तो उनमेंसे चाहे जिसको ग्रहण करें और चाहे जिसपर आचरण करें। परन्तु इन सभी अवस्थाओंमें परित्यक्त, अपरिवर्तित और अनाचरित मत तथा कल्पनाके धारकोंके साथ हमें किसी प्रकारका द्वेष रखने या उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखनेकी जरूरत नहीं है। बन सके तो उन्हें प्रेमपूर्वक समझाना और यथार्थ वस्तुस्थितिका ज्ञान कराना चाहिये। व्यर्थके साम्प्रदायिक मोह, व्यक्तिगत मोह और पक्षपातके वशीभूत होकर वादविवादके झंडे खड़े करना, आपसमें बैर-विरोध बढ़ाना, एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखना और इस तरह पर अपनी सामाजिक तथा आत्मिक शक्तिको निर्बल बनाकर उन्नतिमें बाधक होना और साथ ही अनेक विपत्तियोंको जन्म देनेका कारण बनना कदापि ठीक नहीं है। ऐसे ही सदाशयोंको लेकर यह जैनाचार्योंके शासन-भेदको दिखलानेका यत्न किया जाता है:—

१—अष्टमूलगुण।

जैनधर्ममें जिस प्रकार मुनियोंके लिये मूलगुणों और उत्तरगुणोंका विधान किया गया है उसी तरहपर श्रावकों—जैनगृहस्थोंके लिये भी मूलोत्तरगुणोंका विधान पाया जाता है। मूलगुणोंसे अभिप्राय उन व्रतनियमादिकसे है जिनका अनुष्ठान सबसे पहले किया जाता है और जिनके अनुष्ठान पर ही उत्तरगुणोंका अथवा दूसरे व्रतनियमादिकका अनुष्ठान अवलम्बित होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जिसप्रकार मूलके होते ही वृक्षके शाखा, पत्र, पुष्प और फलादिकका उद्भव हो सकता है उसी प्रकार मूलगुणोंका आचरण होते ही उत्तरगुणोंका आचरण यथेष्ट बन सकता है। श्रावकोंके लिये वे मूलगुण आठ रक्खे गये हैं; परंतु इन आठ मूलगुणोंके प्रतिपादन करनेमें आचार्योंके परस्पर मत-भेद है। उसी मत-भेदको यहाँपर, सबसे पहले, दिखलाया जाता है:—

१ श्रीसमन्तभद्राचार्य, अपने 'रत्नकरंडश्रावकाचार'में, इन गुणोंका प्रतिपादन इस प्रकारसे करते हैं—

" मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥

अर्थात्—मद्य, मांस और मधुके त्याग सहित पंच अणुव्रतोंके पालनको श्रमणोत्तम गृहस्थोंके अष्ट मूलगुण कहते हैं। पंच अणुव्रतोंसे अभिप्राय स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह नामके पंच पापोंसे विरक्त होनेका है। इन व्रतोंके कथनके अनन्तर ही आचार्य महोदयने उक्त पद्य दिया है।

२ 'आदिपुराण'के प्रणेता श्रीजिनसेनाचार्य समन्तभद्रके इस उपर्युक्त कथनमें कुछ परिवर्तन करते हैं। अर्थात्, वे 'मधुत्याग' को मूलगुणोंमें न मानकर उसके स्थानमें 'द्यूत-त्याग' को एक जुदा मूलगुण बतलाते हैं और शेष गुणोंका, समन्तभद्रके समान ही, ज्योंका त्यों प्रतिपादन करते हैं। यथा:—

" हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः॥

नहीं मालूम जिनसेनाचार्यने 'मधुत्याग' को मूलगुणोंसे निकाल कर उसके स्थानमें 'द्यूत-त्याग' को क्यों प्रविष्ट किया है। संभव है कि दक्षिण देशकी, जहाँ आचार्य महाराजका निवास था, उस समय ऐसी ही परिस्थिति हो जिसके कारण उन्हें ऐसा करनेके लिये बाध्य होना पड़ा हो—वहाँ द्यूतका अधिक प्रचार हो और उससे जनताकी हानि देखकर ही ऐसा नियम बनानेकी जरूरत पड़ी हो—अथवा सातों व्यसनोंका मूलगुणोंमें समावेश कर देनेकी इच्छासे ही यह परिवर्त्तन स्वीकार किया गया हो। और 'मधुविरति'को इस वजहसे निकालना पड़ा हो कि उसके रखनेसे फिर मूलगुणोंकी प्रसिद्ध 'अष्ट' संख्यामें बाधा आती थी। अथवा उसके निकालनेकी कोई दूसरी ही वजह हो। कुछ भी हो, दूसरे किसी भी प्रधानाचार्यने, जिसने अष्ट मूलगुणोंका प्रतिपादन किया है, 'मधुविरति' को मूलगुण माननेसे इनकार नहीं किया और न 'द्यूतविरति' को मूलगुणोंमें शामिल किया है।

३ 'यशस्तिलक' के कर्ता श्रीसोमदेवसूरि मद्य, मांस और मधुके त्यागरूप समन्तभद्रके तीन मूलगुणोंको तो स्वीकार करते हैं परंतु पंचाणुव्रतोंको मूलगुण नहीं मानते, उनके स्थानमें पंच

उदुम्बर फलोंके (प्लक्ष, न्यग्रोध, पिप्पलादि) के त्यागका विधान करते हैं और लिखते हैं कि आगममें गृहस्थोंके ये आठ मूलगुण कहे हैं । यथाः—

" मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपंचकैः ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥

'पंचाध्यायी' के कर्ता आचार्यमहोदयका भी यही मत है । और वे यहाँ तक लिखते हैं कि बिना इन आठ मूलगुणोंके नामका भी श्रावक नहीं होता । यथाः—

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचकः ।
नामतः श्रावकः क्षान्तो नान्यथापि तथा गृही ॥ २–७२६ ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपायके निर्माता श्रीअमृतचंद्रसूरि भी इसी मतके पोषक हैं । यद्यपि उन्होंने अपने ग्रंथमें, अहिंसा व्रतका वर्णन करते हुए इनका विधान किया है और इन्हें स्पष्टरूपसे 'मूल गुण' ऐसी संज्ञा नहीं दी है, तोभी 'हिंसाके त्यागकी इच्छा रखनेवालोंको पहले ही इन मद्य-मांसादिकको छोड़ना चाहिये,' 'इन आठ पापके ठिकानोंको त्याग कर ही शुद्धबुद्धिजन जिनधर्मकी देशनाके पात्र होते हैं;' इन वचनोंसे अष्ट मूलगुणका ही साफ़ आशय पाया जाता है । यथाः—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः ॥ ७४ ॥

उपर्युक्त तीनों ग्रंथोंके अवतरणोंसे यह बिलकुल स्पष्ट है कि इनके कर्ता आचार्योंने 'पंच अणुव्रतों' के स्थानमें 'पंच उदुम्बर फलोंके त्याग' का विधान किया है और इसलिये इन आचार्योंका शासन समन्तभद्र और जिनसेन दोनोंके शासनसे एकदम विभिन्न जान पड़ता है । कहाँ पंचाणुव्रत और कहाँ पंचोदुम्बर फलोंका त्याग ! दोनोंमें ज़मीन आसमानका सा अन्तर पाया जाता है । वस्तुतः विचार किया जाय तो पंच उदुम्बर फलोंका त्याग मांसके त्यागमें ही आ जाता है; क्योंकि इन फलोंमें चलते फिरते त्रसजीवोंका समूह साक्षात् भी दिखलाई देता है, इनके भक्षणसे मांसभक्षणका स्पष्ट दोष लगता है, इसीसे इनके भक्षणका निषेध किया जाता है । और इस लिये जो मांसभक्षणके त्यागी हैं वे प्रायः कभी इनका सेवन नहीं कर सकते । ऐसी हालतमें—मांस-त्याग नामका एक मूलगुण होते हुए भी—पंच उदुम्बर फलोंके त्यागको, जिनमें परस्पर ऐसा कोई विशेष भेद नहीं है, पाँच अलग अलग मूलगुण करार देना और साथ ही पंचाणुव्रतोंको मूलगुणोंसे निकाल डालना एक बड़ी ही विलक्षण बात मालूम होती है । इस प्रकारका परिवर्तन कोई साधारण परिवर्तन नहीं होता । यह परिवर्तन कुछ विशेष अर्थ रखता है । इसके द्वारा मूलगुणोंका विषय बहुत ही हलका किया गया है और इस तरहपर उन्हें अधिक व्यापक बनाकर उनके क्षेत्रकी सीमाको बढ़ाया गया है । बात असिलमें यह मालूम होती है कि मूल और उत्तर गुणोंका विधान व्रतियोंके वास्ते था । अहिंसादिक पंचव्रतोंका जो सर्वदेश (पूर्णतया) पालन करते हैं वे महाव्रती अथवा मुनि यति आदिक कहलाते हैं और जो उनका एकदेश (स्थूल रूपसे) पालन करते हैं उन्हें देश-

व्रती, श्रावक अथवा देशयति कहा जाता है। जब महाव्रतियोंके २९ मूलगुणोंमें अहिंसादिक पंच महाव्रतोंका वर्णन किया गया है तब देशव्रतियोंके मूलगुणोंमें पंचाणुव्रतोंका विधान होना स्वाभाविक ही है और इसलिये समन्तभद्रने पंच अणुव्रतोंको लिये हुए श्रावकोंके अष्टमूलगुणोंका जो प्रतिपादन किया है वह युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। परंतु बादमें ऐसा जान पड़ता है कि जैन गृहस्थोंको परस्परके इस व्यवहारमें कि 'आप श्रावक हैं,' और 'आप श्रावक नहीं हैं' कुछ भारी असमंजसता प्रतीत हुई है। और इस असमंजसताको दूर करनेके लिये अथवा देशकालकी परिस्थितियोंके अनुसार सभी जैनियोंको एक श्रावकीय झंडेके तले लाने आदिके लिये जैनाचार्योंको इस बातकी जरूरत पड़ी है कि मूलगुणोंमें कुछ फेरफार किया जाय और ऐसे मूलगुण स्थिर किये जायँ जो व्रतियों और अव्रतियों दोनोंके लिये साधारण हों। वे मूलगुण मद्य, मांस और मधुके त्यागरूप तीन हो सकते थे, परंतु चूँकि पहलेसे मूलगुणोंकी संख्या आठ रूढ़ थी, इस लिये उस संख्याको ज्योंका त्यों कायम रखनेके लिये उक्त तीनों मूलगुणोंमें पंचोदुम्बर फलोंके त्यागकी योजना की गई है और इस तरह पर इन सर्वसाधारण मूलगुणोंकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। ये मूलगुण व्रतियों और अव्रतियों दोनोंके लिये साधारण हैं, इसका स्पष्टीकरण पंचाध्यायीके निम्न पद्यसे भले प्रकार हो जाता है:—

"तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणां।
क्वचिदव्रतिनां साक्षात् सर्वसाधारणा इमे॥ २-७२३॥

परंतु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि समन्तभद्रद्वारा प्रतिपादित मूलगुणोंका व्यवहार अव्रतियोंके लिये नहीं हो सकता, वे व्रतियोंको ही लक्ष्य करके लिखे गये हैं, यही दोनोंमें परस्पर भेद है। अस्तु; इस प्रकार सर्व साधारण मूलगुणोंकी सृष्टि होनेपर यद्यपि इन गुणोंके धारक अव्रती भी श्रावकों तथा देशव्रतियोंमें परिगणित होते हैं—सोमदेवने, यशस्तिलकमें, उन्हें साफ तौरसे 'देशयति' लिखा है—तो भी वास्तवमें उन्हें नामके ही श्रावक (नामतः श्रावकः) अथवा देशयति समझना चाहिये, जैसा कि ऊपर उद्धृत किये हुए पंचाध्यायीके पद्य नं० ७२६ से प्रकट है। असिल श्रावक तो वही हैं जो पंच अणुव्रतोंका पालन करते हैं।

४ 'उपासकाचार' के कर्ता श्री**अमितगति** आचार्य सोमदेवादि आचार्योंके उपर्युक्त मूलगुणोंमें कुछ वृद्धि करते हैं। अर्थात्, वे 'रात्रिभोजन-त्याग' नामके एक गुणका, साथमें और विधान करते हैं। यथाः—

'मद्यमांसमधुरात्रिभोजन-क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतं॥ ५-१॥

अमितगतिके इस कथनसे मूलगुण आठके स्थानमें नौ हो जाते हैं। और यदि 'क्षीर-वृक्षफलवर्जन' को, एक ही मूलगुण माना जाय तो मूलगुणोंकी संख्या फिर पाँच ही रह जाती है। शायद इसी खयालसे आचार्यने अपने ग्रंथमें मूलगुणोंकी कोई संख्या निर्दिष्ट नहीं की। सिर्फ अन्तमें इतना ही लिख दिया है कि '**आद्यावेते स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः।**' अर्थात् सबसे पहले ये निर्मल गुण धारण करने चाहियें। इस 'रात्रिभोजन-त्याग' के विषयमें आचार्योंका बहुत कुछ मत-भेद है, जिसे हम किसी दूसरे ही शीर्षकके नीचे दिखलायँगे और इस लिये

यहाँपर उसको छोड़ा जाता है। यहाँ सिर्फ इतना ही समझना चाहिये कि इन आचार्य महाशयका शासन इस विषयमें, दूसरे आचार्योंके शासनसे भिन्न है।

५ पं० **आशाधर**जीने अपने 'सागारधर्मामृत' में यद्यपि उन्हीं अष्टमूलगुणोंका 'स्वमत' रूपसे उल्लेख किया है जिनका सोमदेव आचार्यने प्रतिपादन किया है, और साथ ही समन्तभद्र तथा जिनसेनाचार्योंके मतोंको 'परमत' रूपसे सूचित किया है, तो भी उनका इस विषयमें कोई निश्चित एकमत मालूम नहीं होता। उन्होंने प्रायः सभीको अपनाया और सभी पर अपना हाथ रक्खा है। वे उपर्युक्त (स्वमतरूपसे प्रतिपादित) मूलगुणोंके नाम और उनकी संख्याका निर्देश करते हुए भी टीकामें लिखते हैं कि 'च' शब्दसे नवनीत, रात्रिभोजन, अगालित पानी आदिका भी त्याग करना चाहिये और इससे उक्त 'अष्ट' की संख्यामें बाधा आती है, इसकी कुछ परवाह नहीं करते। परन्तु कुछ भी सही, पं० आशाधरजीने, अपने उक्त ग्रंथमें, किसी शास्त्रके आधारपर, जिसका नाम नहीं दिया, एक दूसरे प्रकारके मूलगुणोंका भी उल्लेख किया है जिन्हें हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं:—

मद्यपलमधुनिशासनपंचफलीविरति पंचकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः॥

मालूम नहीं मूल गुणोंका यह कथन कौनसे आचार्यके मतानुसार लिखा गया है और उनका अथवा उनके ग्रंथका नाम, समंतभद्रादिके नामके सदृश, क्यों सूचित नहीं किया गया। परंतु इसे छोड़िये, ऊपरके इस पद्यद्वारा जिन मूलगुणोंका उल्लेख किया गया है उनमेंसे शुरूके पाँच मूलगुण तो वही हैं जो ऊपर 'अमितगति' आचार्यके कथनमें दिखलाये गये हैं। हाँ, उनमें इतनी बात नोट किये जानेकी जरूर है कि यहाँ पर पंच उदुम्बरफलोंके समुदायको स्पष्टरूपसे 'पंचफली' शब्द-द्वारा एक मूलगुण माना गया है और इसलिये इससे हमारे उस कथनकी कि, **इन पाँचों उदुम्बरफलोंमें परस्पर ऐसा कोई विशेष भेद नहीं है कि जिससे इनके त्यागको अलग अलग मूलगुण करार दिया जाय,** बहुत कुछ पुष्टि होती है। बाकी रहे तीन गुण आप्तनुति, जीवदया और जलगालन, ये तीनों यहाँ विशेषरूपसे वर्णन किये गये हैं। इनमें आप्तनुतिसे अभिप्राय परमात्माकी स्तुति अथवा देववंदनाका है। परंतु 'जीवदया' शब्दसे कौनसा क्रिया-विशेष अभिमत है यह कुछ समझमें नहीं आया; वैसे तो मूलगुणोंका यह सारा ही कथन प्रायः जीवदयाकी प्रधानताको लिये हुए है, फिर 'जीवदया' नामका अलग मूलगुण रखनेसे कौनसे आचरण विशेषका ग्रहण किया जाय, यह बात अभी जानने योग्य है। संभव है कि इससे अहिंसाणुव्रतका, अभिप्राय हो। परंतु कुछ भी हो, इतना जरूर कहना पड़ेगा कि यह मत दूसरे आचार्योंके मतोंसे विभिन्न है। पं० आशाधरजीने भी, इस मतका उल्लेख करते हुए, एक प्रतिज्ञावाक्यद्वारा इसे दूसरे आचार्योंके मतोंसे विभिन्न बतलाया है। वह वाक्य इस प्रकार है:—

"अथ प्रतिपाद्यानुरोधाद्धर्माचार्याणां सूत्राविरोधेन देशनानानात्वोपलंभाद्भंग्यन्तरेणाष्टमूलगुणानुद्देष्टुमाह।"

इस वाक्यसे यह भी स्पष्ट है कि प्रतिपाद्योंके अनुरोधसे—अर्थात्, जिस समय जैसे जैसे शिष्यों—उपदेशपात्रों—की बहुलता होती है उस समय उनकी आवश्यकताओं और परिस्थितियोंको

लक्ष्य करके–धर्माचार्योंका उपदेश—उनका शासन—भिन्न हुआ करता है। और, इस लिये, इससे हमारे उस कथनका बहुत कुछ समर्थन होता है जिसे हमने इस लेखके शुरूमें प्रकट किया है। साथ ही, उक्त वाक्यसे यह भी ध्वनित होता है कि धर्माचार्योंकी वह भिन्न देशना सूत्रोंसे–सिद्धान्त वाक्योंसे–अविरुद्ध होनी चाहिये। तभी वह ग्राह्य हो सकती है, अन्यथा नहीं। यह बिलकुल सत्य है। हमारी रायमें मूल गुणोंका जो कुछ शासन-भेद ऊपर प्रकट किया गया है उसमें परस्पर सिद्धान्तभेद नहीं है–जैन सिद्धान्तोंसे कोई विरोध नहीं आता–और न इन भिन्न शासनोंमें जैनाचार्योंका परस्पर कोई उद्देश्यभेद ही पाया जाता है। सबोंका उद्देश्य क्रमशः सावद्यकर्मोंको त्याग करानेका मालूम होता है। हाँ, दृष्टिभेद, अपेक्षाभेद, विषयभेद, संख्याभेद और प्रतिपाद्योंकी स्थिति आदिका भेद जरूर है जिसके कारण उक्त शासनोंको भिन्न जरूर मानना पड़ेगा। और इस लिये यह कभी नहीं कहा जा सकता कि महावीर भगवानने ही इन सब भिन्न शासनोंका विधान किया था। उनकी वाणीमें ही ये सब मत इसी रूपसे प्रकट हुए थे–ऐसा मानना और समझना नितान्त भूल होगा। वास्तवमें ये सब शासन पापरोगकी शांतिके नुसखे (Presoriptions) हैं–ओषधिकल्प हैं–जिन्हें आचार्योंने अपने अपने देशों तथा समयोंके शिष्योंकी प्रकृति और योग्यता आदिके अनुसार तय्यार किया है। और इस लिये सर्व देशों, सर्व समयों और सर्व प्रकारकी प्रकृतिके व्यक्तियोंके लिये अमुक एक ही नुसखा उपयोगी होगा, ऐसा हठ करनेकी जरूरत नहीं है। जिस समय और जिस प्रकारकी प्रकृति आदिके व्यक्तियोंके लिये जैसे ओषधिकल्पोंकी जरूरत होती है, बुद्धिमान वैद्य, उस समय और उस प्रकारकी प्रकृति आदिके व्यक्तियोंके लिये वैसे ही ओषधिकल्पोंका प्रयोग किया करते हैं। अनेक नये नये ओषधिकल्प गढ़े जाते हैं, पुरानोंमें फेरफार किया जाता है और ऐसा करनेमें कुछ भी आपत्ति नहीं होती, यदि वे सब रोगशांतिके विरुद्ध न हों। इसी तरह पर देशकालानुसार किये हुए आचार्योंके उपर्युक्त भिन्न शासनोंमें भी कोई, आपत्ति नहीं की जा सकती। क्यों कि वे सब जैन सिद्धान्तोंसे अविरुद्ध हैं। हाँ, आपेक्षिक दृष्टिसे उन्हें प्रशस्त–अप्रशस्त, सुगम–दुर्गम, अल्पफलसाधक–बहुफलसाधक इत्यादिक जरूर कहा जा सकता है, और इस प्रकारका भेद आचार्योंकी योग्यता और उनके तत्तत्कालीन विचारों पर निर्भर है। अस्तु, इसी सिद्धान्ताविरोधकी दृष्टिसे यदि आज कोई महात्मा वर्त्तमान देश कालकी स्थितियोंको लक्ष्यमें रखकर उपर्युक्त मूल गुणोंमे भी कुछ फेरफार करना चाहे और उदाहरणके तौर पर १ **मांसविरति**, २ **मद्यविरति**, ३ **पंचेंद्रियघातविरति**, ४ **हस्तमैथुनविरति**, ५ **शास्त्राध्ययन**, ६ **आप्तस्तवन**, ७ **आलोकितपानभोजन** और ८ **स्ववचनपालन** नामके अष्ट मूल गुण स्थापित करे तो वह खुशीसे ऐसा कर सकता है, उसमें कोई आपत्ति किये जानेकी जरूरत नहीं है, और न यह कहा जा सकता है कि उसका ऐसा विधान जिनेन्द्र देवकी आज्ञाके विरुद्ध है अथवा महावीर भगवानके शासनसे बाहर है; क्योंकि उक्त प्रकारका विधान जैन सिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं है। और जो विधान जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं होता वह सब महावीर भगवानके अनुकूल है। उसे प्रकारान्तरसे जैनसिद्धान्तोंकी व्याख्या अथवा उनका व्यावहारिकरूप समझना चाहिये और इस दृष्टिसे उसे महावीर भगवानका शासन भी कह सकते हैं। परंतु भिन्न शासनोंकी हालतमें **महावीर भगवानने यही कहा, ऐसा ही कहा, इसी क्रमसे कहा, इत्यादिक मानना मिथ्या होगा**

और उसे प्रायः मिथ्या दर्शन समझना चाहिये। अतः उससे बचकर यथार्थ वस्तुस्थितिको जानने और उसपर ध्यान रखनेकी कोशिश करनी चाहिये। इसीमें श्रेय और इसीमें सर्वका कल्याण है।

यह तो हुई दिगम्बर जैनाचार्योंके शासन-भेदकी बात, अब श्वेताम्बराचार्योंके शासन-भेदको लीजिये। श्वेताम्बर ग्रंथोंके देखनेसे मालूम होता है कि उन्होंने इस प्रकारके मूल गुणोंका कोई विधान नहीं किया और इसलिये, इस विषयमें, उनका शासनभेद भी कुछ दिखलाया नहीं जा सकता। श्वेताम्बरग्रन्थोंमें मद्यमांसादिकके त्यागरूप उक्त मूल गुणोंका प्रायः सारा कथन 'भोगोपभोगपरिमाण' नामके दूसरे गुणव्रतमें पाया जाता है। जैसा कि श्री हेमचंद्राचार्यप्रणीत 'योगशास्त्र' के निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

मद्यं मांसं नवनीतं मधूदम्बरपंचकम्।
अनंतकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनं ॥ ३–६ ॥
आमगोरससंपृक्तं द्विदलं पुष्पितोदनं।
दध्यहद्वितीयातीतं कुथितान्नं विवर्जयेत् ॥ ७ ॥

परंतु 'श्रावकप्रज्ञप्ति' नामके मूल ग्रन्थमें, जो उमास्वाति आचार्यका बनाया हुआ कहा जाता है, ऐसा कोई कथन नहीं है। अर्थात् उसके कर्ता आचार्य महाशयने 'भोगोपभोगपरिमाण' नामके गुणव्रतमें उक्त मद्यमांसादिकके त्यागका कोई विधान नहीं किया। हाँ, टीकाकारने उक्त गुणव्रतधारी श्रावकके लिये निरवद्य (निर्दोष) आहारका विधान जरूर किया है। साथ ही 'वृद्ध–संप्रदाय' रूपसे कुछ प्राकृत गद्य भी उद्धृत किया है जिसमें उक्त व्रतीके मद्य मांसादिक और पंचोदुम्बरादिकके त्यागकी सूचना पाई जाती है। परंतु 'वृद्धसंप्रदायसे' अभिप्राय कौनसे संप्रदाय विशेषसे है यह कुछ मालूम नहीं हुआ। श्रावक धर्मके प्रतिपादन विषयमें, श्वेताम्बर–सम्प्रदायका सबसे प्राचीन ग्रंथ '**उवासग दसाओ**' (उपासक-दशा) सूत्र है, जिसे 'उपासकाध्ययन' तथा द्वादशांग वाणीका '**सतम अंग**' भी कहते हैं और जो महावीर भगवानके साक्षात् शिष्य '**सुधर्मास्वामी**' गणधरका बनाया हुआ कहा जाता है। इस ग्रंथमें भी, उक्त गुणव्रतका कथनकरते हुए, मद्य मांसादिकके त्यागका स्पष्ट रूपसे कोई विधान नहीं किया गया। श्रावकधर्मविषयक इस सर्वप्रधान ग्रन्थमें कथाओंको छोड़कर, श्रावकीय बारह व्रतोंके प्रायः अतीचारोंका ही वर्णन पाया जाता है, व्रतोंके स्वरूपादिकका और कुछ भी विशेष वर्णन नहीं है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि इस ग्रंथमें श्रावक धर्मका पूरा विधिविधान नहीं है। इसीसे शायद श्रावक प्रज्ञप्तिके टीकाकार श्री **हरिभद्र**सूरिने, श्रावकोंके लिये निरवद्य आहारादिकका विधान करते हुए, यह सूचित किया है कि सूत्रमें (उपासक दशामें) देशविरतीके सम्बंधमें नियमित रूपसे 'इदमेव, इदमेव' ऐसा कोई कथन नहीं है, क्यों कि वहाँ सिर्फ अतिचारोंका उल्लेख किया गया है। इस लिये देशविरातिकी विधि विचित्र है और उसे अपनी बुद्धिसे पूरा करना चाहिये। हरिभद्रसूरिके वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

'विचित्रत्वाच्च देशविरतेश्चित्रोऽत्रापवादः इत्यत एवेदमेवेदमेवेति वा सूत्रे न नियमितमतिचाराभिधानाच्च विचित्रस्तद्विधिः स्वधियावसेय इति।'

इन वाक्योंसे यह भी स्पष्ट है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें 'उपासकदशा' सूत्रसे बाहर श्रावक धर्मका जो कुछ भी विशेष कथन पाया जाता है वह सब पीछेसे आचार्योंद्वारा अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार निर्धारित तथा पल्लवित किया हुआ कथन है। और इस लिये उसे भी सिद्धान्ता-विरोधकी दृष्टिसे ही ग्रहण करना चाहिये और उसी दृष्टिसे उसमें भी देश-कालानुसार यथोचित फेरफार किया जा सकता है। यहाँपर यह बात बड़ी ही विचित्र मालूम होती है कि श्वेताम्बर आचार्योंने, मद्यमांसादिकके त्यागका यदि विधान किया भी है तो वह दूसरे गुणव्रतमें जाकर किया है। और इस लिये इससे पहली अवस्थाओंवाले श्रावकों—अहिंसादिक अणुव्रतोंके पालने वालों—अथवा व्यावहारिक दृष्टिसे जैनीमात्रके लिये उनके सेवनका कोई निषेध नहीं है। ऐसा क्यों किया गया? क्यों श्रावकमात्र अथवा जैनगृहस्थमात्रके लिये मद्यमांसादिकके त्यागका नियम नहीं रक्खा गया? और उनके त्यागको मूलगुण नहीं बताया गया? जब सकलविरतियोंके लिये मूलोत्तर गुणोंकी व्यवस्था है तब देशविरतियोंके लिये वह क्यों नहीं रक्खी गई? क्यों ऐसा कमसे कम आचरण निर्दिष्ट नहीं किया गया जिसका पालन करना सबके लिये—जैनीमात्रके लिये—जरूरी हो और जिसके पालनके विना कोई जैनी' अथवा 'महावीर भगवानका उपासक' ही न कहला सकता हो। ये सब बातें ऐसी हैं जिनपर विचार किये जानेकी जरूरत है। संभव है कि ऐसा करनेमें श्वेताम्बर आचार्योंका कुछ उद्देश्य-भेद हो। बन्धनोंको ढीला रखकर, बौद्धोंके सदृश समाजवृद्धिका उनका आशय हो। परन्तु कुछ भी हो, इस विषयमें, निश्चित रूपसे, अभी हम कुछ कह नहीं सकते। अवसर मिलनेपर इस सम्बंधमें अपने विशेष विचार फिर प्रकट किये जावेंगे। सरसावा। विजय दशमी, सं० १९७६।

सेठीजीका छुटकारा।

वर्षपर वर्ष बीतगये, जर्मनीका घोर युद्ध भी समाप्त हो गया, संधिपत्रपर हस्ताक्षर हो गये, और युद्ध-विजयकी खुशीमें न मालूम कितने कैदी भी छोड़ दिये गये; परंतु तो भी श्रीयुत सेठी अर्जुनलालजीका छुटकारा—एक ऐसे धर्मप्राण व्यक्तिका छुटकारा—जिसके विरुद्ध किसी भी अपराधको प्रमाणित करनेके लिये आजतक किसीका साहस नहीं हुआ-अभी तक होनेमें नहीं आया, यह जानकर किसे खेद न होगा! सभ्य राष्ट्रों और सभ्य शासकोंकी यह एक खास नीति कही जाती है कि वे किसी अपराधीके छूट जानेको इतना दूषित और खेदकर नहीं समझते जितना कि किसी निरपराधीके दंडित हो जानेको समझते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टिमें किसी निरपराधीको दंड किया जाना सख्त अपराध है। परंतु खेदके साथ कहना पड़ता है कि सेठीजीके विषयमें शासकोंने इस नीतिको बिलकुल ही भुला दिया है। उनके पास न्याय-भिक्षाके लिये स्थान स्थानसे सैंकड़ों प्रार्थना पत्र और तार तक भेजे गये परंतु तो भी उन्हें न्याय-भिक्षाका देना इष्ट नहीं हुआ और इस लिये उन्होंने किसीकी एक भी न सुनकर बिना कोर्टमें कोई अभियोग चलाये और बिना इस बातके कि अभियुक्तको अपनी जवाबदेही तथा सफाईका मौका दिया जाय सेठीजीको अव-

तक जेलमें डाल रक्खा है। ऐसी हालतमें जनताके हृदयमें इस प्रकारके खयालका उत्पन्न होना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है कि सेठीजी बिना किसी अपराधके ही अन्यायपूर्वक जेलमें डाले गये हैं। उनके विरुद्ध किसी अपराधके लिये यदि जरा भी आधार होता—तिल धरनेको भी जगह होती—तो राईका पर्वत बना देनेवाली पुलिस जरूर ही उन्हें कोर्टमें घसीटती और जिसतिस प्रकारसे भी दंडित कराकर अपने आपको और शासन-विभागको इस भारी कलंकसे मुक्त करती। परंतु ऐसा नहीं हो सका और इसलिये सेठीजीकी निष्कलंकताका और भी दृढताके साथ खयाल होता है। बहुत संभव है कि यह सब कर्तूत किसी ऐसे प्रधान गुप्तचरकी हो जो सेठीजीसे आन्तरिक द्वेष रखता हो अथवा आन्तरिक द्वेष रखनेवाले किसी व्यक्तिके प्रभावसे अभिभूत (जेर असर) और उसके द्वारा अतिशय प्रेरित हो और इसलिये उसने अपनी तथा अपने मित्रकी तुच्छातितुच्छ वासनाओको पूरा करनेके लिये, प्रधान अधिकारियोंके हृदयपर काल्पनिक विभीषिकाओंका गहरा रंग जमाकर यह सब घृणित नाटक खेला हो। और इसीसे शासकोंकी दृष्टिमें कुछ ऐसा विकार समाया हो कि जिसके कारण एक सरस्वती-सेवक, दुबलापतला, निःशस्त्र, अनुद्धत और अकिंचन व्यक्ति भी उन्हें भयंकर प्रतीत होता है और इसलिये, जैसे बने वैसे उसे बाँध रखना ही वे अपनी तथा प्रजाकी रक्षाका एक मात्र उपाय समझते हैं। कुछ भी हो, भले ही इस विषयमें कुछ लोग जयपुर राज्यको दोष देवें, शासकोंकी खता बतलावें, पुलिस विभागको बुरा भला कहें और बृटिश राज्यके कुछ उच्चाधिकारियोंको भी अपराधी ठहरावें, परंतु हमारी रायमें वस्तुतः इनमेंसे किसीका भी कोई दोष नहीं है। **यह सब अपराध जैन-समाजका है।** यदि जैन-समाज सुव्यवस्थित और बलाढ्य होता, उसमें जीवनी शक्तिका संचार पाया जाता, तो सेठीजी आज नहीं, वर्षों पहले—गिरिफ्तार होनेके बाद ही—कभीके छूट गये होते। परंतु जैन-समाज आज एक अत्यंत निर्बल और अव्यवस्थित समाज है। उसके अधिकांश व्यक्ति महा-संकीर्ण हृदय, परस्परके वैर-विरोध, ईर्षा द्वेषोंसे परिपूर्ण, भाईभाईके उत्कर्षको न देखसकनेवाले, उनकी क्षतिमें खुशियाँ मनानेवाले, अपने ही आनंदमें मस्त, 'दूसरा पिटता है तो अपनेको क्या' ऐसी नीतिके धारक, संसारकी प्रगति और परिस्थितिसे सर्वथा अनभिज्ञ, महा अदूरदर्शी, स्वार्थी, अकर्मण्य, आत्मभिमानसे रहित, कुरीतियोंसे जर्जरित, मतासहिष्णुतासे पीडित, अज्ञानतासे व्याप्त और प्रायः सर्व प्रकारके नैतिक तथा आत्मिक बलसे शून्य हैं। ऐसी अव्यवस्थित और निर्बलावस्थामें यदि जैन समाज पर इस प्रकारकी आपत्तियाँ आवें, तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। निर्बलोंपर राजा और प्रजा दोनोंका अत्याचार हुआ करता है। किसीने ठीक कहा है—" तीन सतावें निबलको राजा, पातिक रोग।" अभी तो जैन समाजके लिये इस प्रकारकी आपत्तियोंका यह केवल सूत्रपात हुआ है। प्रधान अधिकारियों द्वारा समाजकी आन्तरिक परीक्षा की गई है। यदि जैन जन अब भी अपनी सामाजिक परिस्थितिको सुधारने, उसे सुसंगठित और बलाढ्य बनानेका अथवा दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि, उसमें जीवनी शक्तिके संचार करनेका शीघ्र कोई महान् यत्न नहीं करेंगे तो इसमें संदेह नहीं कि आगामी उन्हें घोरसे घोर विपत्तियों तथा कष्टोंका सामना करना होगा। और आश्चर्य नहीं कि इन भावी संकटोंमें पड़कर संसारसे फिर उनकी सत्ता ही उठ जाय। अतः जैनियोंको सेठीजीके इस एक उदाहरणसे उनके साथ जो अन्यायपूर्ण वर्ताव किया

गया है उससे—एक अच्छी खासी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और बहुत सावधान होकर सामाजिक परिस्थितिके सुधार द्वारा अपनेको बलाढ्य बनानेके यत्नमें लग जाना चाहिये, जिससे आगामी संकटोंसे उनकी रक्षा हो और वे चिरकाल तक संसारमें अपनी सत्ताको स्थिर रख सकें ।

अन्तमें हमें यह जानकर और सूचित करते हुए बहुत प्रसन्नता होती है कि सेठीजी वस्तुतः बन्धनमें नहीं हैं । उनके शरीरको भले ही कोई बंधनमें डाल रक्खे परंतु उनका आत्मा स्वतंत्र है । वह वर्षोंकी जेलके बाद भी अपने पथसे च्युत और अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट नहीं हुआ । यही वजह है कि उन्होंने अन्यायपूर्ण और अपमानजनक खास शर्तोंपर जेलसे छूटनेके लिये साफ इनकार कर दिया है । वे महान् आत्मा हैं, शरीरको अपना नहीं मानते और न इस प्रकारके शारीरिक बन्धनसे अपना कुछ विशेष अलाभ समझते हैं । अलाभ है तो जैनसमाजका और हानि पहुँची तो जैनसमाजको, क्यों कि सेठीजी एक समाजसेवक व्यक्ति हैं, उन्होंने आजतक जो कुछ किया है वह सब जैनसमाजके हितके लिये ही किया है । अपने इस शारीरिक बंधनके कारण वे समाजकी यथेष्ट सेवा करनेसे वंचित हो गये और इसलिये, उससे जैन समाजको ही महती हानि उठानी पड़ी है । परंतु यदि हमारे जैनी भाई सेठीजीके इस बन्धनसे ही कुछ सबक सीख जायँ और अपने समाजकी आन्तरिक दशाको सुधारकर उसे बलाढ्य बनानेकी ओर लग जायँ तो यह कुछ कम लाभकी बात न होगी । इसीसे संपूर्ण क्षतिकी पूर्ति हो जायगी । सेठीजीका आत्मा भी इससे अपनेको कृतकृत्य समझेगा और अपने समाजसेवाके उद्देश्यको सफल मानेगा । आशा है कि हमारे भाई सेठीजीके छुटकारेके लिये अब व्यर्थकी प्रार्थना और दीनता न करके छुटकारेके वास्तविक उपायकी ओर लगेंगे, अर्थात् अपने समाजको पूरी तौरसे सुव्यवस्थित और बलाढ्य बनानेकी कोशिश करेंगे ।

यदि दुःख धर्मके कारण होता है तो उसका आदर करना चाहिए, यदि दुर्भाग्यसे होता है तो उसपर करुणा करनी चाहिए, यदि पापसे होता है तो उसका अनादर नहीं करना चाहिए; कारण कि जिस पाप या अपराधसे यह दुःख होता है उसके लिये यही काफ़ी दण्ड है । उस आदमीकी कोई प्रशंसा नहीं की जा सकती जो अपराधीको उस समय झिड़कता घुड़कता है जब वह जल्लादके हाथमें होता है । —जानसन ।

* * * *

तुम्हारा जीवन चाहे कितना ही छोटा और नीचा क्यों न हो तुम्हें चाहिये कि उसका स्वागत करो और उसे आनन्दपूर्वक व्यतीत करो । उससे दूर मत हटो, उसे बुरा मत समझो और उसकी निन्दा मत करो । वह इतना बुरा नहीं है जितने तुम हो । जब तुम बहुत धनी होते हो तब यह बहुत निर्धन मालूम होता है । दोष ढूँढुने वाले स्वर्गमें भी न मानेंगे । वे वहाँ भी दोष निकालते ही रहेंगे । अपने जीवनसे प्रेम करो, चाहे वह कितना ही तुच्छ हो । गरीबसे गरीब घरमें भी तुम्हें कुछ घंटे आनंददायक मिलेंगे । प्रकृतिकी सुन्दरतासे अमीर गरीब दोनों एकसा लाभ और आनन्द उठा सकते हैं । सूर्यास्तकी सुन्दरता जैसी गरीबोंके झोंपड़ोंमें मालूम होती है वैसी ही अमीरोंके महलोंमें मालूम होती है । संतोषी आदमीको झोंपडीमें भी वैसा ही आनंद मिलता है जैसा महलोंमें ।

—थारो ।

दुष्प्राप्य और अलभ्य जैनग्रन्थ ।

जैनग्रन्थोंको, खासकर प्राचीन जैनग्रंथोंको, यदि जैनधर्मका प्राण और जैनियोंका जीवन कहा जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। वास्तवमें जैनधर्मका सारा आधार इन्हीं ग्रंथोंपर अवलम्बित है और जैनियोंका संपूर्ण इतिहास भी इन्हीं ग्रन्थोंमें इतस्ततः पड़ा हुआ है, जिसके संकलित होनेकी बहुत बड़ी जरूरत है। यदि हम इतना भी नहीं जानते कि हमारे पूर्वज कौन कौन हुए हैं, कब हुए हैं, कहाँ हुए हैं और उन्होंने क्या क्या कृत्य किये हैं-हमारे हितके लिये किन किन ग्रंथोंकी रचना की है-तो यह हमारे लिये बड़ी ही लज्जा और शर्मकी बात है। हमारा खास कर्त्तव्य, इस समय, यही होना चाहिये कि हम अपने प्राचीन साहित्यकी सँभाल करें, उसे काल कोठरियोंसे निकालकर प्रकाशमें लावें, जो जो ग्रंथ अलभ्य और दुष्प्राप्य हो रहे हैं अथवा जिनका नाम भी सुननेमें नहीं आता उन सबकी खोज लगाएँ, उन्हें चिरस्थायी बनानेका यत्न करें और विद्वानोंके लिये उनकी प्राप्तिका मार्ग सुगम बनाएँ। ऐसा होनेपर जैनियोंका एक क्रमबद्ध इतिहास तय्यार होनेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी; हमें अपने पूर्वजोंका और तत्तत्कालीन वस्तुस्थितिका यथार्थ हाल मालूम होगा और इस तरहपर अनेक भ्रमोंको दूर होने और बहुतसी गुत्थियोंके सुलझानेका भी अवसर प्राप्त होगा। अतः प्रमादको छोड़कर अब हम लोगोंको इस ओर विशेष सावधान होनेकी जरूरत है। हम अपने ही प्रमादसे सैकड़ों ग्रंथरत्नोंको नष्ट तथा नष्टप्राय कर चुके हैं-चूहों और दीमकों आदिका भोज्य बना चुके हैं-और इससे जैनधर्म तथा समाजको जो कुछ क्षति पहुँची है उसकी अब पूर्ति नहीं हो सकती। परंतु जो भूल हुई सो हुई अब, आगेको और भूल न होनी चाहिये। हमें प्राचीन जैनग्रंथोंकी रक्षाको अपने धर्म और समाजकी रक्षा समझकर उन ग्रंथोंकी खोज और उनके उद्धारका शीघ्र यत्न करना चाहिये। एक प्राचीन ग्रंथका उद्धार सैकड़ों मुनियोंको भोजन देने अथवा बहुतसे जैनमंदिर बनवानेसे कुछ कम नहीं है। अस्तु।

अब हम यहाँपर क्रमशः उन अलभ्य, दुष्प्राप्य और अश्रुतपूर्व जैन ग्रंथोंके नाम, कुछ परिचय-सहित, प्रकट करेंगे जो आम तौरपर नहीं पाए जाते-खास खास भंडारोंमें ही मौजूद हैं-अथवा शास्त्रादिकोंमें जिनका उल्लेख मिलता है परंतु यह मालूम नहीं कि वे किस भंडारमें मौजूद हैं। ऐसे नामोंके प्रकट होनेपर हमारे भाईयोंको चाहिये कि वे अपने यहाँके शास्त्रभंडारोंमें, और यदि हो सके तो दूसरी जगहोंके भंडारोंमें भी, उन ग्रंथोंकी तलाश (खोज) करें। और यदि किसी भाईको किसी भंडारसे ऐसे किसी ग्रंथकी उपलब्धि हो जाय तो उन्हें चाहिये कि वे उक्त ग्रंथका १ नाम, २ ग्रंथकर्ताका नाम, ३ ग्रंथकी भाषा, ४ ग्रंथकी लिपि, ५ ग्रंथके बनने तथा ६ लिखे जानेका संवत् और यह कि वह ७ किस चीज-पर लिखा हुआ है, इन सात बातोंसे, अथवा इन बातोंमेंसे जिन जिन बातोंको वे सहज हीमें मालूम कर सकें सिर्फ उन्हींसे, हमें शीघ्र सूचित करें। साथ ही, कुछ भाइयोंको उन ग्रंथोंकी प्रतियाँ कराकर अथवा उन्हें प्रकाशित कराकर उनका उद्धार करना चाहिये जिनके विषयमें यह प्रकट किया जाय कि वे अमुक अमुक भंडारमें मौजूद हैं। इसके सिवाय जिन ग्रंथोंके विषयमें यह जाहिर किया जाय कि उनके अस्तित्व-स्थानका कुछ पता नहीं है उनकी तलाशके लिये कुछ धर्मोपकारी भाई-योंको पारितोषिक भी नियत करना चाहिये जिससे कि तलाशका काम कुछ अधिक दिल-

ऐतिहासिक जैन व्यक्तियाँ।

अर्थात्—

जैनाचार्य, दूसरे जैन विद्वान, उनके पोषक, प्रधान श्रावक और जैन राजादिक।

किसी भी इतिहासके क्रमबद्ध तय्यार करनेके लिये सबसे पहले इस बातकी बहुत बड़ी जरूरत होती है कि उसके व्यक्तियोंका खंडशः इतिहास एकत्र किया जाय। जब व्यक्तियोंका इतिहास खंडशः एकत्र होजाता है तब उस पूरे इतिहासके क्रमबद्ध तय्यार होनेमें कुछ भी देर नहीं लगती—फिर तो उस खंडशः इतिहासको तरतीब देने और यथास्थान चस्पाँ करने (लगादेने) की ही जरूरत बाकी रह जाती है। और जबतक व्यक्तियोंका खंडशः इतिहास पूरी तौरपर एकत्र नहीं होता तब तक किसी भी देश, धर्म अथवा समाजका इतिहास समुचित रीतिसे बनकर तय्यार नहीं हो सकता। अतः जैनधर्म और जैनसमाजका क्रमबद्ध इतिहास तय्यार करनेके लिये इस बातकी बहुत बड़ी जरूरत है कि जैनके ऐतिहासिक व्यक्तियोंकी खोज की जाय और उनके इतिहासका—उनके जीवनकी प्रधान घटनाओंका—पता लगाया जाय। इसी अभिप्रायसे यहाँपर उसका एक विभाग खोला जाता है। जिन जिन भाइयोंको [illegible]ादि करते समय, कहींसे भी ऐतिहासिक जैन व्यक्तियोंका—जैन आचार्यों, दूसरे जैन विद्वानों, उनके पोषकों, प्रधान श्रावकों और जैन राजादिकोंका पता चले और जो कुछ हाल उनके विषयमें मालूम हो उसे वे तुरंत हमारे पास भेजनेकी कृपा करें, जिससे हम उसे प्रकाशित कर देवें। और प्रकाशित होनेपर उसकी त्रुटियाँ दूर होकर वह संपूर्ण बन सके। परन्तु इतना ध्यान रखना चाहिये कि हमारा अभिप्राय अभी महावीर स्वामीसे या ज्यादहसे ज्यादह पार्श्वनाथ भगवानसे अबतकका इतिहास तय्यार करनेका है। और इस लिये इसी समयके भीतरके ऐतिहासिक व्यक्तियोंके समाचार हमारे पास आने चाहियें। हाँ, यदि इस समयसे पूर्वके बने हुए जैन तथा जैनेतर ग्रंथोंमें जैन व्यक्तियोंका कुछ उल्लेख पाया जाय तो वह भी पूरे पते सहित आना चाहिये। अब हम अपनी याददाश्त (स्मृतिपत्र) परसे इस सिलासिलेको शुरू करते हैं और विद्वानोंसे प्रार्थना करते हैं कि यदि उन्हें हमारे द्वारा प्रकाशित समाचारोंके अनुकूल तथा प्रतिकूल कोई सामग्री कहींसे प्राप्त हो अथवा किसी व्यक्तिके विषयमें उन्हें कोई विशेष हाल मालूम हो, तो वे हमको तुरंत उससे सूचित करें और इस तरहपर एक क्रमबद्ध इतिहासके तय्यार होनेमें सहायक बनें, जिसकी इस समय बहुत बड़ी जरूरत है और जिसके बिना जैनियोंकी प्रगति और उन्नति बहुत कुछ रुकी हुई है:—

१ वीरभद्र।

'वीरभद्र' नामके एक आचार्य विक्रमकी ११ वीं शताब्दीमें हो गये हैं, जिन्होंने संवत् १०७८ में '**आराधना-पताका**' नामके एक ग्रंथकी रचना की है जो प्राकृत भाषामें है और जिसकी गाथा संख्या ९९० है। इस ग्रंथके मंगलाचरणकी और निर्माण-समयकी सूचक गाथाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं:—

"नियसुचरियगुणमाहप्पदिप्पसुररायरिद्धिवित्थारो।
जयइ सुररायपूइय गुणमाहप्पो महावीरो॥ १॥

"विक्कमनिवकालाओ अट्ठत्तरिमे समासहस्संमि।
एसा सव्वंगिहिआ गहिया गाहाहिं सरलाहिं॥९८८॥

इस ग्रंथकी प्रशस्तिमें आचार्यने अपने गण, गच्छ तथा गुरु आदिका कोई नामोल्लेख नहीं किया, इससे अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ कि ये आचार्य दिगम्बर सम्प्रदायके थे या श्वेताम्बर। एक श्वेताम्बर विद्वान् द्वारा हमको ऐसा मालूम हुआ था कि 'आराधना-पताका'

के कर्ता 'वीरभद्र' दिगम्बराचार्य हैं। संभव है कि यह सत्य हो, परंतु किस आधार पर ऐसा माना जाय, इसका अभीतक ठीक निर्णय नहीं हुआ। श्वेताम्बर कान्फरन्स द्वारा प्रकाशित 'जैनग्रंथावली' में इन आचार्यके विषयमें लिखा है कि 'वीरभद्रसम्बंधी विशेष इतिहास मिला नहीं।' इसके सिवाय उक्त ग्रंथावलीमें 'वीरभद्र' नामके दो आचार्योंका और भी उल्लेख किया गया है। एक 'चतुःशरण' (अपरनाम कुशलानुबंधिअध्ययन) नामके श्वेताम्बर ग्रंथके कर्ता 'वीरभद्रगणि,' जिनके विषयमें उक्त ग्रंथके टीकाकारने लिखा है कि वे महावीर भगवानके शिष्य थे; और दूसरे 'कंदर्पचूडामणि' के कर्ता वीरभद्र, जिन्हें पिटर्सन साहबने अपनी रिपोर्टमें वाघेला वंशमें उत्पन्न हुआ प्रकट किया है और जिन्होंने अपना उक्त ग्रंथ संवत् १६३३ में बनाकर समाप्त किया है। इनसे यह तो स्पष्ट है कि 'आराधनापताका'-का कर्ता दूसरे दोनों 'वीरभद्र' नामके आचार्योंसे पृथक् है। परंतु उनके सम्प्रदायादिका विशेष हाल मालूम होनेकी अभी जरूरत है। साथ ही यह भी मालूम होनेकी जरूरत है कि उन्होंने और कौन कौनसे ग्रंथोंकी रचना की है। 'दिगम्बरजैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी सूचीमें 'वीरभद्र' के ग्रंथोंमें सिर्फ 'माघमालिनी काव्य' का ही उल्लेख मिलता है। नहीं मालूम इस काव्यके कर्ता कोई चौथे 'वीरभद्र' हैं या उपर्युक्त तीनोंमेंसे कोई एक हैं। अतः इस विषयमें विशेष अनुसंधान होनेकी जरूरत है। 'आराधना-पताका' ग्रंथ पाटण, खंबात, भावनगर और अहमदाबादके भंडारोंमें तथा दक्कन कालिज पूनाकी लायब्रेरीमें भी मौजूद है। इसे साद्यंत देख जाने पर इस बातका पता जरूर चल सकता है कि ग्रंथकर्ता महाशय कौनसे सम्प्रदायके आचार्य थे। आशा है कि इस विषयको स्पष्ट करने तथा उक्त 'वीरभद्र' आचार्यका विशेष इतिहास मालूम करनेके लिये कोई विद्वान् महाशय यत्न करेंगे।

२ सकलभूषण।

'सकलभूषण' नामके एक दिगम्बर विद्वान् विक्रमकी १७ वीं शताब्दीके शुरूमें हो गये हैं। ये सकलकीर्ति भट्टारकके वंशपरम्परामें होनेवाले शुभचंद्र भट्टारकके शिष्य और सुमतिकीर्ति भट्टारकके गुरुभाई थे। इन्होंने विक्रम संवत् १६२७ में '**उपदेश-रत्नमाला**' नामके एक ग्रंथकी संस्कृतमें रचना की है, जिसके १८ परिच्छेद हैं। ग्रंथकी प्रशस्तिमें आप अपनेको सूरिः (आचार्य) लिखते हैं और यह प्रकट करते हैं कि 'श्रीनेमिचंद्राचार्यादि यतियोंके आग्रहसे और वर्धमानटोला आदिकी प्रार्थनासे मैंने यह ग्रंथ बनाया है'। यथा:—

श्रीनेमिचंद्राचार्यादियतीनामाग्रहात्कृतः।
सद्वर्धमानटोलादिप्रार्थनातो मयैषकः॥ ३५॥
सप्तविंशत्यधिके षोडशशतवत्सरे सुविक्रमतः।
श्रावणमासे शुक्लपक्षे षष्ठ्यां कृतो ग्रंथः॥ ३६॥

इससे मालूम होता है कि सकलभूषणके समयमें भी '**नेमिचंद्राचार्य**' नामके कोई यति थे। उपदेशरत्नमालाकी श्लोकसंख्या एक ग्रंथकी प्रशस्तिके अनुसार ३३८३ और दूसरीके अनुसार ३०८१ होती है। दोनों प्रतियोंमें संख्यासूचक पद्यका पूर्वार्ध इस प्रकारसे बदला हुआ है:—

"सहस्रत्रितयं चैव त्रिशतं त्र्यशीतिसंयुतम्"
"सहस्रत्रितयं चैव तथैकाशीतिसंयुतम्।"

नहीं मालूम इस परिवर्तनका क्या कारण है और दोनोंमेंसे कौनसी संख्या सही है। आपके बनाये हुए इस ग्रंथका नाम 'षट्कर्मोपदेश-रत्नमाला' भी प्रसिद्ध है; क्योंकि इसमें गृहस्थके षट्कर्मोंका उपदेश दिया गया है। इस ग्रंथके सिवाय सकलभूषणजीने और भी कोई ग्रंथ बनाया है या कि नहीं, इसका अभीतक कुछ

पता नहीं चला, और न दूसरी ही कोई बातें अभीतक आपके विषयमें मालूम हुई हैं।

३ जयकीर्ति और रामकीर्ति।

चालुक्य कुमारपाल राजाके चित्तौड़गढ़ सम्बंधी शिलालेखमें, जो विक्रम संवत् १२०७ का लिखा हुआ है, 'जयकीर्ति' और 'रामकीर्ति' नामके दो दिगम्बर आचार्योंका उल्लेख पाया जाता है। यथाः—

(पंक्ति२८) "श्रीज [य] कीर्तिशिष्येण दिगंव-
(.ब) रगणेशिना।
प्रशस्तिरीदृशी चक्रे...श्रीरामकीर्तिना॥
संवत् १२०७ सूत्रधा......"

इससे मालूम होता है कि वि० संवत् १२०७ में 'जयकीर्ति' के शिष्य 'रामकीर्ति' नामके कोई दिगम्बर आचार्य हुए है और उन्होंने चित्तौड़गढ़की यह प्रशस्ति लिखी है जिसकी २८ वीं पंक्ति ऊपर उद्धृत की गई है। यह शिलालेख एपिग्रेफिका इण्डिकाकी २ री जिल्दमें प्रकाशित हुआ है। उक्त 'जयकीर्ति' और 'रामकीर्ति' के विषयमें दिगम्बर साहित्यसे अभी कुछ विशेष हाल मालूम नहीं हुआ। विद्वानोंको खोज करनी चाहिये।

४ मेघसेन और विमलसेन।

किशनगढ़की रियासतमें, रूपनगरसे पश्चिमकी ओर लगभग डेढ़ मीलके फासले पर, तीन खड़ी हुई जैन देवलियाँ हैं, जिनमेंसे पहली देवलीपर नीचे लिखा हुआ एक शिलालेख हैः—

१ "संवत १०१८ ज्येष्ठ सुदि १२
२ श्रीमेघसेनाचार्यस्य त-
३ स्य शिष्य। श्रीविमल-
४ सेनपंडितेन राधनां
५ राधयित्वा दिवं गतः।
६ तस्येयं निषिधिका॥"

यही शिलालेख नीचे फिर दोहराया गया है। ऊपर एक तीर्थंकरकी मूर्ति और नीचे सर्पका आकार है।

इससे मालूम होता है कि **श्रीमेघसेन** आचार्यके शिष्य पंडित **विमलसेन**का (अथवा मेघसेनका ही) ज्येष्ठ सुदि १२ संवत् १०१८ को समाधिपूर्वक देहान्त हुआ है और उन्हींकी यादगारमें यह निषधिका बनाई गई है। परंतु मेघसेन कौनसे संघ, गण अथवा गच्छके आचार्य थे और गुरु शिष्य दोनोंने क्या क्या विशेष कार्य किये थे, इसका अभीतक कहींसे कुछ पता नहीं चला। अतः इनके विषयमें भी अनुसंधान होनेकी जरूरत है। (क्रमशः)

समाज-संगठन।

समाजका सुव्यवस्थित, बलाढ्य और वृद्धिंगत होना समाज-संगठन कहलाता है। प्राचीन आचार्योंने विवाहका विधान करके उसके द्वारा संतानोत्पादन करनेको जो गृहस्थका एक खास धर्म बतलाया है उसका मुख्य उद्देश्य समाज-संगठन है। क्योंकि समाज व्यक्तियोंका बनता है—व्यक्तियोंके समुदायका नाम ही समाज है—और व्यक्तियोंका समुदाय तभी बढ़ता है और तभी उसके द्वारा समाजकी पुष्टि होकर धर्मकर्मादिक संतति अविच्छिन्न रह सकती है जब कि विवाहद्वारा योग्य संतान उत्पन्न की जाय। इसलिए विवाहद्वारा सन्तानोत्पादन करना और उसे योग्य बनाना—उसमें सुव्यवस्था और बल लाना—यह समाज-संगठनका मुख्य अंग है।

अब देखना यह है कि विवाह द्वारा संतान उत्पन्न करके **समाज-संगठनकी जरूरत क्यों पैदा होती है?** जरूरत इस लिए होती है कि यह जीवन एक प्रकारका **युद्ध** है—लौकिक और पारलौकिक या अन्तरंग और बाहिरंग दोनों ही दृष्टियोंसे इसे युद्ध समझना

चाहिए—और यह संसार **युद्धक्षेत्र** है। युद्धमें जिस प्रकार अनेक शक्तियोंका मुकाबला करनेके लिए सैन्यसंगठनकी जरूरत होती है उसी प्रकार जीवन-युद्धमें अनेक आपदाओंसे पार पानेके लिए समाज-संगठनकी आवश्यकता है। हम चारों ओरसे इस संसारमें इतनी आपत्तियों द्वारा घिरे हुए हैं कि यदि हमारे पास उनसे बचनेका कोई साधन नहीं है तो हम एक दिन क्या, घड़ीभर भी जीवित नहीं रह सकते। बाह्य जगतपर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि एक शक्ति बड़ी सरगर्मीके साथ दूसरी शक्तिपर अपना स्वत्व (स्वामित्व) और प्राबल्य स्थापित करना चाहती है, अपने स्वार्थके सामने दूसरीको बिलकुल तुच्छ और नाचीज समझती है, चैतन्य होते हुए भी उससे जड़ जैसा व्यवहार करती है और यदि अवसर मिले तो उसे कुचल डालती है—हड़प कर जाती है। रातदिन प्रायः इस प्रकारकी घटनायें देखनेमें आती हैं। निर्बलोंपर खूब अत्याचार होता है। न्यायालय खुले हुए हैं, परन्तु वे सब उनके लिए व्यर्थ हैं। उनकी कोई सुनाई नहीं होती। इसी लिए कि, उनका कोई रक्षक या सहायक नहीं है, उनमें कौटुम्बिक बल नहीं है, जिस समाजके वे अंग हैं वह सुव्यवस्थित नहीं है, पैसा उनके पास नहीं है, उन्हें कोई साक्षी उपलब्ध नहीं होता-कोई गवाह मयस्सर नहीं आता। जो लोग प्रत्यक्ष उनपर होते हुए अत्याचारोंको देखते हैं वे भी अत्याचारीके भयसे या अपने स्वार्थमें कुछ बाधा पड़नेके भयसे बेचारे गरीबोंकी कोई मदद नहीं करते, उन्हें ‘ न्याय-भिक्षा ’ दिलानेमें समर्थ नहीं होते। और इस तरह बेचारे पारिवारिक और सामाजिक-शक्ति-विहीनोंको रातादिन चुपचाप घोर संकट और दुःख सहन करने पड़ते हैं। संसारमें अविवेक और स्वार्थकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि उसके आगे पापका भय कोई चीज नहीं है। पापके भयसे बहुत ही कम अपराधोंकी रोक होती है। ऐसे बहुत ही कम लोग निकलेंगे जो पापके भयसे अपराध न करते हों। जो हैं उन्हें सच्चे धर्मात्मा समझना चाहिए। बाकी अधिकांश लोग ऐसे ही मिलेंगे जो लोकभयसे, राज्यभयसे या परशक्तिके भयसे पापाचरण करते हुए डरते हैं। अन्यथा, उन्हें पापसे कोई घृणा नहीं है, वे सब जब मौका मिलता है तबही उसे कर बैठते हैं। ऐसे हालतमें **समूह बनाकर रहनेकी बहुत बड़ी जरूरत है**। समूहमें बहुत बड़ी शक्ति होती है। छोटे छोटे तिनकों और कच्चे सूतके धागोंका कुछ भी बल नहीं है, उन्हें हर कोई तोड़ मरोड़ सकता है। परन्तु जब वे मिलकर एक मोटे रस्सेका रूप धारण कर लेते हैं तब बड़े बड़े मस्त हाथी भी उनसे बाँधे जा सकते हैं। चीटियाँ आकारमें कितनी छोटी छोटी होती हैं, परन्तु वे अपनी समूहशक्तिसे एक साँपको मार लेती हैं। जिनकी समूहशक्ति बढ़ी हुई होती है उनपर एकाएक कोई आक्रमण नहीं कर सकता, हरएकको उनपर अत्याचार करने या उनके स्वार्थमें बाधा डालनेका साहस नहीं होता, उनके स्वत्वों और अधिकारोंकी बहुत कुछ रक्षा होती है। विपरीत इसके, जिनमें समूहशक्ति नहीं होती वे निर्बल कहलाते हैं और निर्बलोंपर प्रायः राजा और प्रजा सभीके अत्याचार हुआ करते हैं। छोटी छोटी मछलियाँ संख्यामें अधिक होनेपर भी अपनेमें समूहशक्ति नहीं रखतीं, इस लिए बड़ी बड़ी मछलियाँ या मच्छ उन्हें खा जाते हैं। मधुमक्खियाँ (शहदकी मक्खियाँ) अपनेमें कुछ समूह-शक्ति रखती हैं, इससे हरएकको उनके छत्तेके पासतक जानेका साहस नहीं होता। साधारण मक्खियोंमें वह शक्ति नहीं है, इस लिए उन्हें हर कोई मार गिराता है। इससे केवल व्यक्तियोंकी संख्याके

अधिक होनेका नाम ' **समूह** ' या ' **समूह-शक्ति** ' नहीं है। बल्कि **उनका मिलकर एक प्राण और एक उद्देश्य हो जाना ही समूह या समूह-शक्ति कहलाता है।** एक कुटुम्बके किसी व्यक्तिपर जब कोई अत्याचार करता है तो उस कुटुम्बके सभी लोगोंको एकदम जोश आ जाता है और वे उस अत्याचारीको उसके अत्याचारका फल चखानेके लिए तैयार हो जाते हैं, इसीको **एकप्राण होना** कहते हैं । इसी तरहपर जब कुटुम्बका कोई मनुष्य कुटुम्बके उद्देश्यके विरुद्ध प्रवर्त्तता है, अन्याय मार्गपर चलता है तो उससे भी कुटुम्बके लोगोंके हृदय पर चोट लगती है। और वे, शरीरके किसी अंगमें उत्पन्न हुए विकारके समान, उसका प्रतिशोध करनेके लिए तय्यार हो जाते हैं; इसको भी **एकप्राण होना** कहते हैं। साथ ही यह सब उनके **एक उद्देश्य** होनेको भी सूचित करता है । इस प्रकार **एक प्राण और एक उद्देश्य होकर जितनी ही अधिक *व्यक्तियाँ मिलकर एक साथ काम करती हैं उतनी ही अधिक*, विघ्नबाधाओंसे सुरक्षित रह कर, वे शीघ्र सफलमनोरथ होती हैं**। यही समाज-संगठनका मुख्य उद्देश्य है और इसी खास उद्देश्यको लेकर संसारमें विवाहकी सृष्टि की गई है। इसमें पूरा '**रक्षातत्त्व**' भरा हुआ है। एक विवाह होनेपर दोनों पक्षकी कितनी शक्तियाँ परस्पर मिलती हैं, एक दूसरेके सुखदुःखमें कितनी सहानुभूति बढ़ती है और कितनी समवेदना प्रकट होती है इसका अनुभव वे सब लोग भले प्रकार कर सकते हैं जो एक सुव्यवस्थित कुटुंबमें रहते हों। युद्धमें दो राज-शक्तियोंके परस्पर मिलनेसे--एक सूत्रमें बँधनेसे--जिस प्रकार आनंद मनाया जाता है उसी प्रकार विवाहमें वर और वधू दोनों पक्षकी शक्तियोंके मिलापसे आनंदका पार नहीं रहता। इस सम्मिलित शक्तिसे जीवन-युद्ध अनेक अंशोंमें सुगम हो जाता है । विवाहके द्वारा कुटुम्बोंकी रचना होती है और कुटुम्बोंसे **समाज** बनता है। कुटुम्बोंके संगठित और सुव्यवस्थित होनेपर समाज सहजहीमें संगठित और सुव्यवस्थित हो जाता है । और **समाज**के संगठित और सुव्यवस्थित होनेपर उन सब लौकिक और धार्मिक स्वत्वोंकी--अधिकारोंकी--पूर्णतया रक्षा होती है जिनकी रक्षा प्रत्येक व्यक्ति या कुटुम्ब **अलग अलग नहीं कर सकता** । दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि सब कुटुम्ब समाज-शरीरके अंग हैं । एक भी अंगकी व्यवस्था बिगड़ जाने पर जिस प्रकार शरीरके काममें बाधा पड़ जाती है उसी प्रकार किसी भी कुटुम्बकी व्यवस्था बिगड़ जानेपर समाजके काममें हानि पहुँचती है। और जिस प्रकार सब अंगोंके ठीक होनेपर शरीर स्वस्थ और नीरोग होकर भले प्रकार सब कार्योंका सम्पादन करनेमें समर्थ हो सकता है, उसी प्रकार समाज भी सब कुटुम्बोंकी व्यवस्था ठीक होनेपर यथेष्ट रीतिसे धर्म कर्म आदिकी व्यवस्था कर सकता है और प्रत्येक कुटुम्ब तथा व्यक्तिके स्वत्वोंकी रक्षा और उसकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका समुचित प्रबंध कर सकता है इससे कहना होगा कि **समाजका संगठन कुटुम्बोंके संगठनपर अवलम्बित है**। और कुटुम्बके संगठनका भार कुटुम्बके प्रधान व्यक्तियोंपर---**गृहिणी** और **गृहपतिपर** होता है। इसलिए समाज-संगठनका सारा भार प्रायः उन स्त्रीपुरुषोंपर है जो विवाहित हैं अथवा विवाहके लिये प्रस्तुत हैं। उन्हें अपनी जिम्मेदारियोंको खूब समझ लेना चाहिए। **उनके द्वारा कोई भी ऐसा काम न होना चाहिए जिससे समाज-संगठनमें बाधा पड़ती हो।** साथ ही उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जबतक परिस्थिति नहीं सुधरेगी--वातावरण

ठीक नहीं होगा, तबतक हम अपनी स्थितिको भी जैसा चाहिए वैसा नहीं सुधार सकते। इस लिए समाज-संगठनके अभिप्रायसे—वायुमंडलको सुधारनेकी दृष्टिसे—उन्हें अपने कुटुम्बके सुव्यवस्थित करनेमें कोई भी बात उठा न रखनी चाहिए। इस प्रकारके प्रयत्नसे सब कुटुम्बोंके सुव्यवस्थित हो जानेपर जो स्वच्छ वायु-धारा बहेगी वह सभीके लिए स्वास्थ्यप्रद होगी और उसमें रहकर सभी लोग अपना कल्याण कर सकेंगे।

प्रत्येक कुटुम्बको **सुव्यवस्थित** बनानेके लिए उसके प्रधान पुरुषोंको इन बातोंपर ध्यान रखनेकी खास जरूरत है:—

(१) स्वयं सदाचारसे रहना और अपने कुटुम्बियों तथा आश्रितोंको सदाचारके मार्गपर लगाना। ऐसा कोई काम न करना जिसका समाजपर बुरा असर पड़े।

(२) अपने बुद्धि-बल, शरीर-बल और धन-बलको बराबर बढ़ाते रहना और सदा प्रसन्नचित्त रहनेकी चेष्टा करना।

(३) सबके दुखसुखका पूरा खयाल रखना, सबको परस्पर प्रेम तथा विश्वास करना सिखलाना और दुखियोंका दुःख दूर करनेका यत्न करना। साथ ही, किसीपर अत्याचार न करना और दूसरोंके द्वारा होते हुए अत्याचारोंको यथाशक्ति रोकना।

(४) वीर्यका दुरुपयोग न करके प्रायः संतानके लिए ही मैथुन करना। किसी व्यसनमें न फँसना और जितेन्द्रिय रहना।

(५) स्वयं कुसंगतिसे बचना और अपने परिवारके लोगोंको बचाते रहना। साथ ही, अपनी संतानका कभी बाल्यावस्थामें विवाह न करना।

(६) संतानकी तथा अन्य कुटुम्बियोंकी शिक्षाका समुचित प्रबंध करना, उन्हें धर्मके मार्गपर लगाना और ऐसी शिक्षा देना जिससे वे परावलम्बी न बनकर प्रायः स्वावलम्बी बनें और देश, धर्म तथा समाजके लिये उपयोगी सिद्ध हों।

(७) कुटुम्बभरमें एकता, सत्यता, समुदारता, दयालुता, गुणग्राहकता, आत्मनिर्भरता और सहनशीलता आदि गुणोंका प्रचार करना। साथ ही ईर्षा, द्वेष और अदेखसका भाव आदि अवगुणोंको हटाना।

(८) रूढ़ियोंके दास न बनकर कुरीतियोंको दूर करना और जो कुछ युक्ति तथा प्रमाणसे समुचित और हितरूप जँचे उसीके अनुसार चलना।

(९) धर्मप्रचार और समाजके उत्थानकी बराबर चिन्ता रखना और धार्मिक कार्योंमें सदैव योग तथा सहायता देते रहना।

(१०) मितव्ययी (किफायतशीर) बनना, परन्तु कृपण नहीं होना।

प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन दस बातोंको अपना **कर्त्तव्य-कर्म** बना लेना चाहिए, अपने समस्त आचार-व्यवहारका **सूत्र** समझना चाहिए, और विवाहके गठजोड़ेके समय इसकी भी **गाँठ** बाँध लेनी चाहिए।

यह तो हुआ बाह्य जगतकी दृष्टिसे विचार। अब अंतरंग जगतपर दृष्टि डालिए। अंतरंग जगतपर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि, यह जीवात्मा अनादिकालसे मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, मद, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, अज्ञान, अदर्शन, अंतराय और वेदनी आदि सैकड़ों और हजारों कर्मशत्रुओंसे घिरा हुआ है, जिन सबने इसे बन्धनमें डालकर पराधीन बना रक्खा है और इसकी अनंत शक्तियोंका घात कर रक्खा है। इसी लिए यह आत्मा अपने स्वभावसे च्युत होकर विभाव परिणतिरूप परिणम रहा है और

अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ नाना-प्रकारके दुःख और कष्टोंको भोग रहा है। इसका मुख्य और प्रधान उद्देश्य है—'**बन्धनसे छूटकर स्वाधीनता प्राप्त करना**'। परन्तु बन्धनसे छूटना आसान काम नहीं है। एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्रकी परतंत्रतासे अलग होना चाहता है—स्वाधीन बननेकी इच्छा रखता है—तब उसे रातदिन इस विषयमें प्रयत्नशील रहनेकी जरूरत होती है। बड़े बड़े उपायोंकी योजना करनी पड़ती है। घोर संकट सहन करने होते हैं, बंधनोंमें पड़ना होता है, हानियाँ उठानी पड़ती हैं, अपने स्वार्थकी बलि देनी होती है और बहुतसे ऐसे काम भी करने पड़ते हैं जिनका करना उसे इष्ट नहीं होता और न वे उसके उद्देश्य ही होते हैं; परन्तु बिना उनके किये उसे अपने उद्देश्यमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती और इस लिए वह उन्हें लाचारीकी दृष्टिसे करता है। साथ ही वह अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नहीं होता और न दूसरे राष्ट्रकी मोह-मायामें फँसता है। तब कहीं वह वर्षोंके बाद परतंत्रताकी बेड़ीसे छूटकर स्वतंत्रताकी शीतल छायामें निवास करता है। इसी तरह पर उस आत्माको भी, जो कर्मके बंधनसे छूटना चाहता है, अपनी उद्देश्य-सिद्धिके लिए बड़े बड़े प्रयोग करने होते हैं और नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं। उसे बन्धमुक्त होनेके लिए बन्धनमें भी पड़ना होता है, कर्मसे छूटनेके लिए कर्म भी करना पड़ता है, हानिसे बचनेके लिए हानि भी उठानी पड़ती है, पापसे सुरक्षित रहनेके लिए पाप भी करना होता है और शत्रुओंसे पिण्ड छुड़ानेके लिए शत्रुओंका आश्रय भी लेना पड़ता है। परन्तु इन सब अवस्थाओंमें होकर जाता हुआ मुमुक्षु आत्मा अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नहीं होता—पुद्गलके (प्रकृतिके) मोहजालमें कभी नहीं फँसता। वह कभी बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव, हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र स्वीकार नहीं करता और न कभी इन बन्धादिक अवस्थाओंको इष्ट समझता हुआ उनमें तल्लीन होता है। बल्कि उसका प्रेम इन सब अवस्थाओंसे सिर्फ **कार्यार्थी** होता है। कार्यार्थी प्रेम कार्यकी हदतक रहता है। कार्यकी समाप्ति पर उसकी भी समाप्ति हो जाती है। इसलिए वह अपने किसी इष्ट-प्रयोजनकी साधनाके निमित्त लाचारीसे इन बन्धादिक अवस्थाओंसे क्षणिक प्रेम रखता हुआ भी बराबर निर्बंध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्पाप और निःशत्रु होनेकी चेष्टा करता रहता है। इस विषयमें उसका यह सिद्धान्त होता है।

उपकाराद्गृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत् ।
पादलग्नं करस्थेन कण्टकेनेव कण्टकम् ॥

अर्थात्—हाथमें काँटा लेकर जिस प्रकार पैरका काँटा निकाला जाता है उसी प्रकार उपकार तथा प्रेमादिकसे एक शत्रुको अपना बनाकर उसके द्वारा दूसरे शत्रुको निर्मूल करना चाहिए। अभिप्राय यह कि पैरमें लगे हुए काँटेको निकालनेके लिए पैरमें दूसरा काँटा चुभानेकी जरूरत होती है और उस दूसरे काँटेको आदरके साथ हाथमें ग्रहण करते हैं। परन्तु वह दूसरा काँटा वास्तवमें इष्ट नहीं होता, कालान्तरमें वह भी पैरमें चुभ सकता है—और न उसका चुभाना ही इष्ट होता है—क्यों कि उससे भी तकलीफ जरूर होती है—फिर भी उस अधिक पीड़ा पहुँचानेवाले पैरके काँटेको निकालनेके लिए यह सब कुछ किया जाता है और कार्य हो चुकनेपर वह दूसरा काँटा भी हाथसे डाल दिया जाता है। इसी सिद्धान्तपर मुमुक्षु आत्माको बराबर चलना होता है। उसका जान-बूझकर किसी बन्धनमें पड़ना, कोई पापका काम करना और किसी शत्रुकी शरणमें जाना दूसरे अधिक कठोर बन्धनसे बचने, घोर पापोंसे सुरक्षित रहने और प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके

अभिप्रायसे ही होता है। यद्यपि उसे संपूर्ण कर्मशत्रुओंका विजय करना इष्ट होता है; परन्तु साथ ही वह अपनी शक्तिको भी देखता है और इस बातको समझता है कि यदि समस्त शत्रुओंको एकदम चैलेंज दे दिया जाय—सबका एक साथ विरोध करके उन्हें युद्धके लिए ललकारा जाय—तो उसे कदापि सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इस लिए वह बराबर अपनी शक्तिको बढ़ानेका उद्योग करता रहता है। जबतक उसका बल नहीं बढ़ता तबतक वह अपनी तरफसे आक्रमण नहीं करता, केवल शत्रुओंके आक्रमणकी रोक करता है, कभी कभी उसे टेम्परेरी (अल्पकालिक) संधियाँ भी करनी पड़ती हैं और जब जिस विषयमें उसका बल बढ़ जाता है तब उसी विषयके शत्रुसे लड़नेके लिए तैयार हो जाता है और उसे नियमसे परास्त कर देता है। इस तरह वह संपूर्ण कर्मोंके बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जाता है। गृहस्थाश्रम भी कर्मबन्धनसे छूटनेके प्रयोगोंमेंसे एक प्रयोग है और स्त्रीपुरुष दोनों मुमुक्षु हैं—कर्मबन्धनसे छूटनेके इच्छुक हैं—इस लिए उन्हें भी अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर गृहस्थाश्रमकी बंधादिक अवस्थाओंको अपना स्वरूप न समझ लेना चाहिए, उन्हें सर्वथा इष्ट मानकर उनमें लवलीन न हो जाना चाहिए। बंधको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव, हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र न मान लेना चाहिए। ऐसा मान लेनेसे फिर कर्मका बंधन न छूट सकेगा। अंतरंग दृष्टिसे उनका भी प्रेम इन सब अवस्थाओंसे **कार्यार्थी** होना चाहिए और उन्हें बराबर निर्बंध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्कषाय और निःशत्रु होनेकी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथ ही उनका भी वही '**कण्टकोन्मूलन**' सिद्धान्त होना चाहिए और उन्हें बड़ी सावधानीके साथ उसपर चलना चाहिए। उनका जानबूझ कर गृहस्थीके बंधनाम पड़ना, आरंभादिक पापोंमें फँसना और कामादिक शत्रुओंका शरण लेना भी नरक-निगोद-तिर्यंचादिकके कठोर बंधनोंसे बचने, संकल्प तथा अशुभरागादिजनित घोर पापोंसे सुरक्षित रहने और अज्ञान-मिथ्यात्वादि प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके अभिप्रायसे ही होना चाहिए। उन्हें अपने पूर्ण ब्रह्मचर्यादि धर्मोंपर लक्ष्य रखते हुए समस्त कर्मशत्रुओंको जीतनेका उद्देश्य रखना चाहिए और उसके लिए बराबर अपना आत्म-बल बढ़ाते रहना चाहिए। आत्माका बल शुभकर्मोंसे बढ़ता है और अशुभ कर्मोंसे घटता है। इस लिए गृहस्थाश्रममें उन्हें अशुभ कर्मोंका त्याग करके बराबर शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। गृहस्थाश्रममें गृहस्थधर्मद्वारा आत्माका बल बहुत कुछ बढ़ाया जा सकता है। इसी लिए आचार्योंने इस गृहस्थाश्रमकी सृष्टि की है। शुभ कर्मोंके द्वारा आत्म-बल बढ़ जानेपर गृहस्थोंको, प्रेमपूर्वक ग्रहण किये हुए हाथके काँटेके समान, गृहस्थाश्रमका भी त्याग कर देना चाहिए और फिर उन्हें **वानप्रस्थ या सन्यस्त** (मुनि) आश्रम धारण करना चाहिए और इस प्रकार कर्मोंका बल घटाते हुए अन्तके आश्रम द्वारा उन्हें सर्वथा निर्मूल करके बंधनसे छूट जाना चाहिए। परन्तु इन समस्त आश्रमोंके धर्मका पूरी तौरसे पालन तब ही हो सकता है **जब समाजका संगठन अच्छा हो**। बिना समाज-संगठनके कोई भी काम यथेष्ट रीतिसे नहीं हो सकता। बाह्यसाधन न होनेसे सब विचार हृदयके हृदयमें ही विलीन हो जाते हैं, बंध-मोक्षकी सारी कथनी ग्रंथोंमें ही रक्खी रह जाती है और अमली सूरत कुछ भी बन नहीं पड़ती। **जैनियोंका सामाजिक संगठन बिगड़ जानेसे ही अफसोस! आज वस्तुतः मुनिधर्म उठ गया और इसीसे जैनियोंकी प्रगति रुक गई।** मुनि-

योंका धर्म प्रायः गृहस्थोंके आश्रय होता है। इसीलिए **पद्मनन्दि** आदि आचार्योंने '**गृहस्था धर्महेतवः**', '**श्रावका मूलकारणम्**' इत्यादि वाक्यों द्वारा गृहस्थोंको 'धर्मका हेतु' और 'मुनिधर्मका मूल कारण' बतलाया है। परन्तु गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था ठीक न होनेसे समाजके अव्यवस्थित और निर्बल होनेसे यह सब कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए **अंतरंग और बहिरंग दोनों दृष्टियोंसे समाज-संगठनकी बहुत बड़ी जरूरत है**। विवाह भी इसी उद्देश्यको लेकर होना चाहिए और उसको पूरा करनेके लिए प्रत्येक स्त्रीपुरुषको उन **दस कर्तव्योंका** पूरी तौरसे पालन करना चाहिए जो कुटुम्बोंको सुव्यवस्थित बनानेके लिए बतलाये गये हैं और जिनपर समाजका संगठन अवलम्बित है। ×

विविध विषय।

१—माणिकचंद दि० जैन-ग्रन्थमाला।

यह ग्रंथमाला बम्बईके सुप्रसिद्ध सेठ स्वर्गीय माणिकचंदजी हीराचंद जे० पी० की याद गारमें—उनके उन अनेक उपकारोंके स्मरणमें जो उन्होंने जैन समाजकी साथ किये हैं—चारपाँच सालसे निकलती है। यद्यपि इसकी आर्थिक दशा शुरूसे ही बहुत कुछ शोचनीय रही है तो भी एक सुयोग्य मंत्रीके सदुद्योग और प्रयत्न द्वारा इसने अब तक जो कुछ काम किया है वह कुछ कम संतोषजनक नहीं है। सब मिलाकर, इस ग्रंथमालाकी १४ जिल्दोंमें आजतक तीस ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इनमेंसे सागारधर्मामृत, श्रुतावतार और द्वात्रिंशतिकाको छोड़कर शेष २७ ग्रंथ ऐसे हैं जो सबसे पहले इस ग्रंथमालाके द्वारा ही प्रकाशित हुए हैं और इसलिये यही कहना चाहिये कि संस्कृत प्राकृतके इन २७ ग्रंथोंका इस ग्रंथमालाके द्वारा उद्धार हुआ है। इन ग्रंथोंमें कई ग्रंथ टीकासहित निकले हैं और कई—पात्रकेसरी स्तोत्र, तत्त्वानुशासन जैसे—ऐसे अपूर्व प्रकाशित हुए हैं जिनके दर्शन होने मुशकिल थे और जो खास खास भंडारोंमें ही अपना आसन जमाए हुए जीर्णावस्थाको प्राप्त हो रहे थे। इस तरह पर इस ग्रंथमालाके द्वारा जैनसमाजका बहुत कुछ उपकार हुआ है। परंतु फिर भी हम इतना जरूर कहेंगे कि दिगम्बर जैनियोंकी इस एक मात्र सार्वजनिक (पंचायती) ग्रंथमालाके द्वारा जितना कार्य होना चाहिये था वह अभी तक नहीं हुआ और इस न होनेका प्रधान कारण अर्थाभाव है। परंतु इस अर्थाभावसे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि दिगम्बर जैनियोंमें धनकी अथवा उदारताकी कुछ कमी है। धनकी कोई कमी नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदायमें बहुतसे कोट्याधिपति और लक्षाधिपति विद्यमान हैं। खुद इस ग्रंथमालाकी प्रबंधकारिणी कमेटीमें ही धनकुबेर रायबहादुर सर सेठ हुकमचंदजी, रायबहादुर सेठ कल्याणमलजी, रायबहादुर सेठ कस्तूरचंदजी और सेठ गुरुमुखराय सुखानंदजी आदि ऐसे धनाढ्य महाशय शामिल हैं जिनके इशारे मात्र पर धनके ढेरके ढेर लग सकते हैं। उदारताकी भी कोई कमी नहीं पाई जाती। प्रतिवर्ष पूजा-प्रतिष्ठा और मेलों-ठेलों आदिमें दिगम्बर जैनियोंका लाखों रुपया खर्च होता है। हमारे उक्त धनाढ्य महाशयोंने भी कई लाख रुपया धर्मके नाम पर खर्च किया है। तब फिर कमी किस बातकी, जिसके कारण संस्थाको अर्थ कष्ट भोगना पड़ता है? कमी है ग्रंथप्रकाशनके महत्त्वको न समझनेकी और इस लिये, उस ओर विशेष रुचि न होनेकी। हमारे अधिकांश भाई खासकर धनाढ्यलोग अभी तक इस बातको भूले हुए हैं कि, संसारमें जैनधर्मकी

× मेरी लिखी हुई 'विवाहका उद्देश्य' नामकी पुस्तकसे कुछ परिवर्तनके साथ उद्धृत। —सम्पादक।

प्रतिष्ठा—उनके धर्मकी स्थिति—इन प्राचीन जैन-ग्रंथोंके आधार पर ही अवलम्बित है और इस लिये उनकी रक्षा करना, वे किसी तरहसे नष्ट न होने पावें, इस बातकी सावधानी रखना, यह हमारा परमधर्म और सबसे प्रथम कर्तव्य कर्म है। उन्हें यह भी खबर नहीं है कि, हमारी इस असावधानी और नासमझीके कारण कितने ग्रंथ-रत्न सर्वथा नष्ट हो चुके हैं—संसारसे अपनी सत्ता उठा चुके हैं—और उनके साथ ही हमारा कितना तत्त्वज्ञान और कितना इतिहास चला गया है। साथ ही, वे यह भी नहीं जानते कि कितने ग्रंथ भंडारोंमें जीर्ण शीर्ण अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं—चूहों तथा दीमकोंका भोज्य बन रहे हैं, कितने ग्रन्थाकी सिर्फ एक एक दो दो प्रतियाँ ही संसारमें अवशिष्ट रह गई हैं और वे भी प्रायः मरणासन्न हैं और कितने ग्रंथोंके सिर्फ नाम सुनाई देते हैं परन्तु उनका दर्शन तक नहीं होता। इसके सिवाय उन्हें इस बातकी भी कोई चिन्ता नहीं है कि इस तरह पर उनका इतिहास अस्तव्यस्त हो रहा है—इधर उधर पड़ा हुआ है, उसके संकलित होनेकी जरूरत है, अथवा अनेक विषयोंमें जो उलझने पड़ी हुई हैं उनके सुलझनेका मार्ग बन्द है, उसे खोलनेके लिये इस बातकी आवश्यकता है कि प्राचीन सभी ग्रंथोंको प्रकाशित करा कर उनकी प्राप्तिको सुगम किया जाय। ऐसी हालतमें उक्त ग्रंथमाला जैसी उपयोगी संस्थाको, चाहे वह किसीकी यादगारमें ही क्यों न स्थापित हो, यदि अर्थ-कष्ट झेलना पड़े और उसकी वजहसे वह अपने कार्यको यथेष्ट रीतिसे न चला सके तो इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है।

हमारे भाइयोंको यह बात खूब ध्यानमें रख लेनी चाहिये कि अब वह जमाना गया, जब अनेक मुनिमहाराजोंकी प्रेरणा और धनी-धर्मात्माओंकी सहायतासे ग्रंथोंकी नकलें होकर जगह जगहके भण्डारोंमें पहुँचाई जाया करती थीं और इसतरह पर उनकी रक्षा हुआ करती थीं। अब जमाना मुद्रणकलाके प्रचारका है। लोगोंको छपे हुए ग्रंथोंके पढ़ने पढ़ानेमें बहुत सुभीता मालूम होता है—हस्तलिखित ग्रंथोंके पठन-पाठनमें उन्हें अड़चन जान पड़ती है—सर्व-साधारणकी रुचि हस्तलिखित ग्रंथोंसे उठती जाती है और इसीलिए ग्रंथोंका लिखना लिखाना अब प्रायः बंद हो गया है। साथ ही, जो हस्त-लिखित ग्रंथ मौजूद हैं उनकी देखरेख और रक्षा आदिके प्रयत्न भी प्रायः ढीले पड़ते जाते हैं। समय आनेवाला है जब कि हस्तलिखित ग्रंथ देखनेको भी नहीं मिलेंगे। कालचक्रकी ऐसी दशामें हमारे जितने ग्रंथ भी प्रकाशित होनेसे रह जायँगे उनके प्राणोंका संकट ही समझिये। उन्हें या तो चूहे और दीमक अपने उदरस्थ करेंगे और या वे वैसे ही गल-सड़कर नष्ट भ्रष्ट हो जायँगे। फिर यदि हम लाखों और करोड़ों रुपये खर्च करके भी उनकी प्राप्ति करना चाहेंगे तो वह न हो सकेगी। इस तरह पर न मालूम हम अपने कितने ग्रंथरत्नोंसे हाथ धो बैठेंगे। इस लिये हमारे भाइयोंको ग्रंथोंको प्रकाशित कराकर उनके उद्धार करनेकी ओर सबसे प्रथम और सबसे अधिक ध्यान देनेकी जरूरत है।

इस दिशामें काम करनेके लिये आप लोगोंकी उक्त ग्रंथमाला नामकी संस्था खुली हुई है। उसे हरप्रकारकी सहायता दीजिये, उत्तमोत्तम प्राचीन ग्रंथोंको भंडारोंसे खोजकर उसके पास भिज-वाइये, उसके द्वारा मुद्रित और लागतके मूल्यपर बेचे जानेवाले ग्रंथोंको खरीदकर उनका प्रचार कीजिये-उन्हें मंदिरों तथा पुस्तकालयोंमें विरा-जमान कराइये-और ऐसा यत्न कीजिये कि जिससे उक्त संस्थाको जरा भी अर्थ कष्ट न उठाना पड़े और वह फिर खुले हाथों आपकी यथेष्ट सेवा कर सके।

अन्तमें हम अपने पाठकोंपर इतना और प्रकट किये देते हैं कि हालमें उक्त संस्थाके मंत्री साहबका हमारे पास एक पत्र आया है जिससे मालूम होता है कि शुरूमें इस ग्रंथमालाके लिये जो लगभग चार हजार रुपयेका फंड एकत्र हुआ था वह सब उपर्युक्त ३० ग्रंथोंके प्रकाशित करनेमें समाप्त हो चुका था और इसलिये ११ जून सन १९१९ को शिमलामें जिनवाणीसेवक श्रीयुत ला० **उम्मेदसिंह मुसद्दीलालजी** अमृतसरवालोंकी प्रेरणासे एक नया फंड खोला गया है और जिसके लिये ब्रह्मचारी शीतल प्रसादजीने यह तजवीज किया है कि वह कमसे कम दसहजार रुपयेका ज़रूर होना चाहिये और उसमें कोई भी रकम १०१) रु० से कमकी न लिखी जानी चाहिये, चाहे इस १०१) की रकमको दो चार सज्जन एकत्र मिलकर ही लिखें। इस फंडमें अभीतक कुल पाँच हजार रुपयेके करीब चंदा हुआ है, शेषकी पूर्ति हमारे भाईयोंको शीघ्र करनी चाहिये। हमें उक्त पत्रसे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि श्रीयुत ला० उम्मेदसिंह मुसद्दीलालजीने, जो कि कोई बहुत बड़े प्रसिद्ध धनाढ्य व्यक्ति नहीं हैं, स्वयं इस फंडमें १००१) रु० प्रदान किया है। अर्थात्, आपने इस ग्रंथमालाके लिए दानवीर सर सेठ हुकमचंदजीके बराबरका चंदा दिया है; और इस तरहपर ग्रंथमालाके साथ अपना हार्दिक प्रेम प्रदर्शित करते हुए, अपनी सच्ची श्रुतभक्तिको सर्व साधारणपर प्रकट किया है। वास्तवमें लाला साहब हमेशासे जिनवाणीके सच्चे भक्त और सेवक रहे हैं। आप जैनग्रंथोंके प्रचारमें बड़े ही दत्तचित्त रहते हैं—अनेक पुस्तकालयों, सभासोसाइटियों और जैन अजैन विद्वानोंको बराबर ग्रंथोंकी सहायता दिया करते हैं। आपका जीवन बड़ा ही परोपकारमय है। हमारे भाइयोंको आप जैसे जिनवाणी भक्तोंका अनुकरण करना चाहिये।

२—अन्तर्जातीय विवाह-विधान।

सहयोगी 'दिगम्बर जैन' लिखता है कि कोल्हापुर राज्यने यह नियम पास किया है कि जैनियों और विविध हिन्दू जातियोंका परस्पर विवाहसम्बन्ध विधि-विहित समझा जायगा। यह समाचार उन लोगोंके लिये बहुत ही चिन्ताजनक होगा जो अन्तर्जातीय विवाहोंके कट्टर विरोधी हैं और जिन्हें अनेक शास्त्रप्रमाणोंके मौजूद होते हुए भी, जैनियों जैनियोंकी भिन्न जातियोंमें भी परस्पर विवाहका होना विधिविहित मालूम नहीं होता। जान पड़ता है, जब लोग आपसमें नहीं सुलझते तो, अब राज्योंको प्रजाकी हित-दृष्टिसे स्वयं ही ऐसे मामलोंमें हस्तक्षेप करनेकी जरूरत पैदा हो गई है। ऐसी हालतमें हमारे जैनी भाइयोंको सावधान होना चाहिये और उन्हें पहलेहीसे अपने विवाहविधानोंमें देशकालानुसार ऐसा अविरुद्ध परिवर्त्तन स्वीकार कर लेना चाहिये जिसके स्वीकार न करनेकी हालतमें उन्हें फिर किसी ऐसे विधिविधानके माननेके लिये बाध्य होना पड़े जो उन्हें सर्वथा ही इष्ट न हो।

३—ब्र० भगवानदीनजीको जेल।

समाजमें यह खबर बड़े ही दुःखके साथ सुनी जाती है कि श्रीऋषभब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरके संस्थापक और उसके भूतपूर्व अधिष्ठाता श्रीयुत ब्रह्मचारी भगवानदीनजीको करनाल जिलेके किसी मजिस्ट्रेटकी अदालतसे छह महीनेकी जेलकी सजा दी गई है। यह सजा क्यों दी गई? कहा जाता है कि भगवानदीनजीने पानीपतमें कोई व्याख्यान दिया था जिसके कुछ वाक्योंसे शासकोंको राजद्रोहकी गंध आई है। उसीके उपलक्षमें यह दंडविधान किया गया है। हम नहीं कह सकते कि यह दंडविधान कहाँतक सही है। परन्तु जहाँतक हमने पत्रोंमें उन आपत्तिजनक वाक्योंको पढ़ा है, हमें तो उनपरसे (यदि वे सत्य भी हों) स्वप्नमें भी राजद्रोहका

खयाल तक पैदा नहीं होता। हमारी रायमें इस प्रकारके कृत्यों द्वारा व्यर्थ ही एक शान्तिप्रिय समाजको अशान्त बनानेकी चेष्टा की जाती है। राजनैतिक दृष्टिसे भी इस प्रकारकी चेष्टाएँ कभी अच्छी नहीं कही जा सकतीं। अस्तु; उक्त सजाके विरुद्ध अपील दाखिल हो गया है। अदालत अपीलसे सफलताकी बहुत कुछ आशा की जाती है। अपीलके फैसलेतक अदालतसे ब्र० भगवानदीनजीको मूर्तिदर्शन और अपने घरका भोजन-वस्त्रादि व्यवहारमें लानेकी सब आज्ञा पूर्ववत् मिल गई है, यह संतोषकी बात है। अन्तमें हम अपने भाइयोंसे इतना जरूर कहेंगे कि यह सब आपके सामाजिक संगठनके ठीक न होने—उसके सुव्यवस्थित और बलाढ्य न होनेहीका नतीजा है जो इस प्रकारकी दुर्घटनाएँ देखनेमें आती हैं। अन्यथा, भगवानदीनजीके जिस प्रकारके वाक्योंको आपत्तिजनक ठहराया गया है उस प्रकारके वाक्य सैकड़ों व्याख्यानोंमें सुने जाते और पत्रों तथा पुस्तकोंमें पढ़े जाते हैं; परंतु उन पर प्रायः कुछ भी आपत्ति नहीं की जाती है। अतः हमारे भाइयोंको शीघ्र ही अपने सामाजिक संगठनको ठीक करनेकी जीजानसे कोशिश करनी चाहिये, जिससे फिर इस प्रकारकी व्यर्थकी दुर्घटनाएँ देखनेमें न आएँ। इसीमें उनकी रक्षा और इसीमें उनका कल्याण है।

४—बा० दयाचंदजी और उनका पत्र।

हमें अपने पाठकोंपर यह प्रकट करते हुए दुःख होता है कि श्रीयुत बाबू दयाचंदजी गोयलीय-जोकि जैनसमाजमें एक बड़े ही परोपकारी ग्रेज्युएट विद्वान् थे, हिन्दीके सुलेखक थे, जिन्होंने हिन्दीमें दसों उपयोगी पुस्तकें लिखीं और जो जैनहितैषीमें भी बराबर कुछ न कुछ लिखा करते थे—आज इस संसारमें नहीं हैं। कुछ दिन हुए वे हम लोगोंको शोकाकुल छोड़ कर स्वयं स्वर्ग सिधार गये हैं। आपका जीवन बड़ा ही सेवामय था। बचपनसे ही आपकी वृत्ति समाज और देशसेवाकी ओर विशेष रही है। आपके व्याख्यानोंमें श्रोताओंको बड़ा ही आनंद आता था। दयाप्रचारके विभागको अपने हाथोंमें लेकर आपने उसके कामको बड़ी ही योग्यताके साथ सम्पादन किया था। अभी आपकी अवस्था बहुत थोड़ी थी—लगभग ३० सालके होगी—इस अल्पावस्थामें आपके इस आकस्मिक वियोगसे समाज और देशको जो क्षति पहुँची है वह अकथनीय है और उसकी शीघ्र पूर्ति होना मुशकिल है। विशेष दुःखकी बात यह है कि आपने अपने प्रतिनिधि रूपसे एक पुत्र छोड़ा था परंतु वह भी कुछ दिनोंके बाद कालका ग्रास बन गया! हम आपकी दुखिया धर्मपत्नी तथा अन्य कुटुम्बीजनोंके दुःखमें समवेदना प्रकट करते हैं और यह भावना करते हैं कि उन सबोंको धैर्यकी प्राप्ति हो।

अन्तमें हम अपने पाठकोंपर इतना और प्रकट किये देते हैं कि उक्त बाबू साहब बड़ी ही निर्भीकताके साथ 'जाति-प्रबोधक' नामका एक मासिकपत्र निकाला करते थे। आपके देहान्तके बादसे इस पत्रका निकलना बंद हो गया था। परंतु बाबू साहबके कुछ मित्र मास्टर चेतनदासजी आदि बराबर इस बातकी कोशिशमें रहे कि उक्त पत्र बाबूसाहबकी यादगारमें जरूर निकलता रहना चाहिये। कुछ महीनोंतक उन लोगोंको इसमें सफलता नहीं हो सकी। अब सुना जाता है कि उक्त पत्र बा० विश्वम्भरदासजी गार्गीयके संपादकत्वमें निकलना शुरू हो गया है और उसका प्रथम अंक निकल चुका है। हम आशा करते हैं कि यह पत्र बाबू साहबकी रीति-नीतिका रक्षा करते हुए चला जायगा।

५—कुरीतिनिवारिणी अग्रवाल जैनसभा।

हालमें कुछ अर्सेसे उक्त नामकी एक सभा स्थापित हुई है जिसके मंत्री बा० रतनलालजी बी. एस. सी., एल. एल. बी. वकील नगीना जि०

बिजनौर हैं और उन्हींके पास उसका दफ्तर है। यह सभा अग्रवाल जैनजातिके प्रतिष्ठित और अग्रेसर धनाढ्य महाशयोंके द्वारा स्थापित हुई है और इसने फिलहाल १७ जिलोंमें (बिजनौर, मुरादाबाद, मेरठ, बुलंदशहर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, देहली, करनाल, हिसार, रोहतक, जालंधर, अम्बाला, फीरोजपुर, रावलपिंडी, गुडगाँवाँ और लाहोरमें), जिनमें कि रीतिरिवाज प्रायः समान है, कुरीतियोंके दूर करनेका बीड़ा उठाया है। बादमें आवश्यकतानुसार यह अपने क्षेत्रको विस्तृत करेगी। हमारे पास इस सभाका जो विज्ञापन आया है उससे मालूम होता है कि मुरादाबाद, बुलंदशहर, जालंधर और रावलपिंडीको छोड़कर शेष १३ जिलोंके कुल ३० महाशय अभीतक इस सभाके सभासद हुए हैं और ये सब ही प्रतिष्ठित तथा अपने अपने शहरोंके अग्रसेर पुरुष हैं। यदि वे सब लोग सच्चे दिलसे अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये जी जानसे कोशिश करेंगे तो इसमें संदेह नहीं कि अग्रवाल जातिसे बहुत शीघ्र ही कुरीतियाँ दूर हो जायँगी। हमारे धनाढ्य महाशयोंको भी अब कुरीतियोंको दूर करनेकी शादी और गमीके अवसरोंपर जो व्यर्थ खर्च होता है उसको मेटनेकी चिन्ता पैदा हुई है, यह बहुत ही शुभ शकुन है। हम इस सभाका हृदयसे अभिनंदन करते हैं और भावना करते हैं कि इसको शीघ्र ही अपने उद्देश्योंमें सफलताकी प्राप्ति हो। इसके विषयमें, विशेष हालसे हम अपने पाठकोंको फिर सूचित करेंगे।

६-जैनहितैषीका सम्पादन।

अब तक जैनहितैषीका संपादन श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीके द्वारा बड़ी योग्यताके साथ होता रहा है। और यह सब इन्हींके-सम्पादनकौशलका नतीजा है जो जैनहितैषी, अपने नामको सार्थक करता हुआ, जैन समाजमें एक उच्च कोटिका हिन्दी पत्र बना हुआ है और इतना प्रिय हो रहा है कि आज उसका इतने दिनोंतक बन्द रहना लोगोंको असह्य हो उठा है। परन्तु, जैसा कि इस पत्रमें अन्यत्र प्रकाशित 'प्रारंभिक निवेदन' नामकी प्रेमीजीकी विज्ञप्तिसे प्रकट है, अब इस पत्रका संपादन भार इसी अंकसे मेरे ऊपर रक्खा गया है। यद्यपि मैं, कई कारणोंसे, अभी इस गुरुतर भारको अपने ऊपर लेना नहीं चाहता था-भारको उठानेके लिये पूरी तोरपर समर्थ भी नहीं था-तो भी मित्रवर प्रेमीजीके अतिशय आग्रहके कारण-उपायान्तर न होनेसे उनकी सदिच्छाका व्याघात न हो और उस व्याघातसे समाजको और भी कुछ अधिक समय तक इस पत्रके वियोगका दुःख सहन करना न पड़े, इस खयालसे-और साथ ही, दूसरे मित्रोंकी प्रेरणा तथा कुछ समयकी जरूरतोंको ध्यानमें रखकर मुझे इस भारको अपने सिरपर लेनेके लिये विवश होना पड़ा है। मैं कहाँतक इस भारको उठा सकूँगा और कहाँतक जैनहितैषीकी चिरपालित कीर्तिको सुरक्षित रख सकूँगा, इस विषयमें मैं अभी एक शब्द भी कहनेके लिये तय्यार नहीं हूँ और न कुछ कह ही सकता हूँ। यह सब मेरे स्वास्थ्य तथा विज्ञ पाठकोंकी सहायता, सहकारिता और उत्साहवृद्धि आदिपर अवलम्बित है। परन्तु, बहुत नम्रताके साथ, इतना जरूर कहूँगा कि मैं, अपनी शक्ति और योग्यता अनुसार, अपने पाठकोंकी सेवा करने और जैनहितैषीको उन्नत तथा सार्थक बनानेमें कोई बात उठा नहीं रक्खूँगा। आशा है कि मेरे इन संकल्पों तथा विचारोंको पूरा करानेके लिये पाठक हर प्रकारसे मेरी मदद करेंगे। और साथ ही, इस बातकी पूरी कोशिश रक्खेंगे कि जैनहितैषीके विचार, यथावत रूपसे, सब भाईयोंके कानोंतक बराबर पहुँचते रहें और उन्हें पढ़नेको मिलते रहें।

पाठकोंको यह जानकर विशेष हर्ष होगा कि प्रेमीजी अपना सम्बंध इस पत्रसे सर्वथा ही अलग नहीं कर रहे हैं और न वे कर ही सकते हैं। वे बदस्तूर इस पत्रके 'प्रकाशक' और मालिक रहेंगे-उन्हींकी देखरेखमें यह पत्र निकलेगा-और साथ ही, उन्होंने प्रत्येक अंकके लिये कमसे कम एक लेख, यथासंभव, देनेका वादा भी किया है।

सरसावा ज़ि० सहारनपुर } विनीत—
कार्तिक शुक्ल २ सं० १९७६ } जुगलकिशोर, मुख्तार।

हमारे सर्वोपयोगी ग्रन्थ।

३५ चंद्रगुप्त—द्विजेन्द्रबाबूका हिन्दूराजत्व-कालीन ऐतिहासिक नाटक । मौर्यवंशी सम्राट् चन्द्रगुप्तका नाम कौन नहीं जानता । उन्हींके ऐतिहासिक चरित्रको लेकर-जो पुराणों, ग्रीक ग्रन्थों और दूसरे साधनोंसे जाना गया है—यह नाटक रचा गया है । यह विश्वप्रेम, देशप्रेम और पितृप्रेमके अपूर्व और उदार भावोंसे भरा हुआ है । इसमें ग्रीक-नरेश सेल्यूकसकी बेटी और चन्द्रगुप्तकी रानी हेलेनके अनिन्द्य सुन्दर चरित्रको पढ़कर पाठक मुग्ध हो जायँगे । यह विश्वप्रेमकी साक्षात् प्रतिमा है । उसने दिखला दिया है कि विश्वप्रेमके लिए अपनेको किस तरह बलि किया जाता है । इसमें चाणक्य भी एक अपूर्व रूपमें उपस्थित किया गया है । चाणक्यका ऐसा विलक्षण चित्र अबतक किसी भी कवि-चित्रकारने चित्रित नहीं किया है । मूल्य १≈) जिल्ददारका १॥)

३६ सीता—द्विजेन्द्र बाबूका पौराणिक नाटक । सीताके चरित्रचित्रणमें कविने एक अपूर्वता ला दी है और रामायणकी घटनाओंका अपलाप किये बिना सीताका आदर्शचरित्र आजकलकी दृष्टिसे जितना ऊँचा किया जा सकता था उतना ऊँचा कर दिया है । इस विषयमें अनेक समालोचकोंके मतसे द्विजेन्द्र बाबू महर्षि वाल्मीकि और कविशिरोमणि भवभूतिसे भी अधिक सफलकाम हुए हैं । रामायणको पढ़कर सीतादेवीके ऊपर कविके हृदयमें जो असीम भक्ति और करुणा उत्पन्न हुई है, वही इस नाटकमें प्रकट की गई है । 'काव्यकला' की दृष्टिसे भी यह उच्चश्रेणीका नाटक है । मूल्य नौ आने । जिल्ददारका ॥≈)

३७ छाया-दर्शन—मरनेके बाद जीव कहाँ जाता है, उसकी क्या अवस्था होती है, वह लोगोंको किसप्रकार छायारूप धारण करके दर्शन देता है, बातचीत करता है और सुख दुःख पहुँचाता है, इत्यादि चिरन्तन जटिल प्रश्नों पर यत्किंचित प्रकाश डालनेके लिए यह अपूर्व ग्रन्थ लिखा गया है । पाश्चात्य देशोंमें परलोकगत आत्माओंके सम्बन्धमें अबतक जो जो विचार और आविष्कार हुए हैं, ग्रन्थके प्रारंभमें उनका एक विस्तृत इतिहास दिया है और उसमें इस विषयकी सत्यताको सिद्ध किया है । फिर एक विस्तृत भूमिकामें छाया-दर्शन-तत्त्व पर आर्य ऋषियोंका साक्षीपूर्वक विचार किया है और इस शरीरके छूट जाने पर भी सूक्ष्मशरीरी आत्माका अस्तित्व रहता है, इसका प्रतिपादन किया है । इसके बाद ऐसी १२–१३ घटनाओंको कहानीके रूपमें लिखा है, जो बहुत ही आश्चर्यजनक और कुतूहलवर्धक हैं तथा जिनके सत्य होनेके विषयमें बड़े बड़े विद्वानों, वैज्ञानिकों और न्यायाधीशोंकी साक्षियाँ हैं । ये घटनायें गल्पोंके ढंगपर लिखी गई हैं, इस कारण इनके पढ़नेमें उपन्यासों जैसा आनन्द आता है । हिन्दीमें इस विषयका यह पहला ही ग्रन्थ है । जो लोग भूतप्रेतोंके अस्तित्वके सम्बन्धमें जिज्ञासु हैं, उन्हें यह ग्रन्थ एकबार अवश्य पढ़ जाना चाहिए । मूल्य सवा रुपया । सजिल्दका १॥≈)

३८ राजा और प्रजा। जगत्प्रसिद्ध लेखक डॉ० सर रवीन्द्रनाथ टागौरके बहुत ही महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निबन्ध। इनमें राजा और प्रजाके पारस्परिक सम्बन्धको राजनीतिक और धार्मिक आदि दृष्टियोंसे बहुत दूरदर्शिता और गंभीरताके साथ स्पष्ट किया है । रवीन्द्रबाबूके ग्रन्थकी अधिक प्रशंसा करनेकी आवश्यकता नहीं । मू० सादीका १) और सजिल्दका १≈)

३९ गोबर-गणेश-संहिता। यह एक व्यंगपूर्ण मनोरंजक ग्रंथ है । चौबेके चिट्ठेके ढँगका है । इसे चिदानन्द चौबेके भाई श्रीगोबरगणेश देव शर्माने अपने विलक्षण बुद्धिचातुर्यसे लिखा है । इससे आपका केवल मनोरंजन ही नहीं होगा, किन्तु आपके सोचने समझनेकी सैकड़ों बातें इसमें मिलेंगी । हिन्दीमें इस ढंगका यह अद्वितीय ग्रन्थ होगा । मू० सादीका ॥-) सजिल्दका ॥।-)

१ प्राकृतिक चिकित्सा। इसमें सब प्रकारके रोग होनेके कारण और उनके बिना कौड़ी पैसेके प्राकृतिक उपाय बतलाये गये हैं । ठंडे पानीके टबमें कटि-स्नान करना, मेहन-स्नान करना, बफारा (वाष्पस्नान) लेना, कोयलेकी आँचसे पसीना लेना, धूप-स्नान करना, स्वच्छ जलको अधिक परिमाणमें पीना, लम्बी साँसें लेना, व्यायाम तथा प्राणायाम करना, स्वच्छ वायुका सेवन करना, आदि आदि उपायोंको बड़े अच्छे ढंगसे इसमें बतलाया है । प्रत्येक गृहस्थके घरमें रहने योग्य पुस्तक है । मू० ।≈)

२ कर्नल सुरेश विश्वास। सुरेश विश्वास एक बंगाली थे । ये लड़कपनमें बड़े ही खिलाड़ी, उपद्रवी, उद्धत और अवाध्य लड़के थे । पढ़ने लिखनेकी ओर इनकी जरा भी रुचि नहीं थी । ये घरसे भागकर यूरोप अमेरिका आदि देशोंमें वर्षों घूमते रहे और केवल स्वावलम्बनके बलसे उन्नति करते करते ब्राजिल

देशकी सेनाके प्रतिष्ठित सेनापति हो गये। इतना ही नहीं ये इंग्लिश, फ्रेंच, पुर्तगीज आदि अनेक भाषाओंके और डाक्टरी ज्योतिष, प्राणिशास्त्र आदि अनेक विज्ञानोंके धुरन्धर पण्डित होगये। इस पुस्तकमें उन्हींका शिक्षाप्रद जीवनचरित है। मू० ।।)

३ अस्तोदय और स्वावलम्बन—अर्थात् गिरना, उठना और अपने पैरों खड़े होना । इसे 'सेमुएल स्माइल्स' के 'सेल्फ-हेल्प' का स्वतन्त्र प्रतिबिम्ब समझना चाहिए। 'सेल्फ-हेल्प' या स्वावलम्बनका एक पाठ भी इसमें नहीं लिया गया है, फिर भी यह 'स्वावलम्बन' है और स्वावलम्बनसे बढ़ कर है। सारा ग्रन्थ देशी उदाहरणों, देशी भावों और देशी साहित्यके उद्धरणोंसे भरपूर है । प्रारम्भ में 'विद्यार्थियोंको सम्बोधन' नामक एक बहुत प्रभावशाली निबंध है जिसमें भारतवर्षकी महिमा, भारतकी उन्नतिकी प्रेरणा, विद्यार्थियोंके कर्तव्य, विद्याकी सफलता आदिके सम्बंधमें जीवनप्रद उपदेश दिया गया है। आगे अस्त और उदय अर्थात् गिरना और उठना कितना स्वाभाविक है, सृष्टिका कैसा अनिवार्य नियम है, यह बतलाकर उसमें दुःख सुख न माननेकी शिक्षा दी गई है और दूसरे भागमें स्वाश्रय अथवा स्वावलम्बनकी महिमा तथा उसकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक बालक और युवाके नित्य स्वाध्याय करनेकी चीज है। स्कूलमें यह पाठ्य ग्रन्थ बनाये जाने योग्य है। मू० १≈) सजिल्दका १।।)

४ देव-दूत-सरस्वतीके प्रसिद्ध कवि-लेखक पं० रामचरित उपाध्यायका नाम हिंदी पाठकोंसे छिपा हुआ नहीं है। यह खण्डकाव्य उन्हींका रचा हुआ है जो देशभक्तिके भावोंसे लबालब भरा है । बिलकुल नई कल्पना है। एक देशभक्त स्वर्गमें जाकर उत्पन्न हुआ है । वहाँ उसे अपनी जन्मभूमि भारतवर्षकी याद आई है। उससे व्याकुल होकर वह एक देवको अपना दूत बनाता है और उसके द्वारा सन्देश भेजता है। दूतके सम्मुख वह भारतकी जो महत्ता, पूज्यता, श्रेष्ठता, प्रतिपादन करता है, उससे हृदय गद्गद हो आता है। छपाई सुन्दर कागज बढ़िया। मूल्य ।≈)

५ विधवाकर्तव्य । एक बहुत ही अनुभवी विद्वानने इस पुस्तकको लिखा है। जैनियों और हिन्दुओंके प्रत्येक धर्म और पन्थकी विधवाओंका कल्याण करनेकी इच्छासे यह लिखी गई है। इससे विधवाओंके असह्य दुःख कम हो जायँगे, वे घरमें शान्ति रखनेकी बालबच्चोंकी सेवा करनेकी, अच्छी शिक्षा देनेकी, समाज-सेवा करनेकी, दीन दुखियोंको सहायता पहुँचानेकी इस तरह अनेक प्रकारकी शिक्षायें पावेंगी और उनका निरर्थक जीवन समाज और देशके अर्थ लगने लगेगा। इसके उपदेश प्रत्येक विधवाके कानों तक पहुँचने चाहिए। सधवायें भी इससे बहुत लाभ उठा सकती हैं। मूल्य ।।)

६ भारत-रमणी—द्विजेन्द्र बाबूका यह सामाजिक नाटक है। बाल्यविवाह प्रौढ़विवाह, मनमाना दहेज लेनेकी प्रथा, स्त्रीशिक्षा, विदेशयात्रा आदि अनेक सामाजिक प्रश्नोंके सम्बन्धमें इसमें बड़ी ही मार्मिक और तात्विक बातें कही गई हैं। रचनासौन्दर्यके विषयमें तो कहना ही क्या है। मूल्य ।।।≈)

देश-दर्शनका नया संस्करण।

अबकी बार मूल्य ३) की जगह २) कर दिया गया है और सादी पुस्तकका मूल्य और भी कम अर्थात् १।।।) है। इस ग्रंथका अधिकाधिक प्रचार हो, इसी लिए यह मूल्य घटाया गया है। चित्र पहलेकी अपेक्षा दूने हैं, छपाई और बायंडिंग भी सुन्दर है। ग्राहकोंको इसके प्रचारका प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मोद्धार, आँखकी किरकिरी, मेवाड़-पतन स्वावलम्बन, बंकिमनिबन्धावली, और दुर्गादास नाटकके नये संस्करण हो चुके हैं । जिन सज्जनोंके पास न हों, वे मँगा लेवें।

मैनेजर—**हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई।

बम्बईका माल-सब तरहका हमसे मँगाइए।—
"नन्हेंलाल हेमचन्द्र जैन-चन्दावाडी,
पो० गिरगाँव, बम्बई।"

Printed by Chintaman Sakharam Deole, at the Bombay Vaibhav Press, Servants of India Society's Building, Sandhurst Road, Girgaon, Bombay.

Published by Nathuram Premi, Proprietor, Jain-Granth-Ratnakar Karyalaya, Hirabag, Bombay.

भाग १४ ।

श्रीवर्द्धमानाय नमः ।

जैनहितैषी ।

अंक २-३ ।

नवम्बर, दिसम्बर १९१९ ।

विषय-सूची ।

जिस के पूर्व गौरव का
भी कीर्तन-स्तंभ असल
नहीं देता, उस बौद्ध
साहित्य का संशोधन—प्रव
दुनिया के भिन्न भिन्न
स्वतंत्र सभा-सोसाइटियां स्थ
धर्म का अनुयायी वर्ग आर
में एक मुख्य स्थान ऊपर अ
विशाल साहित्य समुद्र के सैंकड
के छोटे बडे सकडों ही प्राचीन-
लयों की शोभा बढा रहे हैं और
पम ऐसे असंख्य कीर्तनस्तंभ भारत
में वैसे ही उन्नत मस्तक किये हुए
को चमत्कृत कर रहे हैं उस जैन
इतिहास और सुन्दर साहित्य का
संशोधन-प्रकाशन करने वाली
संस्था ने अभी तक जन्म ही न

जुगलकिशोर मुख्तार ।

प्रेस.

किसी ग्रंथमें इनका दूसरे पर्यायनामोंसे उल्लेख किया गया है, परंतु नामविषयक आशय सबका एक है, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। श्वेताम्बरोंके 'उपासकदशा' में भी इन्हींका उल्लेख है और उनका 'श्रावकप्रज्ञप्ति' नामका ग्रंथ भी इन्हींका विधान करता है। इन व्रतोंकी संख्याके विषयमें श्रीकुंदकुन्दाचार्य लिखते हैं कि 'पंचेवणुव्वयाइं' (पंचैव अणुव्रतानि); अर्थात्, अणुव्रत पाँच ही हैं। वसुनन्दी आचार्य भी अपने श्रावकाचारमें यही वाक्य देते हैं। सोमदेवने इसका संस्कृतानुवाद दिया है और श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी यही (पंचेवणुव्वयाइं) वाक्य ज्योंका त्यों पाया जाता है। श्रावकप्रज्ञप्तिके टीकाकार श्रीहरिभद्रसूरि इस वाक्यपर लिखते हैं—

'पंचेति संख्या। एवकारोऽवधारणे। पंचैव न चत्वारि षड्वा।'

अर्थात्—पाँचकी संख्याके साथ 'एव' शब्द अवधारण अर्थमें है जिसका आशय यह है कि अणुव्रत पाँच ही हैं, चार अथवा छह नहीं हैं।

इस तरह पर बहुतसे आचार्योंने अणुव्रतोंकी संख्या सिर्फ पाँच दी है और उक्त पाँचों ही व्रतोंको अणुव्रत रूपसे वर्णन किया है। परंतु समाजमें कुछ ऐसे आचार्य तथा विद्वान् भी हो गये हैं जिन्होंने उक्त पाँच व्रतोंको ही अणुव्रत रूपसे स्वीकार नहीं किया, बल्कि 'रात्रिभोजनविरति' नामके एक छठे अणुव्रतका भी विधान किया है। जैसा कि नीचे लिखे कुछ प्रमाणोंसे प्रकट है:—

क-'अस्य (अणुव्रतस्य) पंचधात्वं बहुमताद्दिष्यते क्वचित्तु रात्र्यभोजनमपि अणुव्रतमुच्यते। तथा भवति।'

—सागारधर्म टीका।

इन वाक्यों द्वारा पं० आशाधरजीने, जो १३ वीं शताब्दीके विद्वान हैं, यह सूचित किया है कि अणुव्रतोंकी यह 'पंच' संख्या बहुमतकी अपेक्षासे है। कुछ आचार्योंके मतसे 'रात्रिभोजनविरति' भी एक अणुव्रत है, सो वह अणुव्रत ठीक ही है।

ख-व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्ननिवृत्तेस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम्॥ ५-७०॥

—आचारसारः।

यह वाक्य श्रीवीरनन्दी आचार्यका है जो आजसे आठसौ वर्ष पहले, विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें, हो गये हैं। इसमें कहा गया है कि (मुनिको) अहिंसादिक व्रतोंकी रक्षाके लिये सर्वथा रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिये और अन्नकी निवृत्तिसे वह रात्रिभोजनका त्याग छठा अणुव्रत कहा जाता है, अथवा कहा गया है।

ग-'रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्त्वानुकंपया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम्।'
'वधादसत्याच्चौर्याच्चकामाद्ग्रंथान्निवर्त्तनम्।
पंचधाणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्॥'

—चारित्रसारः।

ये वचन श्रीनेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य चामुण्डरायके हैं जो आजसे लगभग एक हजार वर्ष पहले, विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके शुरूमें हो गये हैं। इन वचनोंद्वारा स्पष्टरूपसे यह बतलाया गया है कि रात्रिभोजनत्यागको छठा अणुव्रत कहते हैं और यह उन पंच प्रकारके अणुव्रतोंसे भिन्न है जो हिंसाविरति आदि नामोंसे कहे गये हैं। यहाँपर इतना विशेष और है कि वीरनन्दी आचार्यने तो अन्नसे निवृत्त होनेको छठा अणुव्रत बतलाया है परंतु चामुंडराय अन्न, पान, खाद्य और लेह्य, ऐसे चारों प्रकारके आहारके त्यागको छठा अणुव्रत प्रतिपादन करते हैं। दोनों विद्वानोंके कथनोंमें यह परस्पर भेद क्यों? इसमें जरूर कोई गुप्त रहस्य जान पड़ता है। जब महाव्रती मुनियोंको भी रात्रिभोजनके त्यागका व्रतोंसे पृथक्‌रूप उपदेश दिया गया है और उनको

भोजनका सर्वथा त्याग—चारों प्रकारके आहारका त्याग-कराया गया है तब अणुव्रती गृहस्थोंको खासकर व्रतप्रतिमाधारी श्रावकोंको,-इस विषयमें उनके बिलकुल समकक्ष रखना-उनसे भी बराबरका त्याग कराना-कहाँतक न्याय्य है, और इससे अणुव्रत और महाव्रतके त्यागमें परस्पर कुछ विशेषता रहती है या कि नहीं, यह बात हृदयमें जरूर खटकती है।

प्रायः ऐसा मालूम होता है कि जिन विद्वानोंने श्रावककी छठी प्रतिमाको दिवामैथुनत्यागरूपसे वर्णन किया है-रात्रिभोजनत्यागरूपसे नहीं-उन्होंने दूसरी व्रतप्रतिमामें या उससे भी पहले रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग करा दिया है। और जिन्होंने छठी प्रतिमाको रात्रिभोजनत्यागरूपसे प्रतिपादन किया है उन विद्वानोंने या तो रात्रिभोजनत्यागका उससे पहले अपने ग्रंथमें उपदेश ही नहीं दिया और या उसका कुछ मोटे रूपसे त्याग कराया है। यहाँ पर दोनोंके कुछ उदाहरण पाठकोंके सामने रक्खे जाते हैं जिससे रात्रिभोजनत्याग विषयमें आचार्योंका मत-भेद और भी स्पष्टताके साथ उन्हें व्यक्त हो जायः—

१ वसुनन्दी आचार्यने, अपने श्रावकाचारमें, छठी प्रतिमा 'दिवामैथुनत्याग' (दिनमें मैथुन नहीं करना) करार दी है और रात्रिभोजनका त्याग आप पहली प्रतिमावालेके वास्ते आवश्यक ठहराते हैं। आपने लिखा है कि रात्रिभोजनका करनेवाला ११ प्रतिमाओंमेंसे पहिली प्रतिमाका धारक भी नहीं हो सकता। यथाः—

एयादसेसु पढमं विजदो णिसिभोयणं कुणं तस्स।
ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तं परिहरे णियमा ॥३१४॥

२ अमितगति आचार्यने भी अपने उपासकाचारमें, छठी प्रतिमाको 'दिवामैथुनत्याग' वर्णन किया है और व रात्रिभोजनत्यागका विधान व्रतोंके उपदेशसे भी पहले करते हैं, जिससे मालूम होता है कि वे पाक्षिक तथा दर्शनिक श्रावकके लिये उसका नियम करते हैं; जैसा कि पहले अष्टमूलगुणसंबंधी लेखमें प्रकट किया गया है।

३ पं० वामदेव भी अपने 'भावसंग्रह' ग्रंथमें दर्शनिक अर्थात् पहली प्रतिमाधारक श्रावकके लिये रात्रिभोजनका त्याग आवश्यक बतलाते हैं—

'दर्शनिकः प्रकुर्वीत रात्रिभोजनवर्जनम्।'

४ पं० आशाधरजीका भी मत छठी प्रतिमाके विषयमें 'दिवामैथुनत्याग' का है। उन्होंने अपने सागारधर्मामृतमें रात्रिभोजनके त्यागका विधान पाक्षिक श्रावकसे प्रारंभ किया है और उसे क्रमसे बढ़ाया है। पाक्षिक श्रावकसे सामान्यतया भोजनका-अन्नका-त्याग कराकर दर्शनिक श्रावकके त्यागमें कुछ विशेषता की है-उसके लिये दिनके प्रथम मुहूर्त और अन्तिम मुहूर्तमें भी भोजनका निषेध किया है, और साथ ही, रोगनिवृत्ति तथा स्वास्थ्यरक्षाके लिये रात्रिको जल-फल-घृत-दुग्धादिकका सेवन भी दूषित ठहराया है-और अन्तमें फिर व्रतिक श्रावकसे चारों प्रकारके भोजनका सदाके लिये त्याग कराकर इस रात्रिभोजनके कथनको पूरा किया है।

५ श्रीचामुंडराय भी इसी प्रकारके विद्वानोंमें हुए हैं। उन्होंने भी चारित्रसारमें छठी प्रतिमा 'दिवामैथुनत्याग' स्थापित की है। और इसीलिये वे दूसरी प्रतिमामें ही पूरी तौरसे रात्रिभोजनके त्यागका विधान करते हैं। उनके वे विधिवाक्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं।

ये तो हुए प्रथम प्रकारके विद्वानोंके उदाहरण अब दूसरी प्रकारके विद्वानोंके भी कुछ उदाहरण, लीजियेः—

६ श्रीसमन्तभद्राचार्यने, रत्नकरंडमें 'रात्रिभोजनविरति' को छठी प्रतिमा बतलाया है,

और उससे पहले ग्रंथभरमें कहीं भी रात्रिभोजनके त्यागका विधान नहीं किया है। वे चारों प्रकारके आहारका इसी प्रतिमामें त्याग कराते हैं। यथाः—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥

७ ब्रह्मनेमिदत्तने भी अपने 'धर्मोपदेशपीयूषवर्ष' नामके श्रावकाचारमें, समन्तभद्रके सदृश 'रात्रिभोजनविरति'को ही छठी प्रतिमा करार दिया है और उसी तरहपर चारों प्रकारके आहारका उसमें त्याग कराया है। यथाः—

अन्नं पानं तथा खाद्यं लेह्यं रात्रौ हि सर्वदा।
नैव भुंक्ते पवित्रात्मा स षष्ठः श्रावको मतः॥

परंतु नेमिदत्तने इससे पहले भी अपने ग्रंथमें रात्रिभोजनका कुछ त्याग कराया है। लिखा है कि रात्रिमें यदि सामान्यतया जल ताम्बूल और औषधका ग्रहण करते हो तो करो परन्तु फलादिकको ग्रहण करना नहीं चाहिये और इसके समर्थनमें एक प्राकृत वाक्य भी दिया है। यथाः—

"सामान्यतो निशायां च जलं ताम्बूलमौषधं।
गृह्णन्ति चेव गृह्णंतु नैव ग्राह्यं फलादिकं॥
यदुक्तं। तम्बोलो सहु जलमुइवि, जो अंथविए सूरि।
भोग्गासणि फल अहिलसइ ते किउ दंसणु दूरि॥"

वीरनन्दी आचार्यका श्रावकाचार-विषयक कोई ग्रंथ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। परन्तु चूँकि आपने, रात्रिभोजनके त्यागमें सिर्फ अन्नकी निवृत्तिसे ही छठे अणुव्रतका होना सूचित किया है इसलिये आप इस द्वितीयवर्गके ही विद्वान् मालूम होते हैं और संभवतः यही वजह है कि आपके और चामुंडरायके छठे अणुव्रतके स्वरूपकथनमें परस्पर भेद पाया जाता है। यदि ऐसा नहीं है, अर्थात् वीरनन्दी प्रथम वर्गके विद्वानोंमें शामिल हैं तो कहना होगा कि आपके उपर्युल्लिखित पद्यमें 'अन्नात्' पद उपलक्षण है और इसलिये उसकी निवृत्तिसे छठे अणुव्रतमें रात्रिके समय अन्न, पान, खाद्यादिके सभी प्रकारके आहारका त्याग कराया गया है। ऐसी हालतमें फिर महाव्रत और अणुव्रतके त्यागमें कोई विशेषता नहीं रहेगी। परंतु विशेषता रहो अथवा मत रहो, और वीरनन्दी प्रथम वर्गके विद्वान् हों अथवा दूसरे वर्गके, पर इसमें सन्देह नहीं कि ऊपरके इन सब अवतरणोंसे रात्रिभोजनविषयक आचार्योंका शासनभेद बहुत कुछ व्यक्त हो जाता है और साथ ही छठी प्रतिमाका नाम और स्वरूपसंबन्धी कुछ मतभेद भी पाठकोंके सामने आ जाता है। अस्तु।

अब हम फिर अपने उसी छठे अणुव्रतपर आते हैं, और देखते हैं कि उसका कथन कितना पुराना है—

घ—विक्रमकी १० वीं शताब्दीके विद्वान् श्रीदेवसेन आचार्य, अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रंथमें, कुमारसेन नामके एक मुनिके द्वारा विक्रमराजाकी मृत्युसे ७५३ वर्षबाद काष्ठासंघकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए, लिखते हैं कि कुमारसेनने छठे अणुव्रतका (छट्ठं च अणुव्वदं नाम) विधान किया है। इससे मालूम होता है कि रात्रिभोजनत्याग नामका छठा अणुव्रत आजसे बारहसौ वर्षसे भी अधिक समय पहले माना जाता था। परंतु इस कथनसे किसीको यह नहीं समझ लेना चाहिये कि कुमारसेन नामके आचार्यने ही इस अणुव्रतकी ईजाद की है—उन्होंने ही सबसे पहले इसका उपदेश दिया है। ऐसा नहीं है। उनसे पहले भी कुछ आचार्यों द्वारा यह अणुव्रत माना जाता था; जैसा कि, इस लेखमें, इसके बाद ही दिखलाया जायगा और इसलिये कुमारसेनके द्वारा इस व्रतके विधानका सिर्फ इतना ही

आशय लेना चाहिये कि उन्होंने इसे अपने सिद्धान्तोंमें स्वीकार किया था ।

क—श्रीपूज्यपाद स्वामीने, अपने 'सर्वार्थसिद्धि' नामक ग्रंथके सातवें अध्यायमें, प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुए, 'रात्रिभोजनविरमण' नामके छठे अणुव्रतका उल्लेख इस प्रकारसे किया है:—

"ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यं । न । भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावनाहि वक्ष्यंते । तत्र आलोकितपानभोजन भावना कार्येति ।"

इससे मालूम होता है कि श्रीपूज्यपादके समयमें, जिनका अस्तित्वकाल विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध* माना जाता है, रात्रिभोजनविरमण नामका छठा अणुव्रत प्रचलित था।

परन्तु चूँकि उमास्वाति आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रमें इस छठे अणुव्रतका विधान नहीं किया इसलिये, आचार्य पूज्यपादने अपने ग्रंथमें इसका एक विकल्प उठाकर—अर्थात्, यह प्रश्न खड़ा करके कि 'जब रात्रिभोजनविरमण नामका छठा अणुव्रत भी है तब यहाँ व्रतोंके प्रतिपादक इस सूत्रमें उसका भी संमेलन और परिगणन होना चाहिये था ? उत्तरमें बतलाया है कि, इस व्रतका अहिंसाव्रतकी 'आलोकितपानभोजन' नामकी भावनामें अंतर्भाव है इसलिये यहाँ पृथक् रूपसे कहने और गिननेकी जरूरत नहीं हुई। और इस तरहपर उक्त प्रश्नके उत्तरकी भरपाई करके सूत्रकी अनुपपत्ति अथवा त्रुटिका परिहार किया है । यद्यपि इस कथनसे आचार्यमहोदयका छठे अणुव्रतके विषयमें कोई विरुद्ध मत मालूम नहीं होता—बल्कि कथनशैलीसे उनकी इस विषयमें प्रायः अनुकूलता ही पाई जाती है—तो भी प्रायः मूलग्रंथके अनुरोधादिसे उस समय उन्होंने उक्त प्रकारका उत्तर देना ही उचित समझा ऐसा जान पड़ता है । अकलंकदेवने भी, अपने राजवार्तिकमें पूज्यपादके वाक्योंका प्रायः अनुसरण और उद्धरण करते हुए, रात्रिभोजनविरतिको छठा अणुव्रत प्रकट किया है (तदपि षष्ठमणुव्रतं) और उसके विषयमें वे ही विकल्प उठाकर उसे आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अंतर्भूत किया है * । साथ ही, आलोकितपानभोजनमें प्रदीपादिके विकल्पोंको उठाकर और नानारंभदोषादिकके द्वारा उनका समाधान करके कुछ विशेष कथन भी किया है । परन्तु वस्तुतः रात्रिभोजनविरति नामके छठे अणुव्रतका आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अंतर्भाव होता है या कि नहीं, यह बात अभी विचारणीय है । और इसके लिये सबसे पहले हमें अहिंसाणुव्रतका स्वरूप देखना चाहिये । अर्थात्, यह मालूम करना चाहिये कि अहिंसाणुव्रतके धारकके वास्ते कितनी और किसप्रकारकी हिंसाके त्यागका विधान किया गया है । यदि अहिंसा अणुव्रतके स्वरूपमें—अहिंसा महाव्रतके स्वरूपमें नहीं—रात्रिभोजनका त्याग नियमसे आजाता है तब तो उसकी भावनामें भी उसका समावेश हो सकता है और यदि मूल अहिंसाअणुव्रतके स्वरूपमें ही रात्रिभोजनका त्याग नहीं बनता—लाजमी नहीं आता—तब फिर उसकी भावनामें

---

* देवसेनाचार्यने 'दर्शनसार' ग्रंथमें लिखा है कि श्रीपूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीके द्वारा वि० सं० ५२६ में द्राविडसंघकी उत्पत्ति हुई है । प्रोफेसर के० बी० पाठकने किसी कनड़ी ग्रंथके आधारपर मालूम किया है कि पूज्यपाद स्वामी दुर्विनीत राजाके समयमें हुए हैं । दुर्विनीत राजा उनका शिष्य था, जिसने वि० सं० ५३५ से ५७०तक राज्य किया है । इससे पूज्यपादका उक्त समय प्रायः ठीक मालूम होता है ।

* स्यान्मतमिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानं कर्तव्यं तदपि षष्ठमणुव्रतमिति । तन्न । किं कारणं भावनान्तर्भावात् । —राजवार्तिकम् ।

ही उसका समावेश कैसे हो सकता है। क्योंकि भावनाएँ व्रतोंकी स्थिरताके लिये कही गई हैं। जो बात मूलमें ही नहीं उसकी फिर स्थिरता ही क्या की जा सकती है ? अतः सबसे पहले हमें अहिंसाणुव्रतके स्वरूपको सामने रखना चाहिये और तब उसपरसे विचार करना चाहिये कि उसकी आलोकितपानभोजन (देखकर खाना-पीना) नामकी भावनामें रात्रिभोजनविरतिका अंतर्भाव होता है या कि नहीं। अहिंसाणुव्रतका स्वरूप श्रीसमंतभद्राचार्यने इसप्रकार बतलाया है—

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥

इस स्वरूपमें अणुव्रतीके लिये स्थूलरूपसे त्रसजीवोंकी सिर्फ संकल्पी हिंसाके त्यागका विधान किया गया है। आरंभी * और विरोधी हिंसाका वह प्रायः त्यागी नहीं होता। श्रीहेमचंद्राचार्य भी, अपने योगशास्त्रमें, 'निरागस्त्रसजंतूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत्,' इस वाक्यके द्वारा संकल्पसे निरपराधी त्रस जीवोंकी हिंसाके त्यागका विधान करते हैं। रात्रिभोजनमें दिनकी अपेक्षा हिंसाकी अधिक संभावना जरूर है परन्तु वह उक्त संकल्पी हिंसा नहीं होती जिसके त्यागका व्रती श्रावकके लिये नियम किया गया है और इसलिये अहिंसाणुव्रतकी प्रतिज्ञामें रात्रिभोजनका त्याग नहीं आता। उसके लिये जुदा नियमादिक करनेकी जरूरत होती है। इसी लिये गृहस्थोंको रात्रिभोजनके त्यागका पृथक् उपदेश दिया गया है। कुछ आचार्योंने अहिंसाणुव्रतके बाद, कुछने पाँचों अणुव्रतोंके बाद, कुछने भोगोपभोगपरिमाण नामके गुणव्रतमें और कुछने अणुव्रतोंके कथनसे भी पहले इसका वर्णन किया है। और अनेक आचार्योंने स्पष्ट तौरपर इसे छठा अणुव्रत ही करार दिया है जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है। अतः यह एक पृथक् व्रत जान पड़ता है और उक्त आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें इसका अन्तर्भाव नहीं होता। हाँ, महाव्रतियोंके त्यागकी दृष्टिसे, जिसमें सब प्रकारकी हिंसाको छोड़ा जाता है, और गोचरीके भी कुछ विशेष नियम हैं, आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें रात्रिभोजनके त्यागका समावेश जरूर हो सकता है। और संभवतः इसीपर लक्ष्य रखते हुए श्रीपूज्यपाद और अकलंकदेवने अपने अपने ग्रंथोंमें उक्त प्रकारके उत्तरका विधान किया जान पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि विकल्पको उठाकर उसका उत्तर देते समय उनकी दृष्टि अहिंसाणुव्रतके स्वरूपपर नहीं पहुँची—उनके सामने उस समय अहिंसा महाव्रतके स्वरूपका नकशा और मुनियोंके चरित्रका चित्र ही रहा है, और इस लिये, उन्होंने उसीके ध्यानमें रात्रिभोजनविरमण नामके छठे अणुव्रतको अहिंसाव्रतकी आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अंतर्भूत कर दिया है। हमारा यह खयाल और भी दृढ होता है जब हम राजवार्तिकमें उन विशेष विकल्पोंके उत्तर प्रत्युत्तरोंको देखते हैं जो आलोकितपानभोजनके सम्बंधमें उठाए गये हैं वे सब मुनियोंसे ही सम्बंध रखते हैं। जैसे कि, दीपादिकके प्रकाशमें देख भालकर रात्रिको भोजनपानकरनेमें जो आरंभ दोष होता है उसे यदि परकृतप्रदीपादिसे हटाया जाय तो फिर भोजनके वास्ते मुनियोंका रात्रिको विहारादिक नहीं बन सकता; क्योंकि आचारशास्त्रका ऐसा उपदेश है—

'ज्ञानादित्यस्वेंद्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वापेक्षी देशकाले पर्यट्य यतिः भिक्षां शुद्धामुपादीयते इत्याचारोपदेशः।'

---

* गृहवाससेवनरतो मंदकषायप्रवर्तितारंभः।
आरंभजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम्॥
—अमितगतिः।

आचारशास्त्रकी यह विधि रात्रिको नहीं बन सकती। अतः परकृत प्रदीपादिके कारण आरंभदोष न होते हुए भी, विहारादिक न बन सकनेसे, मुनियोंके रात्रिको भोजन नहीं बनता। इसी तरहपर आगे और भी, दिनको भोजन लाकर उसे रात्रिको खाने आदिके विकल्प उठाए गये हैं और उनका फिर मुनियोंके सम्बन्धमें परिहार किया गया है, जिन सबसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि मुनिधर्मको लक्ष्य करके ही रात्रिभोजनविरमणका आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अन्तर्भाव किया गया है; श्रावकधर्म अथवा उक्त छठे अणुव्रतको लक्ष्य करके नहीं। वास्तवमें अहिंसादिक व्रतोंकी पाँच पाँच भावनाएँ भी प्रायः मुनियोंको—महाव्रतियोंको—लक्ष्य करके ही कही गई हैं; जैसा कि शास्त्रोंमें दिये हुए ईर्यासमिति, भैक्ष्यशुद्धि, शून्यागारावास आदि उनके नामों तथा स्वरूपसे प्रकट हैं और जिनके विषयमें यहाँ विशेष लिखनेकी जरूरत नहीं है। महाव्रतोंकी अस्थिरतामें मुनियोंके एक भी उत्तरगुण नहीं बन सकता, अतः व्रतोंकी स्थिरता संपादन करनेके लिये ही मुनियोंके वास्ते इन सब भावनाओंका खास तौरसे विधान किया गया है, जैसा कि श्लोकवार्तिकमें श्रीविद्यानंद स्वामीके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

तत्स्थैर्यार्थं विधातव्या भावनाः पंच पंच तु।
तदस्थैर्ये यतीनां हि संभाव्यो नोत्तरो गुणः॥

अणुव्रती श्रावकके लिये इन भावनाओंमेंसे आलोकितपानभोजन नामकी भावनाका प्रायः इतना ही आशय हो सकता है कि, मोटे रूपसे अच्छी तरह देख भालकर भोजनपान किया जाय—वैसे ही बिना देखे भाले अन्धेरे आदिमें अनापशनाप भोजन न किया जाय। इससे अधिक, रात्रिभोजनके त्यागका अर्थ उससे नहीं लिया जा सकता। उसके लिये जुदा प्रतिज्ञा करनी होती है। यह भावना है, इसे व्रत अथवा प्रतिज्ञा नहीं कह सकते। व्रत कहते हैं अभिसंधिकृत नियमको—अर्थात्, यह काम मुझे करना है अथवा यह काम मैं नहीं करूँगा, इस प्रकारके नियमको और भावना नाम है पुनः पुनः चिन्तवनका। आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें इस प्रकारका चिन्तवन किया जाता है कि 'मेरे अहिंसा व्रतकी शुद्धिके लिये देख भालकर भोजन हुआ करे।' इससे पाठक समझ सकते हैं कि यह चिन्तवन कहाँ तक उस रात्रिभोजनविरति नामके व्रत अथवा अणुव्रतकी कोटिमें आता है, जिसमें इस प्रकारका नियम किया जाता है कि मैं रात्रिको अमुक अमुक प्रकारके आहारका सेवन नहीं करूँगा। अस्तु; यहाँ हम अपने पाठकों पर इतना और प्रकट किये देते हैं कि श्रीविद्यानंदस्वामीने, अपने श्लोकवार्तिकके इसी प्रकरणमें, छठे अणुव्रतका उल्लेख नहीं किया है; बल्कि रात्रिभोजनविरतिको अहिंसादिक पाँचों व्रतोंके अनन्तर ही अस्तित्व रखनेवाला एक पृथक् व्रत सूचित करते हुए उसे उक्त प्रकारके प्रश्नों तथा विकल्पोंके साथ, आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अंतर्भूत किया है। जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"ननु पंचमु व्रतेष्वनंतर्भावादिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यामिति चेन्न, भावनान्तर्भावात्। तत्रानिर्देशादयुक्तोऽन्तर्भाव इति चेन्न, आलोकितपानभोजनस्य वचनात्।"

इससे मालूम होता है कि विद्यानंद स्वामीकी दृष्टि श्रीपूज्यपाद और अकलंकदेवकी उस सदोष उक्ति पर पहुँची है, जिसके द्वारा उन्होंने उक्त छठे अणुव्रतको आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें अंतर्भूत किया था; और इस लिये उन्होंने उसका उपर्युक्त प्रकारसे संशोधन करके कथनके पूर्वापर संबंधको एक प्रकारसे ठीक

किया है । वास्तवमें वार्तिककारोंका काम भी प्रायः यही होता है । वे अपनी समझ और शक्तिके अनुसार उक्त, अनुक्त और दुरुक्त तीनों प्रकारके अर्थोंकी चिन्ता विचारणा और अभिव्यक्ति किया करते हैं। उक्तार्थोंमें जो उपयोगी और ठीक होते हैं उनका संग्रह करते हैं, शेषको छोड़ते हैं; अनुक्तार्थोंको अपनी ओरसे मिलाते हैं और दुरुक्तार्थोंका संशोधन करते हैं— जैसा कि श्रीहेमचंद्राचार्य प्रतिपादित 'वार्तिक' के निम्न लक्षणसे प्रकट है:—

उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्तिकम्।

अकलंकदेव भी वार्तिककार हुए हैं। उन्होंने भी अपने राजवार्तिकमें ऐसा किया है। परन्तु उनकी दृष्टि पूज्यपादकी उक्त सदोष उक्ति पर नहीं पहुँची ऐसा मालूम होता है। अथवा कुछ पहुँची भी है, यदि उनके 'तदपि षष्ठमणुव्रतं' इस वाक्यका 'वह (रात्रिभोजनविरति) भी छठा अणुव्रत है' ऐसा अर्थ न करके 'वह छठा अणुव्रत भी है' यह अर्थ किया जाय। ऐसी हालतमें कहा जायगा कि उन्होंने पूज्यपादकी उस दुरुक्तिका सिर्फ आंशिक संशोधन किया है। क्योंकि छठे अणुव्रतका उल्लेख करके उन्होंने फिर आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें उसकी उसी तरह सिद्धि नहीं की जिस तरह कि महाव्रतियोंकी दृष्टिसे रात्रिभोजनविरति नामके व्रतकी की है। और महाव्रतियोंकी दृष्टिसे जो आरंभदोषादिक हेतु प्रयुक्त किये गये हैं उनकी अणुव्रती गृहस्थोंके सम्बधमें अनुपपत्ति है—वे उनके नहीं बनते—इसलिये उनसे उक्त विषयकी कोई सिद्धि नहीं होती। हमारी रायमें श्रावकोंके छठे अणुव्रतकी, आलोकितपानभोजन नामकी भावनामें कोई सिद्धि नहीं बनती जैसा कि ऊपर कुछ विशेष रूपसे दिखलाया गया है।

इस संपूर्णकथनसे यह बात भले प्रकार समझमें आसकती है कि 'रात्रिभोजनविरति' नामका व्रत एक स्वतंत्रव्रत है। उसके धारण और पालनका उपदेश मुनि और श्रावक दोनोंको दिया जाता है—दोनोंसे उसका नियम कराया जाता है—वह अणुव्रतरूप भी है और महाव्रतरूप भी। महाव्रतोंमें भले ही उसकी गणना न हो—वह छठे अणुव्रतके सदृश छठा महाव्रत न माना जाता हो— और चाहे मुनियोंके मूलगुणोंमें भी उसका नाम न हो परंतु इसमें संदेह नहीं कि उसका अस्तित्व पंचमहाव्रतोंके अनन्तर ही माना जाता है और उनके साथ ही मूलगुणोंके तौरपर उसके अनुष्ठानका पृथक् रूपसे विधान किया जाता है, जैसा कि इस लेखके शुरूमें उद्धृत किये हुए आचारसारके वाक्य और मूलाचारके निम्नवाक्यसे भी प्रकट है:—

'तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणविरत्ती।'

ऐसी हालतमें रात्रिभोजनविरतिको यदि छट्ठा महाव्रत मान लिया जाय अथवा महाव्रत न मानकर उसके द्वारा मुनियोंके मूलगुणोंमें एककी वृद्धि की जाय—वे २८ के स्थानमें २९ स्वीकार किये जायँ—तो इसमें जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंसे कोई विरोध नहीं आता। मूलोत्तर गुण हमेशा एक ही प्रकारके और एकही संख्यामें नहीं रहा करते। वे समयकी आवश्यकताओं, देशकालकी परिस्थितियों और प्रतिपाद्यों (शिष्यों) की योग्यता आदिके अनुसार बराबर बदला करते हैं—उनमें फेरफारकी जरूरत हुआ करती है। महावीर भगवानसे पहले अजितनाथ तीर्थंकरपर्यंत व्रत एक था; क्योंकि बाईस तीर्थंकरोंने 'सामायिक' चारित्रका उपदेश दिया है, छेदोपस्थापना चारित्रका नहीं। छेदोपस्थापनाका उपदेश श्रीऋषभदेव और महावीर भगवानने दिया है; जैसा कि श्रीवट्टकेराचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

'बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुन भयवं उसहो य वीरोय ॥७-३२॥
—मूलाचार।

सामायिक चारित्रकी अपेक्षा व्रत एक होता है, जिसे अहिंसाव्रत अथवा सर्वसावद्यत्याग व्रत कहना चाहिये। वही व्रत छेदोपस्थापना चारित्रकी अपेक्षा पंच प्रकारका—अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह रूपसे वर्णन किया गया है, जैसा कि श्रीपूज्यपाद स्वामीके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

'सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधमिहोच्यते।'

—सर्वार्थसिद्धि।

इससे स्पष्ट है कि जब महावीर भगवानसे पहले अजितनाथ तीर्थंकरपर्यंत व्रतोंमें सत्य व्रतादिककी कल्पना नहीं थी, अविभक्तरूपसे एक अहिंसाव्रत माना जाता था—सिर्फ अहिंसाको धर्म और हिंसाको पाप गिना जाता था—तब उस वक्त मुनियोंके ये अट्ठाईस मूल गुण भी नहीं थे और न श्रावकोंके वर्तमान बारह व्रत बन सकते हैं—उनकी संख्या भी कुछ और ही थी। यह सब भेदकल्पना महावीर भगवानके समयसे हुई है। संभव है कि महावीर भगवानको अपने समयमें मुनियोंको रात्रिभोजनके त्यागकी पृथक्रूपसे उपदेश देनेकी जरूरत न पड़ी हो, उस वक्त आलोकितपान-भोजन नामकी भावना आदिसे ही काम चल जाता हो और यह जरूरत पीछेके कुछ आचार्योंको द्वादशवर्षीय दुष्कालके समयसे पैदा हुई हो जब कि बहुतसे मुनि रात्रिको भोजन करने लगे थे और शायद 'परंकृतप्रदीप' और 'दिवानीत' आदि हेतुओंसे अपने पक्षका समर्थन किया करते थे। और इस लिये दूरदर्शी आचार्योंने उस वक्त मुनियोंके लिये महाव्रतोंके साथ—उनके अनन्तर ही—रात्रिभोजनविरतिका एक पृथक् व्रतरूपसे विधान करना आवश्यक समझा। वही विधान अबतक चला आता है। ऐसी ही हालत छठे अणुव्रतकी जान पड़ती है। उसे भी किसी समयके आचार्योंने जरूरी समझ कर उसका विधान किया है। परन्तु इन सब विधि-विधानोंका जैनसिद्धान्तों अथवा महावीर भगवानके शासनके साथ कोई विरोध नहीं है—सबका आशय और उद्देश्य सावद्य कर्मोंको छुड़ानेका है—यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक आचार्यने छठे अणुव्रतका विधान करके अथवा मुनियोंके लिये पृथक्रूपसे एक नये व्रतकी ईजाद करके महावीर भगवानकी आज्ञाका उल्लंघन किया अथवा उन्मार्ग फैलाया है। ऐसा कहना भूल होगा। महावीर भगवानने सावद्यकर्मोंके त्यागका एक नुसखा (ओषधिकल्प) बतलाया था, जो उस समय उनके शिष्योंकी प्रकृतिके बहुत अनुकूल था। उनके इस बतलानेका यह आशय नहीं था कि दूसरे समयोंमें—शिष्योंकी प्रकृति बदलने पर भी उसमें कुछ फेरफार न किया जाय। इसीलिये उसमें अविरोधदृष्टिसे फेरफार किया गया है और अब भी उसी दृष्टिसे किया जा सकता है। आज यदि कोई महात्मा, वर्तमान देशकालकी परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अनुसार अणुव्रतोंकी संख्यामें एक नये व्रतकी वृद्धि करना चाहे, अर्थात् (उदाहरणके तौर पर) 'स्वदेशवस्तुव्यवहार' नामका सातवाँ अणुव्रत स्थापित करे तो वह खुशीसे ऐसा कर सकता है। उसमें भी कोई आपत्ति किये जानेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि अहिंसा-

---

१ भोजन हम दीपकके प्रकाशमें, अच्छी तरहसे देख भालकर करते हैं और दीपकको दूसरेने स्वयं जलाया है इसलिये हमें उसका आरंभादिक दोष भी नहीं लगता।

२ भोजनके लिये रात्रिको विहार करने आदिका जो दोष आता था सो ठीक, परन्तु हम दिनमें विधि-पूर्वक गोचरीके द्वारा भोजन ले आते हैं और रात्रिको परकृत प्रदीपके प्रकाशमें अच्छी तरह देख भालकर खा लेते हैं, इसलिये हमें कोई दोष नहीं लगता।

व्रतकी रक्षाके लिये ('अहिंसाव्रतरक्षार्थ—' सोमदेवः) अथवा पाँचों व्रतोंकी रक्षाके लिये ('तेसिंचेव वदाणं रक्खट्टं) जिस प्रकार 'रात्रिभोजनविरति'का विधान किया गया है उसी प्रकार अपरिग्रह—परिमितपरिग्रह—व्रतकी रक्षाके लिये अथवा अहिंसादिक पाँचों ही व्रतोंकी रक्षाके लिये 'स्वदेशवस्तुव्यवहार' नामका व्रत बहुत ही उपयोगी जान पड़ता है। आजकल इसकी बड़ी जरूरत भी है—विदेशी वस्तुओंके प्रबल प्रचारके कारण मनुष्योंका नाकों दम है, उनमें इतनी जरूरतें बढ़ गई हैं और इतनी विलासप्रियता छागई है कि उन सबके चक्करमें पड़कर उन्हें धर्मकर्मकी प्रायः कुछ भी नहीं सूझती। और इसलिये धर्मकर्मका सब विधि विधान पुस्तकोंमें ही रक्खा रह जाता है—उन्हें अपनी कृत्रिम आवश्यकताओंको पूरा करनेसे ही फुर्सत नहीं मिलती। इन सब आपत्तियोंसे बचनेके लिये 'स्वदेशवस्तुव्यवहार' नामका व्रत एक अमोघशस्त्रका काम देगा। ऐसे महान् उपयोगी व्रतका विधान कभी महावीर भगवानके शासनके विरुद्ध नहीं हो सकता और न वह जैनसिद्धान्तोंके ही विरुद्ध कहा जा सकता है। अस्तु।

यहाँ, श्वेताम्बर आचार्योंकी दृष्टिसे हम, इस समय, सिर्फ इतना और बतलाना चाहते हैं कि उन्होंने रात्रिभोजनविरतिको छठा अणुव्रत तो नहीं माना, परंतु साधुके २७ मूलगुणोंमें उसे पंचमहाव्रतोंके बाद छठा व्रत जरूर माना है। श्रावकोंके लिये श्रीहेमचंद्राचार्यने रात्रिभोजनके त्यागका विधान भोगोपभोगपरिमाण नामके दूसरे गुणव्रतमें किया है। परंतु श्रावकप्रज्ञप्तिके कर्ता महाशयका उक्त गुणव्रतमें वैसा कोई विधान नहीं है। उसके टीकाकार श्रीहरिभद्रसूरि भी वहाँ रात्रिभोजनके त्यागका कोई उल्लेख नहीं करते। उन्होंने 'वृद्धसम्प्रदाय' रूपसे जो प्राकृत गद्य अपनी टीकामें उद्धृत किया है उसमें भी रात्रिभोजनके त्यागकी कोई विधि नहीं है। श्वेताम्बरसंप्रदायका मुख्य ग्रंथ उपासकदशांगसूत्र भी इस विषयमें मौन है—वह उक्त गुणव्रतका वर्णन करते हुए रात्रिभोजनके त्यागका कुछ भी उल्लेख नहीं करता। इन सब बातोंसे ऐसा मालूम होता है कि उनके यहाँ भोगोपभोगपरिमाण नामके गुणव्रतमें रात्रिभोजनके त्यागका कोई खास नियम नहीं है। अन्यथा, श्रावकप्रज्ञप्तिके कर्ता या कमसे कम उसके टीकाकार उसका वहाँ उल्लेख जरूर करते। संभव है कि इस विषयमें उक्त सम्प्रदायके आचार्योंमें और भी मतभेद हो जो अभीतक हमें मालूम नहीं हुआ। मालूम होनेपर सूचित किया जायगा।

इस तरह आचार्योंके शासनभेद-द्वारसे यह अणुव्रतोंकी संख्या आदिका कुछ विवेचन किया गया है। अणुव्रतोंका स्वरूप-विषयक विशेष भेद फिर किसी आगामी संख्यामें, स्वतंत्र शीर्षकके नीचे, दिखलाया जायगा।

सरसावा। मार्गशीर्ष शुक्ल ३ सं० १९७६।

यदि आप किसी अच्छे विद्वानसे कोई नवीन लेख लिखाना चाहते हैं तो पहले आप किसी तरहपर, उसके पूर्व-प्रकाशित लेखोंके विषयमें अपनी रुचिका परिचय दीजिये। अर्थात्—यह दिखलाइये कि आपके हृदयमें उनके लिये कितनी जगह है, आप उन्हें कितना पसंद करते हैं और किस तरहपर आपने उनके प्रचार आदिका यत्न किया है अथवा करनेको तय्यार हैं। पूर्ण परिचय मिलनेपर वह विद्वान् अपने अवकाशानुसार जरूर आपको अपना लेख देनेका यत्न करेगा। विना उक्त प्रकारका परिचय दिये केवल लेखाभावादिकके कारण प्रार्थनामात्रसे अच्छे विद्वानोंके लेख नहीं मिल सकते। उनके लिये आशा करना भूल है।

—खंड-विचार

वर-सम्बोधन ।

(द्रुतविलम्बित ।)

(१)

वर बने, वर, हो तुम आज क्या ?
प्रबल उत्सुक हो उस अर्थ या ?
सँभलना जिस मार्ग चले अभी,
फिसलना जिससे नहिं हो कभी ॥

(२)

कठिन-दुर्गम मार्ग गृहस्थका ।
निबलके बसका, न अस्वस्थका ।
न करमें यदि दीपक ज्ञानका,
गमन क्यों कर हो अनजानका ॥

(३)

मनन पूर्व करो इस बातका,
विहित क्या शुभ लक्ष्य विवाहका ।
तदनु[1] शक्ति लखो निज कायकी,
हृदयकी, धनकी, व्यवसायकी ॥

(४)

यदि तुम्हें अनुकूल जँचें सभी,
कर विवाह, गृहस्थ बनो तभी ।
सतत यत्न करो उसके लिये
दृढप्रतिज्ञ बने जिसके लिये ॥

(५)

निबल-मूर्ख न सन्तति जन्म दो,
प्रकृतिके प्रतिकूल न कर्म हो ।
दुरुपयोग न हो निज शक्तिका,
सदुपयोग रहे अनुरक्तिका ॥

(६)

न कुल-देश-कलंक बनो कभी,
न यश-कीर्ति कलंकित हो कभी ।
समयके अनुकूल प्रवृत्ति हो,
पठन-पाठनसे न विरक्ति हो ॥

(७)

सुदृढ धैर्य कभी नहिं भंग हो,
अलसता न रहे, न कुसंग हो ।
बन उदार समुद्यम-लीन हो,
जगतके हितसे न विहीन हो ॥

(८)

अटल लक्ष्य रहे इनमें सदा,
'युग-प्रताप' न चालित हो कदा ।
धरमकी—धनकी नहिं हान हो,
सफल यों स्वगृहस्थ-विधान हो ॥

---

१ **श्रद्धादृष्टि** केवल गुणोंको ग्रहण करती तथा दोषोंमें भी गुणोंकी कल्पना किया करती है । २ **अश्रद्धादृष्टि** केवल दोषोंको ग्रहण करती और गुणोंमें दोषोंका उद्भावन किया करती है । ३ **परीक्षादृष्टि** गुणों और दोषोंमें विवेक करके गुणोंका ग्रहण और दोषोंका परित्याग करना उचित समझती है; यही इन तीनों दृष्टियोंमें परस्पर भेद है ।

× × × ×

१—निन्दित, कुत्सित, और जघन्य आचरणोंका स्वेच्छापूर्वक आचरण करते हुए भी लज्जित न होना 'बेशरमी' कहलाता है । निर्लज्जता और बेहयाई भी उसीके नामान्तर है ।

२—निन्दित, कुत्सित और जघन्य आचरणोंमें वे सब आचरण दाखिल हैं जिनका अनुष्ठान सत्यता, धर्म और लोकहितके विरुद्ध है—जिनके द्वारा पबलिकको धोखा दिया जाता है, विश्वासघात किया जाता है—अथवा जिनके करनेसे धर्मादिक सत्कार्योंमें बाधा उपस्थित होती है, जो अपने पदके अयोग्य तथा विरुद्ध हैं और जिनसे यह मनुष्य पतनकी ओर चला जाता है । साथ ही, अपने उदाहरणसे, दूसरोंको भी पतनकी ओर खींचता है । ऐसे आचरणोंको स्वाधीनतापूर्वक करके लज्जित न होनेवाले मनुष्योंको 'बेशरम' समझना चाहिये ।

× × × ×

जिसके द्वारा मानव-समाजमें, स्त्रीपुरुषोंको परस्पर कामक्रीडाका द्रव्याद्यपेक्षारहित, स्वतंत्र और खुला अधिकार प्राप्त होता है उस सम्बंध-विशेषको 'विवाह' कहते हैं । —खंडविचार ।

---

१ उसके बाद ।

दुष्प्राप्य और अलभ्य जैनग्रन्थ।

६ माघनन्दिश्रावकाचार।

जैनसिद्धान्तभवन आराकी सूचीसे मालूम होता है कि 'माघनन्दिश्रावकाचार' नामका भी कोई ग्रंथ है। यह ग्रंथ प्राकृतभाषामें है, और इसकी श्लोकसंख्याका प्रमाण ४६२२ दिया है। इसके रचयिताका नाम 'माघनन्दी' आचार्य है। जैनसमाजमें 'माघनन्दी' नामके एक बहुत बड़े आचार्य कुन्दकुन्दाचार्यसे भी पहले हो गये हैं। यदि यह ग्रंथ सचमुच उन्हींका बनाया हुआ है तब तो इसे बड़े ही महत्त्वका समझना चाहिये। श्रावकाचारपर ऐसे प्राचीन और इतने विस्तृत ग्रंथकी बहुत बड़ी जरूरत है। ऐसे प्राचीन ग्रंथोंके प्रकाशमें आनेसे समाजका बहुत कुछ उपकार हो सकता है और अनेक विषयोंपर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। यह ग्रंथ उक्त भवनमें कनड़ी लिपिमें ताड़पत्रोंके ऊपर लिखा हुआ मौजूद है। दूसरे प्रसिद्ध भंडारोंकी सूचियोंमें इस नामके ग्रंथका अस्तित्व देखनेमें नहीं आया। हाँ, श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीने, जयपुरादिकके अनेक भंडारोंकी सूचियोंपरसे, जो 'दिगम्बरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी एक बृहत्सूची जैनहितैषीके छठे भागमें प्रकाशित की थी, उसमें माघनन्दि (भट्टारक) के नामके साथ एक 'श्रावकाचार' का उल्लेख जरूर पाया जाता है। परंतु वहाँ उसकी भाषा संस्कृत-युक्त कर्णाटकी प्रकट की है, और यहाँ भवनके उक्त ग्रंथकी भाषा प्राकृत लिखी है। इससे दोनों ग्रंथ भिन्न जान पड़ते हैं। संभव है कि दोनों ग्रंथ एक ही हों और उनपरसे भाषाके निश्चय करनेवालोंमेंसे किसीको भ्रम हुआ हो। अतः जरूरत इस बातकी है कि भवनके उक्त ग्रंथकी फिरसे जाँच की जाय और उसकी भाषा आदिके विषयमें विशेष हाल प्रकट किया जाय। साथ ही, दूसरे स्थानोंके भाई खासकर दक्षिण देश और जयपुरादिकके भाई भी अपने अपने यहाँके भंडारोंमें इस ग्रंथकी खोज करें और यदि उन्हें अपने भंडारोंमें इस नामके ग्रंथका कुछ पता मिले तो वे हमें उससे सूचित करें। आशा है कि भवनके मंत्री साहब कृपया मूलग्रंथको निकलवा कर उक्त विषयकी जाँच करेंगे और उसके नतीजेसे हमें शीघ्र सूचित करेंगे। साथ ही, भवनमें ऐसा प्रबंध करेंगे कि, जिससे भाइयोंको कनड़ी लिपिके ग्रंथोंकी कापियाँ देवनागरी अक्षरोंमें प्राप्त हो सकें, जिससे वे उन कापियों परसे स्वयं किसी विषयका कुछ निर्णय कर सकें अथवा ग्रंथोंका उद्धार और प्रचार कर सकें। यही भवनका एक खास कर्तव्य है और इसीके द्वारा सवसाधारणको कुछ विशेष लाभ पहुँचाया जा सकता है।

७ प्रमाणलक्षण।

मैसूर राज्यकी ओरिएंटल लायब्रेरीमें प्रमाणलक्षण नामका एक संस्कृत ग्रंथ है जो अकलंक देवका बनाया हुआ है। यह ग्रंथ उक्त लायब्रेरीकी हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथोंकी सूचीके प्रथम भागमें नं० $\frac{५३१}{१६६}$ पर दर्ज है। अकलंकदेवके प्रायः सभी ग्रंथ बहुत महत्त्वको लिए हुए होते हैं, खासकर प्रमाणविषयमें तो उनकी बहुत ही प्रसिद्धि है। ये न्यायमें एक अद्वितीय विद्वान् होगये हैं। कहा भी जाता है कि 'प्रमाणमकलंकस्य—अर्थात्, अकलंक देवका प्रमाण *। बहुत संभव है कि इस वाक्यमें 'प्रमाण' शब्दसे उनके इसी ग्रंथका उल्लेख किया गया हो। यदि ऐसा है तो यह ग्रंथ और भी अधिक

* प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणं। धनंजयकवे काव्यंः रत्नत्रयमकटंकम् ॥

महत्त्वका है और इस लिये इसके शीघ्र उद्धार होनेकी बहुत बड़ी जरूरत है । अकलंकदेवके इस ग्रंथका अभीतक कहीं नाम सुननेमें नहीं आता था और न दूसरे किसी प्रसिद्ध भंडारकी सूचीमें यह नाम देखा गया । हालमें जैनसिद्धान्त भवन आराकी जो सूची प्रकाशित हुई है उसमें इस नामका एक संस्कृत ग्रंथ नं० ५२२ पर जरूर दर्ज है, परंतु वहाँ उसके कर्ताका कोई नाम प्रकट नहीं किया, सिर्फ पत्रोंकी संख्या ५५ दी है और उसे कनड़ी लिपिमें ताड़पत्रों पर लिखा हुआ प्रकट किया है । बहुत संभव है कि भवनका यह ग्रंथ भी अकलंकदेवका ही बनाया हुआ वही ग्रंथ हो जो मैसूरकी लायब्रेरीमें मौजूद है । अतः भवनके मंत्री साहबको इसकी जाँच करनी चाहिये और यदि जाँचसे उन्हें यह ग्रंथ अकलंकदेवका ही बनाया हुआ मालूम हो तो उसकी देवनगारी अक्षरोंमें कापी करनेका शीघ्र प्रबंध करना चाहिये । अन्तमें हम अपने मैसूरके भाइयोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे अपने यहाँकी लायब्रेरीसे उक्त ग्रंथकी कापी कराकर उसे माणिकचंद्रजैनग्रंथमालाके मंत्री साहबके पास बम्बई भिजवा देवें, अथवा हमारे पास भिजवानेकी कृपा करें जिससे उसका शीघ्र उद्धार और प्रचार हो सके । यदि उक्त ग्रंथकी प्रेसकापी भिजवा सकें तो और भी अच्छा है । उजरत दी जायगी ।

८ सप्तपंचाशदास्राविक ।

' सप्तपंचाशदास्राविक ' नामका यह ग्रंथ भी अश्रुतपूर्व जान पड़ता है—किसी भंडारमें अथवा भंडारकी किसी सूचीमें हमारे देखने और सुननेमें नहीं आया—परंतु मैसूर राज्यकी उक्त लायब्रेरीमें मौजूद है और उसकी उसी सूचीमें नं० ५४२/१८८ पर दर्ज है । यह ग्रंथ नेमिचंद्राचार्यका बनाया हुआ है, इसकी भाषा प्राकृत है और इसके साथमें कर्णाटकी टीका भी लगी हुई है । ग्रंथके नामपरसे ऐसा मालूम होता है कि इसमें ५७ आस्रवोंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है । अतः ग्रंथ महत्त्वका जान पड़ता है और शीघ्र उद्धार किये जानेके योग्य है । बहुत संभव है कि इसके कर्ता वे ही नेमिचंद्राचार्य हों जिन्होंने ' गोम्मटसार ' नामके सुप्रसिद्ध ग्रंथकी रचना की है, अथवा यह ' द्रव्यसंग्रह ' के कर्ता दूसरे नेमिचंद्राचार्यका बनाया हुआ होगा । दोनों ही आचार्योंके ग्रंथ देखने और प्रचार किये जानेके योग्य हैं । हमारे मैसूरके भाइयोंको सबसे पहले इसके मूल प्राकृत भागकी कापी करानी चाहिये । यह भाग अधिक नहीं होगा ।

९ जैनगोत्रनिर्णय ।

यह ग्रंथ भी मैसूरकी लायब्रेरीमें पाया जाता है और लायब्रेरीकी उक्त सूचीमें नं० ५२१/८१६ पर दर्ज है । परंतु यह मालूम नहीं हुआ कि कौनसे आचार्य तथा विद्वानका बनाया हुआ है । सूचीमें इसकी पत्रसंख्या ३० दी है । संभव है कि यह ग्रंथ और किसी भंडारमें भी मौजूद हो परंतु अन्यत्र कहीं हमारे देखने सुननेमें नहीं आया । आजकल समाजमें गोत्रसम्बन्धी प्रश्न उठा हुआ है । अतः ऐसे ग्रंथोंके और भी शीघ्रताके साथ प्रकाशमें आनेकी जरूरत है । आशा है कि मैसूरके कोई विद्वान् भाई लायब्रेरीसे इस ग्रंथको निकलवाकर इसके कर्ता आदि संबंधी विशेष हालोंसे हमें शीघ्र सूचित करनेकी कृपा करेंगे; और इस तरह पर पुरानी बातोंकी खोज लगाकर एक सार्वजनिक हितके काममें हमारे सहायक बनेंगे ।

१० मार्गप्रकाश ।

श्रीपद्मप्रभ मलधारिदेवने अपनी नियमसार ग्रंथकी टीकामें, अनेक स्थानोंपर ' मार्गप्रकाश ' नामके एक संस्कृत ग्रंथका उल्लेख किया है और

' उक्तं च मार्गप्रकाशे ' इत्यादि वाक्योंके साथ उसके अनेक पद्योंको उद्धृत किया है, जिनमेंसे एक पद्य नमूनेके तौरपर इस प्रकार है:—

कालाभावे न भावानां परिणामस्तदंतरात् ।
न द्रव्यं नापि पर्यायः सर्वाभावः प्रसज्यते ॥

पद्योंपरसे मालूम होता है कि यह ग्रंथ एक महत्त्वका ग्रंथ है और इसमें विशेषतया जैनधर्मके तत्त्वोंका वर्णन करके जैनमार्गको अथवा मोक्षोपायको प्रकाशित करनेके लिये अच्छा यत्न किया गया है। परंतु अभी तक यह मालूम नहीं हुआ कि यह ग्रंथ कौनसे आचार्यका बनाया हुआ है, कब बना है और कहाँके भंडारमें मौजूद है । इन सब बातोंकी खोज होकर ग्रंथके उद्धार किये जानेकी जरूरत है। हमारे भाइयोंको इसके लिये अपने अपने यहाँके भंडारोंको टटोलना चाहिये । पद्मप्रभ मलधारिदेवका निवासस्थान अधिकतर कहाँ पर रहा है, यदि इस बातका हमारे किसी विद्वान् भाईको पता हो तो उस स्थानके भंडारोंको खोजनेसे, शीघ्र सफलताकी बहुत कुछ आशा की जाती है। (क्रमशः)

गोत्र-विचार ।

संतानक्रमसे चले आए जीवोंके आचरण विशेषका नाम गोत्र है । वह आचरण ऊँचा और नीचा ऐसा दो प्रकारका होनेसे गोत्रके भी सिर्फ दो भेद हैं, एक उच्च गोत्र और दूसरा नीच गोत्र; ऐसा गोम्मटसारमें श्रीनेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तिद्वारा जैनसिद्धान्त बतलाया गया है। जैनसिद्धान्तमें, अष्ट कर्मोंके अंतर्गत गोत्र नामका एक पृथक् कर्म माना गया है उसीका यह उक्त आचार्यप्रतिपादित लक्षण अथवा स्वरूप है । परन्तु जैनियोंमें आजकल गोत्रविषयक, जिस प्रकारका व्यवहार पाया जाता है वह इस सिद्धान्तप्रतिपादित गोत्र-कथनसे बहुत कुछ विलक्षण मालूम होता है। जैनियोंके गोत्रोंकी संख्या भी सैकड़ोंपर पहुँची हुई है । उनकी ८४ जातियोंमें प्रायः सभी जातियाँ कुछ न कुछ संख्याप्रमाण गोत्रोंको लिये हुए हैं। परंतु उन सब गोत्रोंमें ' उच्च ' और ' नीच ' नामके कोई गोत्र नहीं हैं; और न किसी गोत्रके भाई ऊँच अथवा नीच समझे जाते हैं। अनेक गोत्र केवल ऋषियोंके नामपर उनका उपदेश माननेके कारण, अनेक गोत्र केवल नगरग्रामादिकोंके नाम पर उनमें निवास करनेके कारण और बहुतसे गोत्र केवल व्यापार-पेशा अथवा शिल्पकर्मके नामोंपर उनके कुछ समय करते रहनेके कारण, पड़े हैं। और भी अनेक कारणोंसे कुछ गोत्रोंका नामकरण हुआ जान पड़ता है और इन सब गोत्रोंकी वह सब स्थिति बदल जाने पर भी अभी तक उनके वही नाम चले जाते हैं—समान आचरण होते हुए भी जैनियोंके गोत्रोंमें परस्पर विभिन्नता पाई जाती है। अतः जैनियोंके लिये गोत्रसम्बन्धी प्रश्न एक बड़ा ही जटिल प्रश्न है और इस लिये उस पर विचार चलनेकी जरूरत है। कुछ दिन हुए ' सत्योदय ' में ' शूद्रमुक्ति ' शीर्षक एक लेख निकला था, जिसमें गोम्मटसारप्रतिपादित गोत्रकर्मके स्वरूप पर कुछ विशेष विचार प्रकट किये गये हैं। हम उन विचारोंको—लेखके केवल उतने ही अंशको—अपने पाठकोंके विचारार्थ यहाँ उद्धृत करते हैं। आशा है कि हमारे विज्ञ पाठक एक विद्वान्के इन विचारोंपर सविशेष रूपसे विचार करनेकी कृपा करेंगे और साथ ही इस गोत्र विषयपर हमें अपने विशेष विचारोंसे सूचित करनेकी भी उदारता दिखलाएँगे:—

गोम्मटसारमें ' गोत्रकर्म्म ' के कार्य दर्शानेके लिये निम्नलिखित गाथा है:—

संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥
—कर्म्मकाण्ड १३।

सन्तानक्रमेणागतजीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा।
उच्चं नीचं चरणं उच्चैर्नीचैर्भवेत् गोत्रम्॥ १३॥

अर्थ—सन्तानक्रम अर्थात् कुलकी परिपाटीके क्रमसे चला आया, जो जीवका आचरण उसकी गोत्रसंज्ञा है। उस कुलपरम्परामें ऊँचा आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, जो नीचा आचरण हो तो वह नीचगोत्र कहा जाता है।

गोत्रके इस लक्षणपर गौर करते हैं तो यह लक्षण सदोष मालूम होता है, और ऐसा प्रकट होता है कि कर्म्मभूमिके मनुष्योंकी विशेष व्यवस्थापर लक्ष्य रखकर सामाजिक व्यवहार-दृष्टिसे इसकी रचना हुई है। गोत्रकर्म्म अष्टमूल प्रकृतियोंमेंसे है और इसका उदय चतुर्गतिके जीवोंमें कहा गया है। नारकी और तिर्यञ्चोंके नीचगोत्रकी, देवोंके उच्चगोत्रकी और मनुष्योंके उच्च और नीच दोनों गोत्रोंकी सम्भावना सिद्धान्तमें कही है। देव वा नारकीका उपपाद जन्म होता है, वे किसीकी सन्तान नहीं होते और न कोई उनका नियत आचरण है। गाथोक्त गोत्रका लक्षण इन दोनों गतियोंमें किसी तरहसे भी लागू नहीं होता। इसी तरह एकेन्द्रियादि सम्मूर्छन जीवोंमें भी यह लक्षण व्यापक नहीं। इसके अलावा आचरण शब्द भी मनुष्योंहीके व्यवहारका अर्थ-वाची है और मनुष्योंहीकी अपेक्षासे उक्त लक्षणमें उपयुक्त हुआ है। आचरणके साथ उच्चत्व और नीचत्वकी योजना भी मानवापेक्षित ही है। पाठकोंको विदित होगा कि अमीर, गरीब; दुखिया, सुखिया; नीच, ऊँच; सभ्य, असभ्य; पण्डित, मूर्ख इत्यादि द्वन्द्व हैं और ये द्वन्द्व ऐसे दो परस्परविरोधी गुणोंके द्योतक हैं जिनका अस्तित्व निरपेक्ष नहीं किन्तु अन्योन्याश्रित है। अतएव मनुष्यगतिको छोड़कर शेष तीन गतियोंमें जो गोत्रका एक एक प्रकार माना गया है वह अपने प्रतिपक्षीके सत्वका सूचक और अभिलाषी है। यदि देवोंमें नीच गोत्रका, और नारकी तथा तिर्यञ्चोंमें उच्चगोत्रका सम्भव नहीं है तो इन गतियोंमें गोत्रका सर्वथा ही अभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि द्वन्द्वगर्भित एक प्रतिपक्षी गुणका स्वतन्त्र सद्भाव किसी तरहसे भी सिद्ध नहीं होता। उक्त गतियोंमें गोत्रके दो प्रकारोंमेंसे एक विशेषकी नियामकता कहनेका यह अर्थ होता है कि, इन गतियोंके जीव अपने अपने लोकसमुदायमें समानाचरणी हैं, उनमें भेदभाव नहीं; और जब भेदभाव नहीं तो उनको उच्च या नीच किसकी अपेक्षासे कहा जाय, वे खुद तो आपसमें न किसीको नीच समझते हैं न उच्च; उनमें नीच और उच्चका खयाल होना ही असम्भव है। इसी खयालसे भोग-भूमियोंके भी उच्चगोत्र ही कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि गोत्रका लक्षण मनुष्योंकी व्यवहार-व्यवस्थाके अनुसार बनाया गया है, और जिस जिस गतिके जीवोंको मनुष्योंने जैसा समझा अथवा उनके व्यवहारकी जैसी जैसी कल्पना की, उसीके अनुसार उन गतियोंमें उच्च वा नीच गोत्रकी सम्भावना मानी गई है। चतुर्गतिके जीवोंमें बन्धोदयसत्वको प्राप्त होनेवाले गोत्रकर्म्म तथा उसके कार्यस्वरूप गोत्रका लक्षण और उदय जिस प्रकारसे प्रत्यक्ष ज्ञाता दृष्टा सर्वज्ञने कहा हो वह इस गाथासे प्रकट नहीं होता। इस लक्षणके मुताबिक गोत्रकर्म्मका उदय मनुष्योंहीमें मिलेगा और अन्य गतियोंके जीवोंके आठ कर्म्मोंकी जगह सातहीका उदय मानना पड़ेगा।

जैनसिद्धान्तियोंमें गोत्र और गोत्र कर्म्मके

विषयमें जो प्रचलित मत है वह मनुष्याहाक व्यवहारों तथा कल्पनाओंसे बना है; इसके विशेष प्रमाणमें निम्नलिखित ऊहापोहकी बातें पाठकोंके स्वयं विचारार्थ उपस्थित करते हैं।

१—भवन-वासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, इस प्रकारसे देवोंके चार निकाय जैन-धर्म्ममें कहे हैं। इन चारों प्रकारके देवोंमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोक-पाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक, ऐसे दश भेद होते हैं। इनमेंसे जो देव घोड़ा, रथ, हाथी, गन्धर्व और नर्त्तकीके रूपोंको धारण करते हैं वे अनीक हैं; जो हाथी, घोड़ा, वाहन बनकर इन्द्रकी सेवा करते हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं; और जो इन्द्रादिक देवोंके सन्मानदिकके अनधिकारी, इन्द्रपुरीसे बाहर रहनेवाले तथा अन्य देवोंसे दूर खड़े रहने-वाले (जैसे अस्पर्श शूद्र) हैं वे किल्विषक देव हैं। यहाँ अपने आप यह प्रश्न होता है कि किल्विषक जातिके देवोंको अन्य प्रकारके देव अपनी अपेक्षा नीच समझते हैं कि नहीं, यदि नीच नहीं समझते तो किल्विषिकोंको अमराव-तीसे बाहर दूर क्यों रहना पड़ता है और वे अस्पर्श क्यों हैं। एवं अनीक तथा आभियोग्यके आचरण शेष सात प्रकारके देवोंकी दृष्टिमें उच्च हैं वा नीच। देवोंके दश प्रकारके भेद और उनके उक्त प्रकारके व्यवहारोंसे तो साफ प्रकट है कि उनमें नीच और उच्च दोनोंही प्रकारके आचरणवाले जीव होते हैं, फिर जैनसिद्धान्ति-योंने देवगतिमें नीच गोत्रका उदय क्यों नहीं कहा? पाठक विचारें।

२—इसमें कुछ विशेष कहनेकी जरूरत नहीं कि असुर, राक्षस, भूत, पिशाचादि देवोंक आचरण महान् घृणित और नीच माने गये हैं और वे वैमानिक देवोंकी समानता नहीं कर सकते। यदि गोत्रके उच्चत्व नीचत्वमें जीवका आचरण मूल कारण है तो वैमानिकोंकी अपेक्षा व्यन्तरादिका गोत्र अवश्य नीच होना चाहिये। देवमात्रको उच्चगोत्री कहना जैनासिद्धान्तियोंके गोत्रके लक्षणसे विरुद्ध पड़ता है।

३—पशुओंमें सिंह, गज, जम्बुक, भेड़, कुक्कुर आदिके आचरणोंमें प्रत्यक्ष भेद है। वीरता, साहस वगैरह गुणोंमें सिंहको मनुष्योंने आदर्श माना है। किसी दूसरेकी मारी हुई शिकार और उच्छिष्टको सिंह कभी नहीं खाता और न अपने बारसे पीछे रहे हुए पशुपर दुबारा आक्रमण करता है। जैनाचार्योंने १०० इन्द्रोंकी संख्यामें सिंहको इन्द्र कहा है, यथा—"भव-णालय चालीसा विंतर देवाण होंति बत्तीसा। कप्पामर चउवीसा चन्दो सूरो णरो तिरओ।" इसका क्या कारण है कि आचरणोंमें भेद होते हुए भी तिर्यञ्चमात्रको समानरूपसे नीचगोत्री कहा गया।

४—नारकियोंमें ऐसे जीव भी होते हैं जिनके तीर्थङ्कर नाम कर्म्मका बन्ध होता है। क्या वे जीव भी अन्य नारकियोंकी तरह नीचाचरणी ही होते हैं? सर्व नारकी ज़ीवोंका समान नीचा-चरणी और नीचगोत्री होना समझमें नहीं आता।

५—कुभोग-भूमिके मनुष्य नानाप्रकारकी कुत्सित आकृतियोंके होते हैं और सुभोग-भूमिकी अपेक्षा यह भी कहा जायगा कि वे कुभोगके भोगी हैं। क्या कुभोगभूमि और सुभोग-भूमिके जीवोंके आचरणोंमें फर्क नहीं होता? यदि होता है तो फिर अखिलभोग-भूमि-भव उच्चगोत्री ही क्यों कहे गये?

इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही मालूम होता है कि गोत्रकर्म्मके विषयमें जैनोंका जो सिद्धान्त है वह केवल मनुष्योंका, और मनुष्योंमें भी भारतवासियोंका व्यवहार-मत है। भारतीय लोग सब प्रकारके देवी देवताओंकी उपासना

करते हैं; भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, कोई भी हो सबके देवालय भारतमें मौजूद हैं, सबके स्तोत्रपाठ संस्कृत भाषामें हैं और उनके भक्त अपने अपने उपास्योंका कीर्तन करते हैं। इसलिये जैनोंने देवमात्रको उच्चगोत्री कहा है। क्योंकि वे मनुष्योंसे उच्च और शक्तिशाली एवं अनेक इष्टानिष्टके करनेमें समर्थ माने गये हैं। पशु और नारकियोंको कोई मनुष्य अपनेसे अच्छा नहीं समझता, न उनके गुणावगुणपर विचार करता है, इसलिये मनुष्योंके साधारण खयालके मुताबिक तिर्यञ्च और नरकगतिमें एकान्त नीचगोत्रका उदय बताया गया। यदि चतुर्गतिके जीवोंके आचरण और व्यवहारोंको दृष्टिमें रखकर गोत्रके लक्षण तथा उदय-व्यवस्थाका वर्णन होता तो उसमें 'सन्तानक्रमेणागय' पदकी योजना कभी नहीं होती, और न देव, नारकी तथा तिर्यञ्चगतिमें एकान्तरूपसे एक ही प्रकारके गोत्रका उदय कहा जाता।

गोत्रके लक्षणकी उपर्युक्त आलोचना करके हमने यह दिखला दिया है कि यह लक्षण मनुष्योंकी व्यवहार-स्थितिके अनुसार बनाया गया है। इस लक्षणसे निम्नलिखित बातें और निकलती हैं:—

(१) जीवका वही आचरण गोत्र कहा जायगा जो कुलपरिपाटीसे चला आता हो, अर्थात्—जो आचरण कुलकी परिपाटीके मुआफिक न होगा उसकी गोत्रसंज्ञा नहीं है और वह गोत्रकर्म्मके उदयसे नहीं किन्तु किसी दूसरे ही कर्म्मके उदयसे माना जायगा।

(२) हरएक आचरणके लिये कुलविशेषका नियत होना जरूरी है और हरएक कुलके, लिये किसी विशेष आचरणका।

परन्तु, जैनधर्म्ममें मानव-समाजके विकासका जो वर्णन है वह कुछ और ही बात कहता है; उसको यदि सही मानते हैं तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भरतक्षेत्रमें एक समय ऐसा था जब मनुष्योंमें न तो कोई कुल थे और न उनकी परिपाटीके कोई आचरण थे, इसलिये उस समयके जीवोंके गोत्रकर्म्मका उदय भी नहीं था। वर्तमान अवसर्पिणीके प्राथमिक तीन आरोंमें भोगभूमिकी रचना थी; भोगभूमियोंमें कुल नहीं होते, कुलकरोंका जन्म तीसरे कालके अखीरमें होता है। इस प्रकार कुलोंके अभावमें भोग-भूमियोंके आचरणोंकी गोत्रसंज्ञा नहीं कही जायगी। यदि ऐसा कहा जाय कि समस्त भोग-भूमियोंका एक ही कुल था और उनके आचरण समान थे, इसलिये भोग-भूमिजोंके गोत्रका सद्भाव था, तो आगे कुलकरों, तीसरे कालके अन्तके भोग-भूमियों तथा कर्म्मभूमिके आदिके मनुष्योंमें गोत्रका अभाव स्वयमेव सिद्ध होता है; क्योंकि इनके आचरण इनके पूर्वजोंसे सर्वथा भिन्न और विरुद्ध थे। इसको हम नीचे स्पष्ट करते हैं।

भोग-भूमिया मनुष्य न खेती करते थे, न मकान बनाते थे, और न भोजन-वस्तु पकाते थे; वे अपनी सब आवश्यकताएँ कल्प-वृक्षोंसे पूरी करते थे। इसीलिये उनमें असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्पके कर्म-व्यापार भी नहीं थे। उनको आपसमें किसीसे कुछ सरोकार नहीं था, अपने अपने युगलके साथ अपनी कल्पतरु-वाटिकामें सुखभोग करते थे। अतएव न कोई उनका समाज था और न कोई सामाजिक बन्धन। उनमें विवाह-संस्कार नहीं होता था; एक ही माताके उदरसे नरमादाका युगल उत्पन्न होता था, जब यौवनवन्त होते थे तब दोनों बहिन और भाई स्त्रीपुरुषका सम्बन्ध कर लेते थे। युगलके पैदा होते ही उनके मातापिताका देहान्त हो जाता था। इसप्रकार युगल मनुष्योंकी समान जीवन-स्थिति उस समय तक जारी रही जबतक कि कल्पवृक्षोंकी कमी न हुई। तीसरे

आरेके अखीरमें कल्पवृक्षोंकी न्यूनतासे लोगोंने अपने अपने वृक्षोंका ममत्व कर लिया और कई युगल वृक्षोंके लिये आपसमें क्लेश करने लगे। तत्पश्चात् परस्परके झगड़े निपटानेके लिये उन युगलियोंने अपनेमेंसे एक युगलको न्यायाधीश बनाया जो पहिला कुलकर हुआ और उसीके वंशज आगेको न्यायाधीश तथा दण्डनीति-विधायक होते रहे। इन्हीं कुलकरोंकी सन्तान श्रीऋषभदेव तीर्थंकर हुए जिन्होंने षट्कर्म्मकी शिक्षा दी; उनके उपदेशसे प्रथम पाँच कारीगर बने:—१ कुम्भकार, २ लोहार, ३ चित्रकार, ४ वस्त्र बुननेवाले, ५ नापित अर्थात् नाई। ऋषभदेवने ही विवाहविधि चलाई और सगे बहिन भाईमें स्त्री-भर्तारका सम्बन्ध होना बन्द किया।

इस कथनके मुआफिक जिस जिस भोग-भूमियाने अपनी सहोदराको छोड़कर दूसरी स्त्रीसे विवाह किया, अथवा ऋषभदेवजीकी शिक्षा पाकर कुम्हार, लोहार आदिके कामको किया, उसका आचरण उसके माता पिताके आचरणोंसे बिल्कुल ही विपरीत और निराला था; अर्थात् उसका आचरण अपने कुलकी परिपाटीके अनुसार नहीं था, इसलिये वह गोत्र-कर्म्मके उदयसे नहीं किन्तु किसी अन्य ही कर्म्मोदयका फल था। अतएव कर्म्म-भूमिकी आदिमें जो मनुष्योंके-आचरण थे उनकी गोत्रसंज्ञा नहीं कही जा सकती और उस समयके सब लोग गोत्र-कर्म्मोदय-रहित थे। आठ कर्म्मोंकी जगह उनके सातहीका उदय था। गोत्र-कर्म्मका उदय उनकी सन्तानके माना जायगा जिन्होंने अपने आचरण माता पितासे प्राप्त किये और उन्हींका पालन किया। यदि उस समय किसी नाईके लड़केने खेतीका काम किया और नापितके कार्यको न सीखा तो उसका भी आचरण 'सन्तानक्रमागत' न होनेसे गोत्रसंज्ञक न होगा, उसके भी गोत्रकर्म्माभाव ही कहा जायगा। ऐसे सन्तान-क्रमरहित आचरणोंके लिये कर्म्म-तत्त्व-ज्ञानमें कौनसा विशेष कर्म्म है सो ज्ञानी पाठक खुद विचारें; अष्ट कर्म्मके उपरान्त तो कोई कर्म्म नहीं कहा गया और इन मूलोत्तर प्रकृतियोंको इनके लक्षणानुसार उक्त सन्तान-क्रम-रहित आचरणोंके कारण कह सकते नहीं।

'सन्तानक्रमागत' पदपर एक शङ्का यह और होती है कि जिस भोग-भूमियाकी सन्तानने ऋषभदेवजीकी शिक्षानुसार अपने पूर्वजोंके आचरणको छोड़कर नवीन आचरण ग्रहण कर लिये, उसके पुत्रका आचरण पिताके अनुकूल होनेपर 'सन्तानक्रमागत' कहा जायगा कि नहीं; अर्थात् एक ही पीढ़ीके आचरणको 'सन्तानक्रमागत्' कहेंगे या नहीं। मूलतः प्रश्न यह है कि कितनी पीढ़ीका आचरण 'सन्तानक्रमागत' कहा जा सकता है। इसका ब्यौरा किसी ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आया।

अब जरा आचरणकी उच्चता नीचतापर विचार कीजिये। आचरण शब्दसे असलियतमें आचार्योंका क्या अभिप्राय है सो साफ साफ कहीं नहीं खोला गया। यदि 'आचरण' शब्दसे हिंसा, झूठ, चोरी, सप्त-व्यसन आदिमें प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे मतलब है तब तो गोत्रके उक्त लक्षणानुसार ऐसा मानना पड़ेगा कि दो तरहके कुल यानी वंशक्रम होते हैं, एक वे जिनमें हिंसादि आचरण वंशपरम्परासे नियत रूपसे कभी हुए ही नहीं, अतएव उनमें उत्पन्न हुए जीव उच्चगोत्री कहलाते हैं; दूसरे वे कुल जिनमें हिंसादि आचरण नियत रूपसे परम्परासे होते आये हैं, इसलिये उनमें जन्म लेनेवाले जीव नीचगोत्री होते हैं।

चतुर्गतिके जीवोंका विचार न करके मनुष्योंका ही विचार करें तो ऐसे उच्चाचरणी नीचाचरणी नियत कुलोंका कर्म्म-भूमिके आदिमें

सर्वथा अभाव था। भोग-भूमियोंमें तो ऐसे नियत कुल थे ही नहीं; अतः नियत कुलोंके अभावमें युगादिमें सब मनुष्य गोत्र तथा गोत्रकर्म्म रहित थे। जैनग्रन्थोंमें इस बातका ब्यौरा कहीं भी नहीं है कि अमुक अमुक कुल तो हमेशाके लिये उच्चाचरणी हैं और अमुक अमुक नीचाचरणी। तदुपरान्त, युगान्तरोंतक उन कुलोंमें निरन्तर एक ही प्रकारका आचरण रहे इसकी गारण्टी क्या ? किसी भी कुलमें एक ही तरहका आचरण निरन्तर बना रहेगा ऐसा मानना प्रकृति और कर्म्मसिद्धान्तके प्रतिकूल है, प्रत्यक्षसे बाध्य है। किसी जीवके आचरण उसके पिता या पूर्वजोंके अनुसार अवश्यमेव हों ही हों, ऐसा मानना एकान्त हठ है।

यदि आचार्योंका यह अभिप्राय हो कि उक्त हिंसादि आचरणोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति जीविकाके षट्कर्म्म तथा पेशोंसे नियोजित है; कई पेशे और कर्म्म तो ऐसे हैं जिनके करनेवाले नीचाचरणी नहीं होते और कई ऐसे हैं जिनको करनेसे जीव नीचाचरणी हो ही जाता है अथवा नीचाचरणी ही उस पेशेको करता है, उच्चारणी नहीं। प्रयोजन यह हुआ कि कई पेशोंके साथ उच्चाचरणका अविनाभावी सम्बन्ध है और कतिपयके साथ नीचाचरण का। इसमें, कई अनिवार्य्य शंकाएँ पैदा होती हैं। चतुर्गतिके जीवोंकी अपेक्षा तो यह सर्वथा असम्भव है। मनुष्योंकी अपेक्षा लीजिये—

(क) भोग-भूमियोंके कोई पेशे वा जीविकाकर्म्म नहीं थे अत: वे सब नीचाचरणी तथा गोत्रकर्म्मरहित कहे जायँगे। यह प्रचलित गोत्रोदय मतसे विरुद्ध पड़ता है।

(ख) षट्कर्म्म और पेशोंका उपदेश आदि तीर्थंकरने दिया था और उन्होंने ही कारीगरी तथा शिल्पके कार्य्य सिखाये थे, अन्नादिका अग्निमें पकाना भी उन्होंने ही सिखाया। वे अवधिज्ञानी और मोक्ष-मार्गके आदि विधाता थे; यदि उच्चाचरणी और नीचाचरणी दो प्रकारके पेशे वास्तवमें होते तो वे नीचाचरणके पेशोंको कभी नहीं सिखाते और न किसीको उनके व्यापारका आदेश करते, जान बूझकर वे जीवोंको पापमें न डालते, प्रत्युत सबको ही उच्चाचरणी पेशोंकी शिक्षा देते। जीविका कर्म्म और पेशोंके साथ उच्चाचरण और नीचाचरणके सम्बन्धकी योजनासे भगवान् ऋषभदेवपर बड़ा भारी दूषण आता है। इससे यही कहना पड़ेगा कि या तो उच्चाचरण और नीचाचरणका सम्बन्ध पेशोंसे है नहीं, और यदि है तो षट्कर्म्म और भिन्न भिन्न शिल्पके कार्योंकी शिक्षा ऋषभदेवजीने नहीं दी किन्तु प्रकृतिविकासके नियमनुसार शनैः शनै जनताकी जरूरतोंसे कभी कुछ और कभी कुछ, ऐसे नये नये आविष्कार होते रहे जैसे आजकल होते हैं। ऋषभदेवजीका चलाया हुआ कोई भी पेशा नीचाचरणका नहीं हो सकता, तदनुसार कुम्हार, जुलाहा, लोहार, नाई सब उच्चगोत्री हैं, पेशेकी अपेक्षा ये लोग नीचाचरणी नहीं, अथवा यों कहिये कि कुम्हार आदिके पेशे ऋषभदेवजीने नीचाचरण या नीचाचरणके कारण नहीं समझे और न ऐसा किसीको प्रकट किया। तदनुसार जीविका कर्म्मकी अपेक्षासे ऋषभदेवजीकी दृष्टिमें न कोई उच्चगोत्र था, न नीच। पाठक विचार करें कि ऐसी अवस्थामें उच्च और नीच आचरणोंके नियत कुलोंका सर्वथा अभाव है कि नहीं; फिर गोत्र और गोत्रकर्म्मकी क्या बात रही।

(ग) जैनधर्म्ममें प्रथमानुयोगके अनुसार जिन कुलोंमें क्षात्रकर्म्म होता है वे उच्चगोत्र कहे जायँगे। इसका यह अभिप्राय होता है कि जिन कुलोंमें परिपाटीसे क्षात्र-कर्म्म होता है

उनमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके आचरण नियमतः उच्च ही होने चाहियें, तभी आचरण और जीविका-कर्म्ममें अविनाभावी सम्बन्ध माना जा सकता है । परन्तु कथापुराणोंमें इसके विपरीत हजारों उदाहरण मिलते हैं । रावण क्षत्रियकुलोत्पन्न तीन खण्डका राजा था, उसने सीता परस्त्रीका हरण किया जिसके कारण लाखों जीवोंका रणमें खून हुआ । युधिष्ठिरादि पाण्डव और कौरव क्षत्रियोद्भव थे, उन्होंने जूआ खेला और व्यसनको यहाँ तक निभाया कि द्रौपदी स्त्रीको भी दावमें लगाकर हार बैठे । पाठक, जरा विचारिये कि क्या ये आचरण उच्च थे । हमने ये उदाहरण दिग्दर्शन मात्रको लिख दिये हैं; वरना (अन्यथा) पुराणोंमें अगणित मिसालें (उदाहरण) मौजूद हैं जिनसे विदित होगा कि क्षत्रियोंमें ही अधिकतर नीचाचरणी हुए हैं । ऐसी अवस्थामें पेशेके साथ आचरणोंका स्थिर सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है ।

उपर्युक्त बातोंसे यह साफ हो जाता है कि लोकमें न तो ऐसे कोई कुल ही हैं जिनके लिये यह कहा जा सके कि उनमें उच्च या नीचाचरण हमेशाके लिये परिपाटीसे चला आता है, और न जीविका कर्म्म या पेशोंके कुलोंसे आचरणोंका अविनाभावी सम्बन्ध सिद्ध होता है ।

अतः गोमहसारमें जो गोत्रका लक्षण है और जैनसिद्धान्तियोंने गोत्रकर्म्मोदय-व्यवस्था जैसी मानी है, ये सब प्रकृति-विकासके विरुद्ध हैं; ये सार्वकालिक और चतुर्गतिके जीवों पर दृष्टि रखकर नहीं बनाये गये, किन्तु भारतवासियोंके व्यवहार और खयालोंके अनुसार इनकी कल्पना हुई है । अमुक प्रकारके कुल जैसे ब्राह्मणादि, नियमसे उच्चाचरणी ही होते आये हैं और होते रहेंगे, इनमें उत्पन्न हुए जीवोंको उच्च ही मानना एवं इनसे इतर कुल जैसे कुम्भकार आदि शिल्पकार तथा नापित प्रभृति सेवाकर्मी नीचचरणी हैं, इनको सदा सर्वदाके लिये नीच ही मानना, नीचता उच्चता जन्मसे है, गुण स्वभावसे नहीं; एक कुल जातिका कर्म्म दूसरे कुल जातिवाला न करे, इत्यादि धारणाएँ भारतमें ही हजारों वर्षोंसे अचल रूपसे चली आरही हैं । इन्हीं वंशपरम्परागत धारणाओं और व्यवहारोंके मुताबिक जैनाचार्योंने गोत्र-कर्म्मका लक्षण रचा है ।

सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र ।

[लेखक-श्रीयुत मुनि जिनविजयजी ।]

जैनधर्मके प्रमाणशास्त्रके मूल प्रतिष्ठापक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और आप्तकी मीमांसाद्वारा स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) का समर्थन करनेवाले स्वामी समन्तभद्र—दोनों जैनधर्मके महान् प्रभावक और समर्थ संरक्षक महात्मा हैं । इन दोनों महापुरुषोंकी कृतियोंके देखनेसे, इनके स्वभाव और प्रभावमें एक सविशेष समानता प्रतीत होती है । दोनोंहीने परमात्मा महावीरके सूक्ष्म सिद्धान्तोंका उत्तम स्थिरीकरण किया और भविष्यमें होनेवाले प्रतिपक्षियोंके कर्कश तर्कप्रहारसे जैनदर्शनको अक्षुण्ण रखनेके लिये अमोघशक्तिशाली प्रमाण शास्त्रका सुदृढ संकलन किया ।

इन्हीं दोनों महावादियों द्वारा सुप्रतिष्ठित जैनतर्ककी मूल भित्तियों पर मल्लवादी, अजितयशा, हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनान्दि, प्रभाचन्द्र, अमृतचन्द्र, अनन्तवीर्य, अभयदेव, शान्तिसूरि, जिनेश्वर, वादी देवसूरि, हेमचन्द्रसूरि, मल्लिषेण, गुणरत्न, धर्मभूषण और यशोविजय आदि समर्थ जैन नैयायिकोंने बड़े बड़े तर्कग्रन्थोंके विशाल और दुर्गम दुर्गोको निर्माण कर जैनधर्मके तात्त्विक साम्राज्यको इतर वादीरूप परचक्रके लिये अजेय बनाया है ।

हमें अभी तक यह पूर्णतया निश्चित ज्ञात नहीं हुआ है कि ये दोनों महापुरुष कब और किस संप्रदायमें हुए हैं; परंतु पूर्वपरंपरासे जो मान्यता चली आ रही है उसके आशयानुसार यह कह सकते हैं कि सिद्धसेनदिवाकर तो श्वेताम्बरसंप्रदायमें, विक्रमराजाके समयमें हुए और स्वामी समन्तभद्र दिगम्बरसंप्रदायमें विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए।

दन्तकथाके कथनानुसार सिद्धसेन विक्रम राजाके—जिसके नामसे भारतवर्षका सुप्रसिद्ध संवत् चलता है—गुरु थे । ऐतिहासिकोंने भी इस कथनमें कुछ तथ्य स्वीकार किया है और ' ज्योतिर्विदाभरणके '

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह-शङ्कु—
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इस श्लोकमें क्षपणक नामसे जिस व्यक्तिको विक्रमराजाकी सभाके नौरत्नोंमेंसे एक रत्न बतलाया है वह सिद्धसेन दिवाकर ही होना चाहिए, ऐसा अनुमान किया गया है* । यहाँ पर हमें इस कथनकी ऐतिहासिक सत्यासत्यताका विचार नहीं करना है, इस लिये इस विषयमें हम अपना कुछ भी अभिप्राय प्रकट करना नहीं चाहते । हमारे इस लेखका उद्देश केवल सिद्धसेन और समन्तभद्रकी परस्पर कुछ तुलना और उनके सामर्थ्यके बारेमें किञ्चित् वक्तव्य प्रकट करना है ।

उपलब्ध जैनवाङ्मयका सूक्ष्मताके साथ निरीक्षण करनेसे पता लगता है कि सिद्धसेनसे पहले जैनदर्शनमें तर्कशास्त्रविषयक कोई स्वतंत्र सिद्धान्त प्रचलित नहीं था । उनके पूर्वमें प्रमाणशास्त्रविषयक बातें केवल आगमग्रन्थोंहीमें अस्पष्ट रूपसे संकलित थीं और उस समयतक उन बातोंका कुछ अधिक प्रयोजन भी नहीं था । सिद्धसेनसूरिके पहलेका जमाना तर्कप्रधान नहीं था किन्तु आगमप्रधान था । आप्तपुरुषका कथन मात्र ही तब तक सर्वथा शिरोधार्य समझा जाता था । जैनधर्मके सहचर ब्राह्मण और बौद्धधर्मोंकी भी यही अवस्था थी । परन्तु, महर्षि गौतमके ' न्यायसूत्र ' के संकलनके बाद धीरे धीरे तर्कका जोर बढ़ने लगा और जुदा जुदा दर्शनोंके विचारोंका समर्थन करनेके लिये स्वतंत्र सिद्धान्तोंकी रचना होने लगी । लगभग उसी समयमें भगवान् गौतमबुद्धका साम्यवाद और मध्यममार्ग ब्राह्मणोंके कर्मजालसे संत्रस्त हुए साधारण लोगोंमें अधिक आदर पाने लगा था और थोड़े ही समयमें उसने सम्राट्के सिंहासन तकको भी अपना अनुयायी बना लेनेकी महत्ता प्राप्त कर ली थी ।

इस प्रकार बौद्धधर्मके बढ़ते जाते प्रभावको देखकर कुछ मनस्वी ब्राह्मणोंने बुद्धदेवके सरल और सीधे सादे वचनोंको युक्तिशून्य और प्राकृतजनप्रिय मात्र बतलानेके उद्योगका आरंभ किया । महर्षि गौतम उन्हीं मनस्वी ब्राह्मणोंके नेता थे । बुद्धिमान् भिक्षुओं (बौद्ध श्रमणों) को जब इस उद्योगके रहस्यका पता लग गया तब उन्होंने भी अपने आप्तके नामधारी गौतममुनिके तर्कजालके फंदेमें न फँसनेकी सावधानीका रास्ता ढूँढ़ना शुरू किया । केवल, लोकहितकी दृष्टिसे, प्रचलित लोकभाषामें, आबाल-गोपालको बोध करनेके लिये रचे गये पाली पिटकोंके पारायणसे भिक्षुकगणको जब तार्किक ब्राह्मणोंके तर्कप्रपञ्चका समाधान करनेमें समर्थ होते न देखा तब आर्य नागार्जुननामक प्रतिभाशाली महाश्रमणने शून्यवादकी स्थापनाके लिये गूढविचारगर्भित मध्यमावतारका

* देखो, डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणलिखित न्यायावतारकी भूमिका तथा ' मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रका इतिहास । '

प्रणयन किया । जिस तर्कपद्धतिसे ब्राह्मण विद्वान् श्रमणोंके सरल विचारोंपर कठिन कटाक्ष किया करते थे, श्रमण विद्वान् भी अब उसी पद्धतिसे अपने 'मायावाद' के अदृश्य बाण ब्राह्मणोंके ऊपर चलाने लगे । इस प्रकार ब्राह्मण और बौद्ध विद्वानोंमें तर्कशास्त्रीय युद्ध बढ़ता गया, और शनैः शनैः श्रमणसमूह इस विषयमें अधिकाधिक उन्नति प्राप्त करता गया । उसमें आचार्य दिग्नाग आदि बड़े बड़े न्यायविद् श्रमण उत्पन्न हुए और उन्होंने शाक्यसूनु भगवान् बुद्धके प्राकृत-जनप्रिय सरल सिद्धान्तोंको विद्वानोंके लिये भी साधारणतः दुर्गम तथा गूढ़ बना दिया और उनकी गुत्थी सुलझानेके लिये अपने प्रतिपक्षियोंको चिरकाल तक विवश किया ।

ब्राह्मणों और श्रमणोंके बीचमें होनेवाले इस वाग्युद्धकी शब्दध्वनि निर्जनवनोंमें घूमनेवाले जैन निर्ग्रन्थोंके कानोंतक भी जा पहुँची । ध्यान-मग्न निर्ग्रन्थ इस ध्वनिके मतलबको समझनेका प्रयत्न कर ही रहे थे कि इतनेमें स्वयं ज्ञातपुत्र भगवान् महावीरके 'मोक्षमार्ग' का उपहास सूचित करनेवाले शब्द भी उन्हें अस्फुट रीतिसे सुनाई देने लगे । इस स्थितिका विचार कर, द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावके ज्ञाता 'क्षपणक' (जैन श्रमण या निर्ग्रन्थ) भी अपनी 'शासनरक्षा' का उपाय सोचने लगे । बौद्ध श्रमण 'शून्यवाद' के सिद्धान्तको जिस तर्कपद्धतिद्वारा प्रबल और व्यवस्थित बनाते हुए बुद्धदेवके शासनको स्थिर बनाते जा रहे थे उसी पद्धतिका आश्रय लेकर, निर्ग्रन्थ क्षपणकोंने भी 'स्याद्वाद' के सिद्धान्तको समथ और सुस्थित बनाकर महावीरदेवके शासनको अचल बनानेका निश्चय किया । उन्होंने सोचा कि पाली पिटकोंके पारायण मात्रसे जिस प्रकार बौद्ध श्रमण अपने शासनका संरक्षण करनेमें समर्थ नहीं हुए, उसी प्रकार प्राकृत आगमोंके प्रवचन मात्रसे जैन निर्ग्रन्थोंका 'मोक्षमार्ग' भी अब निर्भय नहीं रह सकता, इस लिये तर्कप्रधान प्रकरणग्रंथोंका प्रणयन करना अत्यावश्यक है ।।

इन्हीं निर्ग्रन्थोंमेंसे, सबसे प्रथम आचार्य उमास्वाति (मी) ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी रचना कर समग्र जैनतत्त्वोंको एकत्र संगृहीत किया । अपने जीवनमें वे इस कार्यको पूर्ण करके पिछले प्रतिभाशाली क्षपणकोंके लिये ऐसी सूचना कर गये कि इन संगृहीत जैनतत्त्वोंके अर्थ प्रमाण-और नयके द्वारा निश्चित करने चाहिएँ (प्रमाण नयैरधिगमः) । 'मोक्षशास्त्र' के रचयिता महर्षिकी इस अर्थपूर्ण सूचनाके महत्त्वको समझ कर जिन पिछले महामति क्षपणकोंने इस दिशामें प्रयत्न करना शुरू किया और प्रमाण और नयकी व्यवस्था करनेके लिये नवीन शास्त्ररचना करनी शुरू की, सिद्धसेन दिवाकर उन्हीं सबके प्रधान अग्रणी हैं । उन्होंने ही सबसे पहले 'न्यायावतार' नामक तर्कप्रकरणकी रचना कर 'जैन-प्रमाण' का पाया स्थिर किया और 'सम्मति-प्रकरण' नामक महातर्कग्रन्थका प्रणयन कर 'नयवाद' का मूल दृढ किया ।

सिद्धसेन दिवाकरकी कृतियोंके अवलोकनसे मालूम पड़ता है कि वे बड़े स्पष्टभाषी और स्वतंत्र विचारके उपासक थे । प्रकृतिसे वे बड़े तेजस्वी थे और प्रतिभासे 'श्रुतकेवली' थे । उनकी कृतियोंमें जो स्वतंत्र विचारकी झलक दिखाई दे रही है वह अन्य किसीकी भी कृतिमें नहीं । स्वयं उनके ग्रन्थोंके देखनेसे, तथा पिछले ग्रंथकारोंने उनके विषयमें जो उल्लेख किये हैं उनके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि, जैनधर्मके कितने एक परंपरागत विचारोंसे सिद्धसेनके विचार भिन्न थे । पूर्वकालीन तथा समकालीन अन्यान्य जैनविद्वानोंके विचारोंमें और सिद्धसेनसूरिके विचारोंमें परस्पर बहुत कुछ उल्लेखयोग्य मत-भेद था । दिवाकरजी साक्षात् जैनसूत्रोंके—जैना-

गमोंके—कथनको भी अपनी तर्कबुद्धिकी कसौटीपर कसकर तदनुकूल उसका अर्थ किया करते थे । केवल पूर्वपरंपरासे चले आने अथवा पूर्वाचार्योंको स्वीकृत होनेहीके कारण वे किसी सिद्धान्तको शिरोधार्य नहीं कर लेते थे । युक्तियुक्त बातहीको वे स्वीकार किया करते थे, चाहे वह पूर्वाचार्योंको सम्मत हो या न हो ।

जिस तरह वर्तमानमें बहुधा देखा जाता है कि कोई भी स्वतंत्र विचारक किसी भी पूर्वपरंपरासे चली आती हुई बातमें कुछ ' ननु नच ' करता है या उसके प्रतिकूल कुछ अर्थ या अभिप्राय प्रदर्शित करता है तो झट बहुतसे गतानुगतिक और लकीरके फकीर बने हुए पण्डितम्मन्य महाशय एकदम चिल्ला उठते हैं कि, यह बात तो शास्त्रविरुद्ध है, यह अभिप्राय तो परंपरासे प्रचलित अभिप्रायसे प्रतिकूल है; उसीतरह शायद दिवाकरजीके जमानेमें भी चलता रहा होगा । उनके कितने ही उद्गारोंसे मालूम पड़ता है कि, जब कभी वे कोई पूर्वपरंपरासे अथवा पूर्वाचार्योंके मतसे भिन्नार्थक विचार प्रदर्शित करते होंगे तब बहुतसे पुराणप्रिय पण्डित उनके नवीन विचारका प्रतिषेध करते हुए यही दलील देते होंगे कि–" महाराज ! आपके विचार तो पूर्वाचार्योंके विचारसे विरुद्ध जाते हैं; क्या आप पूर्वपुरुषोंसे अधिक ज्ञानवान् हैं, जो उनके कथनमें शंका उपस्थित करते हैं ? क्या आपके जैसी शंका उनको नहीं करनी आती थी ? " इत्यादि । ऐसे ही ' मृतरूढगौरव ' प्रिय पण्डितोंका मुख मुद्रित करनेके लिये दिवाकरजीने एक द्वात्रिंशिकामें * बड़ी ही मार्मिकताके साथ अपने हृदयका जोश प्रकट करते हुए निम्नश्लोक कहा है—

* बत्तीस पद्योंका जो एक प्रकरण होता है उसे द्वात्रिंशिका कहते हैं । कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकरने ३२–३२ पद्योंवाली ऐसी ३२ द्वात्रिंशिकायें बनाई थीं। प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्यायावतार' भी इन्हीं द्वात्रिंशद्–द्वात्रिंशिकाओंमेंसे एक द्वात्रिंशिकारूप है । वर्तमानमें ये सब ३२ द्वात्रिंशिकायें उपलब्ध नहीं होतीं । 'न्यायावतार' सहित कुल २१ द्वात्रिंशिकायें ही मिलती हैं । भावनगरकी 'जैनधर्मप्रसारक सभा' ने 'सिद्धसेन ग्रन्थमाला' के नामसे इन द्वात्रिंशिकाओं और 'सम्मतिप्रकरण' को मूल रूपमें छपवा कर प्रकट कर दिया है। सिद्धसेनसूरिकी ये द्वात्रिंशिकायें बहुत ही गूढ और गभीरार्थक हैं। इनको ऊपर ऊपरसे हमने कई बार पढ़कर देखा परंतु सबका आशय स्पष्ट रीतिसे बहुत कम समझमें आता है । अफसोस तो इस बातका है कि जैनधर्ममें हजारों ही बड़े बड़े ग्रंथकार और टीकाकार हो गये हैं, परंतु किसीने भी इन द्वात्रिंशिकायोंका अर्थ स्फुट करनेके लिये ' शब्दार्थमात्र प्रकाशिका ' व्याख्या भी लिखी हो ऐसा ज्ञात नहीं होता । इसका कारण हमारी समझमें नहीं आता । इन द्वात्रिंशिकाओंकी अपूर्वार्थता और कर्ताकी महत्ताका खयाल करते हैं तब तो यह विचार आता है कि इनके ऊपर अनेक वार्तिक और बड़े बड़े व्याख्यान लिखे जाने चाहिएँ थे । और, 'न्यायावतार' के ऊपर ऐसे अनेक वार्तिक और व्याख्यान लिखे भी गये हैं । फिर नहीं मालूम, क्यों इन सबके लिये ऐसा नहीं किया गया । शायद अतिगूढार्थक होनेहीके कारण इनका रहस्य प्रकट करनेके लिये किसीकी हिम्मत न चली हो। योग्य और बहुश्रुत विद्वानोंके प्रति हमारा निवेदन है कि वे इनका अर्थ स्फुट करनेके लिये अवश्य परिश्रम करें । इन कृतियोंमें बहुत ही अपूर्व विचार भरे हुए हैं । हमारे विचारसे जैनसाहित्य भरमें ऐसी अपूर्व कृतियाँ नहीं हैं ।

सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचंद्रने 'अन्ययोगव्यवच्छेद' और ' अयोगव्यवच्छेद ' नामकी दो द्वात्रिंशिकायें बनाई हैं (जिनमेंसे एकके ऊपर मल्लिषेणसूरिने 'स्याद्वादमंजरी' नामक विद्वत्प्रिय उत्तम व्याख्या लिखी है), वे इन्हींकी अनुकरण हैं । स्वयं हेमचंद्रसूरिने अपनी प्रथम द्वात्रिंशिकाके प्रारंभहीमें सिद्धसेनसूरिकी कृतियोंका महत्त्व बतलाते हुए लिखा

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः
पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः
पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥

इसका भावार्थ यह है। दिवाकरजी पुरातन-प्रियोंको उद्दिष्ट करके कहते हैं कि, पुरातन पुरातन क्या पुकारा करते हो, यह (मैं) जन भी मरनेबाद, कुछ काल अनन्तर पुरातन हो जायगा और फिर अन्य पुरातनोंहीके समान इसकी भी गणना होने लगेगी । अर्थात् मरे बाद सब ही पुरातन माने जाते हैं। भला, ऐसी अनवस्थित पुरातनताके कारण कौन बुद्धिमान् मनुष्य किसी प्रकारकी परीक्षा किये विना, आँख मूँद कर, केवल पुरातनोंके नामहीसे चाहे जिस सिद्धान्तका स्वीकार कर लेगा ? ×

इसी तरह एक जगह और भी दिवाकरजीने पुराणप्रियोंके प्रति इस प्रकार स्पष्ट कहा है:—

' यदेव किंचिद्विषमप्रकल्पितं
पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताऽप्यद्यमनुष्यवाक्कृति-
र्न पाठ्यते (?) स्मृतिमोह एव सः ॥ '

अर्थात् पुरातनोंने चाहे अयुक्त भी कहा हो तो भी उनके कथनकी तो प्रशंसा ही करते रहना और आजकलके—वर्तमानकालीन—मनुष्योंकी युक्तिद्वारा सुनिश्चित विचारवाली भी वाणी—कृति—को पढ़ना तक नहीं, इसका नाम केवल मुग्ध मनुष्योंका स्मृतिमोह है; अन्य कुछ भी नहीं !

उनके ऐसे ही और भी अनेक चुभनेवाले उद्गार यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं । मालूम पड़ता है कि दिवाकरजीके ऐसे कोरे परंतु युक्तियुक्त जबावोंको सुन कर उनके विरोधी निरुत्तरित होकर मन ही मनमें खूब चिढ़ते रहते होंगे, और जिस तरह आजकलके पुराणप्रिय मनुष्य, जब स्वतंत्र विचारवाले किसी बुद्धिमान् विचारकके विचारोंका समाधान नहीं कर सकते तब अपने भक्तोंके सामने अपनी प्रतिष्ठा कायम रखनेके लिये, नवीन विचारोंपर नास्तिकताका आरोप करके उनकी उपेक्षा करने करानेका नाट्य करते-कराते दिखाई देते हैं उसी तरह, उस पुराने जमानेमें भी यही हाल चलता रहा होगा । और इसी लिये शायद दिवाकरजीने निम्नलिखित मर्मवचन बड़े मजाकके साथ कहा होगा ।—

' परेद्यु (?) जातस्य किलाद्य युक्तिमत्
पुरातनानां किल दोषवद्वचः ।

है कि—' क सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क चैषा ' अर्थात्—सिद्धसेनसूरिकी बनाई हुई महान् अर्थवाली स्तुतियाँ कहाँ और अशिक्षित मनुष्यके आलाप जैसी मेरी यह रचना कहाँ ? इसी कथनसे ज्ञात हो जायगा कि सिद्धसेनसूरिकी ये स्तुतियाँ कैसी महत्त्ववाली हैं । (इनको बहुतसी द्वात्रिंशिकाओंमें मुख्य कर अर्हन् महावीरकी अनेक प्रकारसे स्तवना की गई है, इस लिये इनको स्तुतियाँ कहते हैं, और अतएव बहुतसी जगह ' आह च स्तुतिकारः' ऐसा उल्लेख सिद्धसेनसूरिके लिये किया गया है ।

× सिद्धसेनसूरिका यह उद्गार, उनके समकालीन और सहवासी महाकवि कालिदासके, मालविकाग्निमित्रमेंके—

' पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।

इस उद्गारके साथ कितनी अर्थसमता रखता है ! महाकवि कालिदास और सिद्धसेनदिवाकर दोनों महाराज वीरविक्रमादित्यकी राजसभाके उज्ज्वलरत्न थे । मालूम पड़ता है दोनोंकी अलौकिक प्रतिभा और लोकोत्तर कृतियोंने उस समयके पुराणप्रिय पण्डितोंको ईर्ष्यालुहृदयी बना दिये होंगे, और अतएव वे सर्वसाधारणमें पुरातनताके बहाने इनके गौरवमें न्यूनता लानेकी व्यर्थ चेष्टायें किया करते होंगे और ऐसे ही ईर्ष्यादग्धविदग्धोंको मौनव्रत दिलानेके लिये इन समर्थ पुरुषोंको ये उद्गार निकालने पड़े होंगे ।

किमेव जाल्मः कृत इत्युपेक्षितुं
प्रपञ्चनायास्य जनस्य सेत्स्यति ॥ ’

अर्थात्—‘ कलके जन्मे हुएके वचन तो आज युक्तिमत् बताये जाते हैं और पुरातन पुरुषोंके दोषवाले माने जाते हैं ! अफसोस, इससे अधिक और क्या मूर्खपना हो सकता है ? ऐसे बोलनेवाले जालिम मनुष्योंकी तो उपेक्षा ही करनी चाहिये। उनके सुधारनेके लिये और कोई दूसरा उपाय नहीं है। ’ इस प्रकारके उद्गार निकाल कर ‘ उपेक्षा करनेका ’ ढोंग रचनेवाले पुराणप्रेमियोंको दिवाकरजी कहते हैं कि बड़ी खुशीकी बात है—इस उपेक्षासे हमको तो लाभ ही होगा। क्यों कि हमारे विचारोंका प्रतिरोध करनेवाला कोई न निकलनेसे उनका तो और खूब प्रसार ही होगा !

आशा है विज्ञ पाठक दिवाकरजीके इन उद्गारोंको पढ़ कर उनकी विचारस्वतंत्रता और तर्कप्रवणताका बहुत कुछ अनुमान कर सकेंगे। ऐसे स्वतंत्र और निर्भीक उद्गार जैनसाहित्यमें तो क्या समग्र संस्कृतसाहित्यमें भी मिलने मुश्किल हैं। (अपूर्ण)

सेठ हुकमचंदजीपर अनुचित आक्षेप।

इन्दौरके सुप्रसिद्ध धनकुबेर ‘ रायबहादुर सर सेठ हुकमचंदजी ’ के नामसे हमारे सभी पाठक परिचित हैं। हालमें, कुछ महीने हुए, सेठजीने अपनी मौजूदा धर्मपत्नीकी असाध्या रुग्णावस्थाके कारण अपना एक दूसरा विवाह कराया था और इस विवाहके समय आपने ढाई लाख रुपयेका शुभ दान दिया था। विवाह समयके इस दान-समाचारको ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने अपने ‘ जैनमित्रमें ’ निम्न प्रकारसे प्रकट किया था:—

“ इंदौरके सर सेठ हुकमचंदजीने अपने विवाहके समय वह एक लाख रुपै जो अपनी प्रथम धर्मपत्नी श्रीमती कंचनबाईके आरोग्य हो जानेके उपलक्षमें चांदीकी प्रतिमा बनवानेके लिये कहे थे, सो जैन विधवाओं और जैन असमर्थोंके लिये देने कहे हैं; और ढेढ़ लाख रुपये एक अस्पताल खोलनेके लिये दिये हैं।—”

इस समाचारको लेकर और इसे ज्योंका त्यों अपने पत्रमें उद्धृत करके, सहयोगी ‘ सत्यवादीके ’ विज्ञ संपादक पं० खूबचंदजीने, सत्यवादीके अंक नं० ८—९ में, सेठजीपर एक बहुत ही अनुचित तथा मिथ्या आक्षेप किया है और उन्हें बहुत कुछ उलटी सीधी सुनाई हैं। यहाँपर उसीका स्पष्टीकरण करनेके लिये कुछ पंक्तियाँ लिखी जाती हैं।—

उक्त विवाहसे कुछ समय पहले—डेढ़ वर्षसे भी अधिक समय पहले—सेठजीने ऐसा वचन निकाला था अथवा इस प्रकारकी कोई प्रतिज्ञा की थी कि, यदि हमारी धर्मपत्नी श्रीमती कंचनबाई ढेढ़ वर्षके भीतर नीरोग हो जायगी तो हम एकलाख रुपये भर चाँदीकी तीन प्रतिमाएँ बनवाकर स्थापित कराएँगे। इससे पाठक समझ सकते हैं कि सेठजीको अपनी धर्मपत्नी कितनी प्यारी है और वे उसके लिये कहाँतक धनका बलिदान करनेके लिये तय्यार हैं। अस्तु। यह समाचार उस समय अनेक पत्रोंद्वारा प्रकाशित हुआ था। ‘ दिगम्बर जैन ’ ने अपने अंक नं० ९—१० में लिखा था:—

“ ...और अपनी पत्नी सौ० श्री कंचनबाईकी तबीयत डेढ़ वर्षमें अच्छी हो जायगी तो १०००००) भर चांदीसे

श्रीजीकी तीन प्रतिमा बनवाकर ऊपरकी वेदीमें विराजमान करनेकी प्रतिज्ञा ली है।"

जैन हितैषीने अपने अंक नं० ७ में सूचित किया था:—

"इन्दौरके धनकुबेर सेठ हुकमचंदजीने प्रकट किया है कि यदि मेरी धर्मपत्नी डेढ़ वर्षके भीतर नीरोग हो जायँगी तो मैं एक लाख रुपये भर चाँदीकी तीन प्रतिमायें बनवाकर विराजमान कराऊँगा।..."

(अन्य पत्रोंकी फाइलें इस समय हमारे सामने मौजूद नहीं हैं)। इस समाचारके निकलनेपर बड़े बड़े पंडितों तथा अनुष्ठानकर्ताओंने जिनेंद्र भगवान् और शासनदेवताओंसे बहुत कुछ विनय, अनुनय और प्रार्थनाएँ कीं परन्तु फल कुछ नहीं निकला। भगवान् तो 'वीतराग' ठहरे, शासनदेवताओंने भी किसीकी एक नहीं सुनी। संभव है कि वर्तमान देशकालानुसार चाँदीकी प्रतिमाओंका बनाया जाना उन्हें इष्ट ही न हुआ हो अथवा सेठानीजीको नीरोग बनाना उनकी सामर्थ्यसे बाहरका काम हो। कुछ भी हो, एक एक दिन करके डेढ़ वर्ष बीत गया और सेठानीजी बीमारकी बीमार ही बनी रहीं। जब इस अन्तके उपाय द्वारा भी सेठानीजी नीरोग नहीं हो सकीं तब सेठजीकी आशाओंपर पानी फिर गया। ऐसी हालतमें उनकी चिन्ताओंका उत्तरोत्तर बढ़ना स्वाभाविक था। नहीं मालूम उनके हृदयमें क्या क्या विचार उत्पन्न हुए होंगे और कैसा ऊहापोहात्मक नाटक उपस्थित हुआ होगा। अन्तमें, ऐसा मालूम होता है कि, जब उन्होंने अपनी स्त्रीको सदाकी रोगल (रुग्ण)—असाध्य रोगल—देखा, उसे त्रिवर्गके योग्य नहीं पाया और अपने लिये त्रिवर्गके—धर्म, अर्थ, कामके—अविरोधरूपसे अथवा समानरूपसे संसाधनकी ज़रूरत समझी तब उन्होंने स्वयं, अथवा अपनी स्त्रीकी भी सम्मतिसे, अपने दूसरे विवाहका निश्चय कर लिया और उसे कर डाला। यहाँ, हमारे इन शब्दोंसे, किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि हम सेठजीके इस विवाहको 'उचित' प्रतिपादन कर रहे हैं। वह उचित हो या अनुचित, यहाँ पर उसके विचारका अवसर नहीं है। उसके औचित्य और अनौचित्य पर विचार प्रकट करनेकी अगर ज़रूरत होगी और हमें अवकाश मिलेगा तो उस पर एक विस्तृत स्वतंत्र लेख लिखा जायगा। इस समय हमें सिर्फ इतना ही बतलाना है कि इस विवाहके अवसर पर सेठजीने एक अस्पतालके लिये डेढ़ लाख रुपयेका दान करते हुए, अपनी उदारतासे वह एक लाख रुपया भी जैन विधवाओं तथा जैन असमर्थोंकी सहायतार्थ दे डाला जिसे उन्होंने शर्तिया तौर पर प्रतिमाओंके लिये निकालनेका विचार किया था और शर्त पूरी न होनेके कारण जिसकी अब प्रतिमाएँ कोई अधिकारिणी अथवा हकदार नहीं रही थीं और न किसी देवताका ही उसपर कुछ आधिपत्य हो सकता था। सेठजीकी इस उदारता और उनके इस समयोचित दानकी जितनी भी प्रशंसा की जाती और जितनी भी कृतज्ञता उनके इस कृत्यपर प्रकट की जाती वह सब थोड़ी थी। परंतु कृतज्ञता प्रदर्शित करना और कुछ अहसान मानना तो दूर रहा, सहयोगी 'सत्यवादी' के सुयोग्य संपादक महाशयने, 'वचनका मूल्य' शीर्षक एक नोट लिखकर, सेठजी पर उलटा अपना कोप प्रगट किया है। ऐसा मालूम होता है कि संपादक महोदयकी अभीष्ट चाँदीकी प्रतिमाओंके बननेका सुयोग नष्ट होजाने और उस द्रव्यके दूसरे लोकोपकारी कार्योंमें दे दिये जानेके कारण उनके हृदयस्रोतसे एकदम कषाय-जोश उबल उठा।

और उनके दिमागी थर्मामेटरका पारा इतना ऊँचा चढ़ गया है कि उसमें उन्हें सत्य-असत्य, योग्य अयोग्य और उचित अनुचितका कुछ भी भान नहीं रहा। उन्होंने सेठजीको वचनभंगका अपराधी ठहराया है, उनके इस कृत्यको धनमदका कार्य सूचित किया है और साथ ही उनके उस पूर्वसंकाल्पित शर्तिया द्रव्यको निर्माल्यद्रव्य और देवद्रव्य बतलाकर उसको फिरसे दानमें परिणत करनेके लिये सेठजीको अनधिकारी प्रकट किया है। और यदि वे ऐसा करते हैं तो उन्हें जैनविधवाओं आदिको देवद्रव्य अथवा निर्माल्यद्रव्यका खिलानेवाला और इसलिये उनका अहितकर्ता भी सूचित किया है । इस तरहपर सम्पादक महाशयने अपने हृदयके बहुत कुछ उद्गार प्रकट किये हैं और उनके द्वारा सेठजीकी कीर्तिको कलंकित करने और उन्हें डरानेका भरसक यत्न किया है। हमें इन पिछली बहुतसी बातोंपर लम्बा जानेकी जरूरत नहीं है। इससमय हमको सिर्फ वचनभंगवाली बातपर ही विशेष ध्यान देनेकी जरूरत है, अन्य सब बातें प्रायः उसीके आश्रित हैं। हमें देखना चाहिये कि सेठजीपर इस विषयमें वचनभंगका इलजाम (दोषारोप) कैसे लगाया जा सकता है। ऊपर जो कुछ घटनाएँ प्रकट की गईं और उनके समाचार उद्धृत किये गये हैं उनपरसे किसी भी पाठकके हृदयमें कभी यह खयाल पैदा नहीं हो सकता कि सेठजीने वचनभंगका कोई कार्य किया है। परंतु 'सत्यवादी' के सम्पादक महाशय जैनमित्रके विवाह-समयके दानसम्बन्धी उपर्युल्लिखित समाचारको अपने नोटमें उद्धृत करते हुए उस पर लिखते हैं:—

"देखिये पाठक ! जिससमय सेठजीकी धर्मपत्नी श्रीमती कंचनबाईजी रोगग्रसित थीं उस वक्त सेठजीने किसी औसरपर सरे पंचोंके बीच, श्रीजीके सन्मुख, मंदिरजीमें यह अभिवचन दिया था कि यदि मेरी पत्नी आगामी दिसम्बर १९१८ तक **जीवित रहेगी** तो मैं एक लक्ष रुपै भर चांदीकी श्रीजिनेंन्द्र भगवानकी प्रतिमाजी बनवाकर विराजमान कराऊँगा। यह समाचार समाजके प्रायः सभी पत्रोंमें हर्षरूपमें प्रकट किया गया था और इससे सेठजीने अपनेको जिनेंद्रभक्त कहलानेका सिक्का जैनसमाजपर पूर्णरूपसे अंकित कर दिखाया था। परंतु खेद है कि वही सेठजी आज अपने उस आदर्श वचनकी अवज्ञा करनेको तयार हुए हैं। आप अपने दान किये अनुसार उस एक लक्ष रुपैको जिनप्रतिमा बनवानेमें न लगाकर उसे जैन-विधवाओं और असमर्थोंको सहायता देनेमें खर्च करना चाहते हैं।"

सम्पादक 'सत्यवादी' के इस कथनमें सेठजीके वचनको जिस रूपसे प्रदर्शित किया गया है उसमें, अन्य सब बातोंको छोड़कर, हमारा ध्यान सबसे पहले 'जीवित रहेगी' इन शब्दोंपर जाता है। ये शब्द सम्पादकजीकी निजकी ईजाद मालूम होते हैं। समाजके पत्रोंमें, जिनकी आपने ऊपर दुहाई दी है, उक्त शब्दोंका कहीं नामोनिशान—दर्शनतक—नहीं है; जैसा कि 'दिगम्बरजैन' और 'जैनहितैषी' के ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्योंसे प्रकट है। जैनमित्रका भी आशय, उसके उपर्युल्लिखित समाचारसे, इन्हीं दोनों पत्रोंके अनुकूल पाया जाता है। इन पत्रोंमें 'अच्छी हो जायगी,' 'नीरोग हो जायगी,' इन शब्दोंका व्यवहार किया गया है। इन शब्दों और 'जीवित रहेगी' शब्दोंमें ज़मीन आसमानकासा अन्तर है—दिनरात जैसा भेद है—उससे सेठजीके वचनका आशय बिलकुल ही बदल जाता है और वह प्रायः एक अप्राकृतिक वचन जैसा बन जाता है। सम्पादक महाशय पंडितजीने 'नीरोग हो जायगी'

इत्यादि शब्दोंके स्थानमें 'जीवित रहेगी' इन शब्दोंको बदलकर बहुत ही अन्याय, अत्याचार और सर्वसाधारणको धोखेमें डालनेका काम किया है । उनके इस घृणित कृत्यकी जितनी भी निन्दा की जाय वह थोड़ी है । अफसोस ! उन्होंने खुद जैनमित्रके जिस समाचारके आधारपर यह नोट लिखा है उस समाचारमें भी धर्मपत्नीके 'आरोग्य हो जाने' की बात कही गई है 'जीवित रहने' की नहीं । यदि इस समाचारका कोई अंश असत्य था, तो पंडितजीको उसका सप्रमाण प्रतिवाद करना चाहिये था । परन्तु ऐसा नहीं किया गया । उलटा, चुपकेसे, पाठकोंकी आँखोंमें धूल डालते हुए, सेठजीके वचनको इस ढंगसे बदलकर रख दिया है, जिससे उनपर आक्षेप करनेका अवसर मिले और लोगोंके हृदयोंसे सेठजीकी प्रतिष्ठा उठ जाय। हम पूछते हैं, क्या इसीका नाम 'सत्यवादिता' और इसीका नाम 'पांडित्य' है ? अथवा क्या इसीको 'सम्पादकीय कला' कहते ? और क्या इसे 'कूटलेखकता नहीं कहेंगे ? क्या हमारे पंडित महाशय इसी रेतकी निःसार नींव पर अपने आक्षेपोंकी भित्ति (दीवार) को खड़ा करना चाहते थे ? और क्या उन्होंने इसी बिरते पर—इसी छलकपटके आधार पर—सेठजीपर वचनभंगका महादोषारोपण करनेका साहस किया है ? शोक ! शतशोक ! ! हमें अफसोस है कि जो लोग, इस प्रकारसे, स्वयं अपने शब्दोंका—अपने वचनोंका—कुछ भी मूल्य नहीं रखते वे दूसरोंके—प्रतिष्ठित पुरुषोंके—'वचनका मूल्य' जाँचने और उसे कहनेका दुःसाहस करनेके लिये तय्यार होते हैं ! विद्वानोंके लिये इस प्रकारकी बातें—ऐसी मिथ्या और अनुचित चेष्टाएँ—बड़ी ही लज्जास्पद और हास्यजनक होती हैं । विद्वानोंको चाहिये कि वे जो कुछ लिखें वह सब सत्य और बहुत ही जँचा तुला हो । उनकी लेखनीसे यथासंभव कोई भी बात निराधार और अप्रामाणिक नहीं निकलनी चाहिये । उन्हें दूसरोंकी कारवाईयोंपर नेकनीयतीसे टीका-टिप्पण करनेका अधिकार जरूर है । परन्तु वे उन कार्रवाइयोंका असली रूप पब्लिक पर प्रकट करते हुए ही ऐसा कर सकते हैं—उनका नकली और स्वमनःकल्पित-रूप सामने रखकर उन्हें वैसा करनेका कोई अधिकार नहीं है । और न उससे उनकी नेकनीयतीही पाई जा सकती है ।

सम्पादक 'सत्यवादी' जीने इतना ही नहीं किया, बल्कि उन्होंने सेठजीके वचनसे तीन प्रतिमाओंकी बातको भी साफ उड़ाया है । जान पड़ता है आपको उतने वजनकी सिर्फ एक प्रतिमाका बनाया जाना ही अभीष्ट था और इसीसे आपने 'चाँदीकी सवा इकतीस मन वजनवाली प्रतिमा—न भूतो न भविष्यति' इत्यादि वाक्योंद्वारा उसे आगे पुष्ट भी किया है । आगे चलकर आपने कुछ और भी गोलमाल किया है और कुछ ऐसी ही ऊटपटाँग बातें लिखी हैं जिन सबको हम यहाँपर छोड़ते हैं और इससमय सिर्फ इतना ही लिखना काफी समझते हैं ।

आशा है कि सम्पादक महाशय इस नोटपरसे कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे और अपनी भूलको समझेंगे । साथ ही, अपने इस कृत्यसे, उन्होंने सेठजीकी जो कुछ मानहानि की है और उन्हें जो कुछ मानसिक कष्ट पहुँचाया है उस सबके लिये सेठ साहबसे क्षमाप्रार्थी होकर अपने अपराधका प्रायश्चित्त करेंगे । इसीमें उनका सौजन्य और इसीमें उनका महत्त्व होगा । इत्यलम् ।

ता० २६-१०-१९ ।

नीच और अछूत ।

(ले०—भगवन्त गणपति गोइलीय ।)

(१)

नालीके मैले पानीसे मैं बोला हहराय;
हौले बह रे नीच कहीं तू मुझपर उचट न जाय ।
'भला महाशय !' कह पानीने भरी एक मुसकान;
बहता चला गया गातासा एक मनोहर गान ।

(२)

एक दिवस मैं गया नहाने किसी नदीके तीर ।
ज्यों ही जल अञ्जलिमें लेकर मलने लगा शरीर ।
त्योंही जल बोला मैं ही हूँ उस नालीका नीर;
लज्जित हुआ, काठ मारासा मेरा सकल शरीर ।

(३)

दँतुअन तोड़ी मुँहमें डाली वह बोली मुसुकाय;
ओह महाशय ! बड़ी हुई मैं नालीका जल पाय ।
फिर क्यों मुझ अछूतको मुँहमें, देते हो महाराज !
सुनकर उसके बोल हुई हा ! मुझको भारी लाज ।

(४)

खानेको बैठा भोजनमें ज्योंही डाला हाथ;
त्योंही भोजन बोल उठा चट विकट हँसीके साथ ।—
नालीका जल हम सबने था किया एक दिन पान;
अतः नीच हम सभी हुए फिर क्यों खाते श्रीमान ।

(५)

एक दिवस नभमें अभ्रोंकी देखी खूब जमात;
जिससे फड़क उठा हर्षित हो मेरा सारा गात ।
मैं यों गाने लगा कि, आओ अहो ! सुहृद घनवृन्द;
बरसो, शस्य बढ़ाओ, जिससे हो हमको आनन्द ।

(६)

वे बोले, हे बन्धु 'सभी हम हैं अछूत औ नीच;
क्यों कि पनालीके जलकण भी हैं हम सबके बीच ।
कहीं अछूतोंमें ही जाकर बरसेंगे जी खोल,
उनके शस्य बढ़ेंगे, होगा उनको हर्ष अतोल ।

(७)

मैं बोला, मैं भूला था, तब नहीं मुझे था ज्ञान;
नीच ऊँच भाई भाई हैं भारतकी सन्तान ।
होगा दोनों बिना न दोनोंका कुछ भी निस्तार;
अब न करूँगा उनसे कोई कभी बुरा व्यवहार ।

(८)

वे बोले यह सुमति आपकी करे हिन्दका त्राण;
उनके हिन्दू रहनेमें है भारतका कल्याण ।
उनका अब न निरादर करना, बनना भ्रात, उदार,
भेदभाव मत रखना उनसे करना मनसे प्यार ।

विविध विषय ।

१–विचार बदलगया ।

यह बात हमारे किसी भी पाठकसे छिपी नहीं है कि इन्दौरके सुप्रसिद्ध धनकुबेर रायबहादुर सर सेठ हुकमचंदजीने अपनी धर्मपत्नीके डेढ़ वर्षके भीतर नीरोग हो जानेकी शर्तपर एक लाख रुपयेकी चाँदीकी तीन प्रतिमाएँ बनवानेका संकल्प करके उसे बाहर निकाला था । परन्तु दुर्दैवसे डेढ़ वर्षके भीतर तो क्या अभीतक भी उनकी स्त्रीको नीरोगताकी प्राप्ति नहीं हुई और इस लिये सेठसाहबके उक्त संकल्पको पूरा होनेका-अथवा चाँदीकी प्रतिमाओंको बननेका—अवसर नहीं मिल सका । सेठजीने यह समझकर कि धर्ममें लगाया हुआ धन सदा ही शुभ होता है, अपना वह एक लाखरुपया, जिसे उन्होंने शर्त पूरी होनेपर चाँदीकी प्रतिमाओंके बनवानेमें खर्च करनेका विचार किया था, एक दूसरे ही धर्मकार्यमें अर्थात्, जैन असमर्थोंकी सहायतार्थ दे डाला । इसपर हमारे कुछ प्रतिमाप्रेमी महाशय, जिन्हें चाँदीकी प्रतिमाओंके दर्शन—पूजनमें ही सातिशय पुण्यकी प्राप्ति मालूम होती है और जो उनके द्वारा इन्दौर शहरको एक आतिशय क्षेत्र बनानेकी धुनमें लगे हुए हैं, विकल हो उठे हैं । उनका, जिस तिस प्रकारसे, यही कहना है कि, यद्यपि सेठजीकी स्त्रीको नीरोगताकी प्राप्ति नहीं हो सकी तो भी सेठ साहबको अपने विचारानुसार चाँदीकी प्रतिमाएँ ज़रूर बनवा देना चाहिये था । उनके लिये एक लाख रुपया कोई चीज़ नहीं है । यदि वे उन एक लाख रुपयोंको दूसरे धर्मकार्यमें दे चुके हैं तो कोई हर्ज नहीं, उन्हें अब दूसरे एक लाख रुपयोंसे चाँदीकी प्रतिमाएँ बनवा देना चाहिये । यह भी धर्मका कार्य है । ऐसा करनेसे जैनधर्मकी विशेष प्रभावना होगी और

सेठजीका 'वह संकल्प भी पूरा हुआ ठहरेगा' * । यद्यपि, इस विषयमें, हम यह माननेके लिये तय्यार नहीं हैं कि चाँदीकी प्रतिमाओंसे जैनधर्मकी कोई विशेष प्रभावना होती है, और न इस बातसे ही सहमत हैं कि जो संकल्प पूरा नहीं हुआ उसे ख्वाहमख्वाह भी पूरा हुआ ठहराकर पबलिकमें एक प्रकारका मिथ्या भाव पैदा किया जाय, तो भी हम इतना जरूर कहेंगे कि प्रतिमाओंका बनवाना एक प्रकारका धर्मकार्य अवश्य है यदि (बशर्ते कि) वह देशकालकी स्थितिको देखते हुए शुद्ध और सच्चे धार्मिक-भावोंसे प्रेरित होकर किया जाय । साथ ही, यह बात भी माननेके लिये तय्यार हैं कि उक्त सेठजीके लिये एक लाख रुपया कोई चीज नहीं है । वे एक लाख रुपयेकी तीन नहीं लाख लाख रुपयेकी तीन प्रतिमाएँ भी बनवा सकते थे और अब बनवा सकते हैं । परन्तु फिर भी उन्होंने जो उनको नहीं बनवाया और न बनवानेका इरादा रखते हैं, इसमें कोई गुप्त रहस्य जरूर है । जिसे हम यहाँ अपने पाठकोंपर प्रकट कर देना उचित समझते है और वह यह है कि, सेठजीका विचार अब इस विषयमें बदल गया है । वे जैनसमाज तथा देशकालकी वर्तमान परिस्थितियोंके अनुसार अब चाँदीकी प्रतिमाओंका बनाया जाना उचित नहीं समझते । पिछले दिनों कलकत्तेके कोलूटोलास्ट्रीटवाले जैनमंदिरमें प्रतिमाओं पर जो उपद्रव हुआ है, उससे सेठजीके चित्त पर बहुत असर पड़ा है और वहाँका वह दृश्य उनके विचारपरिवर्तनमें बहुत कुछ सहायक बना है; जैसा कि उनके निम्नपत्रसे प्रकट है, जो कि उन्होंने ३ नवम्बरको बम्बई पं० नाथूरामजीके पास, उनके पत्रके उत्तरमें, भेजा है—

"श्रीयुत सज्जन भाई नाथूरामजी प्रेमी, जुहारु।

आपका पत्र आया जिस्के उत्तरमें लिखनेमें आता है कि मेरी धर्मपत्नी बीमार थी तब मैंने यह संकल्प करके कहा था कि १८ *महिनेमें यह आरोग्य हो जावेगी तो १ लाख रुपयेकी चाँदीकी प्रतिमा बनवा दूँगा । मेरी धर्मपत्नी अभीतक बीमार रहती है तथापि यह समझकर कि धर्ममें लगाया धन सदा ही शुभ है हमने वह १ लाख रुपया परोपकारमें लगानेका नक्की किया। चूंकि कलकत्तेका प्रतिमाजीवाला दृश्य कोलूटोला स्ट्रीटका साम्हने रखकर कि जब इस निकृष्ट कालमें पाषाणकी प्रतिमातकके लोग विरोधी हैं तो भला चांदीकी प्रतिमाकी कहाँतक रक्षा की जा सकती है बल्कि बड़ी प्रतिमाएँ कीमती धातुकी बनाना एक प्रकार जान पूछ कर इस कालमें अपने धर्मके आविनय होनेवाले शत्रु पैदा करना है, ऐसा ध्यानमें आनेसे १ लाख रुपया विधवा और असहाय लोगोंके परोपकारमें खर्च करना ऐसा हमने निश्चय करा और उस माफिक कार्य भी चालू कर दिया । अब इस परसे समाज जो चाहे सो लिखे या कहे—हमारी समाज इस समय पक्षपातके सूत्रपातसे बँधी है जो चाहे ले दौड़े । हमें तो १ लाख रुपया परोपकारमें खर्च करना था, जिसमें विशेष लाभ हमें दीख पड़ा और समाजकी और देशकालकी परिस्थितिसे ठीक जँचा उसही रास्तेसे खर्च कर देना निश्चय किया है सो आपको मालूम रहे—और सब कुशल है काम काज लिखिये ।"

आपका दास—

द० हुकमचंद"

* यह अन्तिम वाक्य खास पं० खूबचंदजीका है जो 'सत्यवादी' के संपादक हैं । इससे स्पष्ट ध्वनित है कि सेठजीका वह संकल्प पूरा तो नहीं हुआ, परन्तु पंडितजी उसे इस तरह पर 'पूरा हुआ' ठहराना चाहते हैं ।

* उस पत्रमें गलतीसे १२ महिने लिखे गये थे बादको दूसरे पत्रद्वारा गलतीकी सूचना मिलने पर यहाँ उसका सुधार किया गया है ।

हम सेठजीके इस विचारपरिवर्तनका अभिनंदन करते हुए उन्हें हृदयसे धन्यवाद देते हैं। निःसन्देह आजकलकी परिस्थितियों और जैनसमाजकी मौजूदा हालतको देखते हुए ऐसी चाँदीकी प्रतिमाओंका बनवाना कभी ठीक नहीं हो सकता। जो लोग चाँदीकी प्रतिमाको सातिशय पुण्यजनक समझते हैं और उसे भवभवके पातक दूर करनेवाली मानते हैं,* यह सब उनकी भूल है। उन्होंने प्रतिमापूजनके रहस्यको नहीं समझा, और न वर्तमान देशकालकी परिस्थितियोंका परिशीलन ही किया है। हमारी रायमें आजकल ऐसी बहुमूल्य प्रतिमाओंके तय्यार करानेमें जो धन खर्च होता है वह समाजहितके लिये दूसरे समयोपयोगी कार्योंमें व्यय होना चाहिये। सेठजीने ऐसा ही किया है और इसलिये उससे उनकी दूरदर्शिता और समयज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है।

२—नई ईजाद।

अभीतक आम तौरपर यह मान्यता चली आती है कि जहाँ कहीं किसी प्रतिमाके निमित्तसे देवकृत कोई अतिशय या चमत्कार देखनेमें आता है वहाँके उस क्षेत्रको 'अतिशय क्षेत्र' कहते हैं। परंतु हालमें हमारे सहयोगी 'सत्यवादी' के विज्ञ संपादक महाशयने एक नई ईजाद कर डाली है, जिसके अनुसार अब किसी क्षेत्रको अतिशय क्षेत्रका सौभाग्य प्राप्त करने अथवा उक्त पदवीसे विभूषित होनेके लिये देवकृत किसी अतिशयकी अथवा यों कहिये कि देवोंका मुँह ताकनेकी कोई जरूरत नहीं रही; अब केवल चाँदीकी एक बड़ीसी प्रतिमा (यदि वह सवा इकतीस मनकी हो तो और भी अच्छा) विराजमान कर देनेसे ही वह काम निकल जायगा। चाहे उस प्रतिमाको भले ही कोई उठा ले जाय अथवा उसे खंडखंड तथा विकृत कर डाले परंतु तो भी वह प्रतिमा अतिशयवती और उसके कारण वह क्षेत्र अतिशय क्षेत्र बना रहेगा, उसमें जरा भी फरक नहीं आएगा। इस नूतन आविष्कारके उपलक्षमें संपादक 'सत्यवादी' को जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह थोड़ा है। जिन जिन भाइयोंकी इच्छा अपने नगर-ग्रामोंको अतिशयक्षेत्र बनानेकी हो और जो दूरदेशान्तरोंके यात्रियोंका अपने यहाँ बराबर आवागमन देखना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे संपादकमहोदयके इस नवाविष्कारके अनुसार शीघ्र ही चाँदीकी एक बड़ीसी प्रतिमा अपने यहाँ स्थापित कर लेवें; बस इतनेसे ही उनका नगर या ग्राम एक खासा और पक्का अतिशयक्षेत्र बन जायगा और वहाँ दूरदूरके यात्रिगण स्वयमेव ही आने लगेंगे! हमें अफसोस है कि रायबहादुर सर सेठ हुकमचंदजीने सम्पादक महाशयकी इस नई ईजादके अनुसार अपने इन्दौर शहरको अतिशयक्षेत्र बनाना पसंद नहीं किया। देखिये, दूसरे स्थानोंके भाई भी इस नई ईजादसे कुछ लाभ उठाना पसंद करते हैं या नहीं।

३—एक नवीन सोसायटीकी स्थापना।

गत तारीख ५—६—७ नवम्बरको पूना शहरमें ओरियंटल कान्फरेन्सका जलसा था, जिसमें देशके प्रायः सभी भागोंसे अच्छे अच्छे विद्वान् पधारे थे। इस अवसर पर श्रीयुत मुनिजिनविजय और कुमार देवेंद्रप्रसादजी, आरा आदि कुछ सज्जनोंके प्रयत्नसे एक नवीन जैन-

* जैसा कि पं० खूबचंदजी संपादक सत्यवादीके निम्नवाक्यसे भी प्रकट है—"भव्यजनोंके इस सातिशय पुण्यजनक प्रतिमाके दर्शनोंसे भवभवके पातक दूर होंगे।"

सोसायटीकी स्थापना हुई है, जिसका नाम है ' दि जैन रिसर्च सोसायटी ' (The Jain research sciety); अर्थात्–पुरानी बातोंकी शोध खोज लगानेवाली सभा। इस सोसायटीके मंत्री श्रीयुक्त सेठ मनसुखलाल रवजीभाई मेहता (सद्गत श्रीमद्राजचंद्रजीके भ्राता) और कुमार देवेंद्रप्रसादजी आरा चुने गये हैं। सोसायटीका मुख्य उद्देश्य एक त्रैमासिक पत्र निकालनेका है, जिसका नाम जैन ऐंटिक्वेरी (Gati antiguary) या जैन पुरातत्त्व होगा, और जिसमें शिलालेख, ताम्रपत्र, ग्रन्थ-प्रशस्ति, पट्टावली, प्रबन्ध और सिक्के आदि सब प्रकारका ऐतिहासिक जैनसाहित्य रहेगा चाहे वह कर्णाटक, तामिल और तेलगु आदि किसी भी भाषामें क्यों न उपलब्ध हो। साथ ही, इस बातका खास खयाल रक्खा जायगा कि उसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंका साहित्य समान भाव और समान परिमाणसे प्रकाशित होता रहे। इस पत्रके हिन्दी भागका सम्पादन मुनि जिनविजयजी और अँग्रेजी भागका संपादन कुमार देवेंद्रप्रसादजी करेंगे। पत्रके खर्चके लिये फिलहाल १ हजार रुपये कुमार देवेंद्रप्रसादजीने, १ हजार सेठ मनसुखलालजीने, १ हजार रुपये हीरा लालजी शाहने, ५००) रु० अमरचंदजी भाईने, और ५००) रु० केशवलालजी भाईने देना किया है। और भी कुछ चंदा हुआ है और यथेष्ट चंदा हो जानेकी दृढ आशा है। शायद फाल्गुणकी पूर्णिमातक इस पत्रका प्रथम अंक निकल जायगा। ये सब समाचार हमें मुनि जिनविजय और कुमार देवेंद्रप्रसादजीके पत्रोंसे मालूम करके अत्यंत हर्षकी प्राप्ति हुई है। निःसन्देह ऐसी एक जैन सोसायटीके स्थापित होने और उसके द्वारा ऐसे एक ऐतिहासिक पत्रकी योजना होनेकी बहुत बड़ी जरूरत थी। आशा है कि मुनि जिनविजय और कुमार देवेंद्रप्रसादजी जैसे उद्योगी और विद्वान् पुरुषों द्वारा यह संस्था शीघ्र ही फले फूलेगी और अपने प्रयत्नों द्वारा जैनियोंकी संपूर्ण ऐतिहासिक सामग्रीको पब्लिकके सामने लानेके लिये समर्थ होगी। हम इस संस्थाकी हरप्रकारसे उन्नति चाहते हुए उसके शीघ्र सफल होनेकी हृदयसे भावना करते हैं।

इस अंकके साथ उक्त सोसायटीका आवेदन-पत्र रवाना किया जाता है। पाठकोंको उसे खास तौरसे पढ़ना चाहिये।

४–स्वजन और सज्जनवियोग।

हमें अपने पाठकोंपर यह प्रकट करते हुए बहुत दुःख होता है कि हमारे पूज्य श्वसुर श्रीयुत मुन्शी होशयारसिंहजी, जैन रईस तीतरों जि० सहारनपुर, आज इस संसारमें नहीं हैं। उनका गत २२ नवम्बरको रामपुरके स्टेशनपर एकाएक देहान्त हो गया है। आप बड़े ही सज्जन, धर्मात्मा, मृदुस्वभावी और सरल प्रकृतिके मनुष्य थे। आपको झगड़ा टंटा कभी पसंद नहीं हुआ। आप अपना जीवन बड़ी ही सादगी और शांतिके साथ व्यतीत किया करते थे। लगभग ३० वर्ष तक आपने नहरके महकमेमें नौकरी की है–शरिश्तेदारके पद पर रहे हैं–और अब उसी पदसे प्रायः १० वर्ष हुए आप पेंशन पाते थे। परोपकारकी तरफ आपकी परिणति हमेशासे रही है। वर्षोंसे आप हरसाल एक जैनातिथि पत्र छपवाकर उसे बाँटा करते थे, जैनअनाथालयादिकको बराबर कुछ न कुछ सहायता भेजा करते थे और अपने पास अनेक ऐसी ओषधियाँ तय्यार कराकर रक्खा करते थे जो सर्वसाधारणको बिना मूल्य वितरण हुआ करती थीं। यद्यपि आपकी अवस्था ७० वर्षके करीब थी तो भी आप बड़े ही परिश्रमशील और

पुरुषार्थी थे—घंटोंतक बराबर काम किया करते थे और मीलों तक पैदल भी चल लेते थे। आपने अपने तीर्थोंकी कई कई बार यात्राएँ की हैं—एक बार आप मूडबिद्री तक और दूसरी बार जैनबिद्री तक हो आए हैं। पिछली बार, चार पाँच वर्ष हुए, आप हमारे संग ही सकुटुम्ब जैनबिद्री तककी यात्राको गये थे। पूजन और स्वाध्यायसे आपको अच्छा प्रेम था। यद्यपि आप हिन्दी लिखने पढ़नेके बहुत कम अभ्यासी थे तो भी आपने हमसे अनेक पुस्तकोंको मँगाकर उनका स्वाध्याय किया है। आपमें मोहकी मात्रा कम थी इसी लिये शायद् आप अक्सर रूखी प्रकृतिके व्यक्ति समझे जाते थे। आपकी मृत्यु भी अच्छे धर्मात्माओं जैसी, बल्कि यों कहिये कि योगियों जैसी हुई है। उसमें आपको जरा भी कष्ट उठाना नहीं पड़ा और न मोहके कारण, आपका आत्मा इधर उधर भटका है। आप रामपुरके स्टेशनसे अपने घरको तीतरों जाते थे, शहरमें भोजन करके रेल्वे स्टेशनपर आए थे और टिकट भी ले लिया था। दो चार दिनसे साधारण ज्वरादिकके कारण कुछ अवस्थ जरूर थे परन्तु रेलके आने तक आप बराबर अपने साथियोंके साथ बैठे हुए इधर उधरकी बातें करते रहे। रेलके आते ही साथीजन उनके पाससे जरा हटकर कोई अच्छासा दर्जा उनके बिठलानेको तलाश करने लगे कि इतनेमें ही उनका प्राणपखेरू उड़ गया और वे ज्योंके त्यों समाधिस्थसे बैठे रह गये! संसारकी हालत भी बड़ी ही विचित्र है! पानीके बुलबुलेको विलय होते कुछ देर लगती है, परंतु इस जीवात्माको शरीरके छोड़नेमें कुछ भी देर नहीं लगती। जो मनुष्य अभी हँसी खुशीकी बातें कर रहा था, जिसे अपनी मृत्युका सौ सौ कोसका गुमान नहीं था और जिसको सुखपूर्वक बिठलानेके लिये एक अच्छेसे दर्जेकी तलाश की जा रही थी उसका एकदम 'बोलता' निकल गया और अब उसीको काठके ढेरपर लिटाने और चितामें भस्म कर देनेकी तयारी होने लगी! इससे अधिक संसारकी असारता और क्षणभंगुरता और क्या होगी! हमें मुन्शीजीके इस आकस्मिक वियोगका बहुत अफसोस है।

५—अछूतोंको उत्थानका अवसर।

कोल्हापुरके महाराजासाहबने, जिन्होंने पहले अपने राज्यमें यह नियम पास किया था कि जैनियों और विविध हिन्दू जातियोंका परस्परका विवाहसंबंध विधिविहित समझा जायगा, अब यह आज्ञा निकाली है कि अछूतोंके साथ अच्छा बर्ताव किया जाय, जो ऐसा नहीं करेगा उसे दंड दिया जायगा। इसे कहते हैं दीनोंका रक्षण, जो क्षत्रियोंका खास धर्म है। इस आज्ञाको पाकर निःसन्देह, कोल्हापुर राज्यके अछूतोंको अपने उत्थानका अच्छा अवसर मिलेगा। और आश्चर्य नहीं कि जो दूसरे राज्योंमें भी इस आज्ञाका अनुकरण शीघ्रताके साथ होने लगे।

६—स्त्रियोंका सौभाग्य।

झालरापाटनके महाराजने अपनी रियासतमें स्त्रियोंको वोट देनेका अर्थात्, राज्यकार्योंमें सम्मति प्रकाश करनेका—अधिकार दे दिया है। यह वहाँकी स्त्रियोंके लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है; क्योंकि जिस अधिकारप्राप्तिके लिये विलायतकी स्त्रियाँ वर्षोंतक झगड़ती रहीं और उन्होंने बहुत कुछ कष्ट उठाए वह अधिकार उन्हें सहजहीमें एक योग्य महाराजाके आधिपत्यके कारण प्राप्त हो गया है।

नोट—आगेके विविध विषय सम्पादकके नहीं किन्तु प्रकाशकके लिखे हुए हैं।

७-एक शिक्षित जैनीका मुसलमान होना।

यह समाचार बड़े आश्चर्यके साथ पढ़ा जायगा कि लाहौरके सुप्रसिद्ध जैनग्रन्थप्रकाशक बाबू ज्ञानचन्दजीके बेटेने---जिनका नाम इस समय हम भूलते हैं---मुसलमानधर्मकी, संभवतः अहमदिया या कादियानी सम्प्रदायकी, दीक्षा ले ली है। आप अभी हाल ही विलायतसे बैरिस्टरी पास करके बम्बई आये थे और यहाँसे कादियान जि० गुरुदासपुर (पंजाब) गये हैं। कादियान उक्त सम्प्रदायका पवित्र स्थान समझा जाता है। यहाँ बम्बईमें बैरिस्टर साहबकी पत्नी अपने भाइयोंके साथ आई थी और चाहती थी कि अपने पतिसे जाकर मिलूँ; परन्तु भाइयोंने उसे मिलने नहीं दिया और कह दिया कि वे अभी आये ही नहीं हैं; उन्होंने बैरिस्टर-साहबसे भी कह दिया कि हमारी बहिन नहीं आई है! जिससमय बहिनको मालूम हुआ कि भाइयोंने मुझसे झूठमूठ कह दिया है, उस समय बैरिस्टर साहब कादियानको रवाना हो चुके थे! एक शिक्षित जैनीका इस तरह धर्मान्तर करना समाजके लिए बहुत ही सोचने-विचारनेका प्रश्न है।

८-हिन्दू और जैनोंकी संख्या कम हो रही है।

नीचे लिखी सूचीसे मालूम होगा कि हिन्दू और जैनोंकी संख्या किस प्रकार कम हो हो रही है और मुसलमान ईसाई तथा सिक्खोंकी संख्या किस प्रकार बढ़ रही है। संख्यायें प्रति दसहजारके हिसाबसे दी गई हैं।

सन्	१८८१	१८९१	१९०१	१९११
हिन्दू	७४३२	७२३१	७०३४	६९३१
सिक्ख	७३	६७	७५	९६
जैन	४८	४९	४५	४०
मुस०	१९७४	१९९६	२१२२	२१२६
ईसाई	७३	७९	९९	१२४

अर्थात् पिछले तीस वर्षोंमें सैकड़े पीछे १६$\frac{२}{३}$ जैनी कम हो गये हैं। हमारा विश्वास है कि १९२१ की मनुष्यगणनामें यह कमी और भी भयंकर रूपसे बढ़ी हुई दिखलाई देगी। देखें, समाजके कर्णधार कबतक इस जीवन-मरणके प्रश्नको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं।

९-स्त्रीसमाजमें आत्महत्या।

बंगला प्रवासीके सुयोग्य सम्पादकने सन् १९१५ की सरकारी रिपोर्टसे संख्यायें देकर प्रकट किया है कि इस देशमें आत्महत्यायें अन्य देशोंकी अपेक्षा बहुत अधिक होती हैं और उनमें भी स्त्रियोंमें तो यह रोग और भी भयंकर रूपसे बढ़ रहा है। नीचे कुछ प्रदेशोंके आत्मघाती स्त्रीपुरुषोंकी संख्या देखिए:---

	कुलजनसंख्या	आत्मघाती	
		पुरुष	नारी
मध्यप्रदेश और बरार	१,३९,१६,३०८	४४१	५२२
बिहार उड़ीसा	३,४४,९०,०३४	६०५	११०५
आगरा अयोध्या	४,६८,२०,५५६	६६४	१७९९
बंगाल	४,५३,२९,२८७	१४५२	२०१८

सर्वत्र ही पुरुषोंकी अपेक्षा आत्मघातिनी स्त्रियोंकी संख्या अधिक है। मध्यप्रदेश-बरारमें वह लगभग सवाई, बिहार उड़ीसामें लगभग दूनी, यू० पी० में ढाई गुनीसे अधिक और बंगालमें डेढ़ गुनीसे कुछ कम है। मनुष्यको प्राण सबसे अधिक प्यारे हैं। बिना असह्य कष्टके कोई सहज ही प्राण नहीं देना चाहता। देशकी अधिक आत्महत्या इस बातका निश्चित प्रमाण है कि हमारे कष्ट अन्य देशोंकी अपेक्षा बहुत बढ़े हुए हैं और उसमें भी हमारी स्त्रियाँ बहुत ही अधिक दुःखिनी हैं। यह निश्चय है कि

हमारी सामाजिक व्यवस्थायें और रूढ़ियाँ स्त्रीजातिके लिए सबसे अधिक कष्टप्रद हैं, और इसी कारण वे सबसे अधिक आत्महत्या करती हैं। उनके गुह्य और गूँगे कष्ट उन्हें आत्मरक्षाका इससे अच्छा और सरल दूसरा उपाय नहीं बतला सकते। एक तो स्त्रियोंकी संख्या हमारे यहाँ यों ही कम है और फिर उनमें आत्महत्याकी वृद्धि हो रही है। समाजके कर्णधार इस प्रश्नपर भी विचार करनेकी कृपा करें।

१०–माणिकचन्द–ग्रन्थमाला।

पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थमालाके लिए जो दस हजार रुपयेका नया चन्दा करनेका विचार हुआ था और जिसका प्रारम्भ जिनवाणीके परम भक्त लाला उम्मेदसिंह मुसद्दीलालजीने एक हजार रुपये देकर किया था वह लगभग पूर्ण हो गया है। दस हजार रुपयेकी रकमें भरी जा चुकी हैं और दाता महाशय अपनी अपनी रकमें भेज रहे हैं। इस कार्यमें सबसे अधिक परिश्रम जैनमित्र-सम्पादक श्रीयुत शीतलप्रसादजी ब्रह्मचारीजीने किया है और इसका सारा श्रेय उन्हींको मिलना चाहिए। जब तक चन्दा पूरा नहीं हुआ तब तक ब्रह्मचारीजीने चैन नहीं ली—वे जी जानसे इस कार्यके पीछे पड़ गये थे। इस विषयमें उनकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है। हम उनके प्रति हृदयसे कृतज्ञता प्रकाश करते हैं।

यह कार्य इतना बड़ा है और प्रकाशित करने योग्य ग्रन्थोंकी संख्या इतनी अधिक है कि उसके लिए यह दस पन्द्रह हजार रुपयोंकी रकम बिलकुल ही नगण्य है। जब तक इस कामके लिए दो चार लाख रुपयोंका फण्ड न हो तब तक जैनसाहित्यका सन्तोषयोग्य प्रकाशन नहीं हो सकता और न तब तक जैनसाहित्यके अध्ययन और मननका क्षेत्र ही विशेष विद्वानोंके लिए तैयार हो सकता है। पर जबतक हमारे धनियोंका ध्यान इस ओर इतना आकर्षित नहीं हुआ है, वे अपने धनका इतने अच्छे कार्योंमें सदुपयोग करना नहीं सीखे हैं तबतक हमें इस दस पन्द्रह हजार रुपयेके फण्ड पर ही सन्तोष करना चाहिए और इसके द्वारा जितने ग्रन्थोंका उद्धार हो सके करना चाहिए।

ग्रन्थमालामें अबतक १४ ग्रन्थ छप चुके हैं। स्वामी समन्तभद्रकृत **युक्त्यनुशासन** विद्यानन्दकृत संस्कृतटीकासहित, और देवसेनसूरिकृत **नयचक्र** (प्राकृत और संस्कृतच्छायासहित) ये दो ग्रन्थ छप रहे हैं। आचार्य वट्टकेरकृत **मूलाचार** (संस्कृतटीकासहित) की प्रेस-कापी तैयार हो चुकी है। इनके सिवाय **नीतिवाक्यामृत** सटीक, **न्यायकुमुदचन्द्रोदय**, **न्यायविनिश्चयालंकार**, **त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति**, आदि ग्रन्थोंके छपानेका प्रबन्ध किया जा रहा है। इन ग्रन्थोंकी शुद्ध और प्राचीन प्रतियोंकी आवश्यकता है। जो सज्जन इस विषयमें हमारी सहायता करेंगे उनके हम बड़े ही कृतज्ञ होंगे।

११–सोधियाजीका स्वर्गवास।

बड़े ही शोककी बात है कि जैनसमाजके सुपरिचित, श्रद्धेय मास्टर दरयावसिंहजी सोधियाका गत पौष वदी ४ गुरुवारको स्वर्गवास हो गया। गत पाँच छह महीनोंसे आप संग्रहिणी रोगसे पीड़ित थे और इसी कठिन रोगने आपकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। सोधियाजी सारे जैनसमाजमें अपने ढंगके एक ही विद्वान् थे। संस्कृतज्ञ न होने पर भी आपने जैन-साहित्यका विशाल अध्ययन किया था और उसके फलसे आप बीसों संस्कृतज्ञोंको जैनधर्म पढ़ानेकी योग्यता रखते थे। आपने 'श्रावकधर्मसंग्रह' नामक एक सरल और सुसंकलित ग्रन्थकी रचना की थी। आप बड़े ही निर्भीक और स्पष्टवक्ता थे। स्पष्ट कहनेमें तो एक ही थे। जैनसमाजकी आपने बहुत सेवा की थी। आपके बड़े भाई श्रीयुक्त सोधिया नाथूरामजी और सुयोग्य पुत्र बाबू खूबचन्दजी सोधिया बी. ए. एल. टी. के इस मार्मिक दुःखमें हम हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

जैनसमाजके पण्डित ।

गत पचीस तीस वर्षोंमें जैनसमाजने जो शिक्षासम्बन्धी आन्दोलन किया है और उसके फलसे जो संस्थायें स्थापित हुई हैं उन्होंने बाबुओंकी अपेक्षा पण्डित ही अधिक तैयार किये हैं और समाजकी सबसे अधिक शक्ति और सम्पत्ति पण्डितोंके लिए ही खर्च हुई है। यद्यपि संस्कृतकी अपेक्षा अँगरेजी शिक्षाकी वृद्धि हमारे यहाँ कम नहीं हुई है, बाबुओंकी अपेक्षा पण्डित कुछ अधिक संख्यामें तैयार नहीं हुए हैं, परन्तु बाबुओंकी शिक्षाके खर्चका अधिकांश बोझा उनके मातापिताओं या संरक्षकोंने ही उठाया है जब कि पण्डितोंका प्रायः सारा खर्च समाजने धार्मिक भावसे प्रेरित होकर अपनी जेबसे दिया है। यही कारण है जो समाज बाबुओंकी अपेक्षा पण्डितोंसे कुछ विशेष आशा रखता है। समाजका बहुत बड़ा भाग पण्डितोंको ही अपनी डगमगाती हुई नैयाका पार लगानेवाला समझता है।

यह पण्डितोंकी वृद्धि दिगम्बर समाजमें ही अधिक हुई है, श्वेताम्बरोंमें नहीं। एक तो श्वेताम्बर समाजको पण्डितोंकी आवश्यकता उतनी तीव्रताके साथ अनुभूत नहीं हुई, क्यों कि उसमें उपदेश देनेवाले साधुसम्प्रदायका अस्तित्व बना हुआ है—साधुओंकी संख्या वहाँपर हजारोंके ऊपर बनी हुई है, दूसरे उसके साधु महात्मा नहीं चाहते कि श्रावक लोग विद्वान् बनकर उनके एकहत्थी निरंकुश शासनमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप करनेका दुःस्साहस करना सीखें। यही कारण है कि साधारण शिक्षाका यथेष्ट प्रचार होनेपर भी श्वेताम्बर समाजमें गृहस्थ पण्डित दश पाँच ही कठिनाईसे मिलेंगे। परन्तु दिगम्बर समाजमें साधुसम्प्रदायका अभाव हो गया है, इस लिये इसे ही सबसे अधिक आवश्यकता इस बातकी हुई कि धर्मशास्त्रोंके जाननेवाले विद्वान् तैयार किये जायँ।

दिगम्बर सम्प्रदायमें भी बीसपंथियोंकी अपेक्षा तेरहपन्थियोंने इस आवश्यकताका अनुभव विशेषरूपसे किया। क्यों कि ये लोग बहुत पहलेसे—लगभग ३०० वर्ष पहलेसे—इटलीके पोपोंके प्रतिरूप भट्टारकोंके शासनका जूआँ अपने कन्धोंपरसे उतार चुके थे और गृहस्थोंको ही धर्मशास्त्रज्ञ बनानेकी प्रथाका सूत्रपात कर चुके थे। इसमें उन्हें सफलता भी हुई थी। पण्डितवर्य टोडरमल्ल, बनारसीदास, भगवतीदास आदि गृहस्थ पण्डित उनके हृदयमें गंभीर श्रद्धाका बीज बो चुके थे। यही कारण है जो इस समय दिगम्बर सम्प्रदायके जितने पण्डित हैं, प्रायः वे सभी तेरहपन्थी कुलोंमें उत्पन्न हुए हैं। बीसपन्थियोंका अधिकांश भाग अब भी भट्टारकों और उनके सहवर्ती अज्ञानके पंजेमें फँसा हुआ है; यद्यपि उनकी दशा भी बहुत तेजीके साथ बदल रही है।

इस समय मेरे अनुमानसे दिगम्बर सम्प्रदायमें संस्कृतज्ञ पण्डितोंकी संख्या एक सौसे कम न होगी और आशा है कि आगे यह बराबर बढ़ती रहेगी। इस समय जितने विद्यालय और पाठशालायें हैं उनसे अधिक नहीं तो प्रतिवर्ष १५-२० पण्डित अवश्य तैयार हो जाते हैं।

जिन प्रान्तोंमें बीसपंथी सम्प्रदाय है वहाँ भी कई विद्यामन्दिर खुल गये हैं—उनमें भी थोड़े बहुत पण्डित तैयार होने लगे हैं और आशा है कि कुछ समयमें इनकी संख्या भी सन्तोषजनक हो जायगी। जो लोग बीसपंथी हैं और थोड़ी बहुत शिक्षा पा गये हैं, वे भी अब भट्टारकोंसे बागी होकर उनके चंगुलसे निकल भागना चाहते हैं और इसके लिए उन्हें यही आवश्यक मालूम होता है कि भट्टारकोंको सर्वथा

'अर्द्धचन्द्र' देनेके पहले श्रावकोंमें ही कुछ धर्मशास्त्रज्ञ बना लिये जायँ।

हमारे दिगम्बर सम्प्रदायकी शिक्षा संस्थाओंमें शुरूसे ही एक बड़ी भारी भूल जड़ पकड़ गई है ओर आश्चर्यकी बात है कि अभीतक उसकी ओर किसीका भी ध्यान नहीं गया है। हम लोग यह समझ बैठे हैं कि हिन्दुओंके समान हमारी भी धार्मिक भाषा संस्कृत है और इस कारण हम संस्कृतको ही सबसे अधिक महत्त्व देने लगे हैं। पर वास्तवमें हमारी भाषा संस्कृत नहीं किंतु मागधी या प्राकृत है। हमारा प्राचीनसे प्राचीन साहित्य प्राकृतमें है और जैनधर्मके वास्तविक तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आज भी हमें उसके अध्ययन अध्यापनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। हमारा संस्कृत साहित्य बहुत पीछेका है और उसका बहुत बड़ा भाग उन प्राचीन ग्रन्थोंका अनुवाद या भाषान्तर ही है। प्राचीनता और मौलिकताकी दृष्टिसे वह उसकी बराबरी नहीं कर सकता। संस्कृत साहित्यकी रचना हमारे यहाँ उस समय प्रारम्भ हुई जान पड़ती है जब प्राकृत बोलचालकी भाषा नहीं रही थी, उसका स्थान अपभ्रंश आदि दूसरी भाषाओंने ले लिया होगा और उसके समझनेके लिए दूसरी भाषाओंकी सहायताकी आवश्यकता पड़ने लगी होगी। अजैन विद्वानोंको समझानेके लिए और उनके साथ वाद-विवाद करनेके लिए भी कुछ आचार्योंको संस्कृतमें लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। परन्तु वास्तवमें हमारी भाषा प्राकृत ही है और जैनधर्मके सर्वसाधारणमें चारित्रके प्रचार करनेके उदार सिद्धान्तके अनुसार, धर्मग्रन्थोंके लिए प्राकृत—बोलचालकी भाषा—ही उपयुक्त हो सकती है। एक आचार्यने इसे स्वीकार भी किया है:—

बाल-स्त्री-वृद्ध मूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
हिताय पूर्वसूरिभिः सिद्धान्तं प्राकृतं कृतम्॥

श्वेताम्बरसम्प्रदायमें तो एक साधुको—संभवतः हरिभद्रसूरिको—इस अपराधमें दण्ड दिये जानेकी कथा प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपना पाण्डित्य प्रकट करनेके लिए प्राकृतको छोड़कर एक संस्कृत ग्रन्थकी रचना कर डाली थी! उनके गुरुके मतसे ग्रन्थरचना केवल सर्वसाधारणके लाभके लिए ही की जानी चाहिए।

हम देखते हैं कि हमारे श्वेताम्बरसम्प्रदायमें प्राकृतको अब भी संस्कृतकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता है, इस कारण उनमें इस समय भी पचासों साधु प्राकृतके जाननेवाले मौजूद हैं और उनकी ओरसे सरकारी यूनीवर्सिटियोंमें प्राकृतको स्थान दिलानेके लिए आन्दोलन किया जा रहा है; परन्तु हमारे समाजमें प्राकृतके ज्ञानका प्रायः अभाव हो रहा है। इतने बड़े पण्डित समाजमें एक भी पण्डित ऐसा नहीं है जो प्राकृतका अच्छा विद्वान् कहा जा सके, या जिसे प्राकृत व्याकरणका और प्राकृत साहित्यका ज्ञान हो। हमारी शिक्षा संस्थाओंको यह भूल शीघ्र ही सुधारनी चाहिए और पठनक्रममें प्राकृतको खास स्थान दिया जाना चाहिए। इसके बिना ये पण्डित संस्कृतके पण्डित हो जाने पर भी जैनधर्मके वास्तविक पण्डित नहीं कहे जा सकते।

इस प्राकृत-ज्ञानके अभावसे प्राकृतके सैकड़ों हजारों प्राकृत ग्रन्थ भण्डारोंमें जीर्ण शीर्ण हो रहे हैं। न उन्हें कोई पढ़ता है, और न वे प्रकाशमें ही लाये जा सकते हैं। जबतक उनके सम्पादन और संशोधन करनेवाले न मिलें तबतक वे प्रकाशित भी कैसे हों?

यह एक आश्चर्यकी बात है कि नई 'पौध' के जितने पण्डित हैं, प्रायः वे सब ही उत्पन्न तो ऐसे घरोंमें हुए हैं, जिनमें कुलक्रमसे तेरहपन्थ या भट्टारक-विरोधी पन्थ चला आया है; परन्तु उनपर प्रभाव है बहुत कुछ भट्टारका-

नुयायी विचारोंका । यद्यपि अपने पूर्वसंस्कारवश वे भट्टारक महाराजोंकी सेवा-पूजा नहीं करते हैं और न उनकी आज्ञा ही मानते हैं; परन्तु उनके साहित्यकी—जिसमें अनेक संहितायें, अनेक त्रिवर्णाचार और अनेक प्रतिष्ठापाठ आदि ग्रन्थ हैं—वकालत करनेके लिए निरन्तर कटिबद्ध रहते हैं । यद्यपि हमें यह विश्वास है कि चाहे जितना प्रयत्न करनेपर भी अब परमोदार जैनधर्मके स्वरूपको एक अनुदार, विकृत और मूढ़ताओंसे पूर्ण साँचेमें ढालनेवाला उक्त साहित्य अधिक समय तक नहीं टिकेगा—भट्टारकोंके साथ ही साथ उसको भी 'अर्द्धचन्द्र' मिलना अनिवार्य है; परन्तु अभी कुछ समय तक पण्डितदल अपनी शक्तिका सदुपयोग इस पुण्यकार्यमें अवश्य करेगा और तब तक करता रहेगा जब तक उसमें स्वयं सोचनेविचारनेकी—अध्ययन अन्वेषण करनेकी शक्ति उत्पन्न नहीं हुई है । हमारा विश्वास है कि नये पण्डितदलके ये भट्टारकी विचार उनके स्वयंकृत अध्ययनके नहीं, किन्तु एक दो ऐसे विद्वानोंके प्रभावके फल हैं, जिनका उनके हृदयपर बहुत अधिक प्रभाव है और जिनके विरुद्ध जानेके नैतिक साहसका उनमें अभाव है । पर यह अवस्था हमेशा नहीं रह सकती ।

संस्कृतज्ञ पण्डितोंके विषयमें इन दिनों कुछ लोगोंको बहुत निराशा होने लगी है; परन्तु जब हम देखते हैं कि एक तो नई 'पौध' के पण्डितोंमेंसे चार छह ही ऐसे हैं, जिनकी अवस्था ३० को पार कर गई है–शेष सब २० और ३० वर्षके बीचके अपरिपक्वबुद्धि हैं, दूसरे उनकी शिक्षाप्रणाली बहुत ही अनुदार है, तब निराश होनेका कोई कारण नहीं मालूम होता । ज्यों ज्यों इनकी उम्र बढ़ेगी, संसारकी गतिका ज्ञान होगा, अनुदारता और कट्टरता कम होगी और ये स्वयं सोचना-विचारना सीखेंगे, त्यों त्यों इनके विचारोंमें परिवर्तन होगा और ये समाजकी मानसिक और बौद्धिक उन्नतिमें सहायक बनेंगे ।

जो लोग इन पण्डितोत्पादिनी संस्थाओंके विरोधी हैं और इनके लिए धन खर्च करना बुरा समझते हैं, हमारी समझमें वे भूल करते हैं । वे यह नहीं जानते कि जैनधर्मकी रक्षाके लिए जैनसिद्धान्तोंके ज्ञानकी खास आवश्यकता है और इस विषयका परिपक्व और गंभीर ज्ञान संस्कृत और प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओंके जाने बिना नहीं हो सकता । इस लिए इन भाषाओंके अध्ययन अध्यापनके साधन जितने अधिक सुलभ किये जा सकें उतने किये जाने चाहिए और इसके लिए समाज जितना अधिक धन खर्च करे, उतनी ही उसकी शोभा है । विरोध केवल इन संस्थाओंकी शिक्षाप्रणाली आदिका किया जाना चाहिए ।

इस समयके पण्डितोंके विषयमें किसी तरहकी राय कायम करनेके पहले हमें उनकी परिस्थितियोंपर भी एक नजर डाल लेना चाहिए ।

जीविका । समाजने पण्डित तो तैयार कर लिये हैं; परन्तु उनकी जीविकाका कोई क्षेत्र तैयार नहीं हुआ है । पाठशालाओं और विद्यालयोंकी अध्यापकी, उपदेशकी, आदि दो एक धर्मसम्बन्धी काम ही उनके लिए रजिस्टर्ड हो गये हैं–अध्ययन समाप्त करते ही यह पराधीनवृत्ति उनके आगे मुँह फाड़कर खड़ी हो जाती है । केवल जैन पण्डितोंका ही नहीं, संस्कृतके अजैन पण्डितोंका भी लगभग यही हाल है; परन्तु जैनेतर पण्डितोंके आगे जीविकाका प्रश्न उतने कठोर और उग्र रूपसे खड़ा नहीं होता है, जितना कि जैन पण्डितोंके आगे होता है । क्योंकि हिन्दुधर्मने ब्राह्मणोंको एक खास स्थान दे रक्खा है और हिन्दू गृहस्थोंके लिए ब्राह्मण पण्डित एक

आवश्यक चीज है। पूजापाठ, क्रियाकाण्ड आदि प्रत्येक कार्यमें उन्हें उसकी आवश्यकता होती है। अतः किसी प्रकारकी नौकरी आदिकी झंझटमें न पड़कर भी ब्राह्मण पण्डित यजमानीके आसरे अपना जीवन-निर्वाह सुख-स्वच्छन्दता-पूर्वक कर सकता है। परन्तु जैनधर्मकी प्रकृति इस पुरोहिताईके अनुकूल नहीं है। जैनधर्मके उपासक स्वयं पूजापाठ करते, स्वयं शास्त्र-स्वाधाय करते, और स्वयं ही व्रत उपवास आदि करके अपना कल्याण कर सकते हैं। अपने और भगवानके बीचमें सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए उन्हें किसी तीसरे 'दलाल' की विशेष आवश्यकता नहीं जान पड़ती और तेरहपन्थके प्रभावने तो—जो इस समय प्रायः सर्वत्र व्याप्त है—इस आवश्यकताको और भी बिलकुल कम कर दिया है। ऐसी दशामें पण्डितोंके लिए अध्यापकी उपदेशकी आदिके सिवाय और कोई जीविकाका क्षेत्र नहीं है। एक तो निर्ग्रन्थ मुनियोंको और उनके अभावमें त्यागी ब्रह्मचारियोंको छोड़कर इतर गृहस्थोंको पूज्य माननेका हमारे समाजको अभ्यास ही नहीं है और यदि कोई माने भी, तो ये गृहस्थ पण्डित भी, (दोचार प्रतिष्ठाचार्योंको छोड़कर,) उस धातुसे नहीं बने हैं, जो निःसंकोच होकर सम्मानके साथ साथ दान-दक्षिणाको भी ग्रहण कर सके। इनकी वैश्य-प्रकृति इस ओर जानेमें स्वयं ही कुण्ठित होती है। अभिप्राय यह कि ये पण्डितजन विद्वान् होने पर भी ब्राह्मण नहीं बन सकते और इस कारण जीविकाकी चिन्तासे बराबर घिरे रहते हैं। लाचार इन्हें अध्यापकी आदिकी सेवा-वृत्ति ग्रहण करनी पड़ती है और यह इनके विचार-विकासमें बहुत बड़ी बाधा डालती है। अपने आश्रयदाताओंकी संकुचित विचारसीमाके बाहर जानेका ये बहुत ही कम साहस कर सकते हैं।

जैनियोंकी प्रायः सभी जातियाँ व्यापार-प्रधान हैं और व्यापार करनेवाले लोग अपने व्यवसायके कार्योंमें इतने अधिक तन्मय रहते हैं कि समाज और धर्मसम्बन्धी दुरूह समस्याओंके हल करनेका न तो उन्हें समय ही रहता है और न उनका अध्ययन मनन ही इतना होता है कि वे इन बातोंको समझ सकें। वे बड़े श्रद्धालु होते हैं, सच्चरित्र होते हैं, दानशील होते हैं, पर साथ ही अन्धविश्वासमें भी उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। वे सदासे चली हुई रूढ़ियोंके एकनिष्ठ सेवक होते हैं—अपनी गतिमें किसी तरहका परिवर्तन करना उन्हें जरा भी पसन्द नहीं आता। ऐसे लोगोंपर उन पण्डितजनोंका प्रभाव नहीं पड़ सकता जो स्वयं उनके आश्रित होकर रहते हैं। निरपेक्ष लोग ही अपने चरित्रके प्रभावसे उनकी गतिको बदल सकते हैं।

एक और दुःख है। जितने पण्डित हैं वे प्रायः निर्धन कुटुम्बोंके हैं। समाजकी छात्रवृत्तियोंके आश्रयसे ही वे विद्वान् हुए हैं। यह बात अब एक कहावतसी बन गई है कि संस्कृतका अध्ययन निर्धन ही किया करते हैं। जो लोग संस्कृतके बड़े भारी पक्षपाती हैं वे भी अपने लड़कों या कुटुम्बियोंको संस्कृत न पढ़ाकर दूसरी अर्थकरी विद्यायें पढ़ाया करते हैं। इसका उपदेश तो वे दूसरोंको ही दिया करते हैं। इस विषयके बीसों उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं। ऐसी अवस्थामें—निर्धन कुटुम्बोंमें परवरिश पानेके कारण—पण्डितोंको यदि धन कुछ विशेष महत्त्वका दिखलाई दे, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। उन्हें अपने आश्रयदाताओंको असन्तुष्ट न करने और अपनी जीविका बनाये रखनेकी विशेष चिन्ता रखनी पड़ती है और इसलिए उनमें स्वाधीन विचारोंको प्रकट करनेका नैतिक साहस उत्पन्न नहीं होने पाता है।

हम यह जानते हैं कि जैनपण्डित विद्यालयोंसे निकलकर खाली नहीं बैठे रहते, उन्हें अच्छे वेतनों पर अध्यापकी आदिके कार्य मिल जाते हैं, हम यह भी मानते हैं कि जो लोग केवल नौकरीके लिए पढ़ना चाहते हैं उनके लिए अँगरेजीकी अपेक्षा संस्कृत पढ़ना अनेक अंशोंमें विशेष लाभदायक है । हिन्दीकी पढ़ाई समाप्त करके जो लड़का आठ वर्षोंमें (लगभग हजार रुपयोंके खर्चसे) मैट्रिक पास करके कठिनाईसे ३०—३५ रु० मासिककी नौकरी पाता है, वही आठ वर्षोंमें, बल्कि इससे भी कम समयमें, शास्त्री, काव्यतीर्थ, न्यायतीर्थ आदि होकर ६०—७० रुपये मासिककी अध्यापकी प्राप्त कर सकता है। यह भी सच है कि जैनसमाजमें अभी पण्डितोंकी बहुत जरूरत है, हमारे विद्यालय जितने पण्डित तैयार कर सकते हैं, उनसे अधिकके निर्वाहयोग्य नई नई संस्थायें भी खुलती जाती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि पण्डितोंकी जीविकाका यह प्रबन्ध उनके बुद्धिविकासके लिए योग्य है या नहीं और इससे जैनसमाजका वह उद्देश्य सिद्ध होता है या नहीं जिसके लिए वह अपनी शक्ति और सम्पत्तिको खुले हाथों खर्च करता है।

शिक्षाप्रणाली । पण्डितोंकी शिक्षाप्रणाली बहुत ही विलक्षण है । उनके पाठ्य ग्रन्थोंकी सूची देखनेसे यही मालूम होता है कि मानों इस युगसे उनका बहुत ही कम सम्बन्ध है और मानों उन्हें इस समयसे हजारों वर्ष पहलेके संसारमें काम करनेके लिए तैयार किया जा रहा है। न्याय, व्याकरण, काव्य और धर्मशास्त्र पढ़ लिये कि बस उनकी शिक्षाकी हद हो गई। गणित, इतिहास, विज्ञान, भूगोल, खगोल, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, आदि आवश्यक विषयोंकी उन्हें गन्ध भी नहीं लगने पाती और वे धुरन्धर पण्डित बन बैठते हैं। ये विषय उनके पाठ्य ग्रन्थोंमें भरती भी नहीं हो सकते । क्यों कि किसी भी विद्वानमें यह शक्ति नहीं जो इन पाठशालाओंके कर्ता धर्ताओंको यह सिद्ध करके समझा दे कि उक्त सब विषय जैनधर्मसे अविरोधी हैं और जब तक ये विषय अविरोधी न करार दिये जायँ तब तक अभागे जैनविद्यार्थियोंको इनके पढ़नेका अधिकार ही कैसे प्राप्त हो सकता है ? भूगोल और खगोल जैसे विज्ञान—जो जैनधर्ममें माने हुए भूगोल-खगोलसे ३६ का नाता रखते हैं—पढ़ाये जावें, यह तो बन ही कैसे सकता है, हमारी यूनीवर्सिटियोंके (हमारी एक नहीं कई यूनीवर्सिटियाँ—परीक्षालय—हैं!) चान्सलर या रजिस्ट्रार व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष जैसे विषय भी तब पढ़ाना चाहते हैं जब वे जैनाचार्योंके—नहीं नहीं विशुद्ध दिगम्बर जैनाचार्योंके—बनाये हुए हों ! ऐसी दशामें यदि इन पण्डितोंमें कट्टरता और संसारके विविध विषयों सम्बन्धी घोर अज्ञानता बनी रहे तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है ?

इस शिक्षाप्रणालीके दोषसे और तो क्या पण्डितोंको अच्छी तरह हिन्दीका भी ज्ञान नहीं होने पाता है । हिन्दी उन्हें पढ़ाई ही नहीं जाती। दूसरोंके लिखे हुए हिन्दी ग्रन्थ तो वे पढ़ नहीं सकते और जैन लेखकोंके लिखे हुए अच्छे हिन्दी ग्रन्थ बहुत ही कम हैं। इतने बड़े पण्डित-समाजमें अच्छी हिन्दी लिखनेवाले शायद ही दो चार पण्डित निकलें । अपने हृदयके भावोंको सरल और सुबोध भाषामें प्रकट करना इन्हें आता ही नहीं ।

अध्यापकीका कार्य भी ये अच्छी तरहसे नहीं कर सकते हैं। क्योंकि पढ़ानेकी कला या शिक्षा-विज्ञानसे ये बिलकुल अपरिचित रहते हैं। देहातकी पाठशालाओंमें इनसे बड़ा लाभ होता यदि ये 'पढ़ाना' भी जानते होते ।

अध्ययन और मनन । शिक्षाप्रणालीकी कमीकी पूर्ति एक उपायसे हो सकती है और

वह है पाठ्य ग्रन्थोंके अतिरिक्त बाहरी साहित्यका विशाल अध्ययन । पर हम देखते है कि जैन पण्डितोंमें इसका भी प्रायः अभाव है । एक तो उन्हें अपनी छात्रावस्थामें इस बातका शौक ही पैदा नहीं होने पाता—उनकी शिक्षा पठन-पाठनको उनके जीवनके साथ संलग्न नहीं कर सकती और दूसरे बाहरी ग्रन्थोंको वे रुचिपूर्वक पढ़ नहीं सकते । उनके छोटेसे साहित्य-कूपके बाहर उनकी समझमें किसी विशाल साहित्य-सागरके अस्तित्वका सम्भव ही नहीं, अथवा यदि है भी तो उसमें संसारको डुबानेवाले मिथ्यात्व-क्षारके सिवाय और कुछ भी नहीं है। फिर भला वे उसकी खोज-खबर क्यों रखने लगे !

एक बात और है। विशारद, शास्त्री, तीर्थ आदि पदवियाँ पण्डितोंको अभिमानिनी बना देती हैं। वे यह नहीं समझते कि केवल इन पदवियोंसे ही कोई विद्वान् नहीं हो जाता। इनसे विद्वान् होनेकी योग्यता भर हो जाती है। अर्थात् ये पदवीधर यदि परीक्षा दे चुकनेके बाद अध्ययन और मननमें सतत प्रवृत्त रहें तो संभव है कि वे कुछ समयमें विद्वान् हो जायँ। पर हम देखते हैं कि पण्डितगण अपनी पदवियोंके अभिमानके बोझेके मारे अध्ययन और मननका बोझा उठानेकी शक्ति ही खो बैठते हैं। पढ़ाईके ग्रन्थ समाप्त किये और कहीं नौकरी तलाश कर ली, बस आगे और योग्यता बढ़ानेके द्वारका ताला बन्द। वे जानते ही नहीं कि अध्ययन और मनन किसे कहते हैं और उसका कितना महत्त्व है। उनके सामने संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंशका विशाल साहित्य-भाण्डार पड़ा हुआ है और उसमें अपरिमित ज्ञानराशि छुपी हुई है, परन्तु उन्हें उसको खोज निकालनेकी इच्छा ही नहीं होती। उनमें उस अतृप्त ज्ञानलिप्साका उदय ही नहीं होता जो विद्वानोंको बुढ़ापेतक भी चैन नहीं लेने देती है।

जैनसमाजमें ऐसे विद्वानोंका प्रायः अभाव है जो जैनधर्मके मर्मज्ञ कहे जा सकें—जिन्होंने जैनधर्मका हृदय जान लिया हो। प्रचलित जैनग्रन्थोंको ऊपरा ऊपरी पढ़ लेनेसे या पढ़कर परीक्षा दे लेनेसे वह हृदय नहीं जाना जा सकता। इसके लिए बड़े ही गहरे अध्ययनकी, मननकी और परिश्रमकी आवश्यकता है। प्रत्येक विषयपर तुलनात्मक पद्धतिसे और क्रमविकासपद्धतिसे विचार होना चाहिए। समय समय पर बाह्य परिस्थितियोंके कारण धर्मविचारोंमें अनेक परिवर्तन हो जाया करते हैं, यह बात निरन्तर ध्यानमें रखनी चाहिए। पुराने और नये तमाम ग्रन्थोंको एक ही दृष्टिसे पढ़ना और उनमें जो परस्पर भेद हों उन्हें ‘अपेक्षाभेद’ कहकर उड़ा देना, या ‘दोनोंका अभिप्राय एक ही हो जाता है’ यह कहकर लीपालीपी कर देनेसे मर्म नहीं समझा जा सकता। प्रत्येक ग्रन्थ और उसके रचयिता पर समयकी आवश्यकताओंका और परिस्थितियोंका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, यह बात हमेशा दृष्टिके सामने रहनी चाहिए। सम्प्रदाय—संघ—गण—गच्छ—पन्थादिका मोह और कषाय आदि भी ऐसे विचार-भेदोंमें कारण होते हैं। जैनधर्मका मर्म वह जान सकेगा जो दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय आदि समस्त लुप्त अलुप्त संघोंके सिद्धान्तोंको और उनके अन्तरको अच्छी तरह हृदयंगम कर लेगा; साथ ही जैनधर्मके सहचारी बौद्ध वैदिक आदि धर्मोंके साहित्य और इतिहासको समझनेका भी प्रयत्न करेगा। यह स्पष्ट है कि ये सब बातें बिना गहरे अध्ययन, मनन और अध्यवसायके नहीं हो सकती हैं और ये उनके लिए सुलभ नहीं हैं जिन्हें यह विश्वास है कि हम सब जान चुके हैं।

ग्रन्थोंकी दुर्लभता । दिगम्बर सम्प्रदायका साहित्य–विशेष करके प्राचीन साहित्य–अभीतक बहुत ही कम प्रकाशित हुआ है । श्वेताम्बर सम्प्रदायके जितने ग्रन्थ छप चुके हैं, उनसे शायद बीसवें भाग भी दिगम्बरग्रन्थ नहीं छपे हैं और न इसके लिए जैसा चाहिए वैसा कोई प्रयत्न भी इस सम्प्रदायकी ओरसे किया जा रहा है । जहाँ अन्यान्य कार्योंमें यह समाज प्रतिवर्ष लाखों रुपये फूँक देता है, वहाँ इस सर्व-प्रधान धर्मकार्यमें वर्ष भरमें चार छह हजार रुपये भी इससे खर्च नहीं होते हैं ! यह एक बड़ा भारी दुःख है और इस दुःखको वे लोग बड़ी ही तीव्रतासे अनुभव करते हैं जिन्हें जैनसाहित्य-के अध्ययन और अन्वेषणका व्यसन लग गया है । गरज यह कि हमारे पण्डित महाशयोंके लिए अप्रकाशित साहित्यके देखनेके कोई साधन नहीं हैं और इस कारण उनका ज्ञान एक सीमासे बाहर नहीं जाने पाता है । जो ग्रन्थ छप भी गये हैं, वे भी उन्हें एक तरहसे दुर्लभ रहते हैं । क्यों कि पैसोंसे उन्हें इतना कम मोह नहीं होता कि अपनी कमाईमेंसे वे सब ग्रन्थोंको खरीदकर रखना आवश्यक समझें और उनके निवासस्थानोंमें ऐसे पुस्तकालय या सरस्वती-भवन भी नहीं रहते जिनमें उक्त सब ग्रन्थोंका संग्रह किया गया हो ।

ये सब परिस्थितियाँ हैं जो पण्डितोंको वास्त-विक पण्डित नहीं बनने देती हैं और यही कारण है जो बहुतसे लोगोंको उनकी ओरसे निराश किया करती हैं । परिस्थितियोंके सुधरनेसे–जिनका सुधारना बहुत कुछ समाजके हाथमें है–पण्डितसंस्था बहुत ही कल्याणकारिणी सिद्ध हो सकती है ।

हम अपने वक्तव्यको समाप्त करनेके पहले वर्तमान पण्डितोंकी कुछ ऐसी विशेषताओंका उल्लेख कर देना चाहते हैं, जो उनमें अधिकता-के साथ पाई जाती हैं और जिनका समाजके हानिलाभसे बहुत कुछ सम्बन्ध है ।

१ पण्डितोंकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी कट्टरता है । वे अपनी ही कहे जायँगे दूसरोंकी एक न सुनेंगे । सुननेका प्रयत्न भी न करेंगे । उनकी समझमें जो संस्कृतका पण्डित नहीं है वह ऐसी बात कह ही नहीं सकता जो उनके सुननेयोग्य हो । वे युक्तियोंको अपने विचारोंका गुलाम बनानेके प्रयत्नमें रहते हैं, युक्तियोंका गुलाम अपने मतको नहीं बनाना चाहते । उनका न्यायशास्त्र उन्हें सत्यकी खोज करनेका यही मार्ग बतलाता है ! यदि केवल कट्टरता होती, तो भी खैर थी; परन्तु यहाँ तो साथ ही असहिष्णुता भी है । जो उनके विचारोंका अनुयायी नहीं उससे उन्हें अतिशय घृणा हो जाती है और वे उसके साथ समाजका कोई भी कार्य नहीं कर सकते । इससे समाजकी बड़ी हानि हो रही है । पण्डित और बाबूदलकी यह पार-स्परिक घृणा दिन पर दिन बढ़ती जाती है। बाबूदलमें भी इस घृणाकी प्रतिक्रिया शुरू हो गई है और वे भी अब पण्डितोंके साथ काम करनेके लिए तैयार नहीं होते ।

२ पण्डितोंके हृदयमें उन लोगोंकी विद्या-बुद्धिका कोई आदर नहीं, जो संस्कृत नहीं जानते । उनकी समझमें जो संस्कृत नहीं जानता उसके लिए ज्ञानमन्दिरमें प्रवेश करनेका मार्ग मानों एकदम बन्द है ! अँगरेजी जानने-वालोंकी तो वे क्या कदर करेंगे, उन विद्वानोंको भी वे कुछ नहीं समझते जिन्होंने भाषाग्रन्थोंके द्वारा जैनधर्मके पचासों ग्रन्थोंका दिनरात अध्ययन और मनन किया है । भाषा अब भी उनकी नजरमें हिन्दुओंकी ‘ रण्डा ’ से बढ़कर आदरकी चीज नहीं । वे संस्कृतको संसारकी अन्यान्य भाषाओंके समान ज्ञानका एक साधन

नहीं किन्तु साक्षात् ज्ञानरूप ही मानते हैं। " यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् । "

३ पण्डितोंकी ' साहस ' की कोई सीमा नहीं । चाहे जिस विषयका खण्डन मण्डन करना वे अपने बाँयें हाथका खेल समझते हैं। उन्हें यह सोचने-समझनेकी जरूरत नहीं मालूम होती कि हम उस विषयको जानते भी हैं या नहीं । यदि वे न्यायशास्त्र जानते हैं तो बस काफी है, और कुछ जाननेकी उन्हें जरूरत नहीं । न्यायशास्त्र उनकी समझमें ऐसा अमोघ-शस्त्र है कि उसके वारसे कोई भी विज्ञान और कोई भी सिद्धान्त, टुकड़े टुकड़े हुए बिना नहीं रह सकता । उनका न्यायशास्त्र उन्हें यह न्याय्य आज्ञा कभी नहीं देता कि जिस सिद्धान्तको हम नहीं जानते हैं खण्डन करनेके पहले उसे एक बार अच्छी तरहसे अध्ययन तो कर लें। खण्डन मण्डन और शास्त्रार्थमें दूसरोंको परास्त करनेका शौक पण्डितोंमें बेतरह बढ़ा हुआ है। इस बीसवीं शताब्दिमें भी वे इसी विद्याके द्वारा अपने धर्मको जगद्विजयी बना देनेके स्वप्न देखते हैं ! मानों भगवान् महावीरने समस्त धर्मोके विद्वानोंको शास्त्रार्थमें परास्त करके ही जैनधर्मको देशव्यापी बनाया था !

४ आलस्य और प्रमादकी पण्डितदल पर विशेष कृपा देखी जाती है । उन्हें अवकाशकी कमी नहीं रहती; परन्तु फिर भी उनसे काम नहीं होता । समय पर किसी कामको कर देना तो उन्हें आता ही नहीं । उनकी इस प्रमादी प्रकृतिको आप जब चाहे तब, और जहाँ चाहे तहाँ, प्रत्यक्ष कर सकते हैं । शास्त्रीय सभा खास पण्डितोंकी सभा है; पर उसमें भी देखिए कितना काम होता है ! सत्यवादी पण्डितदलका खास पत्र है, पर वह भी देखिए साल भरमें कितने बार निकलता है और उसके सम्पादनमें कितना परिश्रम किया जाता है ! यदि इतने उदाहरणोंसे आपको सन्तोष न हो, तो अपने परीक्षालयके मंत्रियोंसे पूछ लीजिए । वे आपको बतलावेंगे कि कितने पत्रों और रजिस्टर्ड पत्रोंको हजम कर जानेके बाद पण्डित लोग प्रश्नपत्र और जाँच करके उत्तरपत्र भेजा करते हैं !

५ हमारे समाजमें पण्डित लोग साधुओंके स्थानापन्न हैं, इस लिए उनमें साधुओंका यह गुण बिशेषताके साथ पाया जाता है कि वे अक्सर एक जगह नहीं टिकते । आज यहाँ हैं तो कल वहाँ, और उसके बाद कहीं तीसरी जगह । जहाँ कहींसे जी उकताया कि 'पण्डितकी आवश्यकता' शीर्षक विज्ञापनोंको टटोलना शुरू कर दिया ! संस्कृतके विद्यार्थी भी इस विषयमें 'ट्रेण्ड' रहते हैं। वे भी जरा जरासी बातोंपर अपनी पाठशालायें बदला करते हैं । इस अस्थिरतासे पण्डितोंके प्रति जो सर्वसाधारणकी श्रद्धा है उसमें बड़ा धक्का लगता है और संस्थाओंको भी बहुत हानि सहनी पड़ती है ।

यह हम जानते हैं कि हमारे पण्डित मित्र इस लेखको पढ़कर प्रसन्न नहीं होंगे—उनके कृपाप्रसादकी वृष्टिके थोड़े बहुत छींटे भी हमारे ऊपर अवश्य पड़ेंगे । फिर भी हमें इसकी परवा नहीं । हमारी समझमें इस पर विचार करनेसे समाजका बहुत कुछ उपकार हो सकता है और यही कारण है जो हम इसमें अनेक अप्रिय सत्य कहनेके लिए विवश हुए हैं ।

अन्तमें यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि यह लेख पण्डितोंके अधिक भाग-पर दृष्टि रखकर लिखा गया है । कोई महाशय यह न समझ बैठें कि हम सभी पण्डितोंको ' सब धान बाईस पसेरी ' के हिसाबसे तौलते हैं ।

पौष सुदी ४, सं० १९७६ ।

विनीत—**नाथूराम प्रेमी ।**

आराधनापताका और वीरभद्र।

[ले०-श्रीयुत **मुनि पुण्यविजयजी,पालीताना**।]

गत कार्तिकमासके 'जैनहितैषी' में ऐतिहासिक जैनव्यक्तियाँ' शीर्षक लेखके अंतर्गत, 'वीरभद्र' का उल्लेख करते हुए, 'आराधनापताका' के विषयमें लेखक महाशयने लिखा है कि-"एक श्वेतांबर विद्वान् द्वारा हमको ऐसा मालूम हुआ था कि 'आराधनापताका' के कर्त्ता 'वीरभद्र' दिगंबराचार्य हैं।" अस्तु, जिन श्वेतांबर विद्वद्वर्यने 'वीरभद्र' को दिगंबराचार्य बताया वह किस आधारसे, इस बातको तो वे ही जान सकते हैं; परंतु मुझे इस ग्रंथका साद्यंत निरीक्षण करनेसे ऐसा मालूम हुआ है कि इसके कर्त्ता आचार्य श्वेतांबर ही हैं। अतः मैं इसी विषयके प्रमाणोंको क्रमशः नीचे उद्धृत करता हूँ। आशा है कि पाठक उनपर विचार करेंगे।

'आराधना-पताका' में परिक्रमविधि, २ गणसंक्रमण, ३ ममत्वव्युच्छेद और ४ समाधिलाभ, ये चार द्वार मुख्य हैं।

प्रस्तुत ग्रंथकारने ५१ वीं गाथामें उल्लेख किया है कि—

"आराहणाविहिं पुण भत्तपरिण्णाइ वण्णिमो पुव्वं।
ओसण्णं स च्चेव उ सेसाण वि वण्णणा होई॥"

अर्थात्-आराधना-विधिको हमने पहले 'भक्तपरिज्ञा' प्रकीर्णकमें वर्णन किया है, वही विधि सर्वत्र समझनी चाहिये। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि 'भक्तपरिज्ञा' और प्रकृत ग्रंथ, (आराधना-पताका) दोनोंके कर्त्ता महाशय एक ही हैं।

५४ वीं गाथामें लिखा है कि—

"भत्तपरिण्णामरणं भणियं सपरक्कमस्स सवियारं।
तस्साराहणमिणमो भणंति कमसो चउद्दारं॥"

अर्थात्-सविचार-भक्तपरिज्ञामरण शक्तिवाले (स्वस्थ शरीरवाले) को होता है। अतः उसकी आराधनाको चार द्वारोंसे कहते हैं।

'भक्तपरिज्ञा' की दसवीं गाथा इसप्रकार है—

"अपरक्कमस्स काले अपहुप्पं तंमि जं तमवियारं।
तमहं भत्तपरिण्णं जहापरिण्णं भणिस्सामि॥"

इसमें लिखा है कि अस्वस्थ शरीरवालेको जो परिज्ञा होती है उसे अविचार-भक्तपरिज्ञा कहते हैं। उस अविचार-भक्तपरिज्ञाको मैं यथावस्थित (?) रूपसे कहूँगा।

मतलब यह हुआ कि, भक्तपरिज्ञा दो प्रकारकी है, एक अविचार और दूसरी सविचार। अविचार-प्रतिज्ञाका वर्णन 'भक्तपरिज्ञा' ग्रंथमें और सविचार-परिज्ञाका कथन प्रस्तुत ग्रंथमें किया गया है। और इससे इन दोनों ग्रंथोंका पारस्परिक संबंध भी पाया जाता है।

परिक्रमविधि-द्वारांतर्गत लिंगद्वारकी ६४ वीं गाथामें लिखा है कि—

"उवही पुण थेराणं चोद्दसहा * सुत्तनिद्दिट्ठो॥"

अर्थात्-स्थविर कल्पियोंके लिये सूत्रमें चौदह प्रकारके उपधिका विधान किया है। यह स्थविरकल्प और चौदह प्रकारके उपधिका विधान दिगंबराचार्यके आराधना-ग्रंथमें नहीं हो सकता।

'आचेलक्कुद्देसिअ' आदि जो दश प्रकारका कल्प है उसमेंसे प्रथम ही 'आचेलक्य (नग्नत्व)' कल्पकी जो व्याख्या ग्रंथकी ७० वीं

---

* चौदह प्रकारके उपधिका वर्णन निम्नलिखित गाथाओंमें है।

पत्तं १ पत्ताबंधो २ पायट्ठवणं ३ च पायकेसरिया ४।
पडलाई ५ रयत्ताणं ६ च गोच्छओ ७ पायनिज्जोगो॥
तिन्नेव य पच्छागा१०रयहरणं११चेव होइ मुहपत्ती १२।
एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाणं तु॥
एए चेव दुवालस मत्तग १३ अइरेग चोलपट्टो १४ य।
एसो चउद्दसविहो उवही पुण थेरकप्पंमि॥
ओघनिर्युक्ति—गाथा ६६८-६९-७०

गाथामें दी है उसका अस्तित्व दिगंबराचार्य्यके ग्रंथमें नहीं बन सकता। वह गाथा इसप्रकार है—

" जुण्णेहिं खंडिएहिय असव्वतणुणउएहिं (?) मइलेहिं।
चेलेहिं सचेल च्चिय अचेलगा हुंति मुणिवसभा ॥ "

इसमें लिखा है कि 'जीर्ण खंडित... और मलिन वस्त्रोंके धारण करने पर भी साधुलोक अचेलक (नग्न) कहलाते हैं।

प्रस्तुत 'आराधनापताका'में 'भक्तपरिज्ञा' ग्रंथकी १७० गाथाओंमेंसे ११४ गाथाएँ ज्योंकी त्यों उठाकर रक्खी गई हैं। अनेक गाथायें पिंडनिर्युक्तिकी, अनेक आवश्यक निर्युक्ति की, कितनी ही आवश्यककी हारिभद्रीय टीकामें प्रमाणरूपसे दी हुई और कितनी ही आवश्यकान्तर्गत पारिष्ठापनिका निर्युक्ति की, इस प्रकार बहुतसी गाथाएँ इसमें दूसरे ग्रंथोंसे संग्रह की गई हैं। अतः इस ग्रंथको 'संग्रह-ग्रंथ' कहना कुछ भी अनुचित न होगा।

८९४ नम्बरकी गाथामें लिखा है कि—

" एयं पच्चक्खाणं सवियारं वण्णियं सवित्थारं।
इत्तो भत्तपरिण्णं लेसेण भणामि अवियारं ॥ "

अर्थात्—यह सविचारप्रत्याख्यान (परिज्ञा) विस्तारपूर्वक कथन किया गया, अब अविचार-परिज्ञाका संक्षेपसे ('भक्तपरिज्ञा' ग्रंथमें विस्तारसे वर्णन होनेके कारण) करता हूँ। इसके बाद दश गाथाओंमें उसका वर्णन दिया गया है।

अंतमें इंगिणी-मरण और पादोपगमनका भी वर्णन संक्षेपसे किया है।

मैं समझता हूँ, इस संपूर्ण कथनसे पाठकोंको इस बातका जरूर निश्चय होगया होगा कि यह 'आराधना-पताका' ग्रंथ श्वेतांबराचार्यनिर्मित है, दिगंबराचार्यकृत नहीं।

उक्त लेखमें आगे चलकर, लेखक महाशयने यह भी प्रकट किया है कि—" इसके सिवाय जैनग्रंथावलीमें 'वीरभद्र' नामके दो आचार्योंका और भी उल्लेख किया गया है। एक 'चतुःशरण' नामके श्वेतांबरग्रंथके कर्ता 'वीरभद्रगणि' जिनके विषयें उक्त ग्रंथके टीकाकारने लिखा है कि वे महावीर भगवान्के शिष्य थे..."

यद्यपि 'जैनग्रंथावली'में 'चतुःशरण' के कर्त्ता 'वीरभद्रगणि' को टीकाकारके कथनानुसार महावीर परमात्माका शिष्य लिखा है परंतु 'चतुःशरण' 'भक्तपरिज्ञा' और 'आराधनापताका' के कर्तृनाम-गर्भ-पद्योंके निरीक्षणसे तीनों ही ग्रंथोंके कर्त्ता प्रायः एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। यथा:—

" इय जीवपमायमहारिवीरभद्दंतमेयमज्झयणं। "
—चतुःशरण।

" इय जोईसरजिणवीरभणियाणुसारिणीमिणमो। "
—भक्तपरिज्ञा।

" इय विसयवइरिजिणवीरभद्दमाराहणं पसाहेसु। "
" इय सुंदराइं जिणवीरभद्दभणियाइं पवयणाहिंतो। "
—आराधनापताका।

चतुःशरणके टीकाकारने चतुःशरणके कर्त्ता 'वीरभद्रगणि' को जो महावीर भगवान्का शिष्य बतलाया है, वह केवल गतानुगतिक किंवदंती पर अवलम्बित है, जो अभीतक चतुःशरण, भक्तपरिज्ञा आदिके बारेमें बदस्तूर चली आती है। इससे अधिक 'वीरभद्र' संबंधी विशेष हाल मालूम नहीं हुआ। वीरभद्रके इस 'आराधना-पताका' ग्रंथके निरीक्षणके समय एक दूसरा 'आराधना-पताका' ग्रंथ और उपलब्ध हुआ और उसकी दो कापियाँ मिलीं। अतः पाठकोंके परिज्ञानार्थ यहाँ उसका भी कुछ परिचय दे दिया जाता है—

यह दूसरा 'आराधना-पताका' ग्रंथ प्राकृत, कर्त्ताके नामसे विरहित, द्वात्रिंशद्द्वारात्मक और गाथाप्रमाण ९९३ को लिये हुए है। इसके मंगलाचरणकी और अंत्यकी गाथायें क्रमशः ये हैं—

" पणमिरनमिरनरिंदवंदियं वंदिउं महावीरं ।
भीमभवन्नवगहणं पज्जंताराहणं एयं ॥ १ ॥
बत्तीसादारेहिं भणिहिइ खवगस्स उत्तमट्ठविही । "
" आराहणापडायं एयं जो सम्ममायरइ धन्नो ।
सो लहइ सुद्धसद्धो तिलोयचंदुज्जलं कित्तिं ॥ ९३० ॥"

यह ग्रंथ भी श्वेतांबरीय है; क्यों कि इसके सुकृतानुमोदन द्वारमें ३१७ वीं गाथा इस प्रकार है—

" कालि य सुयस्स गुणणं अंगाणंग-सुयजोगवहणं जं ।
अणहिय-अहीणकरणं पडिलेहावस्सयाईणं ॥ "

अर्थात्—काल (जिस वक्त कालिकादि श्रुत पढ़नेका समय बताया है वह) में श्रुतका अध्ययन किया हो, अंगश्रुत (द्वादशांग) अनंगश्रुत (उपांगादि) का योग वहन (विधानविशेष) किया हो, और प्रतिलेखना—आवश्यकादिक यथावस्थित किया हो उसका अनुमोदन करता हूँ ।

इससे स्पष्ट है* कि यह ग्रंथ भी दिगंबराचार्य विरचित नहीं; क्यों कि द्वादशांगी और उपांगश्रुत दिगंबराचार्य-संमत न होनेसे उनके यहाँ इनका योगवहन 'शशशृंग' समान है ।

आगे चल कर ८०५ वीं गाथामें "दशपूर्वी वज्रस्वामीने पर्वतके शिखर पर ५०० साधुओंके साथ भक्तपरिज्ञाको धारण किया था," ऐसा उल्लेख है । यह वज्रस्वामी भी दिगंबरसंमत नहीं हैं ।

यह 'आराधना-पताका' ग्रंथ तेरहवीं शताब्दीके अनन्तरका है; क्यों कि इसमें 'आशातना-दोष-प्रतिक्रमण' द्वारान्तर्गत गुरुकी तेतीस आशातनासंबंधी "पुरओ पक्खासन्ने" आदि तीन गाथाएँ 'देवेन्द्रसूरि' कृत 'गुरुवंदनभाष्य' की हैं, और ये देवेंद्रसूरि तेरहवीं शताब्दीमें हुए हैं ।

अंतमें 'आराधना-पताका' की पुस्तकें इकट्ठी कर देने वाले मुनिवर्य श्रीजसविजयजीका उपकार मानता हुआ मैं इस लेखको यहीं समाप्त करता हूँ ।

संपादकीय नोट—हम लेखक महाशयके इस परिश्रमके लिये, जो उन्होंने हमारी प्रार्थना और सूचना पर ध्यान देकर यह लेख लिखकर भेजनेमें किया है, उनके बहुत आभारी हैं । दूसरे विद्वानोंको भी चाहिये कि वे ऐतिहासिक बातोंके अनुसंधानमें इसी प्रकारसे उद्यमी और प्रयत्नशील रहकर कुछ न कुछ सहायता प्रदान किया करें । मुनिजीके इस लेखसे निम्न बातें प्रकट होती हैं—

१—वि० सं० १०७८ में 'आराधना-पताका' को बनाकर समाप्त करनेवाले 'वीरभद्र' श्वेताम्बराचार्य थे, दिगम्बर नहीं ।

२—'चतुःशरण' और 'भक्तपरिज्ञा' नामक ग्रंथोंके कर्त्ता भी उक्त वीरभद्र ही हैं ।

३—चतुःशरण और भक्तपरिज्ञाके विषयमें, श्वेताम्बरोंके यहाँ, जो यह मान्यता चली आती है, कि वे महावीर भगवानके शिष्य 'वीरभद्र गणि' के बनाये हुए हैं, वह गलत है । उसे मात्र किंवदंती और गतानुगतिकता समझनी चाहिये । उसीके अनुसार चतुःशरणके कर्ता आचार्य महाशयको भी भ्रम हुआ है ।

४—यह आराधनापताका एक संग्रहग्रंथ है ।

५—इस ग्रंथसे भिन्न एक दूसरा भी 'आराधनापताका' नामका ग्रंथ प्राकृतभाषामें है, जिसके बनानेवालेका कोई नाम प्रकट नहीं है । परंतु यह भी श्वेताम्बरीय है, और १३ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है ।

जिस किसी विद्वान् महाशयको इनमेंसे किसी बातपर कुछ आपत्ति हो अथवा कुछ विशेष हाल मालूम हो उन्हें शीघ्र उसे सप्रमाण प्रकट कर-

---

* हमारी रायमें उक्त पद्यसे ऐसा कुछ भी स्पष्ट नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि अंग और उपांगश्रुत दिगम्बराचार्य-सम्मत नहीं हैं ।

—संपादक ।

नेकी कृपा करभी चाहिये । उक्त वीरभद्रका इतिहास बहुत कुछ अंधेरेमें जान पड़ता है। अतः उसे खोज निकालनेकी कोशिश होनी चाहिये । हम लेखक महाशयसे इतना और जानना चाहते हैं कि आराधनापताकामें भक्त-परिज्ञा ग्रंथकी जो केवल ५६ गाथाएँ उद्धृत करनेसे छोड़ी गई हैं क्या उन्हींमें 'अविचार-भक्तपरिज्ञा' का विस्तारके साथ वर्णन किया गया है, और क्या इस ग्रंथमें दिगम्बरोंके 'भग-वती आराधना' ग्रंथकी गाथाओंका भी संग्रह पाया जाता है।

पुस्तक-परिचय ।

१ जातिप्रबोधक—मासिकपत्र । सम्पादक और प्रकाशक बा० विश्वंभरदासजी गार्गीय, सदर बाजार—झाँसी । मूल्य, १।) रु० वार्षिक ।

यह वही बाबू दयाचंद्रजीका मासिकपत्र है, जिसका उल्लेख हमने बाबूसाहबके नामके साथ जैनहितैषीके प्रथमांकमें किया था । इस पत्रका तीसरा अंक हमारे सामने उपस्थित है। पत्रका आकार-विस्तार और रंग-ढंग आदि सब बातें बदस्तूर जान पड़ती हैं । सम्पादकजीने लिखा है—

"जबतक उनका (दयाचंदजीका) यह पत्र जीवित रहेगा उन्हींके उद्देशोंका प्रचार करेगा।"

इससे पत्रकी नीति बहुत कुछ स्पष्ट होजाती है। इस अंकमें बाबू दयाचंद्रजीका चित्र और चरित्र दोनों दर्शनीय हैं। बाबू साहबके चरित्रसे अनेक युवक बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं । हमें 'पं० माणिकचंदजीके नाम प्रेरित पत्र' को पढ़कर खेद हुआ।

२ पुस्तकोद्धार फंड-रिपोर्ट—'सेठ देवचंद लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फंड' नामकी जो श्वेताम्बर संस्था है उसीकी यह संवत् १९७४ की सामान्य रिपोर्ट है । रिपोर्टसे मालूम होता है कि यह संस्था सन् १९०९ में एक लाख रुपयेकी पूँजीसे स्थापित हुई थी । इसका मूलधन सुरक्षित रक्खा जाता है और व्याज (सूद) की आमदनीसे हरसाल अनेक श्वेताम्बर जैनपुस्तकें तथा निबंधादिक छपाकर उन्हें **लागतसे आधी कीमतपर** बेचा जाता है। संवत् १९७४ में इस संस्थाके द्वारा सिर्फ छह-अंक प्रकाशित हुए हैं, जिनमें धर्मसंग्रहणी (उत्तरार्ध), आनंदकाव्यमहोदधि (मौ० ६ ठा), पिंडनिर्युक्ति, धर्मसंग्रह (उत्तरार्ध), उपमितिकथा (पूर्वार्ध) और दशवैकालिक सूत्र नामके छह ग्रंथोंका उद्धार हुआ है । इन छहों ग्रंथोंकी छपाई आदिमें कुल खर्च ८९७७ रु० १५ आ० ९ पाई उठा है। इस वर्ष संस्थाको २६६१ रु० १४ आ० की आमदनी पुस्तकोंकी बिक्रीसे और ३८०६ रु० १० आनेकी आमदनी सूदसे हुई । शेष खर्च पिछले सालकी सूदकी बकायासे किया गया है जो ४१०९ रु० २ आ० २ पाई थी। इस वर्ष संस्थाकी तरफसे ४८१ ग्रंथ अनेक साधुओं, श्रावकों, भंडारों, लायब्रेरियों और यूनिवर्सिटियोंको भेट दिये गये हैं। यदि पिछले सालोंमें भेट दिये हुए ग्रंथोंकी संख्याको जोड़ा जाय तो भेटके कुल ग्रंथोंकी संख्या ६१९८ होती है । इस तरह पर इस संस्थाके द्वारा श्वेताम्बर साहित्यका बहुत कुछ उद्धार और प्रचार हो रहा है। संस्थाका हिसाब बाकायदा रक्खा जाता है। अनेक ट्रस्टियोंकी देखरेखमें काम होता है और उन्हींकी सहीसे यह सामान्य रिपोर्ट प्रकाशित हुई है । इस वर्ष संस्थाके द्वारा एक प्राकृत कोशके छपानेका भी काम किसी मुनिमहाराजकी देखरेखमें प्रारंभ हुआ है, जिसके लिये दो गृहस्थोंने २५०१ रु० प्रदान किया है। मालूम नहीं यह प्राकृतकोश कोई पुराना है अथवा नया संकलित किया गया है।

३ जीर्णोद्धाररिपोर्ट—यह ईडरगढ़के श्वेताम्बरीय बावन जिनालयसम्बंधी जीर्णोद्धार खातेकी रिपोर्ट है। मंदिरमें जीर्णोद्धार (मरम्मत) संबंधी क्या क्या काम किया गया है और कितना बाकी है, यह सब संक्षेपसे, इसमें दिखलाया गया है। साथमें जीर्णोद्धारका एक नकशा और जीर्णोद्धारके बाद मंदिरके दृश्यसूचक चार सुन्दर फोटो भी लगाए गये हैं। जीर्णोद्धारका यह काम संवत् १९६८ से प्रारंभ हुआ था और अब द्रव्याभावके कारण बंद किया गया है। कुल आमदनी, इस खातेमें, ८३१४३ रु० ८ आ० ३ पाई हुई और खर्च १०६४८५ रु० १२ आ० ४ पाई हुआ। अतः तेईस हजार तीनसौ बावन रुपये तीन आने एक पाई इस खातेके जिम्मे देनदारी है। और बकाया मरम्मतके लिये तीस हजार रुपयेकी और जरूरत प्रगट की गई है। रिपोर्टसे मालूम होता है कि यह मंदिर बहुत पुराना है और पहले कई बार इसकी मरम्मत हो चुकी है। जिन जिन भाईयोंने अथवा संस्थाओंने इस जीर्णोद्धारके काममें आर्थिक सहायता प्रदान की है उनकी तफसील ग्रामवार और नामवार इस रिपोर्टके साथमें लगी हुई है। अनेक मंदिरोंके भंडारोंसे भी इसमें सहायता दी गई है। बम्बईके मन्दिरोंसे ही १० हजारसे ऊपर रकम दी गई है। यदि देनदारीकी रकम भी मंदिरोंके भंडारोंसे ही पूरी की जाय तो अच्छा है। रिपोर्टके अन्तमें ईडरका कुछ संक्षिप्त इतिहास भी, अनेक ग्रंथोंके आधारपर, दिया गया है जो पढ़ने योग्य है। और इससे रिपोर्टमें एक प्रकारकी विशेषता आगई है। उक्त इतिहास परसे मालूम होता है कि ईडर अथवा ईडरगढ़को संस्कृतादि ग्रंथोंमें इयद्दर, ईलादुर्ग, इलादुर्ग और ईडरगिरि लिखा है।

४ अग्रवालबन्धु—मासिकपत्र। संपादक और प्रकाशक, बाबू परमेश्वरी सहायजी अग्रवाल, बी. ए. एल. एल. बी., बेलनगंज आगरा। मूल्य २) रु० वार्षिक।

यह पत्र दोढाई महीनेसे निकलना शुरू हुआ है। इसका दूसरा अंक हमारे सामने है। अग्रवाल जातिकी सेवा करना इसका मुख्य उद्देश है। हम चाहते हैं कि यह पत्र अपने उद्देश्यको सफल करनेमें शीघ्र समर्थ हो। अभी इसकी स्थिति बहुत साधारण जान पड़ती है। इस अंकमें 'हमारे गोत्र' शीर्षक एक छोटासा सम्पादकीय लेख है, जो विना किसी आधार प्रमाणके लिखा गया है और बहुत कुछ अप्राकृतिक मालूम होता है। ऐसे लेखोंको बहुत सावधानी और प्रामाणिकताके साथ लिखना चाहिये। केवल दूसरोंकी मान्यताको भूल कह देनेसे ही काम नहीं चल सकता।

५ अनगार-धर्मामृत, सटीक—माणिकचंद दि० जैनग्रन्थमालाका १४ वाँ पुष्प। पृष्ठसंख्या, ७०० के करीब। मूल्य, लिखा नहीं। मिलनेका पता, पं० नाथूरामजी प्रेमी, मंत्री मा० जै० ग्रंथमाला, हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई।

यह ग्रंथ जैनियोंके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० आशाधरजीका बनाया हुआ यत्याचारविषयक एक संस्कृत ग्रंथ है। इसके साथमें स्वयं ग्रंथकर्ताकी ही बनाई हुई संस्कृत टीका भी लगी हुई है। टीकासहित कुल ग्रंथकी श्लोकसंख्या १२२०० है। यह वि० संवत् १३०० में बनकर समाप्त हुआ है। पं० आशाधरजीके प्रायः सभी ग्रंथ अच्छे, विद्वत्तापूर्ण और साहित्यकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वको लिये हुए होते हैं। इस ग्रंथकी टीकामें प्रचुरताके साथ दूसरे ग्रंथोंके पद्य 'उक्तं च' रूपसे पाये जाते हैं परंतु उनके सम्बंधमें ग्रंथपरसे यह बहुत ही कम मालूम होता है कि वे कौनसे ग्रंथोंके पद्य हैं। अच्छा होता यदि इस ग्रंथके संपादनमें इतना

परिश्रम और किया जाता कि जिससे फुट-नोटों द्वारा यह प्रकट करनेमें आ जाता कि ये ‘उक्तंच’ पद्य अमुक अमुक ग्रंथोंके पद्य हैं और वहाँसे यहाँ उद्धृत किये गये हैं। यदि इतना नहीं बन सकता था तो कमसे कम इन पद्योंकी एक जुदी अनुक्रमणिका साथमें जरूर लगनी चाहिए थी, जिससे अनुसंधान करने-वालोंको दूसरे आचार्यों और उनके ग्रंथोंका समयनिर्णयादि करनेमें कुछ सहायता मि-लती। इस ग्रंथके साथमें मूल श्लोकोंकी भी कोई अनुक्रमणिका नहीं है। परंतु उसके सम्बंधमें मंत्री साहबने हमें यह सूचित किया है कि वह छपनेके लिये दे रक्खी है, छपकर आनेपर भेजी जायगी। अतः यह संतोषकी बात है। यह ग्रंथ विद्वानोंके पढ़ने योग्य और पुस्तकालयों, पबलिक लायब्रेरियों तथा जैन-मंदिरोंके शास्त्रभंडारोंमें संग्रह किये जानेके योग्य है।

६ समुचित शिक्षा प्रथमभाग—प्रका-शक, श्रीआत्मानंद-जैन-ट्रेक्टसोसायटी अम्बाला शहर। मूल्य, एक आना।

यह ब्रह्मचर्यपर हिन्दीमें एक छोटासा ट्रेक्ट है। इसमें शारीरिक बलकी सर्वोपरि आवश्यकता दिखलाते हुए उसकी प्राप्ति और वृद्धिके लिये ब्रह्मचर्यके पालनका उपदेश दिया गया है। साथ ही ब्रह्मचर्यके विघातक कुछ कारणोंका दिग्दर्शन भी कराया गया है। ट्रेक्टके अन्तमें लिखा है कि—‘एक लेखके आधारपर।’ परंतु कहाँके अथवा किसके लिखे हुए लेखके आधारपर यह ट्रेक्ट लिखा गया है और किसने इसको लिखा है, इन सब बातोंका कहीं कोई उल्लेख नहीं है, जो होना चाहिये था। इस प्रकारका संकोच और अनुदार व्यवहार अच्छा नहीं कहला सकता। पुस्तकमें प्रश्न तथा खेदादिक प्रकाशक चिह्नोंका बहुत कुछ दुरुपयोग पाया जाता है। कुछ अशुद्धियें भी रह गई हैं। प्रकाशकोंको ऐसी बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिये, जिससे व्यर्थ ही पुस्तकका महत्त्व न घटने पाए।

७ सत्योदय—मासिकपत्र। संपादक और प्रकाशक, वैद्य चंद्रसेनजी जैन, इटावा। मूल्य, १॥) रु० वार्षिक।

यह पत्र प्रायः दोसालसे जारी है। स्वतंत्र विचारोंका प्रचार करना इसका मुख्य उद्देश्य है। पहले यह समाजके चिरपरिचित बाबू सूरज-भानजी वकीलके लेखोंसे ही प्रायः भरपूर रहा करता था, परंतु अब इसमें दूसरे विद्वानोंके भी कुछ अच्छे लेख निकलने लगे हैं। और यह पत्रके भविष्यके लिये एक प्रकारका शुभ चिह्न है। इस समय इस मासिकका १० वाँ अंक हमारे सामने उपस्थित है। पत्रभरमें संपादकीय कोई लेख अथवा नोट नहीं है जिसका प्रत्येक अंकमें होना जरूरी है। इस अंकमें ‘सत्यार्थि-योंके कर्तव्य’ शीर्षक लेख खास तौरसे पढ़ने और विचार किये जानेके योग्य है। इस लेख पर किसी लेखकका नाम नहीं है। यदि लेखक महाशयको, किसी कारणवश, अपना नाम प्रकट करने जैसी सत्यार्थ बातके लिये भी कुछ संकोच था तो संपादक महाशयको चाहिये था कि वे लेखके नीचे कोई उपनाम या सांकेतिक शब्द रख देते, जिससे यह लेख कमसे कम सम्पादकीय लेख तो न समझा जाता। क्यों कि जहाँतक हम समझते हैं यह लेख संपादक महाशयका नहीं है और न हो सकता है। इसी तरह ‘कृष्णकन्हैयाका बालपन’ नामका लेख भी लेखकके नामसे शून्य है, जो बा० सूरजभान-जीका लिखा हुआ मालूम होता है। और इससे छपाईकी असावधानताका पता चलता है। निःसन्देह पत्रकी छपाईका ढंग अच्छा नहीं है—विरामादिक चिह्नों पर भी अच्छा ध्यान नहीं दिया जाता—अनेक लेखोंमें कभी कभी श्लोकों-

को छोड़कर इस बातका पता चलना बहुत मुशकिल हो जाता है कि उनका कौनसा और कितना भाग उद्धृत है और कितना अनुद्धृत। पत्रमें कागज बहुत घटिया लगाया जाता है। हमारी रायमें जिस पत्रमें अक्सर विद्वानोंके लेख छपते हों और जिसकी फायलको रखनेकी जरूरत हुआ करे उसमें ऐसा कमजोर और रद्दी पेपर नहीं लगना चाहिये जो पाँच सात बारके इधर उधर उलटने पलटनेमें ही टूट टाट जाय। हम इस पत्रको उन्नतावस्थामें देखना चाहते हैं। आशा है कि नये सालसे यह पत्र अपनी संपूर्ण त्रुटियोंको दूर करता हुआ एक अच्छे उन्नतरूपमें दर्शन देना प्रारंभ करेगा। नये सालसे इसने अपने ग्राहकोंको 'नकली और असली धर्मात्मा' नामका एक दोसौ पृष्ठका नया सामाजिक उपन्यास भी उपहारमें देनेका विचार किया है। यह उपन्यास बाबू सूरजभानजी वकीलका लिखा हुआ है।

८ **बिजली**—मासिकपत्र । सम्पादक, पं० उदयनारायण बाजपेयी । मूल्य, २) रु० वार्षिक । मिलनेका पता, मैनेजर 'बिजली' जनरल प्रेस, इटावा।

इस मासिकका ८ वाँ अंक हमारे सामने उपस्थित है। पत्र अपने ढंगका अच्छा मालूम होता है। इस अंकमें 'आइतसिंहकी भारत-यात्रा' और 'हिन्दुस्तानकी सामुद्रिक शक्ति' नामके दो लेख पढ़ने योग्य हैं। 'महाकवि फिर दौसी' वाला लेख बहुत अशुद्ध छपा जान पड़ता है। पत्रोंमें विद्वानोंके लेखोंको बहुत सावधानीके साथ शुद्ध छापनेकी ज़रूरत है। लेखोंके अशुद्ध छपनेके कारण कभी कभी उन्हें बहुत कष्टबोध हुआ करता है।

९ **स्वार्थ**—मासिक पत्र। संपादक, अध्यापक जीवनशंकर याज्ञिक, एम. ए. एल एल. बी.। मूल्य, ४) रु० वार्षिक। मिलनेका पता, व्यवस्थापक 'स्वार्थ' ज्ञानमंडलकार्यालय, काशी।

यह पत्र अभी हालमें, कार्तिक माससे, निकलना शुरू हुआ है। इसका पहला ही अंक हमारे सामने उपस्थित है। पत्रके विषय हैं अर्थशास्त्र समाजशास्त्र, राजनीति और इतिहास। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि अपने देश और जाति (nation) का स्वार्थ क्या है, किस प्रकारसे उसकी सिद्धि, रक्षा और वृद्धि हर सकती है, इन सब बातोंको बतलाना—उनपर प्रकाश डालना ही इस पत्रका मुख्य उद्देश्य है। इस अंकमें स्वार्थ, धनका बटवारा, भारतके आर्थिक इतिहासका दिग्दर्शन, शकरका व्यापार, अंक-शास्त्रकी प्रस्तावना और प्रजावाद आदि विषयोंपर छह विद्वानोंके लेख हैं। प्रायः सभी लेख अच्छे, महत्त्वको लिये हुए, पढ़ने और विचार किये जानेके योग्य हैं। 'स्वार्थ' शीर्षक सम्पादकीय लेख बहुत कुछ गंभीर, अर्थपूर्ण और संक्षेपमें अनेक विषयोंका दिग्दर्शन करानेवाला हैं। इससे पत्रकी रीति—नीति और जरूरतका सब कुछ पता चल जाता है। दूसरे लेखोंमें 'धनका बटवारा,' 'शकरका व्यापार' और 'प्रजावाद' नामके लेख खास तौरसे पढ़े जानेके योग्य हैं। पत्रका कागज और छपाई सफाई सब उत्तम है। यह पत्र हिन्दी संसारमें अपने ढंगका एक पहला ही उच्चकोटिका पत्र है, जिसकी देशको बड़ी जरूरत थी। हम हृदयसे इस पत्रका अभिनंदन करते हुए प्रत्येक हिन्दी-भाषाभाषी विचारशील पाठकसे अनुरोध करते हैं कि वे जरूर इस पत्रको अपनाएँ, इसके ग्राहक बनकर संपादक तथा प्रकाशकोंके उत्साहको बढाएँ और इस तरह भारतके हितसाधनमें—स्वदेशके कल्याणमें एक प्रकारसे सहायक बनें। यह पत्र प्रत्येक विद्यालय, पुस्तकालय और छात्रालयमें मँगाये जानेके योग्य है।

स्वदेशीमें स्वराज्य।

(लेखक—**महात्मा गाँधी**।)

जिस रिफार्म बिलकी चर्चा इतने दिनोंसे हो रही थी वह अब कानून बननेवाला है। अब पुरानी व्यवस्थापिका सभाकी जगह नयी व्यवस्थापिका सभा बननेवाली है। वायसरायने वचन दिया है कि मैं नयी स्कीमके अनुसार कार्य कर इसकी सफलताकी पूरी चेष्टा करूँगा। अबतक मैंने जाइण्ट कमिटीकी रिपोर्टपर अपना मत नहीं प्रकट किया, कारण मेरा इससे विशेष अनुराग नहीं है। उस चीजपर फूलना नहीं चाहिये जाँच पड़तालके बाद जिसके विषयमें मालूम हो कि जनताका उपकार नहीं होगा। रिफार्म स्कीमसे लोगोंको पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिये और वायसरायके कथनानुसार इसकी सफलताकी चेष्टा करनी चाहिये। यह सभी स्वीकार करते हैं कि वर्तमान बिल पहले बिलसे अच्छा है।

पर असली सुधार जिसकी आवश्यकता भारतको इस समय है वह स्वदेशी है। सबसे पहला प्रश्न जो हमारे सामने है वह यह नहीं कि देशका शासन कैसे हो, पर यह है कि हम अपना पेट कैसे भरें और लज्जारक्षा कैसे हो। १९१८ में कपड़ा खरीदनेके लिये भारतने ६० करोड़ रुपया बाहर भेजा। यदि हम बाहरसे इसी प्रकार इतनी रकमका कपड़ा खरीदते रहे तो अपने यहाँके कपड़ा बुननेवालों और सूत कातनेवालोंको इस रकमसे वंचित रखते हैं और उन्हें किसी प्रकारका काम नहीं देते। यह आश्चर्यकी बात नहीं है कि भारतकी दशांश जनताको केवल आधपेट भोजन मिले और बाकी लोगोंमें अधिकांशको भरपेट कभी न मिले। जिनके आँख है वे देख सकते हैं कि मध्यश्रेणीके लोगोंको पेटभर भोजन और बालकोंको दूध नहीं मिलता है। रिफार्म स्कीम, चाहे वह कितनी ही उदार क्यों न हो, भोजन वस्त्रके आवश्यक प्रश्नको हल करनेमें असमर्थ है। पर स्वदेशी अभी इसको हल कर सकता है।

पंजाबने यह दिखला दिया है कि यह प्रश्न अच्छी तरहसे हल हो सकता है। ईश्वरको धन्यवाद है कि पंजाबकी महिलाएँ सूत कातने और बुननेका काम भूली नहीं हैं। छोटी बड़ी सभी सूत कातना जानती हैं। इन्होंने गुजराती स्त्रियोंकी तरह अपने चर्खे जला नहीं डाले हैं। मुझे उनका काता सूतका गोला देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ। ये कहती हैं कि कातनेके लिये हमें समय मिल जाता है। इनका यह भी कहना है कि वह 'खादर' जो काते हुए सूतसे तैयार किया जाता है मशीनके सूतसे अच्छा होता है। हमारे पुरखे थोड़े परिश्रमसे अच्छा कपड़ा तैयार करते थे और आरामसे पहनते थे और उन्हें विदेशी चीज लेनी नहीं पड़ती थी।

यदि हम समयपर नहीं जगे तो यह साधारण कला भी लुप्त हो जायगी। पंजाबको देखकर ऐसा अनुमान होता है। कारण यहाँ भी इसका लोप होता जा रहा है। हर साल हाथसे काते हुए सूतकी कमी होती जाती है। इससे यह समझना चाहिये कि हमारी दरिद्रता बढ़ती जाती है और हम अधिक आलसी होते जाते हैं। जिन स्त्रियोंने सूत कातनेका काम छोड़ दिया है वे अपने समयको सिवा गप्प लड़ानेके और किसी अच्छे काममें नहीं बितातीं। इस बुराईको दूर करनेके लिये एक बातकी आवश्यकता है। यदि प्रत्येक शिक्षित भारतवासी अपना कर्तव्य समझे तो उसको चाहिये कि अपने यहाँकी स्त्रियोंके सामने एक एक चर्खा रख दे और सूत कातनेकी सुविधाएँ कर दे। प्रतिदिन लाखों गज सूत तैयार हो सकता है। और यदि

प्रत्येक शिक्षित भारतीय इस सूतके बने हुए कपड़ोंको पहने तो वह सचमुच भारतके गृह-शिल्पकी सहायता करेगा।

गृहशिल्पके विना भारतीय किसानका नाश अवश्यम्भावी है। फसलसे वह अपना गुजारा नहीं कर सकता। उसे दूसरे उद्योगधन्धोंकी जरूरत भी है। सूत कातनेका धन्धा आसान, सस्ता और सबसे अच्छा है।

मैं जानता हूँ कि ऐसा करना मानसिक विचारोंमें क्रान्ति लाना है। और यह क्रान्ति है इसी लिये मैं कहता हूँ कि स्वराज्यका रास्ता स्वदेशीसे ही है। वह राष्ट्र जो हर साल ६० करोड रुपये बचा कर अपने यहाँके सूत बुनने और कातनेवालोंको देगा; अवश्य वह उद्योग और संगठनकी शक्ति प्राप्त कर लेगा और अपनी उन्नतिके लिये सब कुछ कर सकेगा।

बड़े बड़े स्वप्न देखनेवाले सुधारक कहते हैं कि उस समय तक अपेक्षा करो जबतक उत्तरदायित्वपूर्ण शासनाधिकार प्राप्त न हो ले और फिर हम भारतके उद्योगधन्धोंकी रक्षा अपनी स्त्रियोंके सूत कातने और बुननेवालोंके सूत बिने बिना ही कर लेंगे। विचारशील लोगोंने ऐसा कहा भी है।

मैं दृढतापूर्वक कहता हूँ कि इस उक्तिमें दो दोष हैं। पहला—भारत संरक्षात्मक करके लिये ठहर नहीं सकता और उस संरक्षणसे कपड़ेकी दर कम नहीं होगी। दूसरे—केवल संरक्षणसे भूखों मरनेवाले लाखों मनुष्योंका उपकार नहीं होता। उनकी सहायता सूत कातनेके कामसे ही हो सकती है। इस प्रकार चाहे हमें संरक्षात्मक कर लगानेका अधिकार प्राप्त हो वा नहीं, हमें सूत कातने और हाथसे बुननेके कामको पुनर्जीवित करना पड़ेगा।

जब लड़ाई हो रही थी उस समय इङ्गलैण्ड और अमेरिकाके सभी लोग जहाज बनानेके काममें लगाये गये थे और इन्होंने आश्चर्यजनक रूपसे जहाज तैयार किये। यदि मैं कुछ कर सकता तो मैं प्रत्येक भारतीयको सूत कातना और कपड़ा बुनना सिखाता और उनसे रोज निश्चित समय तक यह काम लेता। मैं स्कूल और कालेजोंसे ही श्रीगणेश करता, कारण ये सुसंगठित संस्थाएँ हैं।

मिलोंकी अधिकतासे भी यह प्रश्न हल नहीं होता। ये बहुत समयमें कपड़ोंकी माँग पूरी कर सकेंगी और इसके अतिरिक्त ६० करोड़ रुपयेमें सब हमें नहीं मिल सकता। इनसे धन और मजूर एकत्र हो सकते हैं जिनसे और भी अधिक बुराई होगी। *

—" यङ्ग इण्डिया "

जैनसमाजकी उन्नति क्यों रुकी हुई है ?

(लेखक—श्रीयुत 'रजनीकान्त'।)

जैनधर्म और जैनोंका प्राचीन इतिहास सचमुच बड़ा गौरवशाली है। यह प्रायः सभी मानेंगे कि भारतके बौद्धिक और नैतिक विचारोंके विकाशमें जैनसमाजका बड़ा भारी हाथ रहा है। परन्तु पिछली कुछ शताब्दियोंसे उसकी गति बिल्कुल रुकी हुई है। उसके अंग-प्रत्यंगोंको लकवा मार गया है और यदि उसकी दवा शीघ्र न की जायगी तो इसमें सन्देह नहीं कि उसका इस रोगसे मुक्त होना दुःसाध्य हो जायगा। इतना ही नहीं, उसका भविष्य जीवन बड़े खतरेमें पड़ जायगा। हममेंसे ऐसे बहुत भाई हैं जो यह माननेके लिए तैयार नहीं हैं। उनका यह खयाल है कि जैनोंकी उन्नति दिन प्रतिदिन नियमतः होती

* भारतमित्रसे उद्धृत।

जाती है । पर ऐसे लोग उन्नतिका अर्थ नहीं समझते, अथवा उन्होंने उसपर अच्छी तरह विचार करनेका कष्ट नहीं उठाया है । रथ-मेलों, मंदिर–प्रतिष्ठाओं, सभा–सुसाइटियों और पाठशालाओंमें लाखों रुपया खर्च होनेसे यह न समझ बैठना चाहिये कि जैनोंमें जागृति हो गई है और वे अब अपने कर्तव्योंको समझने लगे हैं । हम यह नहीं कहते कि सारे समाजका ही उपर्युक्त खयाल है । परन्तु यदि कुछ थोड़े व्यक्तियोंको छोड़कर बाकीके विषयमें उक्त अनुमान करें तो हम नहीं समझते कि हमारा वह अनुमान गलत होगा । अच्छा तो आइए, आज हम यह देखें कि समाजकी यथार्थ उन्नतिके मार्गमें कौनसी बाधाएँ हैं ।

१–**शिक्षाकी कमी** । हममेंसे यह हर कोई मानेगा कि उन्नतिकी जड़ शिक्षा है । उसका मुख्य उद्देश हमारी मानसिक, शारीरिक और नैतिक शक्तियोंका विकाश करना है । जिस शिक्षासे हमारा हृदय उदार, और मन विचार-शील नहीं बनता वह 'शिक्षाके' उचित अर्थमें शिक्षा नहीं है । ऐसी अवस्थामें किसी जातिके लोग नव्वे क्या सैकड़ा प्रति सैकड़ा भी क्यों न लिख पढ़ लें वे शिक्षित नहीं कहला सकते हैं । उन्हें हम पढ़े-लिखे कह सकते हैं; परन्तु शिक्षित नहीं । अत एव जब हम किसी जाति या समाजको शिक्षामें आगे बढ़ा हुआ बतलाते हैं तब हमें पहले यह अच्छी तरह देख लेना चाहिए कि उसके औसत सदस्योंकी दशा मानसिक, शारीरिक और नैतिक दृष्टिसे कैसी है । अन्यथा, हमारा कथन बड़ी भारी गलतीको लिये हुए होगा, और उससे समाज व्यर्थ ही धोखेमें पड़ेगा ।

हमें खेदके साथ कहना पड़ता है कि हमारा जैनसमाज आजकल शिक्षामें बहुत पिछड़ा हुआ है । हम लोग शिक्षासम्बंधमें उसकी दशा उन्नत समझनेके भ्रममें इस लिए पड़े हुए हैं कि हम प्रत्येक जैन-पत्रमें पाठशालाओंके लिए धन-वृष्टिके समाचार पढ़ा करते हैं और उन्हींपरसे समाजमें शिक्षोन्नतिके मनमाने अनुमान किया करते हैं । समाजमें कई पाठशालाएँ पहलेसे स्थापित हैं और कई हालमें स्थापित हुई हैं । जो अभी अभी स्थापित हुई हैं उनके विषयमें हम कुछ कहना नहीं चाहते, पर उनके विषयमें जरूर कहेंगे जो वर्षोंसे चली आ रही हैं । इन पाठशालाओंसे निकले हुए विद्यार्थी धार्मिक विषयको छोड़कर अन्य विषयोंमें बहुधा शून्य हुआ करते हैं । उन्हें समयकी परख नहीं होती । देश-विदेशमें क्या हो रहा है, इससे वे अज्ञात रहते हैं । इसीलिये वे यह नहीं जानते कि हमारा समाज जिसके हम आवश्यक अंग हैं संसारके आगे है अथवा पीछे । धार्मिक शिक्षाकी ही बात लीजिये । इन पाठशालाओंसे निकले हुए विद्यार्थी प्रायः यह समझा करते हैं कि अब हम अपने धर्मके प्रकाण्ड पण्डित हो गये हैं । ५९ सच पूछा जाय तो यह सब उनकी सिर्फ कल्पना ही कल्पना होती है । वे वस्तुतः अहिंसा, सत्य, दया, क्षमा आदि धर्म-तत्त्वोंके यथार्थ आशयसे प्रायः अपरिचित रहते हैं । वे धार्मिक ग्रन्थोंमें दी हुई सिद्धान्तोंकी परिभाषाएँ जरूर रट लेते हैं पर उनका भाव नहीं समझते । अथवा यों कहिए कि वे उन सिद्धान्तोंका रहस्य समझे बिना ही उन्हें भोजनकी तरह निगल जाते हैं और जब उन सिद्धान्तोंका मतलब समझानेको कहा जाता है तब उन रटी हुई परिभाषाओंको उगल देते हैं । वे अपने तौर पर उन्हें सरल और स्पष्ट भाषामें समझा नहीं सकते । यही कारण है कि हम, अपने समाजके पण्डितों द्वारा जैनधर्मपर लिखे गये ऐसे, नये, सुबोध तथा वर्त्तमान आवश्यकताओंको पूरे करनेवाले ग्रन्थोंका अभाव

देखते हैं । इन सब दोषोंकी मूल जड़ हमारी उन पाठशालाओंकी शिक्षा-प्रणाली है जो हमारे समाजमें दिन प्रति दिन बरसाती कीड़ोंकी तरह पैदा होती जा रही हैं और जिनके लिए हम प्रतिवर्ष लाखों रुपया खर्च कर रहे हैं ।

हमारे इस सब कथनका यह मतलब नहीं है कि हम मुरेना, काशी, मथुरा आदि जगहोंकी पाठशालाओंको तोड़नेके पक्षमें है । ऐसा समझना लेखकपर अन्याय करना होगा । पर हम यह कहते हैं कि इन पाठशालाओंमें धर्म्मशिक्षाके साथ अन्य विषयोंकी शिक्षा भी दी जानी चाहिए तथा वहाँकी शिक्षा-प्रणाली कुछ फेरफारके साथ आधुनिक ढंगपर होनी चाहिए । हमारा यह खयाल है कि यदि हम अपनी समाजके बालकोंको धर्मके साथ इतिहास, भूगोल, विज्ञान, कलाकौशल्य आदि विषयोंका भी ज्ञान देवें तो हमारे बालक भविष्यमें समाजकी और अधिक सेवा कर सकेंगे । इस प्रकारकी उदारशिक्षा (Liberal education) देनेसे उनके मस्तिष्ककी सारी शक्तियाँ विकसित होंगी, उनका हृदय उदार होगा और वे ऊँची धार्मिक शिक्षा ग्रहण करनेके लिए अधिक तैयार होंगे । इतिहासका अध्ययन उन्हें यह बतलायगा कि हमारे देश तथा धर्म्मका अधःपतन कैसे हुआ और जो जातियाँ निरी जंगली थीं वे इस वैभवशाली दशाको कैसे प्राप्त हुईं । विज्ञानसे उन्हें यह लाभ होगा कि हमारे धर्म्म और विज्ञानके सिद्धान्तोंमें कौनसा अन्तर है और हम किस तरह अपने धर्मके सिद्धान्तोंको वैज्ञानिक ढंगपर दुनियाँके सामने रख सकते हैं । भूगोलसे उन्हें देश-विदेशोंकी प्राकृतिक अवस्था, उपज, कल-कारखाने आदि बातोंका ज्ञान होगा । भूगोलकी शिक्षा जैनसमाजके लिए अत्यन्त आवश्यक है । क्योंकि उसका प्रधान व्यवसाय व्यापार करना है । भूगोलसे उनकी कूप-मंडूक-वृत्ति जाती रहेगी और उसकी जगह उदारभावको स्थान मिलेगा । इस प्रकार उसका विदेशोंसे व्यापार करनेका उत्साह बढ़ेगा ।

यह तो उन पाठशालाओंके सम्बन्धमें हुआ, जिनका प्रधान उद्देश्य धर्मशिक्षा देना है । पर क्या हम लौकिक शिक्षाकी भी अवहेलना कर सकते हैं ? कभी नहीं । हमारे लिए लौकिक शिक्षा उतनी ही आवश्यक है, जितनी धर्म्मशिक्षा। हमारे समाजके लिए न केवल धर्मके रक्षक चाहिये किन्तु हमारे राजनैतिक हक्कोंके भी । आज राजनीतिके मैदानमें खूब युद्ध हो रहे हैं। पर जैनसमाज दूर खड़ा खड़ा तमाशा देख रहा है । इसका परिणाम सोच लीजिए । खैर, अभी कोई हानि नहीं हुई । हमें शीघ्र ही लौकिक शिक्षाके केन्द्र खोलना चाहिए । दो चार हाईस्कूलोंसे कुछ नहीं होता । हमें कालेज ही नहीं बल्कि विश्व-वियालयकी जरूरत है । पर हम देखते हैं कि जैन धनिकों और विद्वानोंका इस ओर ध्यान जाता ही नहीं । वे अपने बालकोंको पाश्चिमात्य ज्ञान-विज्ञानसे शून्य रखना चाहते हैं । वे समझते हैं कि पाश्चिमात्य राजनीति, विज्ञान, कला-कौशल और अर्थशास्त्रोंसे हमें और हमारे देशके लिए कोई लाभ नहीं । पर हमें अब इन संकुचित विचारोंको छोड़ना होगा । इसका परिणाम भारतने खूब देखा ।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि वर्त्तमान पाठशालाओंसे हमारी शिक्षाकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं । उससे यह भी मालूम होगा कि हमारा धन शिक्षाकी उचित दिशामें नहीं लगाया जारहा है । **यह बड़े दुःखकी बात है कि जिन जैनोंका धन सारे भारतवासियोंकी मानसिक और नैतिक प्रगतिके लिए लगाया जाना चाहिये था उसका वे खुद अ-**

पनी प्रगतिके लिए भी उचित उपयोग नहीं करते। अतएव इस बातकी बड़ी भारी आवश्यकता है कि हमारी पाठशालाओंकी शिक्षा—प्रणालीमें परिवर्त्तन होना चाहिए तथा बड़ी बड़ी जगहोंमें कालेज और एक विश्वविद्यालय स्थापित होना चाहिये। इससे हमारे धनवानोंका दान सार्थक होगा और वे अन्य समाजोंको अपना मुँह दिखा सकेंगे। जो जैन संसारमें अपनी धनिकताके लिए सदासे प्रसिद्ध हैं, जिनमें अब भी कई करोड़पति मौजूद हैं उनके लिए और विशेषकर उनके लक्ष्मी-पुत्रोंके लिए यह बड़े लज्जाकी बात है कि जैनसंसार विश्व-विद्यालय क्या कालेजसे भी खाली रहे। अच्छा अब हम शिक्षाके प्रश्नको यहीं छोड़कर और दूसरे कारणको ढूँढ़ें, जिनसे हम जैनोंकी प्रगति रुकी हुई है।

२—विचार-स्वातन्त्र्यकी कमी। जैनसमाजको जीवित रखनेके लिए उसे विचार-स्वातन्त्र्य देना बड़ा जरूरी है। संसार परिवर्त्तन-शील है। आज जो हमारी जरूरतें हैं वे हजार अथवा डेढ़ हजार वर्ष पहले न थीं। संसारकी गति बड़ी तेजीपर है। धर्म और समाजको जीवित रखनेके लिए हमें भी उसका साथ देना होगा। यह तभी हो सकता है जब हमारे समाजको विचार करनेकी पूरी स्वाधीनता मिल जाय और वह समयकी माँगें पूरी करनेके लिए तयार हो। पर हम देखते हैं कि आज सारे समाजपर अंध-विश्वास छाया हुआ है और वह प्राचीन विचारोंसे बिल्कुल जकड़ा हुआ है। वह अपनी समस्याओंको हल करनेके लिए उन्हीं युक्तियोंको लगाना चाहता है जिन्हें वह कई सौ वर्ष पहले लगाता रहा; और यही कारण है कि उसके सारे उन्नतिके प्रयत्न निष्फल हो रहे हैं।

विचार-स्वाधीनताकी कमी साधारण मनुष्योंमें हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। पर हम अपने समाजके उन लोगोंमें भी देखते हैं जो समाजके नेता होनेका दावा करते हैं अथवा जिन्हें समाजके सर्वसाधारण लोग अपना हितकर समझते हैं। यह जैनोंके लिए बड़े दुर्भाग्यकी बात है। विचार-स्वाधीनताके बढ़नेसे कोई हानि न होगी। उससे समाजमें फूट फैलनेका खयाल स्वप्नमें भी न लाना चाहिए। फूट, मत्सर, द्वेष, हृदयकी संकुचितताके परिणाम हैं, विचार-स्वाधीनताके नहीं। विचार-स्वाधीनतासे हमें धर्म जानेका भी डर न करना चाहिए। क्योंकि धर्म कोई भौतिक वस्तु नहीं और विचार-स्वाधीनता कोई सागर नहीं, जिसमें वह डूब जाती हो। धर्म और विचार-स्वाधीनतामें यथार्थमें कोई विरोध नहीं है। यदि हम जैनधर्मका गहरा अध्ययन करें तो हमें यह मालूम होगा कि हमारे तीर्थंकरों और आचार्योंके मत भी समयके अनुसार बदलते गये हैं। संसारमें केवल दया, क्षमा, सत्य ऐसे ही कुल मूलतत्त्व हैं जो सदासे सर्वमान्य रहे हैं। बाकी सब तत्त्वोंकी कल्पनाएँ बदलती रही हैं और उनके विषयमें भिन्न भिन्न लोगोंके भिन्न भिन्न मत रहे हैं। ऐसा होना दुर्निवार है, क्योंकि मनुष्य स्वभावसे ही प्रगति-प्रेमी और अस्थिर प्रकृतिका प्राणी है। अतएव जैनसमाजके नेताओंको धर्मके चले जानेका कोई भय न करना चाहिए। **उनपर समाजने अपने हितके लिए जो विश्वास रक्खा है उसका घात करना उनके लिए उचित नहीं।** उन्हें अपनी जिम्मेदारीका खयाल रखना चाहिए और धर्म और समाजकी उन्नतिके लिए बेधड़क नये विचारोंको—विपरीत विचारोंको-प्रकाशित करना चाहिए।

हम विचार-स्वाधीनताका कितना निरादर करते हैं यह बात हमें जैनपत्रोंके पढ़नेसे विदित

हो जायगी। दो चार जैन-पत्रोंको छोड़कर और किसी भी पत्रको उठाकर पढ़िए, उनमें विचारोंकी नवीनता बिल्कुल नहीं दिखाई देवेगी। यह बात नहीं कि जैनोंमें अच्छे और विचारशील लेखकोंकी कमी है किन्तु उन्हें जैनपत्र-सम्पादक पूछते नहीं। जैनपत्रोंके सम्पादक विचार-स्वाधीनतासे बेतरह बिगड़े हुए हैं और हमें यह जानना चाहिए कि प्रायः विचारशील लेखक स्वतन्त्र विचारोंके प्रेमी होते हैं। इसी कारण जैनसमाजके पत्र-सम्पादक ऐसे लेखकोंके लेखोंको धर्मविरुद्ध बतलाकर उन्हें अपने पत्रोंमें प्रकाशित करनेसे इन्कार करते हैं; और फिर अपने बेढंगे, असार और संकुचित भाव-पूर्ण लेखोंसे अपने पत्रकी प्रतिष्ठा सभ्य और शिक्षित संसारमें खो बैठते हैं। हमारे इस कथनसे यह अभिप्राय नहीं है कि जैनसमाजके सारे पत्र इसी श्रेणीके हैं किन्तु दरअसलमें बहुतसे ऐसे ही हैं।

एक मनुष्य ऐसा है जो दूसरोंके विचारोंका तिरस्कार कर उन्हें सुननेसे इन्कार करता है और दूसरा मनुष्य ऐसा है जो दूसरोंके विचारोंको आदरकी दृष्टिसे देख उन्हें ध्यानपूर्वक सुनता है। वह समझता है कि बहुत संभव है कि मेरे विचार ग़लत हों और दूसरोंके ठीक हों, इस लिए दूसरोंके विचारोंको सुननेमें कोई हानि नहीं है, बल्कि अपना लाभ ही है। इन दो मनुष्योंमें कौन चतुर है ?

कहनेकी जरूरत नहीं कि दूसरा। इसलिए **प्रत्येकका धर्म है और इसमें उसीकी भलाई है कि वह खुद दूसरोंके प्रतिकूल विचारोंको सुने और उनकी अपनी विचारोंसे तुलना करे। ऐसा करनेसे हमारे समाजकी खोई हुई बुद्धि फिरसे आजायगी, हम तीर्थंकरोंके सच्चे अनुयायी कहला सकेंगे और हमारे स्वतन्त्र विचारोंका रुका हुआ प्रवाह फिरसे बहने लगेगा।**

विचार-स्वाधीनतासे क्या लाभ हो सकते हैं, यह बात हमें इंग्लैंडसे सीखनी चाहिए। संसारमें आज उसका आसन कितना ऊँचा है, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। उसने कई धुरंधर तत्त्ववेत्ताओं और राजनीतिज्ञोंको पैदा किया है, क्योंकि वह स्वतन्त्र विचार करनेवालोंका आश्रयदाता रहा है। फ्रान्स जैसे देशोंसे जब लूथर के विचार रखनेवाले लोग भगाये गये तब उनका स्वागत करनेवाला इंग्लैण्ड ही था। उसका इतिहास कुछ नहीं किन्तु स्वाधीन विचारोंका इतिहास है।

अतएव समाजोन्नतिके लिए यह बड़ी भारी जरूरत है कि हम विरुद्ध विचारोंका भी आदर करना सीखें। कोई अध्यापक किसी शिक्षासंस्थामें अपने विद्यार्थियोंको स्वतन्त्र विचार करनेके लिए उत्तेजन देता हो तो उसे जैनधर्मविरुद्ध आचरण करनेका लाँछन लगाकर शिक्षा संस्थासे अलग कर देना समाजको बड़ी भारी हानि पहुँचाना है। और फिर, स्वतन्त्र विचार करनेका प्रत्येक मनुष्यको अधिकार है। वह एक जन्मसिद्ध हक्क है और उस हक्कको छीनना बुद्धिके विकाशमें बाधा डालना, अतएव पाप करना है। अतएव हम समाजसे सविनय प्रार्थना करते हैं कि वह खुद अपनी अक्लसे काम काम लेना सीखे और अपनी सन्तानोंको स्वतन्त्र विचारके वातावरणमें विचरण करने दे। जिसप्रकार बहुतसे जलाशयोंका पानी प्रवाहरूपमें न बहनेसे अपनी उपयोगिता नष्ट कर बैठता है उसीप्रकार विचार-परिवर्तनके न होनेसे समाजके बुद्धिकी उपयोगिता मारी जायगी।

३—स्वार्थत्यागियोंकी कमी। हमारी उन्नतिके रुकनेका एक कारण यह भी है कि हम लोगोंमें स्वार्थत्यागी नहीं हैं, और

जो थोड़े बहुत हैं वे समाज, धर्म अथवा देशके कार्योंसे उदासीन रहते हैं। नहीं मालूम कि स्वार्थत्यागसे उनका क्या अभिप्राय है। यदि स्वार्थत्यागसे उनका अभिप्राय घरबार छोड़कर समाजके लिए भारस्वरूप होना है तो मुझे उनके विषयमें कुछ नहीं कहना है। जो स्वार्थ-त्याग समाज, धर्म, अथवा देशके हितके लिए नहीं किया गया हो वह स्वार्थत्याग स्वार्थत्याग नहीं है। स्वार्थ-त्याग सीखना हो तो बौद्धधर्मसे सीखो, जिसके अनुयायियोंने उसका प्रकाश दूर दूर तक फैलाया। अथवा खुद भगवान महावीरके जीवन-चरितसे सीखो जिन्होंने अपना सारा जीवन सत्य, दया, और विश्वप्रेमका सन्देशा भारतके घर घर पहुँचानेमें लगा दिया। उन्नतिके कार्य उन्हीं महात्माओंसे हो सकते हैं जो अकलंक और निकलंकके समान धर्मकी वेदीपर जीवनका बलिदान देनेके लिए तयार हों, जिनमें अदम्य उत्साह हो, जिनका चारित्र्य निष्कलंक हो और जिनकी मूर्तिके दर्शनमात्रसे दूसरोंके हृदयमें उत्साहका दीपक जल उठता हो। जबतक ऐसे कर्म्मवीर पैदा न होंगे तबतक किसी समाज, धर्म अथवा देशकी उन्नतिकी कल्पना करना बिल्कुल असम्भव है।

किसी निश्चित उद्देश्यसे स्वार्थ-त्याग होना चाहिए। किन्तु हमारी समाजके स्वार्थ-त्यागी बेपेंदीके लोटे हैं। उनके जीवनका कोई एक उद्देश्य नहीं होता। वे आज यदि किसी महाविद्यालय अथवा ब्रह्मचर्य्याश्रमके अधिष्ठाता हैं तो कुछ समय बाद आप उन्हें उस पदसे अलग दूसरे पद पर विराजित देखेंगे। परिणाम यह होता है कि इन बेपेंदीके लोटोंसे समाजको नुकसान पहुँचता है। अधिष्ठाताओंके परिवर्तनसे संस्थाओंकी कार्यशैली निरन्तर बदला करती है। सब काम अधूरे रह जाते हैं। संस्थाओंकी ओर जिन लोगोंका विशेष ध्यान रहता है उनका उक्त संस्थाओं परसे विश्वास उठ जाता है। अत एव समाजके स्वार्थत्यागियोंका एक बड़ा कर्त्तव्य यह है कि वे स्वार्थत्याग करनेके पहले यह निश्चय कर लें कि मैं समाज, धर्म अथवा देशके लिए कौनसा कार्य करूँगा। वे यह याद रक्खें कि आजकल मनुष्य अपने छोटेसे जीवनमें सभी कार्योंमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। उसे अपनी सारी शक्ति किसी एक उद्देश्यकी पूर्तिके लिए खर्च करना पड़ती है।

जैनसमाजको अब शीघ्र ही इस बातमें सचेत होना चाहिए और जो महाशय स्वार्थत्यागके योग्य हों उन्हें यह अवसर हाथसे न जाने देना चाहिए। यह अवसर बड़े महत्त्वका है। अब नहीं तो कभी नहीं।

४-संघशक्तिका अभाव। हमारी उन्नतिका बाधक संघशक्तिका अभाव भी है। हममेंसे अब भी संकुचित भाव निकले नहीं हैं। साम्प्रदायिक भेद-भाव दिनोंदिन बढ़ते जाते हैं। यही कारण है कि हम आपसमें अपने झगड़े तय नहीं कर सकते और वर्षोंसे मुकदमेबाजीमें लाखों रुपया स्वाहा कर रहे हैं। तीर्थोंके झगड़े इस कथनको पुष्ट करते हैं।

जो धन शिक्षणप्रसारमें, प्राचीन ग्रन्थोंके उद्धारमें, समाज-जागृतिमें, अथवा और किसी पवित्रकार्यमें लगाया जाना चाहिए था वह आज वैमनस्य बढ़ानेमें और वीर-संघकी शक्ति नष्ट करनेमें लगाया जा रहा है। उचित तो यह है कि हम तीनों सम्प्रदायके कुछ नेताओंकी कमेटी नियत करें और उनके जिम्मे फैसले तथा प्रबन्धका कार्य-भार सौंप दें। यदि इसमें साम्प्रदायिक नेताओंके पक्षपातकी आशंका हो तो देशके तथा समग्र जैनसमाजके कुछ नेताओंकी एक कमेटी नियत की जाय। ऐसा करनेसे जैनसमाजके धनका भारी दुरुपयोग बच जायगा।

हम ऐसा करनेके लिए सारी समाजके नेताओंसे विशेषकर श्वेताम्बर संप्रदायके नेताओंसे अनुरोध करते हैं।

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारी संख्या केवल साढ़े बारह लाख ही है। आजकल संसारमें ऐसे युद्ध चल रहे हैं कि हम जैसी छोटी छोटी जातियोंका गुजारा होना मुश्किल है। हम आजतक अपने धर्मके तत्त्वोंके बल जीते आये हैं, संख्याके बल नहीं। पर अब हमें अपनी संख्याका भी विशेष ध्यान रखना होगा। हम यहाँ संख्या-वृद्धिका प्रश्न नहीं छेड़ना चाहते, किन्तु इतना ही कहना चाहते हैं कि हमारी परिस्थिति बड़ी नाज़ुक है और हमें अपने सारे समाजकी शक्तिको एकत्र करना चाहिए। अँगरेजीमें एक कहावत है कि जिसका अर्थ यह है कि यदि हम मिलकर रहें तो हम संसारमें अपना अस्तित्व कायम रख सकेंगे और यदि हम बँट जायँ तो हमारा अस्तित्व संसारसे उठ जायगा। यदि हमें जैनधर्म और जैन कौमको संसारमें कायम रखना इष्ट है तो हमारी भलाई इसीमें है कि हम सारे साम्प्रदायिक भेद-भावोंको दूर कर, अपनेको भगवान् महावीरकी सन्तान समझ, परस्पर गले मिलें।

हम जैसे ईर्ष्या, द्वेष, फूटके कारण बँटे हुए हैं वैसे और कौन लोग बँटे होंगे? हममेंसे तीर्थंकरोंको विश्व-प्रेमका भाव इतना उठ गया है कि हम कठिनसे कठिन मौकेपर भी अपनी उन्नतिके लिए एक नहीं हो सकते। जब हमारे देशमें भारत-मन्त्रीका आगमन हुआ था, तब सारे धर्म और सारे जातियोंके नेताओंने अपनी अपनी माँगें उनके आगे रक्खीं। पर केवल हम ही थे जिन्होंने एक होकर अपनी माँगोंपर जोर नहीं दिया। बा० अजितप्रसादजीने अपने श्वेताम्बर बन्धुओंको मिलकर काम करनेके लिए बहुत समझाया पर जैनसमाजका यह दुर्भाग्य और श्वेताम्बर सम्प्रदायके नेताओंका यह दुराग्रह है जो उन्होंने ऐसा करनेसे इन्कार किया। उचित तो यह था कि सारे सम्प्रदायके नेता प्रेमपूर्वक गले मिलते और मि० मान्टेगुके सामने अपने अधिकार खूब जोरसे रखते। पर साम्प्रदायिक मोह बड़ा प्रबल है।

अतएव अब हमें इस उदाहरणसे शिक्षा लेनी चाहिए और एक होकर काम करना चाहिए। साम्प्रदायिक भेद-भावके कारण हम दूसरोंकी दृष्टिमें गिरे हुए हैं। हमें चाहिए कि हम एक दूसरे सम्प्रदायके मन्दिरोंमें जावें, सभी संप्रदायके ग्रन्थोंका पठन-पाठन करें, और प्रत्येक सम्प्रदायकी सभाओंमें भाग लेवें। ऐसा करनेसे हमारी बँटी हुई संघशक्ति फिर एकत्र हो जायगी। हम प्रत्येक सम्प्रदायके ग्रन्थोंका कमसे कम नाम तो जानेंगे और हमारा हृदय उदार होगा। हमारे किसी भी सामाजिक तथा धार्मिक काममें साम्प्रदायिक भावोंकी गन्ध न आनी चाहिए।

५—संगठनका अभाव। संघ-शक्तिके अभावके साथ हममें संगठन-शक्तिका भी अभाव है। यही कारण है कि हमारी संस्थाएँ बहुत दिन तक नहीं ठहर पातीं। यदि बहुत दिनतक ठहरीं भी तो वे समाजके लिए कार्य नहीं कर जातीं। हमें यह लिखते दुःख होता है कि हमें अभी यह नहीं मालूम कि कौन आदमी किस पदके योग्य है और कौन आदमी समाजकी भलाईका जियादह ख़याल रखता है। जिन्होंने जर्मन-साम्राज्यकी उन्नतिका इतिहास पढ़ा होगा उन्हें यह मालूम होगा कि उसकी उन्नतिका यह भी एक कारण है कि वे संस्थाओंका कार्य चलानेके लिए योग्य पुरुषोंके चुननेमें बड़ी चतुराईसे काम लेते हैं। इतना ही नहीं, दुनिया एक स्वरसे कहती है कि उनकी

संगठन-शक्ति सब राष्ट्रोंकी अपेक्षा अच्छी है। सचमुच जो व्यक्ति जिस कार्यके लिए योग्य नहीं है उसे वह कार्य देना छोटे बालकके हाथ तलवार देनेके बराबर है। अतएव संस्थाओंके पदाधिकारी चुननेंमें धानिक, बाबू अथवा पंडित लोगोंका कुछ भी भेद न रक्खा जाय। संस्थाओंकी बागडोर उन्हींके हाँथ दी जाय जिन्हें अपनी जिम्मेदारीका खयाल हो, जो अनुभवी और जिसका हृदय उदार हो। सौ जातीय अव्यवस्थित संस्थाओंकी अपेक्षा एक व्यवस्थित संस्था कई दर्जे अच्छी है।

हमें यह लिखते दुःख होता है कि जैनसमाजमें कोई ऐसी सभा नहीं है जो सारे जैनोंकी प्रतिनिधि संस्था कही जा सके। नामके लिए पोलिटिकल जैन कान्फरन्स और भारत जैन महामण्डल ये दो सभाएँ हैं। पर जहाँतक हमारा खयाल है इनके सञ्चालक तीनों सम्प्रदायके नहीं हैं और न इनका संगठन ही ठीक है। इन सभाओंके सदस्योंकी संख्या बहुत थोड़ी है और वे प्रायः दिगम्बर सम्प्रदायमेंसे हैं। यह भी नहीं जान पड़ता कि उन्होंने कौनसे कार्य हाथमें लिये हैं। सचमुच पहले श्रीयुत् बाबू दयाचन्द्रजीके उत्साहसे जीव-दयाके प्रचारका काम अच्छी तरह चलता रहा। अब भी जैन गजट नामका एक छोटासा अँगरेजी पत्र उसकी ओरसे निकलता हैं। पर उसकी ग्राहकसंख्या बहुत ही थोड़ी जान पड़ती है और बा० अजितप्रसादजीने स्वार्थत्यागके साथ उसका भी कुछ दिन तक त्याग कर दिया था।

बड़े आश्चर्यकी बात है कि समाजमें क्या दस बीस ग्रैज्युएट तथा पंडित नहीं हैं जो सभासञ्चालनके कार्योंमें शौक रखते हों। इन्हीं दो सभाओंका पुनरुद्धार कर उन्हें समाजकी सच्ची प्रतिनिधि संस्थाएँ कर दिखाना कोई बड़ी बात नहीं है। जरूरत है केवल सच्चे कार्य्यकर्त्ताओंकी। जैनोंमें आज उपजातियोंकी बहुतसी सभाएँ वर्तमान हैं। इन सभाओंको उपर्युक्त बड़ी सभाओंके मातहत किया जाय और उनकी कार्यकारिणी समितिमें छोटी छोटी सभाओंके उचित संख्यामें प्रतिनिधि रक्खे जायँ। भारतजैनमहामण्डलके जिम्मे धर्मप्रचार, शिक्षाप्रचार और समाज-सुधारके कार्य दिये जायँ और पोलिटिकलकान्फरन्स जैनोंके राजनैतिक हकोंकी रक्षा करे। ऐसा संगठन करनेसे जैनसमाजकी खासी दो प्रतिनिधि संस्थाएँ बन सकती हैं। ये ही हमारी पार्लमेण्टें होंगी। ये ही दो संस्थाएँ हमारे साम्प्रदायिक झगड़ोंका निपटारा कर सकेंगी, कालेज विद्यालय खोल सकेंगी और विदेशोंमें धर्मप्रचार कर सकेंगी। संक्षेपमें ऐसी संस्थाओंसे हमारी बहुतसी सामाजिक अड़चनें दूर हो जायँगी। हम इस सूचनाकी ओर मि० जुगमन्दिरलालजी, मि० मकनजी जूठा, मि० वाडीलाल, ब्र० शीतलप्रसाद, बा० अजितप्रसाद, सर हुकमचन्दजी, पं० धन्नालालजी आदि जैनसमाजके प्रमुख व्यक्तियोंका ध्यान आकर्षित करते हैं।

इन बाधाओंके सिवा और बहुतसी बाधाएँ हैं जिनके दूर किये बिना हमारी उन्नतिका मार्ग निष्कंटक नहीं हो सकता। लेख बहुत बढ़ जानेके भयसे हमने यहाँ केवळ चार मुख्य बाधाओंकी चर्चा की है। यदि बन सका तो हम आगे और बाधाओंकी भी चर्चा करेंगे जिनके कारण जैनधर्म और जैनसमाजकी प्रगति रुकी हुई है।

———

समाचार-संग्रह ।

अधिवेशन—१ अलवर स्टेटमें अलवर स्टेशनसे १० कोसके फासलेपर बड़ोदा एक अच्छा कस्बा है। यहाँ माहसुदी १३ से फाल्गुणवदी २ तक रथोत्सवका मेला होनेवाला है। इसी अवसर पर राजपूताना प्रान्तिक दि० जैनसभाका अधिवेशन भी होगा। सवारी आदिका सब प्रबंध किया गया है। २ बम्बईकी दिगम्बर-जैन-प्रान्तिक सभाका अधिवेशन इस साल पावागढ़में माहसुदी १३ को होना निश्चित हुआ है। ३ परवार-महासभाका द्वितीय अधिवेशन अकलतरा जि० बिलासपुरके रथोत्सवके समय फाल्गुण सुदी ३ को किये जानेका प्रबन्ध हो रहा है।

दस्सा-बीसाओंमें विवाह—हालमें मार्गशीर्ष शुक्ल १४ को, बम्बईके सुप्रसिद्ध सेठ माणिकचंदजी जे. पी. के भतीजे और सेठ नवलचंदजी जौहरीके पुत्र रत्नचंद्रका विवाह शोलापुरके सेठ श्रीयुत हेमचंद अमीचंदजीकी पुत्रीके साथ हुआ है। इस सम्बंधमें वरपक्ष बीसाहूमड़ और कन्यापक्ष दस्साहूमड़ है। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी, इस प्रकारके विवाह-सम्बंधको उचित तथा निर्दोष ठहराते और उसके प्रचारपर अपनी अनुमति प्रकट करते हुए, दूसरी जातियोंको भी वैसा करनेकी प्रेरणा करते हैं। आपके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं——

"अब दोनों प्रकारके हूमड़ोंको परस्पर सम्बंध करनेमें संकोच न करना चाहिये। इसी तरह अन्य जातियोंको भी विचारना चाहिये।"

"अधिक क्षेत्रमें पुत्र पुत्रीकी खोज अच्छी होती है इसीलिये इस अंतर्जातीय सम्बंधपर बुद्धिमानोंको लक्ष देनेकी जरूरत हैं।

"जिस बातमें कोई दोष नहीं हो उसको प्रचारमें लानेके लिये साहस करना ही बुद्धिमत्ता है।"

जाति-बाहर—सहयोगी जैनमित्र अपने ११ दिसम्बरके अंकमें लिखता है कि, "सोनकच्छमें एक दलालने किसी सेठका एक स्त्रीके रहते दूसरा विवाह करा दिया, इस कारण उसे गत ३ तारीखको दि० जैनप्रान्तिक सभा कोटाने बहुसम्मतिसे जाति-बाहर कर दिया।" परंतु यह मालूम नहीं हुआ कि, यदि उक्त सभाकी दृष्टिमें एक स्त्रीके रहते हुए दूसरा विवाह करना अपराध है तो उसने उक्त सेठसाहबको, जो कि मूल अपराधी हैं, क्या दंड दिया है। और ऐसी दशामें सभाका यह बहिष्कार और तिरस्कार कहीं अपने उन पूर्वजोंके प्रति तो प्रारंभ नहीं हो जायगा जिन्होंने एक स्त्रीके रहते हुए दोचार-दसबीस नहीं, सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें विवाह कर डाले थे। क्या सभा उन विवाहोंके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करती अथवा उन्हें अब उपयोगी नहीं समझती? और क्या उक्त सभाने पहले बहुविवाहविषयक कोई प्रस्ताव पास किया था, जिसके अनुकूल यह दंडविधान किया गया है? हम इस विषयमें कुछ विशेष हाल और सभाका विचार जानना चाहते हैं। आशा है कि सभाके मंत्री अथवा दूसरे कोई महाशय हमें उससे सूचित करनेकी कृपा करेंगे।

उत्साहवृद्धि—गत १५ नवम्बरको पूना शहरमें २७ आदमियोंकी एक दौड़ हुई थी, जिसमें बेलगामके वकील साहब श्रीयुत चौगलेके पुत्र फडेप्पा दरेप्पा चौगले नामके एक जैन विद्यार्थी महाशय सबसे आगे रहे। आपने २७ मीलकी दौड़को २ घंटे ४९ मिनट और ५८॥ सेकंडमें पूरा किया था! इस विजयकी खुशीमें ७ दिसम्बरको बेलगाममें एक सभा हुई, जिसके अध्यक्ष थे रा० जीवराज मोतीचंदजी गाँधी बी. ए. एलएल. बी. वकील। सभामें प्रोफेसर लट्टेका व्याख्यान हुआ, और उक्त विद्यार्थी महाशयको, उनकी उत्साहवृद्धिके लिये, मानपत्र

तथा सुवर्णपदकके साथ 'पवनंजय' की पदवी प्रदान की गई। बम्बईके सेठ माणिकचंद पानाचंदजी जौहरीकी तरफसे एक चाँदीका कटोरा भी इस विद्यार्थीको भेट किया गया है। कहा जाता है कि मि० मौन्टफर्ड साहब कमिशनरने बेलजियममें जो दौड़ होनेवाली है उसमें उक्त विद्यार्थीको भेजनेके लिये सिफारिश की है। हमें एक जैन विद्यार्थीके सम्बन्धमें ये सब समाचार मालूम करके बहुत खुशी हुई। दूसरे विद्यार्थियोंको भी अपनी शारीरिक शक्तियोंको बढ़ानेका इसी प्रकारसे कोई यत्न करना चाहिये। J.M.

स्वार्थत्याग—सहयोगी जैनप्रदीपसे मालूम हुआ कि श्रीयुत मिस्टर छेदीलालजी एम. ए. बैरिस्टर ऐट लाने सिर्फ ७५ रुपये मासिक पर गुरुकुलमें अर्थशास्त्रकी प्रोफेसरी स्वीकार की है। यह है सच्चा स्वार्थत्याग। हमारे जैनविद्वानोंको भी इससे कुछ सबक सीखना चाहिये।

अपील खारिज—खेद है कि ब्र० भगवानदीनजीकी सजाके विरुद्ध जो अपील किया गया था वह खारिज हो गया है। अपील खारिज होने पर निगरानी (Revision) दाखिल की गई है, जिसका नतीजा अभीतक मालूम नहीं हुआ।

नई पत्नीका देहान्त—अफसोस है कि रायबहादुर सर सेठ हुकमचंदजीकी नवविवाहिता पत्नीका देहान्त हो गया। मालूम होता है कि बेचारीके भाग्यमें राजघरानेका कुछ भी सुख-भोग नहीं था।

एक भक्तकी भक्ति—सेठ चम्पालालजी सुसारीवाले 'जैसवाल जैन' में लिखते हैं कि—

"इस बातके माननेके लिये प्रायः सभी जैन विद्वान् और साधारण सज्जन तय्यार होंगे कि लश्करनिवासी सिद्धान्तरत्न, व्याख्यानवाचस्पति, ज्ञानसागर श्रीमान् पं० लक्ष्मीचंदजीके समान मेधावी बुद्धिवाला और जैनशास्त्रोंका सबसे अधिक अध्ययन कर चुकनेवाला कोई पंडित इस समय विद्यमान् नहीं है।" नहीं मालूम सेठ साहबके इस दावे और घोषणाको स्वीकार करनेके लिये कौन कौन विद्वान् और पंडितजन तय्यार हैं। हमारी रायमें तो यह सब एक भक्तकी भक्तिका नमूना है, दावा अथवा घोषणा कुछ भी नहीं।

आश्रमकी कार्रवाई—गत कार्तिक मासके अन्तमें ऋषभब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरकी वार्षिक मीटिंग हो चुकी। हालमें इस मीटिंगकी कार्रवाईकी एक नकल हमारे पास आई है, जिससे मालूम होता है कि इस वर्ष १०० छात्रोंके लिये २१५२०) रुपयेका बजट पास किया गया है। ला० गेंदनलालजीके इस्तीफा न देने अथवा नई रुखसत न लेने पर भी पं० मक्खनलालजी, जो उनकी जगहपर रुखसत-कालके लिये उप-अधिष्ठाता नियत किये गये थे, बदस्तूर उपअधिष्ठाता कायम रक्खे गये और उनकी सहायताके लिये दो और सहायक नियत किये गये हैं; एक ब्र० ज्ञानानंदजी जिनकी बाबत यह मालूम नहीं हुआ कि वे किसी प्रस्तावके द्वारा सभासद् भी चुन गये हैं या कि नहीं, और दूसरे बाबा भगीरथजी वर्णी। इन दोनोंने सिर्फ चार महीनेके लिये आश्रममें ठहरनेका वचन दिया है! कमेटीने ला० गेंदनलालजीके आश्रममें रहनेकी अत्यन्त आवश्यकता समझकर उनसे उसके लिये प्रार्थना की है और उन्हें आश्रमका पेट्रन नियत किया है, जिनके और उप-अधिष्ठाताके कर्तव्योंका विभाजन अधिष्ठाताजी मंत्री साहबकी सलाहपूर्वक करेंगे। इस कार्रवाईसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि कमेटीने ला० गेंदनलालजीसे बिना कुछ पूछे ही उन्हें इस तरह पर उपअधिष्ठाताके पदसे अलग किया है। हमारी रायमें आश्रमकी

यह कार्रवाई ठीक नहीं हुई । कमसे कम उन्हें अपने पद पर वापिस आने और अपना काम सँभालनेके लिये पूछना जरूर चाहिये था, अथवा प्रस्तावमें ऐसे ही आशयकी कोई शर्त रखनी चाहिये थी जो नहीं रक्खी गई। और यदि उन्हें किसी तरह भी उपअधिष्ठाताके पद पर रखना मंजूर नहीं था तो एक प्रस्ताव द्वारा बाकायदा हेतुपुरस्सर उनका पृथक्करण होना चाहिये था। अस्तु; आश्रमकी एक अंतरंग व्यवस्थापक सभा भी नियत की गई है, जिसमें निम्नलिखित ५ महाशय शामिल हैं—

१ बा० भगीरथजी, २ ब्र० ज्ञानानंदजी, ३ बा० शिवप्रसादजी बी. ए., ला० गेंदनलालजी, ५ पं० मक्खनलालजी।

इनमेंसे पहले दो सदस्य चार महीनेके लिये ही आश्रममें रहेंगे और गेंदनलालजीके वहाँ रहनेमें अभी संदेह है, इसलिये यह व्यवस्थापक सभा प्रायः चार महीनेके लिये ही समझनी चाहिये। अन्तके एक प्रस्तावद्वारा उपअधिष्ठाताको (अधिष्ठाताको नहीं) यह अधिकार दिया गया है कि वह चाहे जिस व्यक्तिको प्रबन्धकर्ता अथवा मैनेजर नियत करे और विद्यालयके सिवाय जितने कार्यविभागोंको उसे सौंपना उचित समझे, सौंपे। इस प्रस्तावकी मौजूदगीमें पैट्रनके कर्तव्योंका पृथक् रूपसे स्थापन अधिष्ठाता और मंत्रीके लिए एक बड़ा ही कठिन कार्य होगा। समझमें नहीं आता कि उप-अधिष्ठाताके अधिकारों और कर्तव्योंके बाहर पैट्रन वहाँ रहकर और कौन कौनसे कार्योंको स्वतंत्र रीतिसे कर सकेगा। हमारी रायमें तो इस समय, इस कार्रवाईसे, आश्रमको प्रायः उप अधिष्ठाताके ही हाथोंमें समझना चाहिये। उन्हींकी कृपापर इसका उत्थान और पतन निर्भर है।

पचहत्तर हजारका दान।

हमारे पाठक सागरनिवासी श्रीयुक्त मोदी धर्मचन्दजीके नामसे परिचित होंगे। परवारजातिमें आप एक अच्छे विचारशील और उदारचित्त धनी हैं। गत वर्ष आपने एक औषधालय खोलनेके लिए २५०००) रुपये दान किये ही थे कि अभी ७५०००) रु० की एक और भारी रकम देकर अपनी दानशीलताका परिचय दिया है। इस दानका मूल्य कितना अधिक है, इसका अनुभव वे लोग विशेषताके साथ कर सकेंगे, जो परवार जातिकी अवस्था और स्वभावसे परिचित हैं। यह वह जाति है जो यद्यपि धार्मिक कार्योंमें सब जातियोंसे अधिक धन खर्च करनेवाली है; परन्तु उसकी समझमें मन्दिर बनवाने और मेले प्रतिष्ठायें करानेके सिवाय और कोई धर्म ही नहीं है। उसका सारा दान-धन इन्हीं अनावश्यक और चार दिनके तमाशोंमें खर्च हुआ करता है। यह वह जाति है जिसके सैकड़ों हजारों निर्धन और अनाथ कुटुम्बोंके पालन-पोषणका, जीविका-निर्वाहका कोई ठिकाना नहीं है, फिर भी जिसके निर्दय धनी प्रतिवर्ष कमसे कम एक लाख रुपये रथ-प्रतिष्ठाओंमें और चढ़ाऊपरीके कामोंमें खर्च किये बिना नहीं रहते! यह वह जाति है जिसके मुखिया जबलपुरकी एक धनी विधवाकी जायदादको, उस जायदादके हकदारोंकी इच्छाके विरुद्ध, इन्हीं मन्दिर-प्रतिष्ठाओंके तमाशोंमें, मुकद्दमेबाजी करके भी, पानीकी तरह बहादेनेके लिए कटिबद्ध हैं! और ऐसी अवस्थामें जब कि यदि वे चाहें तो विधवाके सम्बन्धी बड़ी खुशीसे उस जायदादको किसी विद्यासंस्था या अन्य किसी आवश्यक धर्मसंस्थामें, लगा देनेमें कोई उजर न करें। ऐसी परवारजातिमें जन्म लेकर भी मोदी धर्मचन्दजीने अपने धनका व्यय 'सिंघई' की

महान् पदवी प्राप्त करनेमें नहीं करना चाहा, यह सचमुच ही आश्चर्यकी बात है। हम आपके इस दानका हृदयसे अभिनन्दन करते हैं और चाहते हैं कि इसके द्वारा कोई ऐसी संस्थाका जन्म हो जो निर्धन परवारजातिका वास्तविक कल्याण करनेमें सहायक बने।

हमारे एक मित्र लिखते हैं कि मोदीजीने इस दान-धनकी लिखा-पढ़ी कर दी है और वे समाजके अनुभवी विद्वानोंसे सम्मति चाहते हैं कि इसका व्यय किस कार्यमें किया जाय। आपकी इच्छा है कि यह रकम किसी बहुत ही अच्छे कार्यमें खर्च की जाय। आगामी अंकमें हम इस विषयमें अपनी सम्मति प्रकट करेंगे। अन्य भाइयोंको मोदीजीके पास अपनी सम्मतियाँ भेजनी चाहिए।

—नाथूराम प्रेमी।

ऐतिहासिक जैन व्यक्तियाँ।

अर्थात्—

जैनाचार्य, दूसरे जैन विद्वान्, उनके पोषक, प्रधान श्रावक और जैन राजादिक।

५ रत्नचन्द्रादिक।

'रत्नचंद्र' नामके एक विद्वान् विक्रमकी १७ वीं शताब्दीमें होगये हैं। आपने 'सुभौमचक्रवर्तिचरित्र' नामका एक संस्कृत ग्रंथ वि० सं० १६८३ में भाद्रपद शुक्ल पंचमी गुरुवारके दिन बनाकर समाप्त किया है जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है।—

संवते षोडशाख्याते त्र्यशीतिवत्सरांकिते।
मासि भाद्रपदे श्वेतपंचम्यां गुरुवारके॥

इस ग्रंथकी प्रशस्ति आदिसे मालूम होता है कि, **रत्नचंद्र** बागड़ देशके अन्तर्गत सागपत्तन नगरके एक भट्टारक थे जो **जिनचंद्र** भट्टारकके पट्टाधीश **सकलचंद्र** भट्टारकके पट्टपर प्रतिष्ठित हुए थे और जिन्हें भीमादिकके बुलानेपर **हेमकीर्ति** (भट्टारक) ने वहाँ आकर उक्त पट्टपर स्थापित किया था। आप जातिसे हूमड वैश्य थे, पिताका नाम आपके 'मही' और माताका नाम 'चंपा' था। आपने जगन्मल्लके पुत्र **जयकीर्ति** आचार्य, **कमलकीर्ति**सूरि और कान्हाके पुत्र कल्याणादिक तथा भोगिदासके साथ श्रीसम्मेदाचलकी यात्रा की थी। शायद उसी समय पाटलीपुत्र (पटना) के पार्श्वनाथ चैत्यालयमें आपका उक्त ग्रंथ पूरा हुआ था। यह ग्रन्थ सागपत्तननगरनिवासी सेठ **हेमराजने** बनवाया था, जो कि जातिसे खंडेलवाल और गोत्रसे पट्टणि थे। और जिनकी माताका नाम 'रेखा' स्त्रीका नाम 'हमीरदे' और पुत्रका नाम 'मंगल' था। पिताका नाम ठीक मालूम नहीं हो सका। परन्तु इस विषयका ग्रंथमें एक पद जरूर है जिसका आन्तिम भाग नांदगाँववाली प्रतिमें कुछ अस्पष्ट हो रहा है और वह इस प्रकार है—

'हीराख्यभ्रातृजाल्हिजः।'

यदि यह पद इसी प्रकार है तो कहना होगा कि उक्त सेठ साहब 'हीराके भतीजे आल्हिके पुत्र थे। अस्तु; यह ग्रंथ सेठ साहबने बनवाया अतः उन्हींके नामांकित किया गया है। संधियोंमें बराबर उसका उल्लेख पाया जाता है। प्राकृत ग्रंथ तय्यार करनेके लिये रत्नचंद्रको जिस जिस सामग्रीकी जरूरत थी उस संपूर्णकी सहायता सेठ केसी (केसिराज) के पुत्र **तेजपाल** नामके एक खंडेलवाल विद्वानने, जो सोमण्य गोत्रके थे, उन्हें प्रदान की थी बल्कि ग्रंथ परसे हमारा ऐसा अनुमान होता है कि बुध तेजपालने रत्नचंद्रको सिर्फ सामग्रीकी ही सहायता प्रदान की थी, बल्कि पद्यरचनामें भी वे उनके बहुत कुछ सहायक हुए थे। संभव है

कि ग्रंथका बहु भाग उन्हींके द्वारा रचा अथवा संकलित किया गया हो। एक नमूना देखिये—

खंडेलवालान्वयभूषणास्तो
रेखांगजः पट्टणिगोत्रभानुः ।
श्रीहेमराजो जयताद्विदेशः
श्रीतेजपालाख्यबुधाशिषात्र ॥ १-१२२ ॥

इस पद्यमें 'तेजपाल' नामक पंडितके आशीर्वादसे हेमराज जयवंत प्रवर्तो' ऐसा कहा गया है, और इससे यह पद्य स्वयं तेजपालका ही रचा हुआ मालूम होता है, रत्नचंद्रका नहीं। तेजपाल और हेमराज दोनों भट्टारक सुरेंद्रकीर्तिके शिष्य थे और उन्हींकी आम्नायको मानते थे। ये भट्टारक प्रभाचंद्रके पट्टपर प्रतिष्ठित होनेवाले मुनि चंद्रकीर्तिके पट्टधर बतलाये गये हैं। ग्रंथकी संधियोंमें तेजपाल विबुधका नाम भी बराबर दिया गया है। नमूनेके लिये पहली संधि इस प्रकार है—

" इति श्रीसुभौमचक्रवर्तिचरित्रे सूरिश्रीसकलचंद्रानुचरभट्टारकश्रीरत्नचंद्रविरचिते विबुधश्रीतेजपालसाहाय्यसापेक्षे श्रीखंडेलवालान्वयपट्टणिगोत्रांवरादित्यश्रेष्ठिश्रीहेमराजनामांकिते सुभौमगर्भावतारवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥ "

ग्रंथमें रत्नचंद्रके पूर्व पट्टधरोंमें जिनचंद्रसे पहले गुणचंद्र, गुणचंद्रसे पहले यशःकीर्ति और उनसे भी पहले रत्नकीर्तिका नाम दिया है। इसके सिवाय क्षत्रियवंशज चौहाण कृष्णदास और उनके राजसिंह व अमर (सिंह) नामके दो पुत्रोंका भी नामोल्लेख किया गया है। साथ ही उस समय सलेमशाह (जहाँगीर) बादशाहके राज्यशासनको भी सूचित किया है। इस तरह रत्नचंद्रके उक्त ग्रंथसे अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और बातोंका पता चलता है। मालूम नहीं आपने और भी कोई ग्रंथ बनाया है या कि नहीं।

६ गुणचंद्र ।

गुणचंद्र नामके भी एक विद्वान् विक्रमकी १७ वीं शताब्दीमें हो गये हैं। इन्होंने अनंतव्रतोद्यापन अथवा अनन्तनाथपूजा नामकी एक पुस्तक वि० सं० १६३० में बनाई है। यह पुस्तक वाग्वर (वागड़) देशके अंतर्गत शाकमार्ग (सागवाड़ा) नामके नगरमें हुंबड (हूमड) जातीय 'हर्ष' नामके वणिककी प्रेरणासे बनाई गई है। और इसमें ग्रंथकर्ताने अपनेको रत्नकीर्तिके दीक्षित यशःकीर्तिका शिष्य बतलाया है। यथाः—

संवत् षोडशत्रिंशतैष्यपलके पक्षेवदाते तिथौ,
पक्षत्यां गुरुवासरे पुराजिनेट् श्रीशाकमार्गे पुरे ।
श्रीमद्धुंबडवंशपद्मसविता हर्षाख्यदुर्गी वणिक्,
सोयं कारितवाननंतजिनसत्पूजां वरे वाग्वरे ॥ २ ॥
श्रीरत्नकीर्तिभगवज्जगतांवरेण्य-
श्चारित्ररत्ननिवहस्य बभार भारम् ।
तद्दीक्षितो यतिवरो यशकीर्तिकीर्ति-
चारित्ररंजितजनोद्रहितासुकीर्तिः ॥ ४ ॥
तच्छिष्यो गुणचंद्रसूरिरभवच्चारित्रचेतोहर-
स्तेनेदं वरपूजनं जिनवरानंतस्य युक्त्याऽरचि ।

ऊपरके इस संपूर्ण कथनसे पाया जाता है कि ये गुणचंद्र भी भट्टारक थे और वही भट्टारक थे जिनका उल्लेख रत्नचंद्रने अपने पूर्व पट्टधरोंमें किया है। रत्नचंद्रने इनकी स्तुतिमें लिखा है—

वादित्वस्य परं सीमा गमकस्य परं पदं ।
कवित्वादेः परं धाम गुणचंद्रस्तदन्वये ॥

—सुभौमचक्रवर्तिचरित्र ।

नहीं मालूम इस स्तुतिमें कितना सत्यांश है। अन्यथा, इसके आधार पर तो आप बहुत बड़े विद्वान् होने चाहिये। आपके बनाये हुए दूसरे किसी ग्रंथका नाम अभी तक हमें मालूम नहीं हुआ। यदि दूसरे किसी भाईको मालूम हो तो उन्हें प्रगट करना चाहिये। साथ ही यह भी भी मालूम होनेकी जरूरत है कि आपने अपने जीवनमें और क्या क्या कार्य किये हैं।

(क्रमशः ।)

हमारे सर्वोपयोगी ग्रन्थ।

सीता—द्विजेन्द्र बाबूका पौराणिक नाटक। सीताके चरित्रचित्रणमें कविने एक अ[illegible]ा ला दी है और रामायणकी घटनाओंका अपलाप किये बिना सीताका आदर्शचरित्र आजकलकी दृष्टिसे जितना ऊँचा किया जा सकता था उतना ऊँचा कर दिया है। इस विषयमें अनेक समालोचकोंके मतसे द्विजेन्द्र बाबू महर्षि वाल्मीकि और कविशिरोमणि भवभूतिसे भी अधिक सफलकाम हुए हैं। रामायणको पढ़कर सीतादेवीके ऊपर कविके हृदयमें जो असीम भक्ति और करुणा उत्पन्न हुई है, वही इस नाटकमें प्रकट की गई है। 'काव्यकला' की दृष्टिसे भी यह उच्चश्रेणीका नाटक है। मूल्य नौ आने। जिल्ददारका ॥।≶)

राजा और प्रजा। जगत्प्रसिद्ध लेखक डॉ० सर रवीन्द्रनाथ टैगोरके बहुत ही महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निबन्ध। इनमें राजा और प्रजाके पारस्परिक सम्बन्धको राजनीतिक और धार्मिक आदि दृष्टियोंसे बहुत दूरदर्शिता और गंभीरताके साथ स्पष्ट किया है। रवीन्द्रबाबूके ग्रन्थकी अधिक प्रशंसा करनेकी आवश्यकता नहीं। मू० सादीका १) और सजिल्दका १।≶)

गोबर-गणेश-संहिता। यह एक व्यंगपूर्ण मनोरंजक ग्रंथ है। चौबेके चिट्ठेके ढँगका है। इसे चिदानन्द चौबेके भाई श्रीगोबरगणेश देव शर्माने अपने विलक्षण बुद्धिचातुर्यसे लिखा है। इससे आपका केवल मनोरंजन ही नहीं होगा, किन्तु आपके सोचने समझनेकी सैकड़ों बातें इसमें मिलेंगी। हिन्दीमें इस ढंगका यह अद्वितीय ग्रन्थ होगा। मू० सादीका ॥-)सजिल्दका ॥।-)

प्राकृतिक चिकित्सा। इसमें सब प्रकारके रोग होनेके कारण और उनके बिना कौड़ी पैसेके प्राकृतिक उपाय बतलाये गये हैं। ठंडे पानीके टबमें कटि-स्नान करना, मेहन-स्नान करना, बफारा (वाष्प स्नान) लेना, कोयलेंकी आँचसे पसीना लेना, धूप-स्नान करना, स्वच्छ जलको अधिक परिमाणमें पीना, लम्बी साँसें लेना, व्यायाम तथा प्राणायाम करना, स्वच्छ वायुका सेवन करना, आदि आदि उपायोंको बड़े अच्छे ढंगसे इसमें बतलाया है। प्रत्येक गृहस्थके घरमें रहने योग्य पुस्तक है। मू० ।≶)

कर्नल सुरेश विश्वास। सुरेश विश्वास एक बंगाली थे। ये छुटपनमें बड़े ही खिलाड़ी, उपद्रवी, उद्धत और अवाध्य लड़के थे। पढ़ने लिखनेकी ओर इनकी जरा भी रुचि नहीं थी। ये घरसे भागकर यूरोप अमेरिका आदि देशोंमें वर्षों घूमते रहे और केवल स्वावलम्बनके बलसे उन्नति करते करते करते ब्राजिल देशकी सेनाके प्रतिष्ठित सेनापति हो गये। इतना ही नहीं ये इंग्लिश, फ्रेंच, पुर्तगीज आदि अनेक भाषाओंके और डाक्टरी ज्योतिष, प्राणिशास्त्र आदि अनेक विज्ञानोंके धुरन्धर पण्डित होगये। इस पुस्तकमें उन्हींका शिक्षाप्रद जीवनचरित है। मू० ॥)

विधवा कर्तव्य। एक बहुत ही अनुभवी विद्वानने इस पुस्तकको लिखा है। जैनियों और हिन्दुओंके प्रत्येक धर्म और पन्थकी विधवाओंका कल्याण करनेकी इच्छासे यह लिखी गई है। इससे विधवाओंके असह्य दुःख कम हो जायँगे, वे घरमें शान्ति रखनेकी, बालबच्चोंकी सेवा करनेकी, अच्छी शिक्षा देनेकी, समाज-सेवा करनेकी, दीन दुखियोंको सहायता पहुँचानेकी इस तरह अनेक प्रकारकी शिक्षायें पावेंगी और उनका निरर्थक जीवन समाज और देशके अर्थ लगने लगेगा। इसके उपदेश प्रत्येक विधवाके कानों तक पहुँचने चाहिए। सधवायें भी इससे बहुत लाभ उठा सकती हैं। मूल्य ॥)

भारत-रमणी—द्विजेन्द्र बाबूका यह सामाजिक नाटक है। बाल्यविवाह, प्रौढ़विवाह, मनमाना दहेज लेनेकी प्रथा, स्त्रीशिक्षा, विदेशयात्रा आदि अनेक सामाजिक प्रश्नोंके सम्बन्धमें इसमें बड़ी ही मार्मिक और तात्विक बातें कही गई हैं। रचनासौन्दर्यके विषयमें तो कहना ही क्या है। मूल्य ॥।≶)

देश-दर्शनका नया संस्करण।

अबकी बार मूल्य ३) की जगह २।) कर दिया गया है और सादी पुस्तकका मूल्य और भी कम अर्थात् १॥।) है। इस ग्रंथका अधिकाधिक प्रचार हो, इसी लिए यह मूल्य घटाया गया है। चित्र पहलेकी अपेक्षा दूने हैं, छपाई और बायंडिंग भी सुन्दर है। ग्राहकोंको इसके प्रचारका प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मोद्धार, आँखकी किरकिरी, मेवाड़-पतन, स्वावलम्बन, बंकिमनिबन्धावली, छत्रसाल और दुर्गादास नाटकके नये संस्करण हो चुके हैं। जिन सज्जनोंके पास न हों, वे मँगा लेवें।

मैनेजर—**हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई।

Printed by Chintaman Sakharam Deole, at the Bombay Vaibhav Press, Servants of India Society's Building, Sandhurst Road, Girgaon, Bombay.

Published by Nathuram Premi, Proprietor, Jain-Granth-Ratnakar Karyalaya, Hirabag, Bombay.

श्रीवर्द्धमानाय नमः ।

भाग १४ ।

जैनहितैषी ।

अंक ४-५ ।

माघ, फाल्गुन १९७६ । जनवरी, फरवरी १९२० ।

विषय-सूची ।

पृष्ठ संख्या ।

१५-३-१९२० ।

सम्पादक, बाबू जुगलकिशोर मुख्तार ।

मुंबई वैभव प्रेस.

प्रार्थनायें।

१ जैनहितैषी किसी स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर निजी कामके लिए नहीं निकाला जाता है। इसके लिए जो समय, शक्ति और धनका व्यय किया जाता है वह केवल निष्पक्ष और ऊँचे विचारोंके प्रचारके लिए। अतः इसकी उन्नतिमें हमारे प्रत्येक पाठकको सहायता देनी चाहिए।

२ जिन महाशयोंको इसका कोई लेख अच्छा मालूम हो उन्हें चाहिए कि उस लेखको वे जितने मित्रोंको पढ़कर सुना सकें अवश्य सुना दिया करें।

३ यदि कोई लेख अच्छा न मालूम हो अथवा विरुद्ध मालूम हो तो केवल उसीके कारण लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव धारण न करनेके लिए सविनय निवेदन है।

४ लेख भेजनेके लिए सभी सम्प्रदायके लेखकोंको आमंत्रण है। —सम्पादक।

नियमावली।

१ जैनहितैषीका वार्षिक मूल्य २) दो रुपया पेशगी है।

२ ग्राहक वर्षके आरंभसे किये जाते हैं और बीचमें ७ वें अंकसे। आधे वर्षका मूल्य १।)

३ प्रत्येक अंकका मूल्य तीन आने।

४ लेख, बदलेके पत्र, समालोचनार्थ पुस्तकें आदि "**बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा (सहारनपुर)**" के पास भेजना चाहिए। सिर्फ प्रबन्ध और मूल्य आदि सम्बन्धी पत्रव्यवहार इस पतेसे किया जायः—

मैनेजर, **जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई।

नये जैनग्रन्थ।

१ उत्तरपुराण। आचार्य गुणभद्रकृत मूल और पं० लालारामजीकृत भाषानुवादसहित। मू० १०)

२ त्रैलोक्यसार। मूल और पं० टोडरमलजी-कृत भाषावचनिका सहित। मू० ५)

३ क्रियाकोश। पं० दौलतरामजीकृत छन्दोबद्ध ग्रन्थ। मू० २॥)

४ समयसार। आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीका, तात्पर्यवृत्ति और भाषाटीकासहित। निर्णयसागरका छपा हुआ। मूल्य ४॥)

५ तीस चौवीसीपाठ। कविवर वृन्दावनजी कृत। मू० २)

६ जैनसिद्धान्तप्रवेशिका। स्वर्गीय पं० गोपालदासजी कृत। मू० ।≈)

मैनेजर, **जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई।

आवश्यक सूचनायें।

१ बम्बईके प्रेसोंमें कंपोजीटरोंका अकाल पड़ रहा है। इस लिए अब यहाँ छपाईका कोई भी काम समय पर नहीं हो सकता। बड़ी मुश्किलसे यह डबल अंक तैयार कराया जा सका है। आगेके अंक भी समय पर निकल सकेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है।

२ हितैषीके सम्पादक बाबू जुगलकिशोरजी बीचमें बहुत ही बीमार हो गये थे, इस कारण भी कुछ विलम्ब हो गया है। बाबू साहबका स्वास्थ्य अब सुधर रहा है। बड़ी हुई कमजोरीके दूर होनेमें अभी समय लगेगा।

३ छपाईमें अधिक विलम्ब होते देख, इस युग्म अंकमें एक फार्म या आठ पेज कम छपाये जा सके हैं। आगे यह कमी पूरी कर दी जायगी।

४ कामकी ज्यादतीके कारण यह अंक भी वी० पी० से नहीं भेजा जा सका। ग्राहक महाशयोंसे सविनय प्रार्थना है कि वे म० आ० से दो रुपया भेजकर हमारे ऊपर कृपा करें, जिससे हमें वी० पी० भेजनेकी दिक्कतसे छुट्टी मिले। हमारी कठिनाइयों पर ग्राहकोंको ध्यान देना चाहिए।

५ जिन महाशयोंके पास शुरूसे अंक भेजे जा रहे हैं, उन्हें हम इस वर्षका ग्राहक समझ रहे हैं, म० आ० न आने पर आगेका अंक उन सबके पास वी० पी० से भेजा जायगा। अब भी जो सज्जन ग्राहक न रहना चाहते हों वे हमें एक कार्डसे सूचना दे देवें, अथवा मिले हुए पाँचों अंक वापस कर देवें।

—प्रकाशक।

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।

चौदहवाँ भाग । अंक ४

जैनहितैषी ।

जनवरी १९२०
माघ २४४६

न हो पक्षपाती बतावे सुमार्ग, डरे ना किसीसे कहे सत्यवाणी ।
बने है विनोदी भले आशयोंसे, सभी जैनियोंका हितैषी हितैषी ॥

वनवासियों और चैत्यवासियोंके सम्प्रदाय ।

अर्थात्

तेरहपन्थ और बीसपन्थ ।

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

संसारमें जितने धर्म या सम्प्रदाय हैं, उनमें स्थापित होनेके समयसे लेकर अब तक, अनेक पन्थ, शाखा, उपशाखारूप भेद हो गये हैं और नये नये होते जाते हैं । ऐसा एक भी धर्म नहीं है जिसमें एकाधिक भेद या पन्थ न हों ।

ये भेद या पन्थ अनेक कारणोंसे होते हैं । उनमें सबसे मुख्य कारण देश-कालकी परिस्थितियाँ हैं । प्रत्येक धर्मके उपासकोंमें दो प्रकारकी प्रकृतियाँ पाई जाती हैं । एक प्रकृति तो ऐसी होती है जो अपने धर्मके विचारों या आचारोंके विषयमें जरा भी टससे मस नहीं होना चाहती—उन्हींको जोरके साथ पकड़े रहती है और दूसरी प्रकृति देश और कालकी बदली हुई परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अनुसार मूल आचार-विचारोंमें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेनेमें हानि नहीं समझती । बस इन्हीं दोनों प्रकृतियोंकी खींच-तान और रगड़-झगड़से एक नया सम्प्रदाय या पन्थ खड़ा हो जाता है और उसके झण्डेके नीचे दूसरी प्रकृतिके हजारों मनुष्य आकर उसकी जड़ जमा देते हैं ।

पर आगे चलकर यह नया पन्थ भी अविभक्त नहीं रहने पाता । सौ दो सौ वर्षोंमें फिर नई परिस्थितियों और आवश्यकताओंके कारण उसमें भी और एक नया भेद जन्म ले लेता है। इस तरह बराबर नये नये सम्प्रदाय और पन्थ जन्म लेते रहते हैं और मूल धर्मको अनेक भागोंमें विभक्त करनेका श्रेय प्राप्त किया करते हैं।

इस भेदवृद्धिके साथ साथ धर्मके मूल सिद्धान्तोंका भी क्रम क्रमसे रूपान्तर होता रहता है। पहली और दूसरी, दोनों ही प्रकृतिके लोग, आपसकी खींच-तानमें उनको अपने अपने पक्षके अनुसार बनानेमें लगे रहते हैं और इस कारण उनमें कुछ न कुछ विकृति आये बिना नहीं रहती। पुराना साहित्य जीर्ण शीर्ण दुर्लभ या अलभ्य होता रहता है, उसके स्थानमें नया साहित्य बनता रहता है और नया पुरानेका अनुधावन करनेवाला होने पर भी कुछ न कुछ विकृत अवश्य होता जाता है। इस तरह जब हजारों वर्ष बीत जाते हैं, तब कुछ विद्वान् ऐसे भी होते हैं, जो इस विकृत रूपको संशोधित करनेकी आवश्यकता समझते हैं और धर्मकी मूल प्रकृतिका अध्ययन करके तथा प्राचीन ग्रन्थोंको प्राप्त करके उनके सहारे धर्मके उसी प्राचीन स्वरूपको फिरसे प्रकट करनेका प्रयत्न करते हैं; परन्तु उसे सर्वसाधारण गतानुगतिक नहीं मानते और इस कारण जो लोग उन्हें मानने लगते हैं उनका फिर एक जुदा सम्प्रदाय बन जाता है। इस तरहके प्रयत्न बार बार हुआ करते हैं और प्रत्येक बार वे सिवाय इसके कि एक नये सम्प्रदायकी नीव डाल जावें, सबको अपना अनुयायी नहीं बना सकते।

इस प्रकारके प्रयत्नोंसे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि प्रायः प्रत्येक धर्मके अनुयायी अपने धर्मके मूल और प्राचीन सिद्धान्तोंसे बहुत दूर नहीं भटकने पाते—उनके करीब करीब ही बने रहते हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकारके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुआ कोई सम्प्रदाय अपने धर्मके मूल स्वरूपको जैसेके तैसे रूपमें पा जाता हो। बीचका हजारों वर्षोंका लम्बा समय, मूल धर्मप्रवर्तकोंकी आज्ञाओं या उपदेशोंकी वास्तविक रूपमें और यथेष्ट संख्यामें अप्राप्ति, मूल उपदेशोंकी भाषामें अर्थभेद होनेकी संभावना, और प्रयत्नकर्ताओंका भ्रान्ति-प्रमादपूर्ण ज्ञान आदि अनेक कारण ऐसे हैं जो मूलस्वरूपको प्राप्त करनेमें बड़े भारी बाधक हैं।

बहुतसे पन्थों या भेदोंकी सृष्टि धर्मगुरुओंके आपसके रागद्वेषसे और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंसे भी हुआ करती है। बहुतसे पन्थोंका इतिहास देखनेसे मालूम होता है कि वे बहुत जरा जरासे मतभेदके कारण जुदा जुदा हो गये हैं। यदि उनके प्रवर्तक 'समझौते' की ओर जरा भी झुकते तो जुदा होनेकी आवश्यकता ही न पड़ती। पर कषाय-क्षेत्रोंतक 'समझौते' की पहुँच नहीं।

बहुतसे पन्थोंका जन्म अपने समयके किसी प्रभावशाली धर्मके आक्रमणसे अपने धर्मको डगमगाते देख, उसमें उस धर्मके अनुकूल परिवर्तन और संशोधन आदि करनेके कारण भी हुआ है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिन्हें अपने बुद्धि-वैभवसे अपने धर्ममें अनेक दोष मालूम होते हैं और वे उसे छोड़कर अन्य धर्म ग्रहण करनेकी अपेक्षा उसको ही संस्कृत करना अच्छा समझते हैं और इस तरह उनका वह संस्कार किया हुआ धर्म एक नये पंथमें परिणत हो जाता है।

इस तरह अनेक कारणोंसे विविध पन्थों और सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति हुआ करती है और धर्मोंकी 'बेल' बढ़ती रहती है।

बहुतसे पन्थ क्षणजन्मा भी होते हैं। उत्पन्न हुए, कुछ बढ़े, और फलने—फूलनेके पहले ही मुरझाकर नष्ट हो गये। ऐसे पन्थोंके नाम तक लोग भूल जाते हैं। किसी किसी प्राचीन पुस्तकके पत्र अवश्य ही उनकी स्मृति बनाये रखते हैं। न जाने ऐसे कितने सम्प्रदाय अबतक इस पृथ्वीपर जन्म लेकर नामशेष हो चुके हैं।

संसारमें साम्य और मैत्रीभावके परम प्रचारक जैनधर्ममें भी अब तक अनेक सम्प्रदाय और पन्थोंकी सृष्टि हो चुकी है, जिनमेंसे बहु-

तोंका अस्तित्व तो अब तक बना हुआ है और बहुतसे कालके गालमें समा चुके हैं।

जैनधर्म अबसे लगभग दो हजार वर्ष पहले दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो मुख्य शाखाओंमें विभक्त हो चुका है और ये दोनों ही शाखायें अपनी अनेकानेक प्रशाखाओंको लिये हुए अभीतक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर रही हैं।

ये दोनों शाखायें जिन अनेक पन्थों और गण गच्छ आदिमें विभक्त हैं उनके उल्लेखकी यहाँ आवश्यकता नहीं मालूम होती। हम इस लेखमें केवल ऐसे दो पन्थभेदोंकी चर्चा करना चाहते हैं जो दोनों ही शाखाओंमें बहुत समयसे चले आ रहे हैं और जिनका हम मठवासी और वनवासी नामोंसे उल्लेख करेंगे।

श्वेताम्बरोंमें इस समय जो 'जति' या 'श्रीपूज्य' कहलाते हैं वे मठवासी या चैत्यवासी पन्थके हैं और जो 'संवेगी' या 'मुनि' कहलाते हैं वे वनवासी या वसतिकावासी साधुओंके पन्थके हैं।

इसी तरह दिगम्बरोंके 'भट्टारक' मठवासी पन्थके हैं और दिगम्बर'मुनि' जिनका प्रायः अभाव हो चुका है वनवासी-पन्थके हैं। वनवासी पन्थके उपासक अपनेको 'तेरह-पन्थी' और भट्टारकोंके उपासक अपनको 'बीस-पन्थी' कहते हैं। ये तेरह-पन्थ और बीसपन्थ नाम चाहे जिस कारणसे पड़े हों; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये पुराने वनवासी और मठवासी भेदोंके ही नामान्तर हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों ही शाखाओंके साधु अपनेको 'निर्ग्रन्थ' साधु कहते हैं। यद्यपि श्वेताम्बर धर्ममें साधुओंको वस्त्र पहननेकी आज्ञा दी गई है; परन्तु दिगम्बरोंके समान उनके भी आचारशास्त्रोंमें कहा है कि साधुओंको बस्तीसे बाहर उद्यानों या वसतिकाओंमें रहना चाहिए, अनुद्दिष्ट भोजन करना चाहिए, धर्मोपकरणोंको छोड़कर सब प्रकारके परिग्रहोंसे दूर रहना चाहिए, और शान्तिभावसे ध्यान, अध्ययन, उपदेश आदि करते हुए जीवन बिताना चाहिए।

शुरू शुरूमें दोनों ही शाखाओंके साधुओंमें चरित्रकी यह दृढता पाई जाती थी; परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया और दूर दूरतक इनका प्रचार होता गया त्यों त्यों चरित्र शिथिल होता गया और दोनों ही शाखाओंमें इस प्रकारके शिथिलचरित्र साधुओंका प्राबल्य बढ़ता गया और इसके फलस्वरूप दोनों शाखाओंमें एक एक नये पन्थकी जड़ जमती गई।

श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें इस शिथिलाचारी पन्थके सम्बन्धमें अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे इसका टूटा फूटा इतिहास तैयार किया जा सकता है।

श्रीजिनवल्लभसूरिके **संघपट्टक** नामक ग्रन्थकी भूमिकासे मालूम होता है कि वीरनिर्वाण संवत् ८५० के लगभग कुछ श्वेताम्बर साधुओंने उग्र विहार छोड़कर चैत्यवासका या मन्दिरोंमें रहनेका प्रारंभ कर दिया था। धीरे धीरे इन लोगोंकी संख्या बढ़ती गई और कोई १५० वर्षोंमें ये लोग बहुत प्रबल हो गये। इसी समय इन्होंने 'निगम' नामके कुछ ग्रन्थ रचे और उनके विषयमें यह प्रसिद्ध किया कि ये 'दृष्टिवाद' नामक बारहवें अंगके खण्ड या अंश हैं। इन ग्रन्थोंमें यह प्रतिपादन किया गया है कि वर्तमान कालके साधुओंको चैत्योंमें रहना उचित है और उन्हें पुस्तकादिके लिए यथायोग्य आवश्यक द्रव्य भी संग्रह करके रखना चाहिए। इसके बाद ये वसतिकावासियोंकी निन्दा करने लगे और अपनी शक्ति बढ़ाने लगे। श्रावकोंमें विशेष बुद्धि नहीं थी, वे इस समय जैसे भोले भक्त हैं पहले भी वैसे ही थे; इस कारण वे उक्त शिथिलाचारियोंको ही अपना परम गुरु समझने लगे। धीरे

धीरे ' निर्ग्रन्थ मार्ग ' विरलप्राय हो गया। प्राचीन ग्रन्थोंपर हड़ताल फेर दी गई और उनकी जगह कपोलकल्पित ग्रन्थ रचे जाने लगे।

मामला आगे बढ़ा। विक्रम संवत् ८०२ में जिस समय चापोत्कट (चावड़ा) वंशी राजा वनराजने ' अणहिलपुर-पाटण ' बसाया, उस समय उनके गुरु शीलगुणसूरिने—जो कि चैत्यवासी थे—उनसे यह आज्ञा जारी करा दी कि इस नगरमें चैत्यवासी साधुओंको छोड़कर दूसरे वसतिवासी साधुओंको आनेकी मनाई है। इस आज्ञाको रद्द करानेके लिए वि० सं० १०८४ में जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि नामके दो वसतिकावासी आचार्योंने राजा दुर्लभदेवकी सभामें चैत्यवासी साधुओंके साथ शास्त्रार्थ किया और उसमें उन्हें अच्छी तरह पराजित किया। इसके बाद पाटणमें वसतिवासियोंका आवागमन शुरू हो गया।

मारवाड़में चैत्यवासियोंकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी। उसे तोड़नेके लिए सबसे अधिक प्रयत्न उक्त जिनेश्वरसूरिके शिष्य जिनवल्लभसूरिने किया। इन्होंने संघपट्टक नामका एक छोटासा ग्रन्थ—जिसमें केवल ४० पद्य हैं—बनाकर बड़ा काम किया। इस ग्रन्थमें चैत्यवासियोंके शिथिलाचारका और उनकी सूत्रविरुद्ध प्रवृत्तिका बड़ा ही मार्मिक और स्पष्ट चित्र खींचा गया है।

चित्तौड़के श्रावकोंने आपके उपदेशसे प्रतिबुद्ध होकर महावीर भगवानका एक मन्दिर बनवाकर उसके गर्भगृहके द्वारके एक स्तंभपर ' संघपट्टक ' के ४० पद्य और दूसरे स्तंभपर ' धर्मशिक्षा ' के ४४ पद्य खुदवा दिये, जो आजतक उनकी कीर्तिको प्रकाशितकर रहे हैं। इस मन्दिरके छज्जे पर भी कुछ श्लोक खुदे हुए हैं जिनमेंसे एक यहाँपर उद्धृत किया जाता है:—

अत्रोत्सूत्रिजनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा,
साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि।
जाति-ज्ञातिकदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि(?)—
त्याज्ञात्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीवीरचैत्यालये॥ १॥

अर्थात् यहाँ पर सूत्रविरुद्ध चलनेवालोंको अर्थात् चैत्यवासियोंको आनेकी मनाई है, कभी रात्रिको स्नात्र (अभिषेक ?) न किया जायगा, साधु न ठहर सकेंगे, रात्रिको स्त्रियाँ प्रवेश न कर सकेंगी, और जातिपाँतिके लड़ाई झगड़े यहाँ न होंगे।

एक और श्लोकका अभिप्राय यह है कि यहाँ किसीको भी वन्दनादिका निषेध नहीं है, शास्त्राज्ञाको माननेवाले इसके अधिकारी हैं और इस मन्दिरकी देख-रेख, आमद-खर्च और रक्षाका प्रबन्ध तीन चतुर श्रावक करेंगे।

इन श्लोकोंमें चैत्यवासी साधुओंके द्वारा मन्दिरोंमें होनेवाले शिथिलाचारोंकी स्पष्ट झलक पाई जाती है।

जिनवल्लभसूरिका यह प्रयत्न बहुत ही अच्छा था; परन्तु फिर भी वह चैत्यवासियोंको असह्य हुआ। वे पाँच सौ लट्ठबाजोंको साथ लेकर चित्तौड़ पर चढ़ आये! परन्तु तत्कालीन राणा साहबने उन्हें इस अपकृत्यसे रोक दिया।

परन्तु इस धमकीसे और उछलकूदसे जिनवल्लभसूरि डरे नहीं, उन्होंने अपना प्रचारकार्य और भी जोरोंके साथ शुरू किया और उसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता भी मिली।

जिनवल्लभसूरिके बाद जिनदत्तसूरि और जिनपतिसूरिने भी इसी दिशामें अपना प्रयत्न जारी रक्खा। जिनपतिसूरिने ' संघपट्टक ' पर एक तीन हजार श्लोक प्रमाण टीकाकी रचना की और उसका खूब प्रचार किया।

१ संघपट्टक मूल, संस्कृतच्छाया और गुजराती टीकासहित छप चुका है।

जिनपतिसूरिके नेमिचन्द्र भंडारी नामके विद्वान् गृहस्थ शिष्यने 'षष्ठिशतक' नामका प्राकृत ग्रन्थकी रचना की, जिसकी कि टीका स्वर्गीय पं० भागचन्द्रजी ' उपदेशसिद्धान्त-रत्नमाला ' के नामसे लिख गये हैं। इस ग्रन्थमें भी चैत्य-वासियोंके आचरणका खण्डन किया गया है। इसके बाद जिनपतिसूरिके शिष्य जिनदत्तसूरिने भी एक ग्रन्थकी रचना की और उसमें चैत्यवा-सियोंके मन्दिरोंको सर्वथा अनायतन सिद्ध कर दिया।

इधर गुजरातमें भी मुनिचन्द्रसूरि और मुनिसुन्दरसूरि आदि आचार्योंने चैत्यवासियोंके विरुद्ध आन्दोलन शुरू करके उन्हें हतप्रभ कर दिया।

इस तरह वि० संवत् १०८४ के लगभग जो विधिबद्ध आन्दोलन शुरू किया गया था वह १५ वीं शताब्दिके अन्तमें जाकर सफल हुआ।

यही श्वेताम्बरशाखाके चैत्यवासियों और वनवासियोंका इतिहास है।

अब हमें दिगम्बर सम्प्रदायकी ओर आना चाहिए। यद्यपि हमारे यहाँ इस विषयका कोई लिखित इतिहास नहीं है; फिर भी हमारा वि-श्वास है कि यदि हम अपने उपलब्ध साहि-त्यका तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करेंगे और प्राचीन तथा नवीन ग्रन्थोंकी बारीकीसे छानबीन करेंगे तो हमें भी अपने मुनिमार्गकी शिथिल-ताका एक क्रमबद्ध इतिहास तैयार करनेमें अवश्य सफलता होगी।

दिगम्बर शाखाके साधुओंमें उक्त शिथि-लाचारकी प्रवृत्ति कबसे हुई और वह प्रवृत्ति एक संघके रूपमें किस समय परिणत हुई, इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है; परंतु ऐसा जान पड़ता है कि श्वेताम्बरोंमें चैत्यवासियोंका जोर बढ चुकने पर, संभव है कि उन्हींकी देखादेखी, उनसे कुछ पीछे, हमारे यहाँ भी इसका प्रवेश हो गया होगा।

विक्रमकी आठवीं शताब्दिके बादके कुछ ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उल्लेख मिलते हैं जिनमें इस बातका आभास मिलता है कि उस समय दिगम्बर मुनियोंके चरित्रमें शिथिलता आ गई थी, वे ग्रामोंमें या ग्रामोंके समीप रहने लगे थे और पूर्वकालके मुनियोंके साथ उनकी समता नहीं हो सकती थे, वे उनकी छाया मात्र समझे जाने लगे थे।

भगवद्गुणभद्राचार्य विक्रम संवत् ८५५ के लगभग अपने आत्मानुशासनमें लिखते हैं:—

> इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
> वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः॥

अर्थात्—जिस तरह रातको मृगगण वनमें इधर उधरसे त्रास पाकर गाँवके पास आ रहते हैं उसी प्रकार खेद है कि कलिकालमें तपस्वी मुनि भी ग्रामोंकी सीमामें आ घुसते हैं।

एक और श्लोकमें वे कहते हैं कि मुनियोंमें साधुचरित्र या सदाचारी उत्कृष्ट मणियोंके समान बहुत ही थोड़े रह गये हैं।—“ तपस्तेषु श्रीम-न्मणय इव जाताः प्रविरलाः। ”

विक्रम संवत् १०१६ में यशस्तिलक काव्य-के कर्त्ता पण्डित सोमदेव कहते हैं:—

> काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
> एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥

पुनश्च—

> यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम्।
> तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्या सम्प्रतिसंयताः॥

अर्थात्—कलिकाल, चलचित्त और देहके अन्नका कीड़ा बन जानेपर भी, यह आश्चर्य है जो इस समय भी जिनरूप (नग्नरूप) धारण करनेवाले मुनियोंका अस्तित्व है।

जिस तरह तीर्थकरोंकी लेपादिसे बनाई हुई

प्रतिमायें पूज्य होती हैं उसी तरह पूर्वकालके मुनियोंकी छायारूप ये वर्तमानके मुनि भी पूज्य हैं।

गुणभद्रस्वामीसे कोई डेड़सौ वर्ष बादके ये वचन हैं। इतने समयमें शिथिलता और भी अधिक बढ़ गई होगी और वह इन वचनोंमें भी खूब स्पष्टतासे झलकती है।

परन्तु इन वचनोंसे यह निश्चय नहीं होता कि उक्त शिथिलचरित्र मुनियोंका चैत्यवासी श्वेताम्बरोंके समान कोई पृथक् दल ही बन गया था। बहुत सम्भव है कि उस समय तक शक्तिहीनता, अज्ञानता और देशकी बिगड़ी हुई परिस्थितियोंके कारण ही वे अपने चरित्रमें शिथिल हो गये हों, परन्तु उस शिथिलताको अच्छा न समझते हों—उसका प्रतिपादन न करते हों।

किन्तु यह अवस्था बहुत समय तक नहीं रही होगी। ऐसे शिथिलचरित्रोंकी संख्याका विस्तार होनेपर सौ दो सौ वर्षोंमें ही उनका दल बन गया होगा और उसके कुछ प्रमाण हमें विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। उनसे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तेरहवीं शताब्दिके पहले ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दिमें तो अवश्य ही हमारे यहाँ चैत्यवासी साधुओंकी संस्था स्थापित हो गई थी।

पण्डितप्रवर आशाधरने अपने अनगार धर्मामृतके दूसरे अध्यायमें इन चैत्यवासी दिगम्बर साधुओंका जिक्र किया है।

यथा:—

" मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोद्यार्हतीं,
वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः।
लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे,
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेवमोहैस्त्यज ॥९६॥

टीका। इहक्षेत्रे सम्प्रति काले केचित्तापसादयो व्यवहरन्ति प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयां कुर्वन्ति। कां, मुद्रां व्रतचिह्नम्। किं विशिष्टाम्, वामां विपरीतां जटाधारणभस्मोद्धूलनादिरूपाम्। किं विशिष्टाः सन्तः, अहंयवोऽहंकारिणः। किं कृत्वा, अपोद्य अपवादविषयां कृत्वा निषिद्धयेत्यर्थः। काम्, मुद्राम्। किंविशिष्टाम्, आर्हतीं जैनीमाचेलक्यादिलिङ्गलक्षणाम्। पुनः किंविशिष्टाम्, त्रिजगतीवन्द्यां जगत्त्रयनमस्याम्। पुनरपि किं विशिष्टाम्, सांव्यवहारिकीं समीचीनप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनाम्। पक्षे, टंकादिनाणकाकृतिं समीचीनामपोद्य मिथ्यारूपां क्षुद्रां व्यवहरन्तीति व्याख्येयं। अन्ये पुनर्द्रव्यजिनलिङ्गधारिणो मुनिमानिनोऽवशिनोऽजितेन्द्रियाः सन्तस्तां तथाभूतामार्हतीं मुद्रां बहिःशरीरे न मनसि श्रिताः प्रपन्ना आविशन्ति संक्रामंति विचेष्टयन्तीत्यर्थः। कम्, लोकं धर्मकामं जनम्। किंवत्, भूतवद्ग्रहैस्तुल्यम्। अपरे पुनर्द्रव्यजिनलिङ्गधारिणो मठपतयो म्लेच्छन्ति म्लेच्छा इवाचरन्ति। लोकशास्त्रविरुद्धमाचारं चरन्तीत्यर्थः। कया, तच्छायया आर्हतगतप्रतिरूपेण। तथा च पठन्ति—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

भोः सम्यक्त्वाराधक त्यज मुञ्च त्वम्। कम्, त्रिधा परिचयं मनसानुमोदनं वाचा कीर्तनम् कायेन संसर्गं च। कैः सह, तकैः कुत्सितैस्तैस्त्रितयैः। किं विशिष्टैः, पुंदेहमोहैः पुरुषाकारमिथ्यात्वैः। तदुक्तम्—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते॥

बाह्या अप्याहुः—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्।
हेतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ "

उक्त अवतरणमें सम्यक्त्वके आराधकको तीन प्रकारके मिथ्यातियोंके साथ मन वचन कायसे परिचय न रखनेका उपदेश दिया है। पहले प्रकारके मिथ्याती जैनधर्मसे विपरीत मुद्राके धारण करनेवाले तापस आदि हैं, दूसरे प्रकारके मिथ्याती वे द्रव्यजिनलिङ्गधारी हैं, जो अपनेको मुनि कहते हैं और बाहरसे आर्हती मुद्रा अर्थात् दिगम्बर मुद्राको भी धारण करते हैं; परन्तु अन्तरंगमें अवशी हैं—इन्द्रियोंको नहीं जीतते हैं, और तीसरे प्रकारके मिथ्याती

मठोंके स्वामी द्रव्यजिनलिङ्गधारी अर्थात् मठाधीश दिगम्बर मुनि हैं।

इनके विषयमें ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि वे म्लेच्छोंके समान लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं। 'तच्छायया आर्हतगतिप्रतिरूपेण' पद देकर वे इस बातको भी स्पष्ट कर देते हैं कि वे वस्त्रधारी भट्टारक नहीं, किन्तु अर्हन्त भगवानके समान दिगम्बर मुद्रा धारण करनेवाले हैं।

टीकामें जो पहला श्लोक उद्धृत किया गया है, वह बड़े ही महत्त्वका है। उसका अभिप्राय यह है कि जिनभगवानके निर्मल शासनको भ्रष्टचरित्र पण्डितों और वठर मुनियोंने मलीन कर दिया है। इसके भीतर वह 'आह' छुपी हुई है जो जिनधर्मके सच्चे स्वरूपको समझनेवालोंके हृदयोंमें उसकी दुर्दशा देखकर उठा करती है।

अनगारधर्मामृतकी टीका विक्रम संवत् १३०० में लिखी गई है और उन्होंने जो श्लोक उद्धृत किया है वह उनसे भी पहलेके किसी विद्वानकी रचना है। इससे यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि विक्रम संवत् १३०० के बहुत पहले मठपतियोंकी संस्था स्थापित हो चुकी थी और वह इतनी विस्तृत हो गई थी, कि उसके कारण जैनधर्म मलिन हो गया था।

विक्रम संवत् १२९४ में श्रीमहेन्द्रसूरि नामके एक श्वेताम्बराचार्यने 'शतपदी' नामका एक ग्रन्थ लिखा है, उसमें 'दिगम्बर-मत-विचार' नामका एक अध्याय है। उसमें दिगम्बर सम्प्रदायके तत्कालीन साधुओंको लक्ष्य करके जो कुछ लिखा है उससे भी पण्डित आशाधरके वचनोंकी पुष्टि होती है। महेन्द्रसूरिके कथनानुसार उस समयके दिगम्बर साधु मठोंमें मन्दिरोंमें रहते थे, आर्यिकायें भी वहाँ रहती थीं, वे कभी कभी उनसे भोजन भी बनवा लेते थे, स्त्रियोंसे चरणप्रक्षालन कराते थे, सचित्र पुष्प, पत्र, घी, दूध, जल, केसर आदिसे चरणोंका पूजन, स्नपन और लेपन कराते थे, सोने चाँदी आदिसे चरण पुजवाते थे, सदैव एक स्थानमें रहते थे, शीतकालमें अँगीठीका सहारा लेते थे, पयालके बिछौनेपर सोते थे और तैलकी मालिश कराते थे, तरह तरहकी ओषधियाँ पास रखते थे, ज्योतिष, वैद्यक, मंत्रवाद, धातुवाद आदिके प्रयोग करते थे, पालकियों पर चढ़ते थे, कपड़ेके जूते पहनते थे, पीतल ताँबा आदि धातुओंके कमण्डलु रखते थे, चटाई और लज्जा निवारण करनेके लिए वस्त्र रखते थे जो कभी कभी पहना जाता था और जिसे धोबीसे धुलाते तथा रँगाते भी थे। पुस्तक-पुस्तिका-कपरिका-स्थपनिका-पुस्तकपट्ट-योगपट्ट-आसनपट्ट-तृणपटी आदि और भी अनेक प्रकारकी चीजें रखते थे*।

इस प्रकारके आचरणोंको लक्ष्य करके ही शायद पं० आशाधरने उन्हें म्लेच्छोंके समान आचरण करनेवाला लिखा है। शतपदीकी रचना भी अनगारधर्मामृतसे केवल ६ वर्ष पहले हुई थी।

श्रुतसागरसूरि नामके एक भट्टारक विक्रमकी सोलहवीं शताब्दिमें हो गये हैं। उन्होंने षट्पाहुड़की संस्कृत टीकामें लिखा है कि—"कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वा उपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति, तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चति इत्युपदेशः कृतः संयमिनां, इत्यपवादवेषः।"

अर्थात् "कलिकालमें म्लेच्छ (मुसलमान) आदि यतियोंको नग्न देखकर उपद्रव करते हैं, इस कारण मण्डपदुर्ग (मांडू) में श्रीवसन्त-

* देखो, जैनहितैषी भाग ७, अंक ९ में शतपदीके विस्तृत अवतरण और उनका अनुवाद।

कीर्ति स्वामीने ऐसा उपदेश दिया कि संयमी-मुनियोंको चर्या आदिके समय (आहारको जाते वक्त) चटाई, टाट आदिसे शरीरको ढक लेना चाहिए और फिर चटाई आदि छोड़ देना चाहिए। यह अपवाद वेष है*। चित्तौरकी गद्दीके भट्टारकोंकी नामावलीमें वसन्तकीर्तिका नाम आता है। वे संवत् १२६४ में हुए हैं और संभवतः श्रुतसागरने× इन्हीं वसन्त-कीर्तिको अपवाद वेषका प्रचारक बतलाया है। इससे भी पं० आशाधरके इस कथनकी पुष्टि होती है कि उस समय १३ वीं शताब्दिमें, भ्रष्टचारित्र द्रव्यजिनलिङ्गधारी मुनि थे और उन्होंने जिनशासनको मलिन कर डाला था।

---

* देखो, जैनहितैषी भाग १३, अंक ८, पृष्ठ ३६८।

× इन्हीं श्रुतसागरसूरिने अपनी तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें इस बातको स्वीकार किया है कि द्रव्यलिंगी साधु शीतकालमें कंबलादिक ले लेते हैं और दूसरे समयमें त्याग देते हैं:—

" लिङ्गं द्विभेदं द्रव्यभावलिंगभेदात् । तत्र भावलिङ्गिनः पञ्चप्रकारा अपि निर्ग्रन्था भवन्ति । द्रव्य-लिङ्गिनः असमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलादिकं गृहीत्वा न प्रक्षालयन्ते न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति अपरकाले परिहरंतीति भगवत्याराधना-प्रोक्ताभिप्रायेण कुशीलापेक्षया वक्तव्यम्। " ('संयम-श्रुतप्रतिसेवनादि ' सूत्रकी टीका ।)

परमात्मप्रकाशकी टीकामें उसके टीकाकार ब्रह्म-देव भी शक्तिके अभावमें साधुको तृणमय प्रावरणादिक अर्थात् घासका उत्तरीय वस्त्र आदिको रखनेकी, परन्तु उस पर ममत्व न रखनेकी, इजाजत देते हैं:—

" परमोपेक्षा संयमाभावे तु वीतरागशुद्धात्मानु-भूतिभावसंयमरक्षणार्थं विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपःपर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपान-संयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोति ॥ "

(परमात्मप्रकाशटीका, गाथा २१६, पृष्ठ २३२)

ये ब्रह्मदेवजी भी १६ वीं शताब्दिके लगभग हुए हैं।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पं० आशाधरने शिथिलाचारी मुनियोंको चैत्यवासी या मठवासी न लिख कर ' मठपति ' लिखा है और उनके आचरणको ' लोकशास्त्रविरुद्ध ' बतलाया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे वनोंको छोड़कर मठोंमें केवल रहते ही नहीं थे किन्तु भट्टारकोंके समान मठोंका आधिपत्य भी करते थे। शतपदीके आक्षेपोंसे भी यही ध्वनित होता है।

अनगारधर्मामृतटीका वि० सं० १३०० में समाप्त हुई है और शतपदी १२९४ में। शतपदी यद्यपि १२९४ में बनी है; परन्तु वह धर्मघोष-सूरिकृत प्राकृत शतपदीका संस्कृत अनुवाद है जो कि सं० १२६३ की बनी हुई है। अर्थात् १२६३ से भी पहले दिगम्बर मुनियोंके आचरण उस तरहके हो गये थे जिस तरहके कि शत-पदीके आक्षेपोंसे मालूम होते हैं। चित्तौरके भट्टारक वसन्तकीर्तिका भी यही समय है।

इस तरहके शिथिलाचारोंकी प्रवृत्ति एकदम नहीं हो जाती, उनके प्रचलित होनेमें और मान्य होनेमें सैकडों वर्ष लग जाते हैं। यदि हम यह मान लें कि इस प्रवृत्तिके प्रचलित होनेमें सवा सौ डेड़ सौ वर्ष लगे होंगे तो कहना होगा कि विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके प्रारंभमें बहुतसे दिगम्बर मुनि मठवासी हो गये होंगे और इस रूपमें उनकी मानता भी होने लगी होगी।

इन मठपतियोंकी अवस्थाके पहले दिगम्बर मुनि एक अवस्थामेंसे और भी गुजर चुके होंगे, अर्थात् मठोंके स्वामी बननेके पहले केवल मठों या मन्दिरोंमें रहते होंगे। उस समय वे पूर्ण नग्नावस्थामें रहते होंगे, परिग्रह भी उनके पास थोड़ा होगा; परन्तु वनोंमें उनसे न रहा जाता होगा और उग्र चर्याका भी उनसे पालन न होता होगा। इसी अवस्थाके प्रारंभकी झलक हमें

आत्मानुशासनकी संवत् ८५५ की उस उक्तिसे मिलती है जिसमें उन्होंने मुनियोंकी उपमा डरपोक मृगोंसे दी है और उसके आगेकी अवस्थाकी झलक सं० १०१६ के यशस्तिलककी उस उक्तिसे मिलती है जिसमें उन्होंने उस समयके मुनियोंको पूर्वकालके मुनियोंकी छाया बतलाया है।

अर्थात् मोटे हिसाबसे यह कहा जा सकता है कि विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दिमें दिगम्बर मुनि मन्दिर-मठवासी हो गये थे और बारहवीं शताब्दिमें उन्होंने मठपति बननेका प्रारंभ कर दिया था।

परन्तु इससे दृढतापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि बारहवीं या तेरहवीं शताब्दिके बाद शुद्धाचारी दिगम्बर मुनियोंका अभाव ही हो गया था, अथवा सारा जैन जनसमुदाय शिथिलाचारियोंका ही शासन मानने लगा था। यद्यपि कालके प्रभावसे तथा देशकी राजनीतिके और सामाजिक परिस्थितियोंके परिवर्तनके कारण दिगम्बर मुनियोंकी विरलता भगवद्गुणभद्रके समयसे ही लक्षित होने लगी थी और तेरहवीं शताब्दिके लगभग तो वह और भी बढ़ गई होगी; परन्तु शुद्ध शास्त्रोक्त आचारोंके पालनेवाले मुनि भी यत्र तत्र अवश्य दिखलाई देते होंगे और उनके उपासकोंकी भी कमी न रही होगी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन मठवासी और मठपतियोंका जो मार्ग प्रचलित हुआ था, वही आगे चलकर 'बीसपन्थ' कहलाया और जिन लोगोंने उसे नहीं माना, तथा जो वनवासी साधुओंको ही पूज्य या गुरु मानते रहे, उनका मार्ग 'तेरहपन्थ' के नामसे प्रकट किया जाने लगा।

इस बातकी खोज और छानबीन होनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता है कि तेरहपन्थ और बीसपन्थ नामसे उक्त मार्ग क्यों प्रसिद्ध किये गये और इन नामोंका मूल क्या है। इस विषयमें जो कई प्रवाद और किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं, हमारी समझके अनुसार उनमें कोई तथ्य नहीं है और उनसे इनकी असलियत पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता है।

हमारे खयालमें ये दोनों नाम बहुत प्राचीन नहीं है, डेढ़ सौ दो सौ वर्षसे पहलेके साहित्यमें इनका उल्लेख नहीं मिलता। बहुत संभव है कि श्वेताम्बर शाखाके 'तेरापन्थी' (ढूंढक) सम्प्रदायके साथ समानता करते हुए वे लोग इन्हें 'तेरापन्थी' कहने लगे हों जो भट्टारकोंको अपना गुरु मानते थे तथा इनसे द्वेष रखते थे और धीरे धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटिल' पक्का हो गया हो; साथ ही वे स्वयं इनसे बड़े 'बीसपन्थी' कहलाने लगे हों।

तीनसौ चारसौ वर्षके पिछले भाषाके ग्रन्थों और भट्टारकोंके बनाये हुए संस्कृत ग्रंथोंकी जाँच करनेसे तेरह और बीसपन्थके इतिहासकी अनेक बातोंका पता लग सकता है।

यह निश्चय है कि जिस समय मठवासियोंका मार्ग प्रारंभ हुआ होगा, उसी समय उनके विरोधी भी खड़े हो गये होंगे, परन्तु ऐसा मालूम होता है कि उन विरोधियोंके दलबद्ध होनेमें और अपना स्वतंत्र पंथ बना लेनेमें बहुत समय लग गया होगा। आश्चर्य नहीं, जो इस दलके इतने शक्तिशाली होनेमें कि वह शिथिलाचारियोंका निर्भय होकर विरोध करे, २००–३०० वर्ष भी लग गये हों।

अभी तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला है, जिससे एक जुदे दल या पन्थके रूपमें इस भट्टारक-विरोधी मार्गका अस्तित्व विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दिके पहले माना जाय। संभव है कि खोज करनेसे इसके पहले भी इसके अस्तित्वका पता चल जाय, परन्तु अभी तक तो

हमारा विश्वास है कि इस दलके मुख्य प्रवर्तक समयसार नाटक आदि ग्रन्थोंके सुप्रसिद्ध लेखक और कवि प० बनारसीदासजी थे।

श्वेताम्बराचार्य महोपाध्याय मेघविजय-गणिने वि० संवत् १७०० के लगभग आगरेमें रहकर 'युक्तिप्रबोध' नामका एक प्राकृत ग्रन्थ स्वोपज्ञ संस्कृतटीकासहित बनाया था। यह ग्रन्थ प० बनारसीदासके मतका खण्डन करनेके ही उद्देश्यसे बनाया गया है—'**वोच्छं सुयणहितत्थं वाणारसियस्स मयभेयं।**' इसमें जगह जगह इस मतको 'बाणारसीय' या 'बनारसीदासका मत' कहकर उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है मेघविजयजीके समय तक यह तेरहपंथके नामसे प्रसिद्ध नहीं हुआ था।

बाणारसीयमतका स्वरूप प्रकट करते हुए युक्तिप्रबोधके कर्ता लिखते हैं:—

तम्मा दिगंबराणं एए भट्टारगा वि ना पुज्जा।
तिलतुसमित्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो ॥१६॥

अर्थात्—इस मतके अनुसार दिगम्बरोंके भट्टारकोंको भी नहीं पूजना चाहिए। जिनके तिलतुषमात्र भी परिग्रह हो वे गुरु नहीं हो सकते।

जिणपडिमाणं भूसण-मल्लारुहणाइ अंगपरियरणं।
वाणारसिओ वारइ दिगम्बरस्सागमाणाए ॥ १७॥

अर्थात्—जिन प्रतिमाओंको भूषण पहनाना, मालायें आरोहण करना, केसर लगाना आदि बातोंका बाणारसीमतवालोंने निषेध किया।

सिरिविक्कमनरनाहागएहिं सोलससएहिं वासेहिं।
असि उत्तरेहिं जायं बाणारसिअस्स मयमेयं ॥ १८॥

अर्थात्—विक्रम संवत १६८० में यह बनारसीदासका मत उत्पन्न हुआ।

अह तम्मिहु कालगए कुँअरपालेण तम्मयं धरियं।
जाउंतो बहुमण्णो गुरुव्व तेसिं स सव्वेसिं ॥ १९॥

अर्थात्—काल बीतने पर कुँवरपालने उस मतको धारण किया और तब वह सबका गुरुके समान बहुमान्य हो गया।

बनारसीविलासमें कँवरपालकी बहुतसी रचनाओंका संग्रह है। ये बनारसीदासजीके मित्रोंमेंसे थे। मेघविजयजीके कथनसे मालूम होता है कि बनारसीदासका उत्तराधिकारित्व इन्हींको प्राप्त हुआ था। आश्चर्य नहीं, जो कँवरपाल मेघविजयजीके समयमें वर्तमान हों।

पं० बनारसीदासजीकी मृत्यु सं० १६९८ के बाद किसी समय हुई है।

पं० बखतरायने अपने बुद्धिविलास नामक ग्रन्थमें लिखा है कि तेरहपंथकी उत्पत्ति वि० सं० १६८३ में हुई। यह और मेघविजयजीका बतलाया हुआ समय लगभग एक ही है। अर्थात् पं० बखतरामजीका बतलाया हुआ समय भी पं० बनारसीदासजीको ही तेरहपन्थका प्रवर्तक माननेके लिए बाध्य करता है।

आगरेमें इस पन्थका उदय हुआ था, इसी कारण आगरा और उसके समीपके जयपुर आदि नगरोंमें ही इसका विशेष प्रचार हुआ और प्रायः इन्हीं दोनों नगरोंके विद्वानोंकी रचनाओंसे यह पन्थ देशव्यापी हुआ है। इसके सिवाय तेरहपन्थका अभीतक ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिला है जो सं० १६८० के पहलेका हो। इससे भी मालूम होता है कि बनारसीदास ही इसके मुख्य प्रवर्तक थे और उन्हींके 'बाणारसीय मत' को पीछेसे किसी समय यह तेरहपंथ नाम प्राप्त हो गया है।

पं० बनारसीदासजीके मुख्य प्रवर्तक होनेपर भी उनके पहलेके दिगम्बरी विद्वानोंमें मठवासियोंके विरुद्ध विचार रहे होंगे। यह संभव है कि उन्होंने इस दिशामें थोड़ा बहुत प्रयत्न भी किया

---

१ पं० बनारसीदासजी अपने समयके बड़े भारी सुधारक थे। उन्होंने और किन किन बातोंका निषेध किया था, उन्हें हम एक स्वतंत्र लेखमें प्रकट करेंगे।—
—लेखक।

हो—आश्चर्य नहीं जो खोज करनेसे बनारसीदासजीके पहलेके ग्रन्थोंमें इन विचारोंका उल्लेख भी मिल जाय; परन्तु जान पड़ता है कि उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली और पं० बनारसीदासजीके एक प्रतिभाशाली विद्वान् होनेके कारण वे ही इस मतके प्रवर्तक होनेका श्रेय प्राप्त कर सके।

तेरहपन्थ और बीसपन्थकी मानताओंमें जितने भी भेद हैं या बतलाये जाते हैं, उन सबका मूल, मठवासियों या भट्टारकोंके शिथिलाचारके सिवाय और कुछ भी नहीं है। यह विषय बिलकुल निर्विवाद है। अतः यह बात दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है कि पुराने मठवासियोंके मार्गका ही नाम बीसपन्थ और उनके विरोधी वनवासियों या शुद्धाम्नायियोंके मार्गका नाम तेरहपन्थ है।

यद्यपि अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता परन्तु ऐसा मालूम होता है कि पूर्वोक्त ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दिके भी पहले दिगम्बर शाखामें मठवासियोंके ढंगके और भी कई बार कई पन्थ जन्म ले चुके हैं, जिनके शिथिलाचारका निषेध उक्त शताब्दियोंसे भी पहलेके ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

ऐसे कई पन्थोंकी उत्पत्ति आदिका विवरण वि० सं० ९९० में लिखे हुए 'दर्शनसार' में मिलता है। ये पन्थ चार हैं—१ यापनीय, २ काष्ठासंघ, ३ माथुरसंघ, और द्रविड़संघ। इनमेंसे यापनीयसंघ तो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों शाखाओंका एक मिश्रित मार्ग था; परन्तु शेष तीन शुद्ध दिगम्बरी थे। फिर भी वे 'जैनाभास' बतलाये गये हैं।

इन तीनों संघोंका जो स्वरूप दर्शनसारमें दिया है उससे और इनके उपलब्ध ग्रन्थोंसे तो यह बात समझमें ही नहीं आती है कि ये सब जैनाभास क्यों बतलाये गये। पिच्छी बिलकुल ही न रखना, या मोरपंखोंके बदले गायके पूँछके बालोंकी पिच्छी रखना, खड़े होनेके बदले बैठकर भोजन करना, अथवा सूखे चनोंको प्रासुक मानना, ये सब बातें इतनी संगीन नहीं थीं कि इनके कारण ये सब 'जैनाभास' करार दिये जाते। पुन्नाटसंघी या द्रविड़संघी जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणको हम निरन्तर पढ़ते हैं, माथुरसंघी अमितगति आचार्यके श्रावकाचार, धर्मपरीक्षा, सुभाषितरत्नसन्दोह आदि कई ग्रन्थोंका हमारे यहाँ खासा प्रचार है, काष्ठसंघके भी प्रद्युम्नचरित आदि कई ग्रन्थ हमारे यहाँ पढ़े जाते हैं। परन्तु इनसे यह नहीं मालूम होता कि इनमें दिगम्बरसम्प्रदायसे विरुद्ध जैनाभासत्वका प्रचार किया गया है। तब इनके प्रवर्तकोंको देवसेनसूरिने महा पापी, मिथ्याती क्यों बतलाया है?

हमारा अनुमान है कि इनके साथमें मूलसंघका वही नाता था जो तेरहपन्थका बीसपन्थके साथ है। अर्थात् ये सब उस समयके शिथिलाचारी थे और मूलसंघ शुद्धाम्नायी 'मूलसंघ' का 'मूल' शब्द हमारे उक्त अनुमानको और भी अधिक पुष्ट करता है। यह शब्द बतलाता है कि मूलसंघी अपनेको भगवान् महावीरके मूलमार्गका अनुसरण करनेवाला समझते थे और काष्ठासंघी आदिको शिथिलाचारी।

ऐसा जान पड़ता है कि इन संघोंके साथ मूलसंघका सिद्धान्त-भेद तो विशेष नहीं था, जैसा कि तेरहपंथियोंका बीसपंथियोंके साथ नहीं है, परन्तु इन संघोंके साधुओंमें शिथिलाचार बढ़ गया होगा, अर्थात् ये लोग मठवासी और परिग्रहधारी आदि हो गये होंगे और इसी लिए ये जैनाभास करार दिये गये थे।

देवसेनसूरिने द्राविडसंघके उत्पादक वज्रनन्दिके विषयमें लिखा है कि—

कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो ।
ण्हंतो सीयलनीरे पावं पउरं स संचेदि ॥ २७ ॥

अर्थात् उसने कछार, खेत, वसतिका और वाणिज्य आदि करके जीवननिर्वाह करते हुए और शीतलजलमें स्नान करते हुए प्रचुर पापका संग्रह किया ।

इससे भी यही झलकता है कि द्रविडसंघी साधु वसतियों या मठोंमें रहते होंगे और उन मठोंको दानमें मिली हुई जमीनसे धन संग्रह करके मठोंका प्रबन्ध आदि करते होंगे ।

हरिवंश-पुराणके कर्त्ता जिनसेन भी द्रविड़-संघी थे । उन्होंने अपना यह ग्रन्थ वर्द्धमान-पुरके 'नन्नराज-वसति' नामक पार्श्व-जिनालयमें रह कर लिखा था । इससे भी मालूम होता है कि इस संघके साधु मन्दिरोंमें रहने लगे थे । वादिराजसूरि भी द्रविडसंघके थे । उनके गुरु मतिसागरकी आज्ञानुसार जो एक दानपत्र लिखा गया था, उससे भी मालूम होता है कि इस संघके मुनि भूमि आदिका प्रबन्ध करते थे । पार्श्वनाथचरितमें वादिराजसूरिने अपने गुरुको 'सिंहपुरैकमुख्य' लिखा है और न्यायविनि-श्चयालंकारमें स्वयं अपनेको भी 'सिंहपुरेश्वर' अर्थात् सिंहपुरका स्वामी बतलाया है ।

एपिग्राफिका कर्नाटिकाकी दूसरी जिल्दमें जो १४८ वाँ शिलालेख छपा है, उससे मालूम हाता है कि गंगवंशी सत्यवाक् कोङ्गणिवर्माके समयमें एक पुरुषने श्रीकुमारसेन भट्टारकको जिनेन्द्रभवनके लिए एक ग्राम दिया है । यह शिलालेख नवीं शताब्दिका लिखा हुआ है । संभवतः ये कुमारसेन भट्टारक द्रविड़संघके या काष्ठा-संघके होंगे ।

१ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग १ किरण २-३, पृष्ठ ६ ।

हमारा विश्वास है कि खोज करनेसे इस तरहके और भी अनेक प्रमाण मिल सकेंगे जिससे द्रविड़ संघ आदिके मुनियोंका मठवासी होना अच्छी तरह सिद्ध हो सकेगा ।

यदि यह बात प्रमाणित की जासकी कि पूर्वोक्त तीनों संघोंके आचार्य चैत्यवासी या मठवासी थे, तो फिर यह निश्चय हो जायगा कि दिगम्बर शाखामें भी शिथिलचारी संघोंका प्रारंभ लगभग उसी समय या उससे कुछ पीछे हो गया होगा जिस समय कि श्वेताम्बरोंमें चैत्यवासियोंका हुआ था और तब हमें सबसे पहले मठपति या मठवासी पूर्वोक्त काष्ठासंघ द्रविड़संघ माथुरसंघ आदिके साधुओंको मानना होगा ।

जिन मूलसंघियोंने उक्त सब संघोंको 'जैना-भास' कहकर अलग कर दिया था, और जो मूल निर्ग्रन्थाचारके पालनमें जरा भी त्रुटि होना पसन्द नहीं करते थे, समय बदलने पर उन्हीं मूलसंघियों-के चरित्रकी भी मजबूत दीवारें शिथिलाचारने तोड़ डालीं और उसने उनमें भी बड़ी शानके साथ प्रवेश किया जिसके फल हम वर्तमान भट्टारकोंके रूपमें देख रहे हैं !

मूलसंघके चरित्रकी रक्षा करनेवाले तेरह-पन्थमें यदि इस समय मुनिमार्ग जारी होता, तो एक बार फिर भी वह दिन आता, जब इस पन्थके साधु भी शिथिलाचारके शिकार हो जाते और मूल जैनधर्मके भक्तोंको उनके विरोधमें एक नये पन्थको जन्म देना पड़ता ! प्रवृत्तिपूर्ण संसारकी यही प्रकृति है; निवृत्तिमार्गके पथिकोंके आगे प्रलोभनोंका जाल बिछाये बिना उससे नहीं रहा जाता ।

फाल्गुन वदी १०
सं० १९७६वि० । } —नाथूराम प्रेमी ।

गंधहस्तिमहाभाष्यकी खोज और आप्तमीमांसा (देवागम) की स्वतंत्रता ।

कहा जाता है कि भगवान् श्रीसमन्तभद्राचार्यने तत्त्वार्थसूत्र पर 'गंधहस्ति महाभाष्य' नामके एक महान् ग्रंथकी रचना की थी, जिसकी श्लोकसंख्याका परिमाण ८४ हजार है। यह ग्रंथ भारतके किसी भी प्रसिद्ध भंडारमें नहीं पाया जाता। विद्वानोंकी इच्छा इस ग्रंथराजको देखनेके लिये बड़ी ही प्रबल है। बम्बईके सुप्रसिद्ध सेठ श्रीमान् माणिकचंद हीराचंदजी जे० पी० ने इस ग्रंथरत्नका दर्शन मात्र करानेवालेके वास्ते ५००) रुपयेका नकद पारितोषिक भी निकाला था। परंतु खेद है कि कोई भी उनकी इस इच्छाको पूरा नहीं कर सका और वे अपनी इस महती इच्छाको हृदयमें रक्खे हुए ही इस संसारसे कूच कर गये। निःसन्देह जैनाचार्योंमें स्वामी समन्तभद्रका आसन बहुत ही ऊँचा है। वे एक बड़े ही अपूर्व और अद्वितीय प्रतिभाशाली आचार्य हो गये हैं। उनका शासन महावीर भगवानके शासनके तुल्य समझा जाता है और उनकी आप्तमीमांसादिक कृतियोंको देखकर बड़े बड़े वादी विद्वान् चकित होते हैं। ऐसी हालतमें आचार्य महाराजकी इस महती कृतिके लिये जिसका मंगलाचरण ही आप्तमीमांसा (देवागम) कहा जाता है, यदि विद्वान् लोग उत्कंठित और लालायित हों तो इसमें कुछ भी, आश्चर्य और अस्वाभाविकता नहीं है। और यही कारण है कि अभी तक इस ग्रंथरत्नकी खोजका यत्न जारी है और अब विदेशोंमें भी उसकी तलाश की जा रही है। हालमें कुछ समाचार-पत्रों द्वारा यह प्रकट हुआ था कि पूना लायब्रेरीकी किसी सूची परसे आस्ट्रिया देशके एक नगरकी लायब्रेरीमें उक्त ग्रंथके अस्तित्वका पता चलता है। साथ ही, उसकी कापी करनेके लिये दो एक विद्वानोंको वहाँ भेजने और खर्चके लिये कुछ चंदा एकत्र करनेका प्रस्ताव भी उपस्थित किया गया था। हम नहीं कह सकते कि ग्रंथके अस्तित्वका यह समाचार कहाँ तक सत्य है और इस बातका यथोचित निर्णय करनेके लिये अभी तक क्या क्या प्रयत्न किया गया है। परंतु इतना जरूर कहेंगे कि बहुतसे भंडारोंकी सूचियाँ अनेक स्थानों पर भ्रमपूर्ण पाई जाती हैं। पूना लायब्रेरीकी ही सूचीमें सिद्धसेन दिवाकरके नामसे 'वादिगजगंधहस्तिन' नामके एक महान् ग्रंथका उल्लेख मिलता है जो यथार्थ नहीं है। वहाँ इस नामका कोई ग्रंथ नहीं। यह नाम किसी दूसरे ही ग्रंथके स्थान पर गलतीसे दर्ज हो गया है। ऐसी हालतमें केवल सूचीके आधार पर आस्ट्रिया जैसे सदूरदेशकी यात्राके लिये कुछ विद्वानोंका निकलना और भारी खर्च उठाना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। बेहतर तरीका, इसके लिये, यह हो सकता है कि वहाँके किसी प्रसिद्ध फोटोग्राफरके द्वारा उक्त ग्रंथके आद्यंतके १०-२० पत्रोंका फोटो पहले मँगाया जाय और उन परसे यदि यह निर्णय हो जाय कि वास्तवमें यह ग्रंथ वही महा भाष्य ग्रंथ है तो फिर उसके शेष पत्रोंका भी फोटो आदि मँगा लिया जाय। अस्तु; ग्रंथके वहाँ अस्तित्व विषयमें अभी तक हमारा कोई विश्वास नहीं है। आस्ट्रियाके एक प्रसिद्ध नगरकी प्रसिद्ध लायब्रेरीमें उक्त ग्रंथ मौजूद हो और हर्मन जैकोबी जैसे खोजी विद्वानोंको उसका पता तक न लगे, यह बात कुछ समझमें नहीं आती। हमें इस ग्रंथके विषयमें यह बात भी बहुत खटकती है कि 'आप्तमीमांसा' अर्थात्

'देवागम' शास्त्रको, जो कुल ११४ श्लोक-परिमाण है, इसका मंगलाचरण बतलाया जाता है। देवागम भारतके प्रायः सभी प्रसिद्ध भंडारोंमें पाया जाता है। उस पर अनेक टीका, टिप्पण और भाष्य भी उपलब्ध हैं। अकलंक-देवकी 'अष्टशती' और विद्यानंद स्वामीकी 'अष्टसहस्री' उसीके भाष्य और महाभाष्य हैं। जिस ग्रंथका मंगलाचरण ही इतने महत्त्वको लिये हुए हो वह शेष संपूर्ण ग्रंथ कितना महत्त्वशाली होगा और विद्वानोंने उसका कितना अधिक संग्रह किया होगा, इसके बतलानेकी जरूरत नहीं है। विज्ञ पाठक सहजहीमें इसका अनुमान कर सकते हैं। परंतु तो भी ऐसे महान् ग्रंथका भारतके किसी भंडारमें अस्तित्व न होना, उसके शेष अंशोंपर टीका-टिप्पणका मिलना तो दूर रहा उनके नामोंकी कहीं चर्चातक न होना, यह सब कुछ कम आश्चर्यमें डालनेवाली बातें नहीं हैं। और इनपरसे तरह तरहके विकल्प उत्पन्न होते हैं। यह खयाल पैदा होता है कि क्या समन्तभद्रने 'गंधहस्तिमहाभाष्य' नामका कोई ग्रन्थ बनाया ही नहीं और उनकी आप्तमीमांसा (देवागम) एक स्वतंत्र ग्रंथ है? यदि बनाया तो क्या वह पूरा न हो सका और आप्तमीमांसा तक ही बनकर रह गया? यदि पूरा हो गया था तो क्या फिर बन कर समाप्त होते ही किसी कारण विशेषसे वह नष्ट हो गया? यदि नष्ट नहीं हुआ तो क्या फिर प्रचलित सिद्धान्तोंके विरुद्ध उसमें कुछ ऐसी बातें थी जिनके कारण बादके आचार्यों खासकर भट्टारकोंको उसे लुप्त करनेकी जरूरत पड़ी अथवा बादको उसके नष्ट होजानेका कोई दूसरा ही कारण है? इन सब विकल्पोंको छोड़कर अभी तक हमें यह भी मालूम नहीं हुआ कि १ समन्तभद्रने 'गंधहस्तिमहाभाष्य' नामका कोई ग्रंथ बनाया है, २ वह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका भाष्य है, ३ उसकी श्लोकसंख्या ८४ हजार है और 'देवागम' स्तोत्र उसका आदिम मंगलाचरण है; इन सब बातोंकी उपलब्धि कहाँसे होती है—कौनसे प्राचीन आचार्यके किस ग्रंथसे इन सब बातोंका पता चलता है? यह दूसरी बात है कि आजकलके अच्छे अच्छे विद्वान्—न सिर्फ जैनविद्वान् बल्कि सतीशचंद्र विद्याभूषण, भारती जैसे अजैन विद्वान् भी—अपने अपने ग्रंथों तथा लेखोंमें इन सब बातोंका उल्लेख करते हुए देखे जाते हैं। परंतु ये सब उल्लेख एक दूसरेकी देखादेखी हैं, परीक्षासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं और न वे जाँच तोल कर लिखे गये हैं। इसी प्रकारके कुछ उल्लेख पिछले भाषापंडितोंके भी पाये जाते हैं। इन सब आधुनिक उल्लेखोंसे इस विषयका कोई ठीक निर्णय नहीं हो सकता। और न हम उन्हें ऐसी हालतमें विना किसी हेतुके प्रमाणकोटिमें रख सकते हैं। हमारी रायमें इन सब बातोंके निर्णयार्थ—विकल्पोंके समाधानार्थ—अंतरंग खोजकी बहुत बड़ी जरूरत है। हमें सबसे पहले—विदेशोंमें जानेसे भी पहले—अपने घरके साहित्यको गहरा टटोलना होगा; तब कहीं हम यथार्थ निर्णय पर पहुँच सकेंगे। अस्तु।

इस विषयमें हमने आजतक जो कुछ खोज की है और उसके द्वारा हमें जो कुछ मालूम हो सका है उसे हम अपने पाठकोंके विचारार्थ और यथार्थ निर्णयकी सहायतार्थ नीचे प्रकट करते हैं:—

१—उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और श्रुतसागरी नामकी जो टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमें, जहाँ तक हमारे देखनेमें आया कहीं भी 'गंधहस्ति महाभाष्य' का नामोल्लेख नहीं है और न इसी बातका कोई उल्लेख पाया जाता है कि समन्तभद्रने उक्त तत्त्वार्थसूत्रपर कोई भाष्य

तत्त्वार्थसूत्र पर कोई भाष्य विद्यमान था। रही श्वेताम्बर साहित्यकी बात, सो श्वेताम्बर भाई इस बातको मानते ही हैं कि उनका मौजूदा 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' स्वयं उमास्वातिका बनाया हुआ है। परंतु उनकी इस मान्यताको स्वीकार करनेके लिये अभी हम तय्यार नहीं हैं। उनका वह ग्रंथ अभी विवादग्रस्त है। उसके विषयमें हमें बहुत कुछ कहने सुननेकी जरूरत है। इस पर यदि यह कहा जाय कि बादको बने हुए भाष्योंकी अपेक्षा बहुत बड़ा होनेके कारण उसे पीछेसे महाभाष्य संज्ञा दी गई है तो यह मानना पड़ेगा कि उसका असली नाम 'गंधहस्ति भाष्य' अथवा 'गंधहस्ति' ऐसा कुछ था।

८—ऊपर जिन ग्रंथादिकोंका उल्लेख किया गया है उनमें कहीं यह भी जिकर नहीं है कि समन्तभद्रने ८४ हजार श्लोकपरिमाणका कोई ग्रंथ रचा है और इस लिये गंधहस्ति महाभाष्यका जो परिमाण ८४ हजार कहा जाता है उसकी इस संख्याकी भी किसी प्राचीन साहित्यसे उपलब्धि नहीं होती।

९—जब उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर ८४ हजार श्लोकपरिमाण एक महत्त्वशाली भाष्य पहलेसे मौजूद था तब यह बात समझमें नहीं आती कि सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकके बननेकी जरूरत ही क्यों पैदा हुई। यदि यह कहा जाय कि ये ग्रंथ गंधहस्ति महाभाष्यका सार लेकर संक्षेपरुचिवाले शिष्योंके वास्ते बनाये गये हैं तो यह बात भी कुछ बनती हुई मालूम नहीं होती; क्यों कि ऐसी हालतमें श्रीपूज्यपाद, अकलंकदेव और विद्यानंद स्वामी अपने अपने ग्रंथोंमें इस प्रकारका कोई उल्लेख जरूर करते जैसा कि आम तौर पर दूसरे आचार्योंने किया है, जिन्होंने अपने ग्रंथोंको दूसरे ग्रंथोंके आधारपर अथवा उनका सार लेकर बनाया है। परंतु चूँ कि इनमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, इस लिये ये सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथ गंधहस्तिमहाभाष्यके आधार पर अथवा उसका सार लेकर बनाये गये हैं ऐसा माननेको जी नहीं चाहता। इसके सिवाय अकलंकदेव और विद्यानंदके भाष्य वार्तिकके ढंगसे लिखे गये हैं। वे 'वार्तिक' कहलाते भी हैं। और वार्तिकोंमें उक्त, अनुक्त, दुरुक्त, तीनों प्रकारके अर्थोंकी विचारणा और अभिव्यक्ति हुआ करती है, जिससे उनका परिमाण पहले भाष्योंसे प्रायः कुछ बढ़ जाता है। जैसे कि सर्वार्थसिद्धिसे राजवार्तिकका और राजवार्तिकसे श्लोकवार्तिकका परिमाण बढ़ा हुआ है। ऐसी हालतमें यदि समन्तभद्रका ८४ हजार श्लोक संख्यावाला भाष्य पहलेसे मौजूद था तो अकलंकदेव और विद्यानंदके वार्तिकोंका परिमाण उससे जरूर कुछ बढ़ जाना चाहिये था। परंतु बढ़ना तो दूर रहा, वह उलटा उससे कई गुणा घट रहा है। दोनों वार्तिकोंकी श्लोकसंख्याका परिमाण क्रमशः १६ और २० हजारसे अधिक नहीं, ऐसी हालतमें कमसे कम अकलंकदेव और विद्यानंदके समयमें गंधहस्ति महाभाष्यका अस्तित्व स्वीकार करनेके लिये तो और भी हृदय तय्यार नहीं होता।

१०—जिस आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) को गंधहस्ति महाभाष्यका मंगलाचरण बतलाया जाता है उसकी अन्तिम कारिका इस प्रकार है—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये॥

यह कारिका जिस ढंग और जिस शैलीसे लिखी गई है और इसमें जो कुछ कथन किया गया है उससे आप्तमीमांसाके एक बिलकुल स्वतंत्र ग्रन्थ होनेकी बहुत ज्यादह संभावना पाई जाती है। इस कारिकाको देते हुए वसुनन्दी आचार्य अपनी टीकामें इसे 'शास्त्रार्थोपसंहारकारिका' लिखते हैं, साथ ही इस कारिकाकी

टीकाके अन्तमें ग्रंथकर्ता भी समंतभद्रका नाम 'कृतकृत्यः निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञः' इत्यादि विशेषणोंके साथ देते हैं, जिससे मालूम होता है कि इस कारिकाके साथ ग्रन्थकी समाप्ति हो गई, ग्रंथके अन्तर्गत किसी खास विषयकी नहीं। विद्यानंदस्वामी, अष्टसहस्रीमें, इस कारिकाके द्वारा 'प्रारब्धनिर्वहण'–(प्रारंभ किये हुए कार्यकी परिसमाप्ति) आदिको सूचित करते हुए टीकामें लिखते हैं—

"इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे...। अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ"......

इन शब्दोंसे भी प्रायः यही ध्वनित होता है कि देवागमशास्त्र जो कि आप्तमीमांसाके शुरूमें 'देवागम' शब्द होनेसे उसीका दूसरा नाम है, एक स्वतंत्र ग्रंथ है और उसकी समाप्ति इस कारिकाके साथ ही हो जाती है। अतः वह किसी दूसरे ग्रंथका आदिम अंश अथवा मंगलाचरण मालूम नहीं होता।

११—अकलंकदेव अपनी अष्टशतीके आरंभमें लिखते हैं—

"येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः संततं।
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवता देवागमस्तत्कृतिः"॥२॥

वसुनन्दी आचार्य अपनी देवागमवृत्तिके अन्तमें सूचित करते हैं "श्रीसमंतभद्राचार्यस्य... देवागमाख्यायाः कृते सक्षेपभूतं विवरणं कृतं....।"

कर्णाटकदेशस्थ हुमचा जि० शिमोगाके एक शिलालेखमें निम्न आशयका उल्लेख* मिलता है:—

"अकलंकने समंतभद्रके देवागमपर भाष्य लिखा। आप्तमीमांसा ग्रंथको समझाकर बतलानेवाले विद्यानंदिको नमोस्तु।"

इन सब अवतरणोंसे भी प्रायः यही पाया जाता है कि समन्तभद्रका 'देवागम' उनकी एक पृथक् कृति अथवा स्वतंत्र ग्रंथ है।

१२—श्रीशुभचंद्राचार्यविरचित पांडवपुराणका एक पद्य इस प्रकार है:—

"समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः।
देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागमः कृतः"॥१५॥

इस पद्यके द्वारा ग्रंथकर्ता महाशय, स्वामी समन्तभद्रका 'भारतभूषण' आदि विशेषणोंके साथ स्मरण करते हुए, प्रकट करते हैं कि उन्होंने अपने देवागम (शास्त्र) के द्वारा—(गंधहस्तिमहाभाष्य अथवा तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाके द्वारा नहीं) जिनेंद्रदेवके आगम (जैनागम) को संसारमें व्यक्त कर दिया है। इससे देवागमकी स्वतंत्रता और भी स्पष्ट शब्दोंमें उद्घोषित होती है और यह पाया जाता है कि संसारमें समन्तभद्रकी विशेष प्रसिद्धिका कारण भी उनका 'देवागम' ग्रंथ ही हुआ है। यदि यह देवागम कोई पृथक् ग्रंथ न होकर गंधहस्ति महाभाष्यका ही एक अंश—उसका केवल मंगलाचरण—होता तो कोई वजह नहीं थी कि उस महान् ग्रंथका कहीं नामोल्लेख न करके उसके केवल एक छोटेसे अंशका ही उल्लेख किया जाता। उस संपूर्ण ग्रंथके द्वारा तो और भी अधिकताके साथ जैनागम व्यक्त हुआ होगा फिर उसका नाम क्यों नहीं? और क्यों आम तौरपर देवागम अथवा आप्तमीमांसाका ही नामोल्लेख पाया जाता है? जरूर इसमें कुछ रहस्य है और वह कमसे कम देवागमकी स्वतंत्रताका समर्थक जान पड़ता है।

१३—श्रीविद्यानंदस्वामीने 'युक्त्यनुशासन' ग्रंथकी टीका लिखते हुए सबसे पहले उसकी उत्थानिकारूपसे यह वाक्य दिया है—

"श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदात् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थंकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्त इति ते पृष्टा इव प्राहुः।"

---

* देखो जैनहितैषी भाग ९, अंक ९, पृष्ट ४४५।

इसके बाद मूल ग्रंथका प्रथम पद्य उद्धृत किया है जो इस प्रकार है:—

" कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं
त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वं
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं
विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं ॥ १ ॥
अथास्मिन् काले परीक्षावसानसमये । "

विद्यानंदाचार्यके इस संपूर्णकथनसे मालूम होता है कि स्वामि समन्तभद्रने आप्तमीमांसा (देवागम) के अनन्तर ही—उक्त ग्रंथद्वारा अर्हन्तदेवकी परीक्षाके बाद ही—'युक्त्यनुशासन' ग्रंथकी रचना की है । यदि ' देवागम ' को गंधहस्तिमहाभाष्यका एक अंग और उसका आदिम भाग माना जाय तो युक्त्यनुशासनको भी उक्त महाभाष्यका तदनन्तर अंग कहना होगा। परंतु ऐसा नहीं कहा जाता । युक्त्यनुशासन समन्तभद्रका, महावीर भगवानकी स्तुतिको लिये हुए हितान्वेषणका उपाय प्रतिपादक एक स्वतंत्र ग्रंथ माना जाता है । नीचेके कुछ पद्यों और उनकी कथनशैलीसे भी प्रायः ऐसा ही आशय ध्वनित होता है:—

" नरागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदिमुनौ,
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ।
किमुन्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां,
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः" ॥ ६४ ॥

—युक्त्यनुशासन ।

" श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमंतभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलं ।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै-
र्विद्यानंदबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥"

—टी० विद्यानन्दस्वामी ।

" जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनं ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते ॥ "

—हरिवंशे जिनसेनः ।

ऐसी हालतमें ' देवागम ' को भी युक्त्यनुशासनके सदृश गंधहस्तिमहाभाष्यका कोई अंग न मान कर एक स्वतंत्र ग्रंथ कहना चाहिये ।

१४—श्रीधर्मभूषणयतिविरचित ' न्यायदीपिका ' में, सर्वज्ञकी सिद्धि करते हुए, आप्तमीमांसाका एक पद्य निम्न प्रकारसे उद्धृत किया हुआ मिलता है:—

" तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—
सूक्ष्मान्तरितदूरार्था......... । "

इससे मालूम होता है कि स्वामी समन्तभद्रप्रणीत ' महाभाष्य ' की आदिमें आप्तमीमांसा नामका एक प्रस्ताव है । और सिर्फ यही एक उल्लेख है जो अभी तक हमें इस विषयमें प्राप्त हो सका है और जिससे प्रचलित प्रवादको कुछ आश्वासन मिलता है । यद्यपि इस उल्लेखमें ' गंधहस्ति महाभाष्य ' ऐसा स्पष्ट नाम नहीं है, न इस ' महाभाष्य ' को उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका भाष्य प्रकट किया है, न यह ही सूचित किया है कि उसकी ग्रंथसंख्या ८४ हजार श्लोक परिमाण है, और इसलिये संभव है कि यह महाभाष्य समन्तभद्रका उपर्युल्लिखित, ४८ हजार श्लोक संख्याको लिये हुए, ' कर्मप्राभृत ' सिद्धान्तवाला भाष्य हो अथवा कोई दूसरा ही भाष्य हो । और उसमें आचार्य महोदयने आवश्यकतानुसार, अपने आप्तमीमांसा ग्रंथको भी बतौर एक प्रस्तावके शामिल कर दिया हो, तो भी धर्मभूषणके इस उल्लेखसे प्रकृत गंधहस्ति महाभाष्यका आशय जरूर निकाला जा सकता है । परंतु जब हम इस उल्लेखको ऊपर दिये हुए संपूर्ण अनुसंधानोंकी रोशनीमें पढ़ते हैं और साथ ही, इस बातको ध्यानमें रखते हैं कि धर्मभूषणजी विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि यह उल्लेख उस वक्तके प्रचलित प्रवाद,

लोकोक्ति अथवा दंतकथाओंके आधर पर ही किया गया है। वास्तविक तथ्यसे इसका प्रायः कोई सम्बंध नहीं। और न यह मानने अथवा कहनेका कोई कारण है कि धर्मभूषणजीने गंधहस्तिमहाभाष्यको स्वयं देखकर ही ऐसा उल्लेख किया है। यदि ऐसा होता तो खास गंधहस्तिमहाभाष्यका भी कोई महत्त्वपूर्ण उल्लेख राजवार्तिकादि ग्रंथोंके स्थानोंमें अथवा उनके साथ जरूर पाया जाता। परंतु ऐसा नहीं है, न्यायदीपिकामें दूसरी जगह भी आप्तमीमांसाका ही उल्लेख किया गया है। वहाँ ऊपरके सदृश महाभाष्यादि शब्दोंका प्रयोग भी नहीं है, बल्कि बहुत सीधे सादे शब्दोंमें 'तदुक्तमाप्तमीमांसायां स्वामिसमंतभद्राचार्यैः' ऐसा कहा गया है। धर्मभूषणजीके समयसे अबतक ऐसा कोई महान विप्लव भी उपस्थित नहीं हुआ कि जिससे गंधहस्ति महाभाष्य जैसे ग्रंथका एकदम लोप होना मान लिया जाय। और यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो उनसे पहले प्राचीन साहित्यमें उसके उल्लेख न होनेका कारण क्या है, इसका संतोषजनक उत्तर कुछ भी मालूम नहीं होता, और इस लिये हमारी रायमें धर्मभूषणजीका उपर्युक्त उल्लेख प्रचलित प्रवाद पर ही अवलम्बित है। प्रचलित प्रवाद पर अक्सर उल्लेख हुआ करते हैं और वे बहुतसे ग्रंथोंमें पाये जाते हैं। आजकल भी, जब कि गंधहस्तिमहाभाष्यका कहीं पता नहीं और यह भी निश्चय नहीं कि किसी समय उसका अस्तित्व भी था या कि नहीं, बहुतसे अच्छे अच्छे विद्वान् अपने लेखों तथा ग्रंथोंमें गंधहस्ति महाभाष्यका उल्लेख परिचित अथवा निश्चित ग्रंथके तौर पर करते हैं, उसे तत्त्वार्थसूत्रकी टीका बतलाते हैं और उसके श्लोकोंकी संख्याका परिमाण तक देते हैं। यह सब प्रचलित प्रवादका ही नतीजा है। कभी कभी इस प्रचलित प्रवादकी धुनमें अर्थका अनर्थ भी हो जाता है, जिसका एक उदाहरण हम अपने पाठकोंके सामने नीचे रखते हैं—

उक्त न्यायदीपिकामें एक स्थानपर ये वाक्य दिये हैं:—

तद्विपरीतलक्षणो हि संशयः। यद्राजवार्तिकम् "अनेकार्थानिश्चिता पर्युदासात्मकः संशयः, तद्विपरीतोऽवग्रहः" इति। भाष्यं च "संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः" इति।

पं० खूबचंदजीने, न्यायदीपिकापर लिखी हुई अपनी भाषाटीकामें, इन वाक्योंका अनुवाद देते हुए, 'भाष्य' शब्दसे 'गंधहस्तिमहाभाष्य' का अर्थ सूचित किया है– अर्थात्, सर्वसाधारण पर यह प्रकट किया है कि 'संशयो हि निर्णयविरोधी नत्वग्रहः' यह वाक्य गंधहस्तिमहाभाष्यका एक वाक्य है। टीकाके संशोधनकर्ता पं० वंशीधरजी शास्त्रीने भी उनकी इस बातको पास कर दिया है–अर्थात्, पुस्तकपर अपने द्वारा संशोधन किये जानेकी मुहर लगाकर इस बातकी रजिस्टरी कर दी है कि उक्त वाक्य गंधहस्तिमहाभाष्यका ही वाक्य है। परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है। यह वाक्य राजवार्तिक भाष्यका वाक्य है। राजवार्तिकमें 'अवग्रहेहावायधारणा' इस सूत्रपर जो १० वाँ वार्तिक दिया है उसीके भाष्यका यह एक वाक्य है ×। इस वाक्यसे पहले जो वाक्य, 'यद्राजवार्तिकं' शब्दोंके साथ, न्यायदीपिकाकी ऊपरकी पंक्तियोंमें उद्धृत पाया जाता है वह उक्त सूत्रका ९ वाँ वार्तिक है। दूसरे शब्दोंमें यों समझना चाहिये कि ग्रंथकर्ताने पहले राजवार्तिक भाष्यका एक वार्तिक और फिर एक वार्तिकका भाष्यांश उद्धृत किया था, जिसको हमारे दोनों पंडित महाशयोंने नहीं समझा और न समझनेकी कोशिश की। उनके सामने मूल ग्रंथमें

× देखो राजवार्तिक, सनातनग्रंथमाला कलकत्तेका छपा हुआ।

' गंधहस्ति महाभाष्य ' ऐसा कोई नाम नहीं था और यह हम बखूबी जानते हैं कि उन्होंने गंधहस्ति महाभाष्यका कभी दर्शन तक नहीं किया, जो उस परसे जाँच करके ही ऐसे अर्थका किया जाना किसी प्रकारसे संभव समझ लिया जाता, तो भी उन्होंने ' भाष्य ' का अर्थ ' गंधहस्ति महाभाष्य ' करके एक विद्वानके वाक्यको दूसरे विद्वानका बतला दिया। यह प्रचलित प्रवादकी धुन नहीं तो और क्या है? इसी तरह एक दूसरी जगह भी ' तद्भाष्यं ' पदका अर्थ— " ऐसा ही गंधहस्ति महाभाष्यमें भी कहा है—" किया गया है। इस उदाहरणसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि प्रचलित प्रवादकी धुनमें कितना अर्थका अनर्थ हो जाया करता है और उसके द्वारा उत्तरोत्तर संसारमें कितना भ्रम तथा मिथ्याभाव फैल जाना संभव है। शास्त्रोंमें प्रचलित प्रवादोंसे अभिभूत ऐसे ही कुछ महाशयोंकी कृपासे अथवा अनेक दन्तकथाओंके किसी न किसी रूपमें लिपिबद्ध हो जानेके कारण ही बहुतसे ऐतिहासिक तत्त्व आजकल चक्करमें पड़े हुए हैं। और इस लिये प्रायः उन सबकी जाँच अनेक मार्गों और अनेक पहलुओंसे होनी चाहिये। हरएक बातकी असलियतको खोज निकालनेके लिये गहरे अनुसंधानकी जरूरत है। तभी कुछ यथार्थ निर्णय हो सकता है।

१५—ऊपर श्रुतावतारके आधार पर यह प्रकट किया गया है कि समंतभद्रने ' कर्मप्राभृत ' सिद्धान्त पर ४८ हजार श्लोक परिमाण एक सुन्दर संस्कृतटीका लिखी थी। यह टीका ' चूडामणि ' नामकी एक कनडी टीकाके बाद, प्रायः उसे देखकर, लिखी गई है। चूडामणिकी श्लोकसंख्याका परिमाण ८४ हजार दिया है और वह उस कर्मप्राभृत तथा साथ ही, कषायप्राभृत नामके दोनों सिद्धान्तों पर लिखी गई थी। भट्टाकलंकदेवने, अपने कर्णाटक* शब्दानुशासन में, इस चूडामणिटीकाको ' तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी व्याख्या ' (' तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य* ' चूडामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्य...उपलभ्यमानत्वात् '।) लिखा है, जिसका आशय यह होता है कि कर्मप्राभृतादि ग्रंथ भी तत्त्वार्थशास्त्र कहलाते हैं और इसलिये कर्मप्राभृत पर लिखी हुई समंतभद्रकी उक्त टीका भी तत्त्वार्थमहाशास्त्रकी टीका कहलाती होगी। चूँकि उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र भी ' तत्त्वार्थशास्त्र ' अथवा ' तत्त्वार्थमहाशास्त्र ' कहलाता है, इसलिये संभव है कि इस नामसाम्यकी वजहसे ' कर्मप्राभृत ' के टीकाकार श्रीसमंतभद्रस्वामी किसी समय उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार समझ लिये गये हों और इसी गलतीके कारण पीछेसे अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ उत्पन्न हो कर उनका वर्तमानरूप बन गया हो। यह भी संभव है, कि प्रबल और प्रखर तार्किक विद्वान् होनेके कारण ' गंधहस्ति ' यह समंतभद्रका उपनाम अथवा विरुद रहा हो और उसके कारण ही उनकी उक्त सिद्धांतटीकाका नाम गंधहस्तिमहाभाष्य प्रसिद्ध हो गया हो अथवा उनके शिष्य शिवकोटिने जो तत्त्वार्थसूत्रकी टीका लिखी है उसी परसे इस विषयमें उनके नामकी प्रसिद्धि हो गई हो। कुछ भी हो, यथार्थ वस्तुस्थितिको खोज निकालनेकी बहुत बड़ी जरूरत है, जिसके लिये विद्वानोंको प्रयत्न करना चाहिये। अस्तु।

गंधहस्तिमहाभाष्य और आप्तमीमांसाके सम्बन्धमें हम अपने इन अनुसंधानों और विचारोंको विद्वानोंके सामने रखते हुए उनसे अत्यंत नम्रताके साथ निवेदन करते हैं कि वे इन पर बड़ी शांतिके साथ गहरा विचार करनेकी कृपा

* यहाँ ग्रंथका परिमाण ९६ हजार श्लोक दिया है जिसकी बाबत राइस साहबने, अपनी ' इंस्क्रिपशंस-एट् श्रवणबेल्गोल ' नामक पुस्तकमें, लिखा है कि इसमें १२ हजार श्लोक ग्रंथके संक्षिप्तसार अथवा सूचीके शामिल हैं।

करें और उसके बाद हमें अपने विचारोंसे सूचित करके कृतार्थ बनाएँ । यदि हमारा कोई अनुसंधान अथवा विचार उन्हें ठीक प्रतीत न हो तो हमें युक्तिपूर्वक उससे सूचित किया जाय। साथ ही, जिन विद्वानोंको किसी प्राचीन साहित्यसे गंधहस्तिमहाभाष्यके नामादिक चारों बातोंमेंसे किसी भी बातकी कुछ उपलब्धि हुई हो, वे हम पर उसके प्रकट करनेकी उदारता दिखलाएँ, जिससे हम अपने विचारोंमें यथोचित फेरफार करनेके लिये समर्थ हो सकें, अथवा उसकी सहायतासे किसी दूसरे नवीन अनुसंधानको प्रस्तुत कर सकें । आशा है, जैनहितैषीके विज्ञ पाठक हमारे इस समुचित निवेदन पर ध्यान देनेकी अवश्य कृपा करेंगे, और इस तरह एक ऐतिहासिक तत्त्वके निर्णय करनेमें सहोयोगिताका परिचय देंगे ।

अन्तमें हम अपने पाठकों पर इतना और प्रकट किये देते हैं कि इस लेखका कुछ भाग लिखे जानेके बाद हमें अपने मित्र श्रीयुत मुनि जिनविजयजी आदिके द्वारा यह मालूम करके बहुत अफसोस हुआ कि दक्कन कालिज पूना लायब्रेरीकी किसी सूचीके आधार पर एक पंडित महाशयने, समाजके पत्रोंमें, जो इस प्रकारका समाचार प्रकाशित कराया था कि, गंधहस्ति महाभाष्य आस्ट्रिया देशके अमुक नगरकी लायब्रेरीमें मौजूद है और इसलिये वहाँ जाकर उसकी कापी लानेके लिये कुछ विद्वानोंकी योजना होनी चाहिये, वह बिलकुल उनका भ्रम और बेसमझीका परिणाम था। उन्हें सूची देखना ही नहीं आया। सूचीमें, जो किसी रिपोर्टके अन्तर्गत है, आस्ट्रियाके विद्वान डाक्टर बूल्हरने कुछ ऐसे प्रसिद्ध जैनग्रंथोंके नाम उनके कर्ताओंके नाम सहित प्रकट किये थे जो उपलब्ध हैं, तथा जो उपलब्ध नहीं हैं किन्तु उनके नाम सुने जाते हैं। समंतभद्रका 'गंधहस्तिमहाभाष्य' भी अनुपलब्ध ग्रंथोंमें था जिसका नाम सुनकर ही उन्होंने उसे अपनी सूचीमें दाखिल किया था। उसके सम्बंधमें यह कहीं प्रकट नहीं किया गया कि वह अमुक लायब्रेरीमें मौजूद है । पंडितजीने इस सूचीमें गंधहस्तिमहाभाष्यका नाम देख कर ही, बिना कुछ सोचे समझे, आस्ट्रिया देशके एक नगरकी लायब्रेरीमें उसके अस्तित्वका निश्चय कर दिया और उसे सर्व साधारण पर प्रकट कर दिया ! यह कितनी भूलकी बात है ! हमें अपने पंडितजीकी इस कार्रवाई पर बहुत खेद होता है जिसके कारण समाजको व्यर्थ ही एक प्रकारके चक्करमें पड़ने और चंदा एकत्र करने-कराने आदिका कष्ट उठाना पड़ा । आशा है पंडितजी, जिनका नाम यहाँ देनेकी हम कोई जरूरत नहीं समझते, आगामीसे ऐसी मोटी भूल न करनेका ध्यान रक्खेंगे ।

सरसावा, ता० १५-१-२०

किसी नियम या सिद्धान्तके तौर पर विधवा-विवाह कोई अच्छी चीज़ नहीं है । और न यह बात पसंद किये जानेके योग्य है कि उसे ख्वामख्वाह उत्तेजन दिया जाय । बन सके तो खुशीसे पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन होना चाहिये परंतु जो लोग (स्त्री या पुरुष) पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करनेके लिये असमर्थ हैं, गुप्त व्यभिचार करते हैं और इस तरह भ्रूणहत्या, बालहत्यादि अनेक दुष्कर्मों तथा पापोंको जन्म देते हैं उनकी अपेक्षा वे लोग अच्छे जरूर हैं जो इन पापोंसे बचनेके लिये पुनर्विवाह करके बैठ जाते हैं और सुखपूर्वक अपनी गृहस्थी चलाते हैं । ऐसे लोगोंकी इस प्रवृत्तिमें व्यर्थकी रुकावटें पैदा करना भी अच्छा नहीं है ।

—खंडविचार ।

ऐतिहासिक जैनव्यक्तियाँ

अर्थात्—

जैनाचार्य, दूसरे जैन विद्वान्, उनके पोषक, प्रधान श्रावक और जैन राजादिक।

७ श्रीचन्द्र, श्रीनन्दी और सागरसेन।

'श्रीचंद्र' नामके मुनिने धाराधीश महाराजा भोजके समयमें 'पुराणसार' नामका एक संस्कृत ग्रंथ बनाया है, जिसकी श्लोकसंख्या 'दिगम्बर-जैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामक सूचीके अनुसार २१०० है। इस ग्रंथकी प्रशस्ति और रचना संवत् इस प्रकार हैः—

"धारायां पुरि भोजदेवनृपते राज्ये जयात्युच्चकैः
श्रीमत्सागरसेनतो यतिपतेर्ज्ञात्वा पुराणं महत्।
मुक्त्यर्थं भवभीतिभीतजगतां श्रीनन्दिशिष्यो बुधो
कुर्वे चारुपुराणसारममलं श्रीचन्द्रनामा मुनिः॥ १॥
श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे सप्तशत्य (सप्तत्य ?) धिकवर्षसहस्रे पुराणसाराभिधानः समाप्तः।"

इससे मालूम होता है कि श्रीचंद्रमुनि 'श्रीनन्दी' के शिष्य थे और उन्होंने 'सागरसेन' नामके यतिपतिसे महापुराणको पढ़कर अथवा समझकर अपना यह ग्रंथ, उसके संक्षेपरूपमें, लिखा है और संभवतः इसे धारानगरीमें ही बनाकर समाप्त किया है। समाप्तिका संवत् जो ऊपर दिया है वह लेखकाशुद्धिके कारण कुछ अस्पष्ट मालूम होता है। संभव है कि यह 'सप्तत्यधिकवर्षसहस्रे' ऐसा पाठ हो जिसका अर्थ १०७० संवत् होता है। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि यह ग्रंथ विक्रमकी ११ वीं शताब्दीका बना हुआ है और इस लिये उक्त तीनों विद्वानोंका अस्तित्वसमय भी विक्रमकी ११ वीं शताब्दी समझना चाहिये। श्रीचंद्राचार्यने और कौन कौनसे ग्रंथोंकी रचना की है, इसका अभी तक हमें कोई ठीक निश्चय नहीं हुआ। हाँ, 'दिगम्बरजैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रंथ' नामक सूचीमें 'श्रीचंद्र' के नामके साथ १ श्रावकाचाररत्नकरंड (प्राकृत श्लोक ४४००), २ सम्यक्त्वरत्नकरंड (प्राकृत), ३ पद्मपुराणकी पंजिकाटीका, ४ श्रावकाचार (सप्तव्यसननिरोधात्मक) और ५ पंचकल्याणकपूजा, ये ग्रंथ और दिये हैं। हम नहीं कह सकते कि ये सब ग्रंथ उक्त श्रीचंद्रमुनिके बनाये हुए हैं अथवा किसी दूसरे श्रीचंद्रके। ग्रंथोंके देखने पर इस बातका निश्चय हो सकता है। जिन विद्वानोंको उक्त पांचों ग्रंथोंमेंसे किसी ग्रंथके देखनेका अवसर मिला हो उन्हें यथार्थ बातसे सूचित करना चाहिये। उक्त सूचीमें एक स्थानपर फुटनोटद्वारा, यह भी सूचित किया गया है कि 'एक श्रीचंद्राचार्य वि० सं० १२४१ में हुए हैं।' मालूम नहीं वे श्रीचंद्र कौनसे आचार्यके शिष्य थे और उनके इस नाम तथा समयकी उपलब्धि कहाँसे हुई है। आशा है, सूचीके लेखक महाशय इसका स्पष्टीकरण करनेकी कृपा करेंगे।

सागरसेन मुनिके विषयमें अभी तक हमें कोई विशेष हाल मालूम नहीं हुआ। सिर्फ उक्त सूचीमें उन्हें 'सैद्धान्तिक' लिखा है और उनके बनाये हुए ग्रन्थोंमें 'लघु त्रिलोकसार' नामके एक प्राकृत ग्रंथका उल्लेख किया है। वे किनके शिष्य थे, किनके गुरु थे और उन्होंने क्या क्या कार्य किये हैं, उनका यह सब इतिहास अभी अंधेरेमें है, जिसकी विद्वानोंको खोज लगानी चाहिये। श्रीचंद्रके गुरु **श्रीनन्दी**के विषयमें भी अभीतक हमें कुछ विशेष हाल मालूम नहीं हो सका। इनका इतिहास भी अंधकाराछन्न है। हाँ, वसुनन्दी श्रावकाचारके देखनेसे इतना जरूर मालूम होता है कि वसुनन्दीकी गुरुपरम्परामें एक 'श्रीनन्दी' नामके आचार्य भी हो गये हैं, जिनके शिष्य 'नयनन्दी' और प्रशिष्य 'नेमिचंद्र' थे। इन

श्रीनंदीकी प्रशंसामें उक्त श्रावकाचारमें ये वाक्य दिये हैं—

" आसी ससमयपरसमयविद् सिरिकुंदकुंदसंताणे ।
भव्वयणकुमयवणासिसिरयरो सिरिणंदिणामेण ॥
कित्ती जस्सेंदुसुब्भा सयलभुवणमज्झे जहेत्थं भमित्ता,
णिच्चं सा सज्जणाणं हियियवयणसोए णिवासं करेइ ॥
जो सिद्धंतंबुरासिं सुणयतरणिमासेज्ज लीलावतिण्णो,
वण्णेउं को समत्थो सयलगुणगणं सेवियंतो वि लोए ॥"

इनसे मालूम होता है कि ये 'श्रीनन्दी' बड़े ही विद्वान् और एक अच्छे प्रतिष्ठित आचार्य हुए हैं। इनका समय भी विक्रमकी प्रायः ११ वीं शताब्दी पाया जाता है। बहुत संभव है कि ये श्रीनंदी और उक्त श्रीचंद्रके गुरु श्रीनंदी दोनों एक ही व्यक्ति हों। इसके सिवाय एक 'श्रीनन्दी' प्रायश्चित्तसमुच्चयके टीकाकार भी हैं। ये 'श्रीनंदि गुरु' भी कहलाते हैं। उपर्युल्लिखित सूचीमें इन्हें सिर्फ 'नन्दि-गुरु' ही लिखा है। अस्तु; इस विषयमें, प्रायश्चित्त समुच्चयकी टीकाके प्रशस्तिसंज्ञक अन्तिम वाक्य इस प्रकार है!—

" यः श्रीगुरूपदेशेन प्रायश्चित्तस्य संग्रहः ।
दासेन श्रीगुरोर्लब्धो भव्याशयविशुद्धये ॥ १ ॥
तस्यैषा नुदिता वृत्तिः श्रीनंदिगुरुणा हि सा ।
विरुद्धं यदभूदत्र तत्क्षाम्यतु सरस्वती ॥ २ ॥
प्रवरगुरुगिरीन्द्रप्रोद्गता वृत्तिरेषा,
सकलमलकलंकक्षालिनी सज्जनानां ।
सुरसरिदिव शश्वत्सेव्यमाना द्विजेंद्रैः
प्रभवतु जननूना यावदाचन्द्रतारम् ॥ ३ ॥ "

१ **अर्थात्**—श्रीकुंदकुंदकी आम्नायमें 'श्रीनन्दी' नामका आचार्य स्वमत और परमतका जाननेवाला तथा भक्तजनरूपी कुमुदवनको प्रफुल्लित करनेके लिये चंद्रमाके समान हुआ। जिसकी चंद्रमाके समान निर्मल कीर्ति सर्व जगत्में भले प्रकार फैलकर सज्जन पुरुषोंके हृदय, वचन और कानोंमें सदा निवास करती थी और जो उत्तम नयरूपी नौकामें बैठकर सिद्धान्तसमुद्रको लीलामात्रसे पार कर गया था उस श्रीनन्दीके सकलगुणगणका वर्णन करनेके लिये लोकमें कौन समर्थ हो सकता है?

इनसे मालूम होता है कि टीकाकारका नाम 'श्रीनंदिगुरु' है। यदि इस पदमें 'श्री' को विशेषण मान लिया जाय तो वह 'नंदिगुरु' और 'गुरु' को विशेषण मान लेनेसे 'श्रीनन्दी' रह जाता है। हमारी रायमें असिल नाम 'श्रीनन्दी' मालूम होता है और 'गुरु' यह वंशपरंपराकी कोई उपाधि जान पड़ती है। कुछ भी सही, ये श्रीनंदिगुरु श्रीचंद्रके गुरु श्रीनन्दी अथवा नयनंदीके गुरु श्रीनन्दीसे भिन्न हैं, या उन्हींमेंसे कोई एक हैं, ये बातें विद्वानोंके निर्णय करनेके योग्य हैं। आशा है, हमारे विद्वान भाई इन आचार्योंका विशेष इतिहास खोज निकालनेकी कोशिश करेंगे।

८ कुमारनन्दी और कुमारसेन।

जैनसमाजमें 'कुमारनन्दी' नामके एक बहुत बड़े विद्वान् आचार्य हो गये हैं। प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा, श्लोकवार्तिक और न्यायदीपिका आदि ग्रंथोंमें उनके वाक्योंका उल्लेख पाया जाता है। उनके वाक्य 'तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः,' 'तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः,' इत्यादिक उल्लेखवाक्योंके साथ उद्धृत पाये जाते हैं। इन उल्लेख-वाक्योंमें आचार्य महोदयके नामके साथ 'भट्टारक' शब्दका प्रयोग देखकर किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि वे आजकलके गद्दी-नशीन भट्टारकों जैसे भट्टारक होंगे। ऐसा नहीं है। उस समय 'भट्टारक' शब्द प्रायः एक बहुत बड़े प्रतिष्ठित पूज्य और माननीय विद्वान्के लिये प्रयुक्त होता था। कुमारनन्दीके नामके साथ यह महत्त्वसूचक शब्द लगा रहनेसे उनका एक बहुत बड़ा प्रतिष्ठित विद्वान् होना पाया जाता है। जिसे विद्यानंदस्वामी जैसे एक उद्भट विद्वान् 'भट्टारक' शब्दके साथ याद करें वह कितना प्रभावशाली विद्वान् होगा, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। अस्तु; कुमार-

नंदी एक बड़े भारी नैय्यायिक विद्वान् थे, वादन्यायमें उनकी योग्यता बहुत बढ़ी चढ़ी थी। विद्यानंदस्वामीने उन्हें 'वादन्यायविचक्षण' लिखा है; यथाः—

'कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।"

—श्लोकवार्तिक।

आपने 'वादन्याय' नामका एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भी रचा है जिसके कुछ पद्योंको हमने, उक्त ग्रंथका परिचय देते हुए, इसी अंकमें अन्यत्र उद्धृत किया है। नहीं मालूम, आपने और कौन कौनसे ग्रंथोंकी रचना की है। 'दिगम्बरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ,' नामकी सूचीमें आपके नामके साथ सिर्फ दो ग्रंथोंका उल्लेख पाया जाता है; एक 'न्यायविजय' और दूसरा 'भूपालचतुर्विंशतिका स्तवन।' इनमें न्यायविजय संभवतः वही 'वादन्याय' नामका ग्रंथ मालूम होता है जिसका ऊपर जिकर किया गया है। या तो यह उसीका नामान्तर है और या सूचीमें कुछ गलतीके साथ दर्ज हुआ है और यदि यह बिलकुल एक अलग ग्रंथ है तो बड़ी खुशीकी बात है, तब इसकी भी खोज होनी चाहिये। दूसरा ग्रंथ भूपाल कविका बनाया हुआ है। वह सूचीमें कुमारनन्दीके साथ बिलकुल भूलसे दर्ज किया गया जान पड़ता है। श्रीविद्यानंदस्वामीने अपने 'अष्टसहस्री' ग्रंथके अन्तमें '**कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था**' यह अष्टसहस्रीका एक विशेषण दिया है, जिसका यह अर्थ होता है कि अष्टसहस्री कुमारसेनकी उक्तियोंसे वृद्धिको प्राप्त हुई है। अर्थात्, अष्टसहस्रीमें कुमारसेनकी उक्तियोंका प्रचुरताके साथ संग्रह किया गया है और इससे उसके शरीरकी बहुत कुछ वृद्धि हुई है। यद्यपि कुमारसेन नामके मुनिका एक उल्लेख जिनसेनने हरिवंशपुराणमें × और दूसरा श्रवणबेल्गोलके 'मल्लिषेणप्रशस्ति' नामक शिलालेखमें * पाया जाता है, तो भी विद्यानंद स्वामीने जिन कुमारसेनकी उक्तियोंसे अष्टसहस्रीकी अंगवृद्धि होना लिखा है वे जहाँतक हम समझते हैं, कुमारनन्दी भट्टारकके सिवाय दूसरे कोई नहीं हैं। क्योंकि विद्यानंदने अपने ग्रंथोंमें अनेक स्थानोंपर कुमारनंदि भट्टारककी उक्तियोंको स्पष्ट तौरसे उद्धृत किया है, प्रत्युत इसके कुमारसेनकी उक्तियोंका इस प्रकारका कोई उद्धरण और उल्लेख उनके ग्रंथोंमें हमारे देखनेमें नहीं आया। यदि विद्यानंदस्वामीकी दृष्टिमें कुमारसेनका कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ होता जिसका अधिकांश भाग अष्टसहस्रीका अंग तक बननेकी योग्यता रखता था तो कोई वजह नहीं थी कि वह उसका उल्लेख अपने दूसरे किसी ग्रंथमें न करते। हमारे खयालमें ऐसा मालूम होता है कि विद्यानंद स्वामीने कुमारनंदि भट्टारकके वादन्यायादि ग्रंथोंसे बहुत कुछ अंश विना किसी नामादिकके उद्धृत करके उसे अष्टसहस्रीका एक अविभक्त अंग बनाया है और अन्तमें अष्टसहस्रीके उक्त विशेषणके द्वारा उसे सूचित कर दिया है। संभव है कि इस विशेषण पदमें लेखकोंकी भूलसे '**कुमारनंद्योक्ति**' के स्थानमें '**कुमारसेनोक्ति**' लिखा गया हो अथवा यह भी हो सकता है कि 'कुमारसेन' कुमारनन्दिका ही नामान्तर हो। यदि कुमारनन्दिका 'वादन्यायादि' नामका कोई महान् ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो उसपरसे अष्टसहस्रीका मीलान करनेपर इस विषयका बहुत कुछ निर्णय हो सकता है। अस्तु। अब हमें यह जाननेकी जरू-

× अकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्॥ ३८॥

—हरिवंशपुराण।

*उदेत्य सम्यग्दिशि दक्षिणस्यां कुमारसेनोमुनिरस्तमाप।
तत्रैव चित्रंजगदेकभानोस्तिष्ठत्यसौ तस्य तथा प्रकाशः॥

—शिलालेख नं० ५४।

रत है कि ये कुमारनन्दी आचार्य कब हुए हैं, कहाँपर उनका निवास था, वे किनके शिष्य और उनके कौन कौन शिष्य हुए हैं। साथ ही यह भी मालूम करनेकी जरूरत है कि उन्होंने और क्या क्या विशेष कार्य किये हैं। इन सब बातोंके संबंधमें अभी हम विशद रूपसे कुछ भी नहीं कह सकते। ये सब बातें गहरे अंधकारमें छिपी हुई हैं। हाँ, आचार्य महोदयके अस्तित्व-समयकी बाबत इतना जरूर कह सकते हैं कि वे विद्यानंद स्वामीसे पहलेके, अर्थात् विक्रमकी प्रायः ८ वीं शताब्दीसे पहलेके, विद्वान् हैं। कितने पहलेके इसका अभीतक कोई निश्चय नहीं। पंचास्तिकायके टीकाकार श्रीजयसेन-सूरिने अपनी उक्त टीकाके शुरूमें कुंदकुंदाचार्यको श्रीकुमारनंदीका शिष्य प्रकट किया है। यथाः—

"अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तिदेवशिष्यैः...श्रीमत्कुंदकुंदाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैः...विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे......।"

इससे कुमारनंदीका समय विक्रमकी प्रायः दूसरी तीसरी शताब्दी तक पहुँच जाता है। परंतु जयसेनसूरिके इस कथनका समर्थन दूसरे किसी भी प्रमाणसे नहीं होता। स्वयं प्रवचनसार और समयसार नामके प्राभृतोंकी टीकाओंमें भी उन्होंने ऐसा सूचित नहीं किया। उनके भी रचयिता वही कुंदकुंदाचार्य थे। फिर पंचास्तिकायकी टीकामें ही यह विशेषता क्यों? कुछ समझमें नहीं आता। श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंमें भी, जहाँ अनेक स्थानों पर कुंदकुंदका नाम आया है वहाँ कहीं भी उन्हें कुमारनंदीका शिष्य प्रकट नहीं किया। बल्कि उनका नाम आमतौर पर भद्रबाहु और चंद्रगुप्तके बाद दिया है। और भी किसी ग्रंथमें उक्त प्रकारका उल्लेख नहीं पाया जाता। 'बल्कि बोधपाहुडमें स्वयं कुन्दकुंदाचार्यके निम्न वाक्योंसे कुछ ऐसा ध्वनित होता है कि वे भद्रबाहुके शिष्य थे या उनसे कोई निकट सम्बंध रखते थे:—

"सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥
बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ ॥ ६२॥

ऐसी हालतमें जयसेनसूरिका, कुन्दकुन्दके गुरुविषयमें, उपर्युक्त कथन स्वीकार करनेके लिये हृदय तय्यार नहीं होता। आशा है कुमारनंदीके इतिहासविषयमें हमारे विद्वान् भाई कुछ विशेष अनुसंधान करनेकी कृपा करेंगे।

(क्रमशः।)

संसारमें प्रायः दंभ पुजता है। दंभी मनुष्योंकी बहुधा पूछ होती है और वे आम तौर पर योग्य व्यक्ति समझे जाते हैं। प्रत्युत इसको जो लोग सरल स्वभावी, निष्कपट व्यवहार करनेवाले और सत्यवक्ता होते हैं उनपर प्रायः अनेक प्रकारकी विपत्तियाँ आया करती हैं और उन्हें तरह तरहके कष्ट सहन करने होते हैं। ऐसे लोगोंके उदाहरण भी पृथ्वी भरके प्रायः सभी देशोंके इतिहासोंमें पाये जाते हैं। परंतु यह देखकर सच्चे धर्मात्माओं और सत्य प्रेमियोंको अपने कर्तव्य पथसे विचलित नहीं होना चाहिये। उन्हें इस बातसे कोई प्रेम नहीं रखना चाहिये कि लोग हमारी पूछ करें अथवा हमारा यशोगान करें और न इस बातकी कोई परवाह ही करनी चाहिये कि दूसरे लोग हमारे विषयमें क्या कहते हैं। उन्हें आपत्तियोंसे न डरकर और अपनी मान बड़ाईकी दलदलमें न फँसकर बराबर सत्यके मैदानमें डटे रहना चाहिये। एक दिन आयगा जब उनके सत्यकी परीक्षा हो जायगी और संसार उन्हें ऊँचे आसनपर बिठलायगा।

—संतविचार।

विचित्र ब्याह ।

[भाग १३ अंक १२ से आगे ।]

(ले०, पं० रामचरित उपाध्याय ।)

अष्टम सर्ग ।

सौ रुपये फिर रूपचन्दने लिये सुशीलासे आके,
वह भी लगा तयारी करने सुता-ब्याहकी घर जाके ।
वहाँ सुशीलाने भी सुतके सुखद ब्याहको ठान दिया,
अपने सम्बन्धी स्वजनोंको पत्र भेज आह्वान किया ॥ १ ॥
विविध भाँतिकी देख तयारी, हरिसेवक क्यों चुप रहता !
क्यों न हानिकारक कामोंको तज देनेको वह कहता ।
बोला मासे ब्याह करो मा, मेरा हर्षसमेत सही,
किन्तु नाँच या आतशबाजीका है कुछ भी काम नहीं ॥ २ ॥
आतशबाजी छोड़ द्रव्यमें सचमुच आग लगाना है ।
माता ! बुधसमाजके आगे बुद्धि-हीन कहलाना है ।
इसी लिए आतशबाजीका लेना नहीं कभी तुम नाम,
यदि रुपये हों तो फिर उनसे करना जगउपकारक काम ॥ ३ ॥
इसी प्रकार नाँचका भी तुम, नाम न लेना भूल कभी,
जान बूझ कर जननि ! धर्म पर, नहीं डालना धूल कभी ।
वेश्याओंको धन देनेसे हो जाता है बड़ा अनर्थ,
सोच समझ कर करो ब्याहको, तुम रुपये फेंको मत व्यर्थ ॥ ४ ॥
दुराचारियोंको यदि धन दे, दुराचार तो बढ़ता है,
खलके साथीके सिर पर भी पाप दौड़कर चढ़ता है ।
पापी धन पा क्योंकि और भी घोर पापको करता है,
वह जगके अपवादोंसे फिर मनमें तनिक न डरता है ॥ ५ ॥
पापीके सुख देख दुखी जन पाप सीखने लगते हैं,
प्रथम पनप कर यदपि अन्तमें, स्वयं झीखने लगते हैं ।
क्योंकि एककी देखादेखी दूजा भी करता है काम
इसी लिए ही बुरे कर्मके सज्जन कभी न लेते नाम ॥ ६ ॥
प्रायः वेश्यायें करती हैं मद्य मांसका सेवन भी,
और दुराचारी होते हैं प्रायः उनके परिजन भी ।

फिर उनको धन दे कर अघको मनों मोल ले लेना है,
या हत्याभागी अपनेको स्वयं सिद्ध कर देना है ॥ ७ ॥
वेश्याओंके हावभावसे चित्त विकृत हो जाता है,
उनके सम्मेलनसे नरका पुण्य-पुञ्ज खो जाता है ।
इस कारण कुछ काम नहीं है वेश्याओंका कभी कहीं,
अघ-सीढ़ी पर चढ़कर कोई, छू सकता है स्वर्ग नहीं ॥ ८ ॥
शुभ विवाहके समय सुहागिन स्त्रियाँ बुलाई जाती हैं,
ज्ञाति बन्धुकी विधवायें भी वहाँ न आने पाती हैं ।
फिर रण्डाओंको नचवाना उसी व्याहमें भला नहीं,
जान बूझकर सिर पर लाना कभी चाहिए बला नहीं ॥ ९ ॥
हरिसेवक ! पर बात तुम्हारी, ठीक नहीं है क्यों मानूँ !
जो होता है कार्य सदासे उसको अनुचित क्यों जानूँ ?
जो न सहारा गायक पावें गानशास्त्र तो उठ जावे,
नृत्य गान हो नहीं जहाँ पर वह क्यों उत्सव कहलावे ॥ १० ॥
ऐसा कौन देश है जिसमें नृत्यगानका है न प्रचार,
भारतहीने सबसे पहले किया नृत्यका आविष्कार ।
क्या कारण बोलो, हम क्यों फिर नृत्य गानसे घृणा करें ?
अत्युत्तम विद्याकी हत्या करनेसे कैसे न डरें ? ॥ ११ ॥
हाँ, आतशबाजी सचमुच ही बड़े अनर्थोंकी है मूल,
उसके लिए द्रव्यको स्वाहा, कर देना नितान्त है भूल ।
तेरे ब्याहसमयमें उसको कभी नहीं छुटने दूँगी,
अपने हाथों अपनी आँखें, कभी नहीं फुटने दूँगी ॥ १२ ॥
गानवाद्यका और नृत्यका रखना है यदि इष्ट तुम्हें,
तो क्या गायक नहीं मिलेंगे सच्चरित्र या शिष्ट तुम्हें ।
किसी भाँति पर वेश्याओंका नाच कराना ठीक नहीं,
बुरे कर्म करके इस जगमें नाम कमाना ठीक नहीं ॥ १३ ॥
बुरे कर्म जो होते होवें उन्हें छोड़ देना है नीति,
अच्छे भी यदि नये कर्म हों तो क्या उनमें करें न प्रीति ?
शास्त्र-विहित जो साधुकर्म है उसे सनातन कहते हैं,
चाहे कुछ हो निन्द्यकार्यसे सुजन दूर ही रहते हैं ॥ १४ ॥
यदि जननी ! तुमको करना है समयोचित सुमङ्गलाचार,
तो गुरु-गुणि-विज्ञोंका करिए, तन, मन, धनसे शिष्टाचार ।

जो सुपात्रको अर्पण होवे कहलाता है दान वही,
करता है जो काम समझकर, पाता है सम्मान वही ॥ १५ ॥
कहा सुशीलाने वैसा ही—होगा, कहते हो जैसा,
अच्छे मन्त्र ग्रहण करनेमें, बेटा ! मीन मेष कैसा ?
मुनि-पद्धतिसे ब्याह तुम्हारा—होगा, होगा नाँच नहीं,
चाहे स्तुति हो, या निन्दा हो, किन्तु साँचको आँच नहीं ॥ १६ ॥
सुन माताके वचन मनोहर हरिसेवक अति मग्न हुआ,
उसके आज्ञापालनमें वह, तन, मनसे संलग्न हुआ।
इसी बीचमें रूपचन्द फिर, आकर बोला बड़े सप्रेम,
कहिए बाबू हरिसेवकजी, है तो सब कुछ कुशल क्षेम ? ॥ १७ ॥
कुशल प्रश्नके बाद तुरत ही उसने कहा लाजको छोड़,
दौड़ा मैं आता हूँ भैया, अपने सभी काजको छोड़।
सौरुपये फिर मुझे दीजिए अब चलता है काम नहीं,
धिग जीवन है उस मानवका, जिसके पल्ले दाम नहीं ॥ १८ ॥
तुरत सुशीलाने लाकरके रुपयोंको दे दिया उसे।
राम राम कह किसी व्योंतसे, विदा वहाँसे किया उसे,
फूले अँग न समाया वह भी, रुपयोंको पाकरके मूढ़,
उसमें ज्ञान रहे फिर कैसे, जिस पर हुआ लोभ आरूढ़ ॥ १९ ॥
रूपचन्दके हट जाने पर भाईबन्द लगे आने,
प्रेम-युक्तिसे सब बरातको लगे मनोहर सजवाने।
बाजे बजने लगे मोदप्रद सुन्दरियोंने गान किया,
चहल पहल मच गई द्वारपर, सबने सबका मान किया ॥ २० ॥
हरिसेवकके विशद शीश पर, मौर बड़ी छवि देता था,
मनो चन्द्रमा मुकुट दिये है, सबके मन हर लेता था।
कहीं सुशीलाके पग भू पर, उछल उछल कर पड़ते थे
वन्दीजन मङ्गल-पद्योंको, कहीं उच्चस्वर पढ़ते थे ॥ २१ ॥
हुआ शुभाचार समाप्त रीतिसे,
बड़े समुत्साह सुनीति प्रीतिसे।
समा वहाँका स्थिर हो सका नहीं,
सहर्ष बारात चली तुरन्त ही ॥ २२ ॥

नवाँ सर्ग ।

रूपचन्द है मग्न बड़ा, सुता-ब्याहमें लग्न बड़ा ।
कब आवेगी घर बारात, उसके मुँहमें थी यह बात ॥ १ ॥
दोसौ अब मिल जावेंगे, व्योम-कमल खिल जावेंगे ।
इसी ध्यानमें व्यस्त रहा, नहीं पापसे त्रस्त रहा ॥ २ ॥
लक्ष्मीकी मा रोती थी, दृग-जलसे तन धोती थी ।
उसे चैनका नाम नहीं, तनिक कहीं विश्राम नहीं ॥ ३ ॥
कन्या बिकती है मेरी, क्या है दुर्मतिने घेरी ।
सोच रही थी पड़ी पड़ी, चिन्ता उरमें रही बड़ी ॥ ४ ॥
लक्ष्मीको तो ज्ञान न था, क्या होता है ध्यान न था ।
रहती थी सखियोंके संग, गान वाद्य सुन भरी उमंग ॥ ५ ॥
इसी बीचमें फैली बात, देखो वह आई बारात ।
हाथी घोड़े हैं जैसे, कभी न देखे थे वैसे ॥ ६ ॥
घरवालोंकी अगवानी, वरवालोंने भी मानी ।
तुरत सभी शुभ समय विचार, रूपचन्दके पहुँचे द्वार ॥ ७ ॥
हुई द्वार-पूजा सानन्द, किये गये सब बाजे बन्द ।
जनवासे बैठी बारात, दिन डूबा, हो आई रात ॥ ८ ॥
रूपचन्द भी गया वहीं, हरिसेवकसे बात कही ।
दो सो लेकर तुरत भगा, पूरा उसका भाग्य जगा ॥ ९ ॥
स्त्रीको रूपये देता था, मनो पाप-फल लेता था ।
पर लोलुप वह हुई नहीं, जाकर बैठी अलग कहीं ॥ १० ॥
मण्डपमें अब वर आया, वधुओंने मंगल गाया ।
सबमें छाया नव उत्साह, क्रमसे होने लगा विवाह ॥ ११ ॥
रूपचन्दको व्यापा पाप, चढ़ बैठा तृष्णाका ताप ।
कैसे रुपये और मिलें, सिकता-थलमें कमल खिलें ॥ १२ ॥
शुरू हुई ज्यों सप्तपदी, रूपचन्दसे हुई बदी ।
पेट पकड़ वह गिरा कराह, भरने लगा आह पर आह ॥ १३ ॥
मेरे उरमें पीड़ा है, पर न किसीको व्रीडा है,
कर दो मुझको अलग कहीं, जी सकता हूँ हाय नहीं ॥ १४ ॥
मेरे दुखको शीघ्र हरो, दवा-दानकी युक्ति करो ।
समयोचित है काम यही, जी सकता हूँ हाय नहीं ॥ १५ ॥

मेरा क्या संयोग हुआ, मुझे भयंकर रोग हुआ।
हा ! बे-ब्याही सुता रही, जी सकता हूँ हाय नहीं ॥ १६ ॥
व्याह–कर्मको उठा धरो, मेरे अन्तिम कर्म करो।
कर पर जमता नहीं दही, जी सकता हूँ हाय नहीं ॥ १७ ॥
क्या सबसे बतलाऊँगा, कैसे मुख दिखलाऊँगा।
क्यों कट जाती नहीं मही, जी सकता हूँ हाय नहीं ॥ १८ ॥
वर मन ही मन दंग हुआ, ब्याह-मनोरथ भंग हुआ।
रूपचन्दकी देख दशा, हेतु समझ, वह खूब हँसा ॥ १९ ॥
जब कारणका बोध हुआ, सबके मनमें क्रोध हुआ।
सबके आसन डोल उठे, सभी वेगसे बोल उठे ॥ २० ॥
रूपचन्द ! नखरे छोड़ो, नहीं धर्मसे मुख मोड़ो।
उठो, सुताका करो विवाह, निन्दित है अधर्मकी चाह ॥ २१ ॥
जाति-च्युत हो जाओगे, जी कर मृतक कहाओगे।
कभी पाप क्या फला कहीं ? कर्म–भोग क्या टला कहीं ? ॥ २२ ॥
पाँचों सौ रुपये लाओ, धर्म-दण्डसे बँच जाओ।
हरिसेवकको देवो फेर, रूपचन्द ! अब करो न देर ॥ २३ ॥
चाहे जातिच्युत करिए, चाहे मम सरवस हरिए।
कैसे रुपये, कैसा ब्याह, आह आह मरता हूँ आह ॥ २४ ॥
उसकी स्त्रीने रुपये सब, फेंक दिये आँगनमें तब।
रूपचन्द लख उठ बैठा, बहुत मनी मनमें ऐंठा ॥ २५ ॥
रुपया सबकी सम्मतिसे, और न्यायकी सम्मतिसे।
हरिसेवकको दिया गया, कर्म-धर्मका किया गया ॥ २६ ॥
रूपचन्द तब त्रस्त हुआ, कुछ कुछ धर्म-ग्रस्त हुआ।
धीरे बोला, बोलो मंत्र, कन्या दूँ निपटे षड्यंत्र ॥ २७ ॥
राम राम कह काम हुआ, रूपचन्द बदनाम हुआ।
हरिसेवकका व्याह हुआ, सबमें शुभ उत्साह हुआ ॥ २८ ॥
वर जोड़ी कन्या वरकी, सुखद रहे अपने घरकी।
सबने यह आशीस दिया, जनवासे प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

मिट नहीं सकता विधिका लिखा,
पर इसे सुनता जन कौन है ? ।
श्रवण-हीन मनो जग होगया,
थकित हो अथवा वह मौन है ॥ ३० ॥

समाप्त।

दुष्प्राप्य और अलभ्य जैनग्रंथ।

११ राद्धान्त।

श्रीचामुंडराय (रणरंगसिंह), अपने 'चारित्रसार' नामक ग्रंथके अन्तमें, एक पद्य इस प्रकारसे देते हैं:—

"तत्त्वार्थराद्धान्तमहापुराणे-
ष्वाचारशास्त्रेषु च विस्तरोक्तम्।
आख्यात्समासादनुयोगवेदी
चारित्रसारं रणरंगसिंहः॥"

इस पद्यसे मालूम होता है कि 'राद्धान्त' नामका भी कोई जैनग्रंथ है जिसे ११ वीं शताब्दीके विद्वान् चामुंडरायने अवलोकन किया था, और न सिर्फ अवलोकन ही किया था बल्कि उन्होंने चारित्रविषयक उसका कुछ सार भी खींचकर अपने उक्त ग्रंथमें रक्खा है। यह ग्रंथ किस भाषामें रचा गया है, इस बातका यद्यपि ऊपरके पद्यसे कोई पता नहीं चलता तो भी श्रीवीरनन्दीके 'आचारसार' ग्रंथमें इसका एक पद्य '**उक्तं च राद्धान्ते**' इस वाक्यके साथ उद्धृत पाया जाता है, जिससे ग्रंथका भाषासम्बंधी विषय बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। वह पद्य इस प्रकार है:—

स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं
न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत्।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः
प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः॥

इससे मालूम होता है कि ग्रंथकी भाषा संस्कृत है, वह एक सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रंथ है और उसकी प्रतिपादनशैली उसके महत्त्वशाली होनेका प्रमाण दे रही है। मालूम नहीं, यह ग्रंथ कौनसे आचार्यका बनाया हुआ है, कब बना है, कितने श्लोकपरिमाण इसकी संख्या है और इस समय यह किस जगहके भंडारमें मौजूद है। अनेक भंडारोंकी सूचियाँ देखने पर भी हमें उनमें इसके अस्तित्वका पता नहीं चला। यह ग्रंथ दक्षिणदेशके किसी भंडारमें जरूर होगा। अतः विद्वानोंको इस ग्रंथरत्नकी उधर शीघ्र खोज करनी चाहिये।

१२ सिद्धान्तसार।

श्रीजयशेखरसूरिविरचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' नामक एक श्वेताम्बर ग्रंथके निम्न वाक्योंसे मालूम होता है कि 'सिद्धान्तसार' नामका भी कोई दि० जैनग्रंथ है और वह बड़ा ही कर्कश तर्कग्रंथ है।

स्याद्वादविद्याविद्योतात्प्रायः साधर्मिका अमी।
परमष्टसहस्री या न्यायकैरवचंद्रमाः॥ २८॥
सिद्धान्तसार इत्याद्यास्तर्काः परमकर्कशाः।
तेषां जयश्रीदानाय प्रगल्भंते पदे पदे॥ २९॥

मालूम नहीं यह ग्रंथ भी कौनसे आचार्यका बनाया हुआ है और कब बना है। हाँ, इतना जरूर है कि यह ग्रंथ राजशेखरसूरिके अस्तित्वसमयसे, अर्थात् वि० संवत् १४०५ से पहलेका बना हुआ है। राजशेखरके अतिरिक्त और किस किस विद्वानने इस ग्रंथका उल्लेख किया है और आजकल कहाँ कहाँके भंडारोंमें यह ग्रंथ पाया जाता है, ये सब बातें विद्वानोंके खोज करने योग्य हैं। 'सिद्धान्तसार' नामके और भी कुछ ग्रंथ जान पड़ते हैं, जिनमें एक ग्रंथ जिनचन्दसूरिका बनाया हुआ है, जिसका मंगलाचरण इस प्रकार है:—

जीवगुणठाण सण्णा पज्जति पाणमग्गणाणवुणे।
सिद्धान्तसारमिणमो भणामि सिद्धे णमंसित्ता॥ १॥

यह ग्रंथ प्राकृत भाषाका है और इसकी गाथाओंकी कुल संख्या ७७ है, ऐसा हमें सेठ माणिकचंद्रजी जे०पी०बम्बईके 'प्रशस्तिसंग्रह' नामके रजिस्टरसे मालूम हुआ है। ऊपर उद्धृतकी हुई इसकी मंगलाचरण और प्रतिज्ञाविषयक गाथासे जान पड़ता है कि यह तर्कग्रंथ नहीं है और इस लिए यह उस 'सिद्धान्त-

सार ' ग्रंथसे भिन्न जान पड़ता है जिसका उल्लेख राजशेखरसूरिने अपने ग्रंथमें किया है। इस ग्रंथके कर्ता कौनसे जिनचंद्रसूरि हैं और उन्होंने कब इस ग्रंथको बनाया है, यह भी अभी तक हमको मालूम नहीं हुआ। एक जिनचंद्र श्री-कुंदकुंदाचार्यके समकालीन कहे जाते हैं। यदि यह उन्हींका ग्रंथ है तो विशेष महत्त्वका और अच्छा प्राचीन ग्रंथ होगा और इसे शीघ्र माणिकचंद-ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित कर देना चाहिये। आरा सिद्धान्तभवनकी सूचीमें इस नामके तीन ग्रन्थोंका उल्लेख पाया जाता है। एकको ' जिनेंद्रदेवाचार्य ' का बनाया हुआ लिखा है और उसकी श्लोकसंख्या ८० दी है, ग्रंथकी भाषा आदिका साथमें कोई उल्लेख नहीं। संभव है कि यह ग्रंथ वही जिनचंद्रसूरिका बनाया हुआ प्राकृत ग्रंथ हो जिसके मंगलाचरण-का ऊपर उल्लेख किया गया है और उसके ग्रंथकर्ताका नाम सूचीमें देते हुए कुछ भूल हुई हो। इसका निर्णय सिद्धान्तभवनके मंत्री साह-बको प्रगट करना चाहिये। दूसरा ग्रंथ भट्टारक सकलकीर्तिका बनाया हुआ प्रकट किया है। परंतु तब उसका नाम ' सिद्धान्तसार ' न होकर ' सिद्धान्तसारदीपक ' होना चाहिये। क्योंकि सकलकीर्तिके ग्रंथका प्रायः यही नाम है। ऐसे ही एक ' सिद्धान्तसारसंग्रह ' नामका ग्रंथ ' नरेन्द्रसेन ' आचार्यका बनाया हुआ है, परंतु हमें खालिस ' सिद्धान्तसार ' नाम देखना है। अस्तु; इस नामके तीसरे ग्रंथपर, उक्त सूचीमें, ग्रंथकर्ताका कोई नाम ही नहीं दिया जिससे कुछ निश्चय किया जाता। सिर्फ इतना सूचित किया है कि ग्रंथकी भाषा संस्कृत, पत्रसंख्या १४३ और लिपि कनड़ी है। और साथ ही यह प्रगट किया है कि वह कागज पर लिखा हुआ है। इससे इतना तो मालूम हो जाता है कि यह ग्रंथ जिनचंद्रके उक्त प्राकृत ग्रंथसे भिन्न है। परंतु सकलकीर्तिके ' सिद्धा-न्तसारदीपक ' और नरेंद्रसेनके ' सिद्धान्तसार-संग्रह ' से भी भिन्न है या कि नहीं, ऐसा कुछ भी मालूम नहीं होता। संभव है कि यह इन दोनोंमेंसे ही कोई ग्रंथ हो और सूचीमें भूलसे केवल ' सिद्धान्तसार ' ऐसा नाम लिखा गया हो, अथवा यह भी संभव है कि यह वही तर्क-ग्रंथ हो जिसका राजशेखर सूरिने उल्लेख किया है। अतः भवनके मंत्री साहबको इसका भी निर्णय प्रकट करना चाहिये। हमें अफसोस है कि सिद्धान्तभवनकी सूची इतनी असावधानी और लापरवाहीसे तय्यार की गई मालूम होती है कि उस पर एकदम कोई विश्वास नहीं किया जा सकता और इस लिये हमको बारबार मंत्री साहबको तकलीफ़ देनेकी जरूरत पड़ती है। हमने हितैषीके पहले अंकोंमें भी उनसे कुछ दर्याफ्त किया था जिसके उत्तरका कष्ट उठाने-की अभी तक उन्होंने कोई कृपा नहीं की। हम आशा करते हैं कि मंत्री साहब अब अवश्य अपने पदके कर्तव्य पर आरूढ़ होंगे और उनकी सूचीपरसे जो जो भ्रम उत्पन्न होते हैं उन्हें पूर्ण उद्योगके साथ दूर करनेकी चेष्टा करेंगे। अथवा यों कहिये कि समाजको अपना साहित्यविषयक इतिहास तय्यार करने और जैनग्रंथोंका उद्धार करनेके लिये भवनसे जो कुछ सहायता मिल सकती है उसके देनेके लिये वे तय्यार रहेंगे। भवनमें, अधिक नहीं तो दो तीन सालके लिये, एक ऐसे कनड़ी जाननेवाले विद्वानकी मुस्तकिल तौरसे रखनेकी जरूरत है जो कनड़ी लिपि अथवा कनड़ी भाषाके ग्रंथोंपरसे, उन्हें देखकर आवश्यक सूचनाएँ दे सके और फुर्सतके वक्तमें बराबर उनका संग्रह करता रहे। साथ ही एक दो ऐसे लेखकोंके भी रक्खे जानेकी जरूरत है

जो कनड़ी आदि लिपियों परसे देवनागरी अक्षरोंमें ग्रंथोंकी कापियाँ किया करें और जिनके द्वारा बाहरसे आई हुई ग्रंथोंकी माँगको बराबर पूरा किया जाय। ऐसा करने पर ही भवन समाजके लिये कुछ विशेष उपयोगी हो सकेगा और तभी वह समाजकी सहानुभूतिको भी अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा। अन्यथा, वह भी समाजके दूसरे अनेक अंधकाराच्छन्न भंडारोंके तुल्य होगा और उनसे अधिक उसे कोई महत्त्व नहीं दिया जाय। आशा है, भवनके मंत्रीसाहब हमारी इस समयोचित सूचना पर अवश्य ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

१३ जल्पनिर्णय।

श्लोकवार्तिकमें विद्यानंद स्वामीके एक उल्लेखसे पाया जाता है कि 'जल्पनिर्णय' नामका भी कोई जैनग्रंथ है, जिसे 'श्रीदत्त' नामके एक महान् विद्वानाचार्यने बनाया था। वह उल्लेख इस प्रकार है:—

" पूर्वाचार्योऽपि भगवानमुमेव द्विविधं जल्पमावेदितवानित्याह—

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्।
त्रिषष्ठेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये॥ "

यदि कोई महाशय इस पर पारितोषिक निकालें तो और भी अच्छा है। विद्यानंद स्वामीके द्वारा उपर्युक्त उल्लेखके होनेसे यह ग्रंथ विक्रमकी ९ वीं शताब्दीसे पहलेका बना हुआ है, इसके कहनेमें हमें कोई संकोच नहीं होता। परंतु कितने पहलेका बना हुआ है, यह बात अभी विचाराधीन है। श्लोकवार्तिकसे पहले बने हुए किसी ग्रंथमें यदि हमारे किसी विद्वान् महाशयको इस ग्रंथका नामोल्लेख देखनेमें आया हो तो वे कृपा कर हमें उससे सूचित कर अनुगृहीत करें।

१४ वादन्याय।

श्रीविद्यानंदस्वामीके 'पत्रपरीक्षा' नामक ग्रंथसे मालूम होता है कि 'वादन्याय' नामका भी कोई जैन ग्रंथ है और वह श्रीकुमारनन्दि आचार्यका बनाया हुआ है। पत्रपरीक्षामें इस ग्रंथके तीन पद्य निम्न प्रकारसे उद्धृत किये गये हैं:— " तथैव हि कुमारनंदिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्तदाह—

प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥ १॥
न चैवं साधनस्यैकलक्षणत्वं विरुध्यते।
हेतुलक्षणतापायादन्यांशस्य तथोदितं॥ २॥

कितनी लज्जा और शरमकी बात है। हमारे भाईयोंको ऐसे ऐसे ग्रंथरत्नोंकी तलाश और उनके उद्धारमें लग जाना चाहिये। जहाँ अन्य सैकड़ों गृहकार्य करते हैं वहाँ ऐसे धर्मकार्यों- में भी कुछ थोड़ा बहुत योग जरूर देना चाहिये, इसे भी अपने जीवनका एक लक्ष्य बनाना चाहिये। आशा है हमारे भाई इस ग्रंथको भी अपने भंडारोंमें जरूर टटोलेंगे। उन्हें अपने अपने भंडा- रोंकी परिश्रम करके एक एक अच्छी विस्तृत सूची तय्यार कर लेनी चाहिये जिससे फिर बार बार किसी भी ग्रंथका पता लगानेके लिये उन्हें सारे भंडार टटोलना न पड़ा करें। **जिन भाई- योंको सूचीके लिये बाकायदा अच्छे फार्मोंकी जरूरत हो वे हमसे मँगा सकते हैं।** हमारी रायमें इस ग्रंथ पर भी तलाशके लिये पारितोषिक नियत होने की जरूरत है।

१५ महाविद्योद्धार (श्रीकल्प- कौस्तुभ)।

'महाविद्योद्धार' अथवा 'श्रीकल्पकौस्तुभ' नामका यह ग्रन्थ मैसूर राज्यकी ओरियंटल लायब्रेरीमें मौजूद है और उसकी हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथोंकी सूचीके द्वितीयभागमें नं० ७२९ पर दर्ज है। इसकी पत्रसंख्या १९ दी है और इसे आन्ध्राक्षरों (तेलगू) में लिखा हुआ प्रकट किया है। परंतु अभी तक यह मालूम नहीं हुआ कि यह ग्रंथ कौनसे आचार्यका बनाया हुआ है, कब बना है और इसका विषय क्या है। नाम परसे यह कोई अच्छा और अश्रुतपूर्व ग्रंथ मालूम होता है। आशा है है कि मैसूरके कोई विद्वान् भाई, उक्त लायब्रेरीसे इस ग्रंथको निकलवाकर, इसके सम्बंधमें हमें कुछ विशेष हालातसे सूचित करनेकी कृपा करेंगे और दूसरे भाई भी अपने अपने यहाँके भंडारोंमें इसकी खोज लगाएँगे। (क्रमशः)

धनिक-सम्बोधन।

(१)

भारतके धनिको ! किस धुनमें
पड़े हुए हो तुम बेकार ?
अपने हितकी खबर नहीं,
या नहीं समझते जग-व्यवहार ?
अंधकार कितना स्वदेशमें
छाया देखो आँख उघार,
बिलबिलाट करते हैं कितने,
सहते निशदिन कष्ट अपार ?

(२)

कितने वस्त्रहीन फिरते हैं,
क्षुत्पीडित हैं कितने हाय !
धर्म-कर्म सब बेच दिया है
कितनोंने होकर असहाय ! !
जो भारत था गुरु देशोंका,
महामान्य, सत्कर्म-प्रधान,
गौरवहीन हुआ वह, बनकर
पराधीन, सहता अपमान।

(३)

क्या यह दशा देख भारतकी,
तुम्हें न आता सोच-विचार ?
देखा करो इसी विध क्या तुम
पड़े पड़े दुखे-पारावार !
धनिक हुए जिसके धनसे क्या
योग्य न पूछो उसकी बात !
गोद पले जिसकी क्या उसपर
देखोगे होते उत्पात ! !

(४)

भारतवर्ष तुम्हारा तुम हो
भारतके सत्पुत्र उदार,
फिर क्यों देश-विपत्ति न हरते
करते इसका बेड़ा पार ?
पश्चिमके धनिकोंको देखो
करते हैं वे क्या दिनरात,
और करो जापानदेशके
धनिकों पर कुछ दृष्टि-निपात ।।

(५)

लेकर उनसे सबक स्वधनका
करो देश-उन्नति-हित त्याग,
दो प्रोत्साहन उन्हें जिन्हें है
देशोन्नतिसे कुछ अनुराग।

शिल्पकला-विज्ञान सीखने
युवकोंको भेजो परदेश,
कला-कारखाने खुलवाकर,
मेटो सब जनताके क्लेश ॥

(६)

कार्यकुशल विद्वानोंसे रख
प्रेम, समझ उनका व्यवहार,
उनके द्वारा करो देशमें
बहु उपयोगी कार्य-प्रसार।

भारत-हित संस्थाएँ खोलो
ग्राम ग्राममें कर सुविचार,
करो सुलभ साधन वे जिनसे
उन्नत हो अपना व्यापार ॥

(७)

चक्करमें विलासप्रियताके
फँस, मत भूलो अपना देश,
प्रचुर विदेशी व्यवहारोंसे
करो न अपना देश विदेश,

'लोकदिखावेके कामोंमें होन'
न दो निज शक्ति-विनाश,
व्यर्थव्ययोंको छोड़, लगो तुम
भारतका करने सुविकाश ॥

(८)

वैर विरोध, पक्षपातादिक,
ईर्षा, घृणा, सकल दुखकार
रह न सकें भारतमें ऐसा यत्न
करो तुम बन समुदार।

शिक्षाका विस्तार करो यों
रहे न अनपढ़ कोई शेष,
सब पढ़ लिखकर चतुर बनें औ'
समझें हित-अनहित सविशेष ॥

(९)

करें देश-उत्थान सभी मिल,
फिर स्वराज्य मिलना क्या दूर ?
पैदा हों 'युग-वीर' देशमें,
तब क्यों रहे दशा दुख पूर ?

प्रबल उठे उन्नति-तरंग तब,
देखें सब भारत–उत्कर्ष,
धुल जावे सब दोष-कालिमा,
सुखपूर्वक दिन कटें सहर्ष ॥

सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र।

[लेखक, श्रीयुत मुनि जिनविजयजी ।]

(२)

सिद्धसेन दिवाकरका एक सिद्धांत जैनागमोंके रूढ-अभिप्रायसे बहुत ही भिन्न है और वह जैन–(श्वेताम्बर) साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध और बहु-विवेचित है। यह सिद्धांत केवलज्ञान और केवलदर्शनके स्वरूपसे सम्बन्ध रखता है। इसका पूरा परिचय करानेके लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं है, फिर भी हम यहाँ संक्षेपसे सूचन-मात्र कर देना चाहते हैं।

श्वेताम्बर संप्रदायमें जो सिद्धान्त ग्रंथ–सूत्र-ग्रन्थ विद्यमान हैं उनमें, लिखा है कि केवली (सर्वज्ञ) को केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों युगपत् अर्थात् एक साथ नहीं होते परंतु क्रमशः—एक बार केवलज्ञान और एक

बार केवलदर्शन, इस प्रकार बारी बारीसे होते हैं। अर्थात् एक क्षण (जैन पारिभाषिक शब्द समय) में केवलज्ञान रहता है और दूसरे क्षणमें केवलदर्शन। इसी तरह प्रतिक्षण क्रमशः केवलज्ञान और केवलदर्शनस्वरूप केवलीका उपयोग परिवर्तित हुआ करता है। सिद्धसेन सूरिको यह विचार सम्मत नहीं है। वे इस विचारमें युक्तिसंगतता नहीं समझते। तर्क और युक्तिसे वे इस मान्यताको अयुक्त सिद्ध करते हैं। उनके विचारसे केवलीको केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों युगपत्—एक ही साथ होना युक्तिसंगत है। और वास्तवमें, अन्तमें वे फिर इन दोनोंमें परस्पर कोई भेद ही नहीं मानते—दोनोंको एक ही बतलाते हैं। इस विचारका उन्होंने अपने 'सम्मतिप्रकरण' में खूब ऊहा-पोह किया है। सिद्धसेनजीके इस विचार-भेदके कारण, उस समयके सिद्धान्तग्रन्थपाठी और आगमभक्तिप्रवण आचार्यगण उनको 'तर्कम्मन्य' आदि कटाक्षपूर्ण विशेषणोंसे अलंकृत करके, उनके प्रति अपना सामान्य अनादर-भाव प्रकट किया करते थे। सिद्धसेनके बाद सिद्धान्तग्रन्थपाठी आचार्योंमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नामके एक बहुत समर्थ प्रतिभावान् आचार्य हुए हैं। इन्होंने जैनसूत्रोंके विस्खलित रहस्यको संकलित करनेके लिये 'विशेषावश्यक-भाष्य' * नामक महान् ग्रन्थकी रचना की है। इस भाष्यमें क्षमाश्रमणजीने दिवाकरजीके उक्त विचार-भेदका खूब ही खण्डन किया है और दिवाकरजीको आगमविरुद्धभाषी बतलाकर उनके सिद्धान्तको अमान्य ठहराया है। तत्त्वार्थसूत्र-की बृहद्व्याख्या × लिखनेवाले दिवाकरजीही-के नामधारी सिद्धसेन गणिने भी '**एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः। १-३१।**' सूत्रकी व्याख्यामें, दिवाकरजीके विचारभेद पर अनेक वाग्बाण चलाये हैं। उनके कुछ वाक्य देखिए—

"यद्यपि केचित् **पण्डितम्मन्याः** सूत्राण्यन्यथा-कारमर्थमाचक्षते **तर्कबलानुविद्धबुद्धयो** वारंवारे-णोपयोगो नास्ति, तत्तु न प्रमाणयामः। यत आम्नाये भूयांसि सूत्राणि वारंवारेणोपयोगं प्रतिपा-दयन्ति।"

ये जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और सिद्धसेन-गणि आदि दिवाकरजीके विचार-भेदमें केवल आगम-प्रामाण्यकी दलीलके सिवा और कुछ नहीं कह सके। युक्तिसे वे भी दिवाकरजीके विचारके कायल होते थे, परंतु अन्तमें यही कहकर छूट जाते थे कि युक्ति और तर्कसे चाहे जो सिद्ध होता हो परंतु आगमलिखित उल्लेखोंके विरुद्ध विचारको हम कभी आदर नहीं दे सकते। 'स्वमनीषिका सिद्धान्तविरो-धिनी न प्रमाणम्, इत्यभ्युपेयते।' 'न चान्यथा जिनवचनं कर्तुं शक्यते सुविदुषापीति।'

मालूम पड़ता है, इस प्रकारकी तर्कप्रियताके कारण ही पिछले जैनसाहित्यमें दिवाकरजी 'तार्किक' नामसे प्रसिद्ध रहे हैं।

बहुतसे पाठक यह नहीं जानते होंगे कि श्वेताम्बर आचार्योंके इस विशिष्ट मतभेदके बारेमें दिगम्बर आचार्योंका क्या मत है। उनके लिए हम यहाँ पर यह कह देना चाहते

* यह भाष्य, मलधारी आचार्य हेमचंद्रविरचित बृहद्व्याख्याके साथ काशीकी 'यशोविजय-ग्रंथमाला' में मुद्रित हुआ है।

× श्वेताम्बर संप्रदायमें तत्त्वार्थसूत्र पर यही एक प्रसिद्ध और प्रौढ टीका है। यह टीका भाष्यके ऊपर लिखी गई है। ऐतिहासिक दृष्टिसे, तत्त्वार्थसूत्र-की दिगम्बर-श्वेताम्बरकी अन्य सब टीकाओंसे इस टीकाका महत्त्व अधिक है। आगे हम इस विषयमें कुछ विस्तारके साथ लिखनेकी इच्छा रखते हैं। —लेखक।

कि दिगम्बराचार्योंको दिवाकरजीहीका मत मान्य है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें सर्वत्र ही केवलज्ञानीको ज्ञान और दर्शन दोनों युगपत् लिखे हुए हैं। उनमें श्वेताम्बर आगमोंके अनुसार 'जुगवं दो णत्थि उवओगा' अर्थात् एक साथ दो उपयोग नहीं होते—यह विचार कहीं देखनेमें नहीं आता। इतना ही नहीं, बल्कि तत्त्वार्थराजवार्तिकमें भट्ट अकलंकदेवने 'केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।' ६–१३। इस सूत्रकी व्याख्यामें

'पिण्डाभ्यवहारजीविनः, केवलदशानिर्हरणाः, अलाबुपात्रपरिग्रहाः, कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः, केवलिन इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः।'

ऐसा लिख कर केवलीको कवलाहार माननेके समान इस 'क्रमोपयोगवाद' को भी, केवलज्ञानीके अवर्णवाद-स्वरूप बतलाकर दर्शनमोहकर्मके बन्धका कारण बतलाया है! अकलंक देवके इस कथनके विरुद्ध श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धसेन गणिने भी इसी सूत्रकी व्याख्यामें—

'दिगम्बरत्वाद्विगतत्रपाः, **क्रमोपयोगभाजः**, समवसरणभूमावप्कायभूम्यारम्भानुमोदिनः सर्वोपायनिपुणा अप्यतिदुष्करदुरपचरमार्गोपदेशिनः; इत्याद्यवर्णोद्भासनम्।'

इस प्रकार लिख कर केवलज्ञानीको क्रमशः ज्ञान दर्शन होनेवाले मत (विचार) में युक्तिरहितता मानने या प्रतिपादन करनेवालोंके विचारको दर्शन मोहकर्मके बन्धका कारण बतलाया है!!

सिद्धसेनसूरिके विषयमें एक यह भी किम्वदन्ती प्रचलित है कि, इन्होंने एक बार श्रमणसंघके सामने यह विचार प्रदर्शित किया था कि, "जैनागम प्राकृत भाषामें है, इस लिये विद्वानोंका उनके प्रति विशेष आदर नहीं होता—विदग्धगण उन्हें ग्रामीण भाषाके ग्रन्थ समझकर, उनका अवलोकन नहीं करते—इस लिये यदि श्रमणगण अनुमति दें तो मैं उन्हें संस्कृत भाषामें परिवर्तित कर देना चाहता हूँ।" यह सुनते ही श्रमण-संघ एकदम चौंक उठा और 'मिच्छामि दुक्कडं' का उच्चारण करता हुआ, इनसे कहने लगा कि, "महाराज! इस अकर्तव्य विचारको अपने हृदयमें स्थान देकर आपने तीर्थंकर, गणधर और जिन-प्रवचनकी महती 'आशातना' (अवज्ञा) की है। ऐसा कलुषित विचार करनेके और श्रमण संघके सामने ऐसे उद्गार निकालनेके कारण, जैनशास्त्रानुसार आप 'संघबाह्य' के भूदण्डकी शिक्षा पानेके अधिकारी हुए हैं।" दिवाकरजी संघके इस कथनको सुनकर चकित हो गये; और मेरे एक सरल विचारसे भी संघको इतनी अप्रीति हुई, इस लिये बहुत ही दुखी हुए। संघसे तुरन्त उन्होंने क्षमा-प्रार्थना की और जो कुछ प्रायश्चित्त दिया जाने योग्य हो उसे देनेकी विज्ञप्ति की। कहा जाता है कि संघने उन्हें शास्त्रानुसार बारह वर्षतक 'बहिष्कृत' रूपमें रहनेका 'पाराञ्चित' नामक प्रायश्चित्त दिया, जिसे दिवाकरजीने सादर स्वीकार कर संघाज्ञाका पालन किया। प्रायश्चित्तकी मर्यादा पूर्ण हो जाने पर संघने उनको फिर अपनेमें शामिल कर लिया। इस किम्वदन्तीमें हमारी समझमें कुछ न कुछ ऐतिहासिक सत्य अवश्य है। ऊपर जो हमने थोड़ासा इनके विचार-स्वातंत्र्य और स्पष्ट-भाषित्वका परिचय दिया है, उससे यह जाना जा सकता है कि, यदि जैनागमोंके सम्बन्धमें इन्होंने ऐसी कोई बात श्रमण-संघके सामने प्रदर्शित की हो, अथवा कृतिरूपसे उपस्थित कर दी हो कि जिससे पुराणप्रिय और आगमप्रवण श्रमणवर्गको असंतोष हुआ हो, तो, कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

तत्कालीन श्रमणसंघमें अथवा कुछ काल तक पीछे भी आगमाभ्यासी सैद्धान्तिकोंमें सिद्धसेनसूरिके प्रति अनादरभाव अल्परूपमें भले ही जागृत रहा हो; परंतु, परवादियोंके किये जानेवाले प्रचण्ड आक्रमणोंसे, जैनशासनकी रक्षा करनेके लिये प्रमाण और नयवादके प्रबल युक्तिपूर्ण सिद्धान्तोंकी स्थापनारूप जिस दुर्गमदुर्गके मूलको वे दृढ बना गये हैं उसके कारण उनके अनुगामी और पश्चाद्वर्ती सब ही समर्थ जैनविद्वानोंने उनका बड़े गौरवके साथ स्मरण किया है। सुप्रसिद्ध तार्किक आचार्य मल्लवादीने सम्मति-प्रकरणकी टीका[1] लिखकर उनके प्रति अपनी उत्तम भक्ति प्रकट की है। जैनधर्मके अनन्यसाधारण तत्त्वज्ञ हरिभद्रसूरिने तो उन्हें 'साक्षात् श्रुतकेवली' लिखकर उनका अनुपम आदर किया है। तत्पश्चात् महात्मा सिद्धर्षिने 'न्यायावतार' की व्याख्या[3] लिखकर, तर्कपञ्चानन अभयदेवसूरिने 'सम्मतिप्रकरण' की २५ हजार श्लोक-परिमित विस्तृत और प्रौढ टीका[1] बनाकर, शान्त्याचार्य और जिनेश्वरसूरिने 'न्यायावतार' के सटीक वार्तिक[2-3] रचकर, सिद्धसेनसूरिके जैनतर्कशास्त्रविषयक सूत्रधारत्वका सगौरव समर्थन किया है। प्रचण्डतार्किक वादी देवसूरिने उन्हें अपना मार्गदर्शक बतलाया है;[4] और आचार्य हेमचंद्रने उनकी कृतियोंके सामने अपनी विद्वन्मनोरञ्जक कृतियोंको भी 'अशिक्षितालापकला' बतलाया है।

(अपूर्ण।)

---

१ यह टीका अब कहीं उपलब्ध नहीं है। ४-५ सौ वर्ष पहलेकी बनाई हुई एक ग्रन्थसूचिका हमारे पास है उसमें इस टीकाका नाम लिखा हुआ है।

२ देखो, 'पञ्चवस्तु' ग्रन्थकी निम्न लिखित गाथायें—

भण्णइ एगंतेण (णं) अम्हाण कम्मवाय (यो) नो इट्ठो।
णो सहाववाओ सुअकेवलिणा ज (ओ) भणिअं ॥
आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअ-जसेण।
दूसमणिसा-दिवागर- कप्पत्तणओ तदक्खेण ॥
—डेक्कनकालेजसंगृहीत हस्तलिखित पुस्तक पृ० १३१।

३ यह व्याख्या पाटणकी 'हेमचंद्राचार्यजैन सभा' की ओरसे छपकर प्रकाशित हुई है। इस व्याख्याके ऊपर राजशेखरसूरिका बनाया हुआ संक्षिप्त टिप्पणक भी है।

१ इस टीकाका थोड़ासा प्रारंभिक भाग काशीकी यशोविजय 'जैनग्रंथमालामें प्रकाशित हुआ है। संपूर्ण ग्रंथ अभीतक नहीं छपा।

२-३ जिनेश्वरसूरिके वार्तिकका नाम 'प्रमालक्षण' है और वह केवल न्यायावतार सूत्रके आदिम श्लोकका विस्तार स्वरूप है। इस ग्रन्थके विषयमें विशेष जाननेके लिये देखो जैन हितैषी भाग १३ अंक९-१० में मुद्रित हमारा 'प्रमालक्षण' शीर्षक लेख। यह ग्रंथ अहमदाबादके सेठ मनसुखभाई भगुभाईने छपवाकर प्रकट किया है। शान्त्याचार्यका वार्तिक भी जिनेश्वरसूरिके वार्तिककी तरह न्यायावतारके प्रथम श्लोकहीकी व्याख्या है। इसका नाम 'प्रमाणप्रमेयकलिका' है। यह काशीके 'पंडित' पत्रमें पं० विठ्ठलशास्त्री द्वारा संशोधित होकर प्रकाशित हुआ है; परंतु बहुत ही अशुद्ध छपा है।

४ देखो, 'स्याद्वादरत्नाकर' के प्रारंभमें निम्नलिखित श्लोक—

श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धा-
स्तेसूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः।
येषां विमृश्य सततं विविधान् निबन्धान्—
शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपि मादृक् ॥

जैनधर्म अनीश्वरवादी है।

संसारमें सबसे अधिक संख्या ईश्वरवादियोंकी है। वर्तमान दृष्ट संसारके लगभग ढाई अरब मनुष्योंमें ऐसे ही लोग अधिक हैं जो इस सृष्टिका कर्ता हर्ता विधाता एक अदृश्य शक्ति-विशेषको मानते हैं और वही ईश्वर, खुदा, या गाड आदि नामोंसे अभिहित होता है। हिन्दू, ईराणी, यहूदी, ईसाई आदि सभी धर्म ईश्वरके उपासक हैं और इन्हींके अनुयायियोंकी संख्या सबसे अधिक है। जीते-जागते बचे-खुचे धर्मोंमें जैन और बौद्ध ये दो ही धर्म ऐसे हैं जो वास्तवमें अनीश्वरवादी हैं, अर्थात् किसी ईश्वरविशेषके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते हैं। और इस भारतवर्षमें तो केवल जैनधर्म ही अनीश्वरवादकी थोड़ी बहुत रक्षा कर रहा है। बौद्धधर्म यहाँ बहुत थोड़ा—नाममात्रको—है; जो कुछ है यहाँसे बाहर चीन, जापान, श्याम आदि देशोंमें है।

जैन और बौद्ध धर्म इस अनीश्वरवादके कारण 'नास्तिक' भी कहलाते हैं। यद्यपि बहुतसे विद्वानोंके मतसे जो लोग परलोकको नहीं मानते हैं, या आत्माके अस्तित्वको नहीं मानते हैं, वे ही 'नास्तिक' कहे जाने चाहिएँ और इस दृष्टिसे जैनधर्म इस नास्तिकतासे मुक्त हो जाता है, परन्तु नास्तिकताका प्रचलित अर्थ ईश्वरका न मानना ही है। सर्वसाधारण लोग इस शब्दको इसी अर्थमें व्यवहृत करते हैं, इस कारण यह कहना असंगत नहीं कि जैनधर्म अनीश्वरवादी भी है और नास्तिक भी है।

परन्तु आजकलके जैनधर्मानुयायी अपनेको 'नास्तिक' नहीं कहलाना चाहते। इसे वे एक अपमानजनक शब्द समझते हैं और इस कारण उनके व्याख्यानों और लेखोंमें इस विषयका अकसर प्रतिवाद देखा जाता है। वे बड़ी बड़ी युक्तियाँ देकर सिद्ध किया करते हैं कि जैनधर्म नास्तिक नहीं है—वह परम आस्तिक है। कुछ समय पहले तो इस विषयकी चर्चा और भी जोरों पर थी। परन्तु हमारी समझमें यदि लोग 'नास्तिक' कहनेसे ईश्वरको न माननेवाला ही समझते हैं, अथवा 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इस वाक्यके अनुसार वेदोंको न माननेवाले 'नास्तिक' पदवाच्य हैं, तो 'नास्तिक' कहनेसे हमें चिढ़नेकी आवश्यकता नहीं है, वरन् इसे उसी प्रकार अपना गौरव बढ़ानेवाला समझना चाहिए जिस तरह हम अपने अन्य 'स्याद्वाद' आदि मुख्य सिद्धान्तोंको समझते हैं।

बहुतसे जैनधर्मानुयायियोंको 'नास्तिक' के समान 'अनीश्वरवादी' बनना भी नापसन्द है। वे इस कलङ्क (?) के टीकेको भी अपने मस्तकमें नहीं लगाये रखना चाहते। इस टीकेको पोंछ डालनेका—कमसे कम फीका कर डालनेका—प्रयत्न हम अभी ही नहीं, बहुत समयसे कर रहे हैं। इस प्रयत्नमें थोड़ी बहुत सफलता भी हुई है। सर्वसाधारण लोग यह समझने लगे हैं कि जैनी भी ईश्वरको मानते हैं और अपने मन्दिरोंमें हमारे ही समान उसकी मूर्तियाँ भी स्थापित करके पूजते हैं, सिर्फ इतना अन्तर है कि वे अपने ईश्वरको महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ जिनदेव आदि नामोंसे पुकारते हैं। परन्तु वास्तवमें जैनधर्म अनीश्वरवादी है और यह उसकी अस्थिमज्जागत प्रकृति है। वह न छुपायेसे छुप सकती है और न बदलनेसे बदली जा सकती है। जब तक जैनधर्म और जैनविज्ञानका आमूल परिवर्तन न कर दिया जाय, तब तक उसमेंसे अनीश्वरवाद पृथक् नहीं किया जा सकता।

जिन्होंने संसारके विविध धर्मोंके इतिहासका अध्ययन किया है वे जानते हैं कि प्रत्येक धर्म पर उसके पड़ौसी धर्मोंका, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी न किसी रूपमें, कुछ न कुछ प्रभाव

अवश्य पड़ा करता है और जिस धर्मके अनुयायियोंकी संख्या कम हो जाती है अथवा जिसका प्रचार कम हो जाता है, उस पर तो दूसरे बलवान् और देशव्यापक धर्मोंका प्रभाव बहुत ही अधिक पड़ता है। बिना उनके प्रभावोंसे प्रभावान्वित हुए वह रह ही नहीं सकता। जिस समय बौद्ध और जैनधर्मका प्रभाव देशव्यापी हो रहा था, उनके अहिंसामूलक उपदेशोंके प्रति जनसाधारणका बहुत ही अधिक झुकाव हो रहा था, उस समय हिन्दूधर्म पर इन दोनों ही धर्मोंका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था और उसका फल यह हुआ था कि हिन्दूधर्ममेंसे 'वैदिक हिंसा' की विधियाँ निकाल दी गई या परिवर्तित कर दी गई और दूसरी सैकड़ों बातोंमें संशोधन परिवर्तन किया गया। इस विषयमें किसी किसी विद्वानकी तो यहाँ तक सम्मति है कि वर्तमान हिन्दूधर्म प्राचीन हिन्दूधर्मका मूल स्वरूप नहीं किन्तु संस्कृत (संस्कार किया हुआ) स्वरूप है और उसके अंग प्रत्यंगोंमें बौद्ध-जैनधर्मोंके प्रभावके चिह्न सुस्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार जब जैनधर्मका ह्रास हुआ, और हिन्दूधर्मका प्रभाव फिर बढ़ा, तब स्वयं उसे हिन्दूधर्मके प्रभावसे प्रभावान्वित होना पड़ा। २०-२५ करोड़ हिन्दुओंके बीचमें १०-१५ लाख जैनधर्मानुयायी रहें और उन पर उनका प्रभाव न पड़े, यह संभव नहीं। जैनधर्मने जिस प्रकार हिन्दूधर्मको कुछ दिया था, उसी प्रकार उससे कुछ लिया भी।

हिन्दूधर्मसे या ब्राह्मणधर्मसे हमने क्या क्या लिया है, इसका विवेचन किसी अन्य लेखमें किया जा सकेगा; यहाँ केवल अनीश्वरवादका प्रसंग है, अतएव इसके सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हिन्दूधर्मके प्रभावसे हमने अपने अनीश्वरवाद पर ऐसा मुलम्मा चढ़ा दिया है, कि वह साधारणदृष्टिसे देखनेवालोंको ईश्वरवाद जैसा ही प्रतीत होता है। केवल विशेषज्ञ ही यह जान सकते हैं कि जैनधर्ममें वस्तुतः ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं है।

ईश्वर शब्दके वास्तविक अर्थ हैं—ऐश्वर्यशाली, वैभवशाली, शक्तिशाली, स्वामी, अधिकारी, कर्तृत्ववान् आदि। इहलोकमें जो दर्जा स्वतंत्र सम्राट या महाराजका है, वही परलोकमें ईश्वर या परमेश्वरका है। परन्तु जैनधर्म इहलोक या परलोकमें इस प्रकारके किसी सत्ताधीशको माननेसे सर्वथा इंकार करता है। उसका ईश्वर किसी साम्राज्यका स्वेच्छाचारी शासक तो क्या होगा, किसी रिपब्लिक (प्रजातंत्र देश) का प्रेसीडेण्ट भी नहीं है, यहाँतक कि रूसकी सोवियट-सरकारका प्रधान भी नहीं है। वह एक ईश्वरको भी तो नहीं मानता है। उसके यहाँ यदि ईश्वर है तो वह एक नहीं, लाखों करोड़ों असंख्य अनन्तकी संख्यामें है। अर्थात् जैनमतानुसार इतने ईश्वर हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती और आगे भी वे बराबर इसी अनन्त संख्यामें अनन्त कालतक होते रहेंगे। क्योंकि जैनसिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ताको लिए हुए मुक्त हो सकता है। आजतक ऐसे अनन्त आत्मा मुक्त हो चुके हैं और आगे भी होंगे। ये मुक्त जीव ही जैनधर्मके ईश्वर हैं। इन्हींमेंसे कुछ मुक्तात्माओंको—जिन्होंने मुक्त होनेके पहले संसारको मुक्तिका मार्ग बतलाया था—जैनधर्म तीर्थंकर मानता है।

जैनधर्मके ये मुक्तात्मा या ईश्वर संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। न सृष्टिसंचालनकार्यमें उनका कोई हाथ है, न वे किसीका भला बुरा कर सकते हैं, न किसी पर कभी प्रसन्न होते हैं और न अप्रसन्न, न उनके पास कोई ऐसी सांसारिक वस्तु है जिसे हम ऐश्वर्य, वैभव या

अधिकारके नामसे पुकार सकें। न वे किसीका न्याय करते हैं, और न किसीके अपराधोंकी जाँच। जैनसिद्धान्तके अनुसार सृष्टि स्वयंसिद्ध है, जीव अपने अपने कर्मोंके अनुसार स्वयं ही सुखदुःख पाते हैं, ऐसी दशामें मुक्तात्मा-ईश्वरोंको इन सब झंझटोंमें पड़नेकी जरूरत भी नहीं है।

गरज यह कि जैनधर्ममें माने हुए मुक्तात्माओंका उस ईश्वरत्वसे कोई सम्बन्ध नहीं है जिसे कि सर्वसाधारण लोग संसारके कर्ता हर्ता विधाता ईश्वरमें कल्पना किया करते हैं। उस ईश्वरत्वका तो उल्टा जैनधर्मके तर्क-ग्रन्थोंमें खूब जोरोंके साथ खण्डन किया गया है और इस तरहकी प्रबल युक्तियोंके साथ किया गया है कि उसे पढ़कर बड़ेसे बड़े ईश्वरवादियोंकी भी श्रद्धा डगमगाने लगती है। उक्त ग्रन्थोंके अध्ययनसे यह बात अच्छी तरह समझमें आ जाती है कि जैनधर्म वास्तवमें अनीश्वरवादी ही है—वह ईश्वरवादी नहीं कहा जा सकता।

इस ईश्वरके न माननेका जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंसे इतना घनिष्ट और अविच्छिन्न सम्बन्ध है कि यदि यह निकाल दिया जाय, और दूसरे धर्मोंके समान एक सृष्टिकर्ता ईश्वर मान लिया जाय, तो जैन-विज्ञानकी सारी ही इमारत धराशायी हो जाय। ऐसी दशामें जैनधर्ममेंसे 'अनीश्वरवाद' का सर्वथा अलग किया जाना तो असंभव था, अधिकसे अधिक उसका गहरा रंग कुछ फीका किया जा सकता था और अन्य ईश्वरवादियोंके प्रभावने यही किया। हमने अपने मूल अनीश्वरवादको सिद्धान्त ग्रन्थोंमें तो सुरक्षित रक्खा, परन्तु उसके बाहरीरूपमें यथासाध्य परिवर्तन कर डाला।

एक बात और है। सर्वसाधारण लोग गहरी सैद्धान्तिक बातोंको नहीं समझते। धर्मके असली तत्त्वोंसे वे प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। तत्त्वोंके समझने समझानेका भार बहुश्रुत धर्मगुरुओंपर ही प्रायः न्यस्त रहता है। वे स्वयं तो धर्मकी ऊपरी बातोंको—क्रियाकाण्ड आदिको—ही धर्म समझते और मानते हैं। ऐसी दशामें यह संभव नहीं कि जैनधर्मके सर्वसाधारण उपासक—वे उपासक कि जिनके आसपास उनसे सैकड़ों गुणें ईश्वरको मानने पूजनेवाले अजैन रहते थे—बिना ईश्वरके रह जाते। जैनधर्ममें चाहे ईश्वर हो या न हो, पर उनका काम ईश्वरके बिना कैसे चलता? अत एव उनके लिए अनीश्वरवादी होते हुए भी जैनधर्मने ईश्वरवादको उतना स्थान दे दिया जितना कि मूलसिद्धान्तोंकी रक्षा करते हुए दिया जा सकता था।

इसमें सन्देह नहीं कि जैनधर्ममें मूर्तिपूजा बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है; परन्तु वह इस रूपमें नहीं थी जिसमें कि इस समय दिखलाई देती है। मूर्तियोंका पंचामृत अभिषेक, उनका आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, अष्ट द्रव्यसे पूजन, विसर्जन, अरहंतसिद्ध अरहंत सिद्धका जाप, मूर्तियोंकी प्रतिष्ठाके विधि विधान, आदि क्रियाओं पर हिन्दूधर्मके क्रिया—काण्डका और ईश्वरवादका रंग चढ़ा हुआ दिखलाई देता है। हमारे स्तोत्रों और स्तवनों पर तो कहीं कहीं यह रंग इतना गहरा है कि वे नाममात्रके परिवर्तनसे ईश्वरवादियोंके स्तोत्रोंकी पंक्तिमें निर्भय होकर रक्खे जा सकते हैं। पिछले जैनसाहित्यमें तो कहीं कहीं भक्तिगंगा ऐसी तेजीसे बही है कि उसके प्रवाहमें बेचारे अनीश्वरवादके अस्तित्वकी कल्पना भी नहीं होती। एक जैनकवि कहते हैं:—

"स्वामी जैसे बने तैसे तारो,
मेरी करनी कछु न विचारो।"

यह ईश्वरवाद नहीं तो और क्या है?

पौराणिक लेखकोंने इस विषयकी ओर और भी अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने अपनी कवि-सुलभ कल्पनाओंसे जैनधर्मके उपासकोंके लिए प्रायः वे सभी मानतायें सुलभ कर देनेका प्रयत्न किया है जो अन्य ईश्वरवादियोंमें प्रचलित हैं। वे कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा है, क्योंकि उन्होंने चौथे कालकी आदिमें जीवनानिर्वाहकी शिक्षा दी थी, उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंको उत्पन्न किया था, उनके मुखसे चतुरनुयोग रूप चार वेद उत्पन्न हुए, वे सृष्टिके रक्षक थे, इसलिए विष्णु कहलाये, विष्णुके समान उनके भी सहस्र नाम हैं, वे कल्याणके करनेवाले हैं अतएव शंकर भी हैं। इस प्रकारकी और भी सैकड़ों बातें हैं।

और जैनधर्मके वर्तमान अनुयायियोंपर तो ईश्वरवादका रंग बे तरह चढ़ा हुआ है। उनमें १०० में से लगभग ९५ मनुष्य ऐसे होंगे जो औरोंके समान जिन भगवानको ही सुख दुःख देनेवाले समझते हैं, उन्हींका नाम जपा करते हैं, उन्हींकी सौगन्ध खाते हैं, और कहते हैं कि हमारा अमुक काम सिद्ध हो जायगा, तो हम भगवानका अमुक उत्सव करेंगे, शिखरजी गिरनारजीकी यात्रा करेंगे, अथवा मन्दिर बनवा देंगे। गरज यह कि ये लोग पूरे ईश्वरवादी बन रहे हैं। अन्तर केवल यही है कि इनके भगवान् श्रीकृष्ण, रामचन्द्र, शिव आदि न होकर ऋषभदेव, पार्श्वनाथ आदि हैं। यह सब हमारे पढ़ौसके धर्मोंका प्रभाव नहीं तो और क्या है?

गरज यह कि वर्तमान जैनधर्मपर जो कुछ 'ईश्वरवाद' की छाया दिखलाई देती है, वह स्वयं उसकी वस्तु नहीं है; किन्तु दूसरोंके प्रभावसे उत्पन्न हुई है। वास्तवमें जैनधर्म अनीश्वरवादी है और धर्मोंके इतिहासमें यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता तथा महत्ता है। गतानुगतिकताके प्रवाहमें न बहकर, युक्ति और प्रमाणोंसे असिद्ध ईश्वरको माननेसे स्पष्ट इंकार कर देना, कोई साधारण बात नहीं है। हमें अपने इस अनीश्वरवाद या नास्तिकत्वको छुपानेकी आवश्यकता नहीं है। बल्कि अब तो इसके प्रकाशित और प्रचार करनेके लिए बहुत ही अनुकूल समय आ गया है।

संसारमेंसे ईश्वरके अवतार, अंश या उनके प्रतिनिधिस्वरूप राजाओंकी सत्ता उठ रही है। उनके स्वेच्छाचारी शासनका बहुत कुछ अन्त हो चुका है और हो रहा है। अब यह कोई नहीं मानता कि राजा लोगोंको ईश्वरके घरसे किसी पर शासन करनेका या अत्याचार करनेका परवाना मिला हुआ है। अब तो यही सिद्धान्त जगद्विजयी हो रहा है कि प्रत्येक जाति स्वराज्य प्राप्त करनेकी अधिकारिणी है और प्रत्येक मनुष्य अपने घरका राजा है। इसी तरह अब इस सिद्धान्तके विश्वविजयी होनेका समय आ रहा है कि ससारमें गतानुगतिकतासे, बिना किसी युक्तिप्रमाणके मान लिये गये ईश्वरका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। मनुष्य सब तरहसे स्वतंत्र है। अपने सुख दुःखोंका वह आप ही कर्ता है और उनसे मुक्त होनेकी शक्ति वह स्वयं ही रखता है। इस समय संसारमें इस तरहकी भावनायें जोरोंपर हैं और अनेक सोशियालिस्टों तथा बोल्शेविकोंने तो स्पष्टतः घोषणा कर दी है कि जब तक ईश्वरके विश्वासका लोप नहीं होता तब तक संसारसे गुलामी या दासता नहीं उठ सकती। जैनधर्मके अनुयायियोंको भी इस बड़े भारी आन्दोलनके भागीदार बनकर अपने पुराने सिद्धान्तकी गरिमा प्रकट करना चाहिए।

—अनीश्वरवादी।

लिखितका मुद्रितसे मीलान ।

श्रीमान् सेठ माणिकचंद हीराचंदजी जे० पी० बम्बईके पुस्तकालयमें वसुनन्दि-उपासकाध्ययन (वसुनन्दिश्रावकाचार) की एक पुरानी हस्त-लिखित प्रति है जो अपनी आकृतिसे लगभग तीनसौ वर्षकी लिखी हुई मालूम होती है। इस प्रतिका हमने वसुनन्दि श्रावकाचारकी उस मुद्रित प्रतिके साथ जो मीलान किया जिसे बाबू सूरजभानजी वकील देववंदने, एक दूसरी मराठी अनुवादवाली मुद्रित प्रतिपरसे, संवत् १९६६ में छपाकर प्रकाशित किया था तो दोनोंमें परस्पर कुछ महत्त्वको लिये हुए भेद पाया गया, जिसे हम पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे प्रकट करते हैं:—

१—मुद्रित प्रतिमें 'अइथूलथूलथूलं' नामकी १८ वीं गाथा अधिक है। लिखितमें इसका अस्तित्व नहीं।

२—मुद्रित प्रतिकी २२ वीं गाथाका पूर्वार्ध लिखितप्रतिमें कुछ भिन्न दिया है। दोनों इस प्रकार हैं:—

'गोणसमयस्स एए कारणभूया जिणेहिं णिद्दिट्ठा—' २१॥

—लिखित।

'एदे कारणभूदा णिच्छयक्खा जिणेहिं णिद्दिट्ठा ॥ २२ ॥'

—मुद्रित।

३—हस्तलिखितप्रतिमें 'ताणपवेसो...... ('णाणपवेसो' गाथा नं० ३८) इत्यादि गाथा नं० ३७ के बाद 'उक्तं च' रूपसे यह गाथा दी है जो छपी हुई प्रतिमें नहीं है—

'अण्णाणं पविसंता दिंता ओगासमस्यमस्सेसिं ।
मिलंताविय णिच्चं सगसगभावं णवि चयंति ॥३८॥'

४—छपी हुई प्रतिकी 'संवेओ णिव्वेओ' इत्यादि गाथा नं० ४९ का उत्तरार्ध लिखितप्रतिसे एकदम विभिन्न है, यथा—

मु०—वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥
लि०—पूयां अ वस्यंजननं अरुहाईणं पयत्तेण ॥

१ स्तुति, ऐसा टिप्पणीमें दिया है।

५—लिखित प्रतिमें 'इच्चाइगुणा' नामकी गाथा नं० ५० के बाद यह वाक्य दिया है—

"अतो गाथाषट्कं भावसंग्रहग्रंथात् ।"

इससे मालूम होता है कि अगली छह गाथाएँ 'भावसंग्रह' ग्रंथसे उद्धृत की हुई हैं। कौनसे भावसंग्रहसे उद्धृत की गई हैं यह पुस्तकानुपलब्धिके कारण अभी तक मालूम नहीं हो सका। परंतु मुद्रित प्रतिमें यह वाक्य न होनेसे वे गाथाएँ अभी तक वसुनन्दी आचार्यकी ही समझी जाती हैं।

६—लिखित प्रतिमें 'रयणप्पसक्कर' इत्यादि गाथानं० १७२ के बाद निम्न गाथा अधिक दी है—

"पढमाए पुढवीए वाससहस्साइं दहजहण्णाऊ ।
समयम्मि वण्णिया सायारोवमं होइ उक्किसं ॥१७३॥

७—मुदित प्रतिकी गाथा नं० २०४ से पहले 'इय जो' ये शब्द लिखित प्रतिमें अधिक हैं और इनको मिलाकर पढ़नेसे छपी हुई प्रतिकी गाथा ठीक हो जाती है।

८—छपी हुई प्रतिकी गाथा नं० २३७ के 'आवस्ससच्छाइ' पदके स्थानमें लिखित प्रतिमें 'आगमसच्छाइ' पद दिया है। और नम्बर गाथाका गलतीसे वही रक्खा है।

९—मुदित प्रतिमें गाथा नं० ३६७ के बाद जो नीचेकी आधी गाथा दी है वह लिखित प्रतिमें नहीं है—

"काऊण अट्ठ एयं तराणि रइयरणगेसु चत्तारि।"

१०—मुदित प्रतिमें गाथा नं० ३७३ का पूर्वार्ध नहीं दिया। लिखितमें उसका पूर्वार्ध वह दिया है जो ऊपर नं० ९ में गाथा नं० ३६७ के बाद अधिक बतलाया है। मालूम होता है कि यह छापेमें कम्पोजको विभाजित करनेवालोंकी भूल हुई है। अन्यथा उसका हिन्दी अनुवाद यथास्थान दिया गया है।

११-मुदित प्रतिमें ' सम्मत्तणाणदंसण...' नामकी गाथा नं० ५३७ से आगे जो 'मोहक्खयेण...' तथा ' सुहमं च णाणकम्मं ' नामकी दो गाथाएँ दी हैं वे लिखित प्रतिमें नहीं हैं।

इस संपूर्ण प्रदर्शनसे हमारा अभिप्राय यह प्रकट करनेका नहीं है कि अमुक लेखक अथवा प्रकाशकने जानबूझकर कोई भूल की है और न यथार्थ अयथार्थका निर्णय करना ही इस लेखका कोई उद्देश्य है। बल्कि इसके द्वारा हम सिर्फ यह जतलाना चाहते हैं कि जैनग्रन्थोंके प्रकाशित करनेमें जितनी सावधानीसे काम लेना चाहिये उतनी सावधानीसे वह नहीं लिया जाता और न उनके प्रकाशयोग्य संस्करणोंके तय्यार करनेमें उतना परिश्रम किया जाता है जितना कि किया जाना चाहिये । बहुधा चलता काम देखनेमें आता है जिसके हमारे पास अनेक उदाहरण मौजूद हैं । राजवार्तिक जैसे महान् ग्रंथ भी जिनके बारबार छपनेकी जल्दी कोई आशा नहीं की जा सकती, बहुत कुछ अशुद्ध छपे हैं। ग्रंथोंके अशुद्ध छपनेकी हालतमें कभी कभी यथार्थ वस्तुस्थितिके मालूम करने अथवा किसी ऐतिहासिक तत्त्वकी खोज लगानेमें बहुत बड़ी असुविधा उत्पन्न होती है। दूसरी एक बड़ी हानि यह भी है कि छपे ग्रंथोंके अधिक प्रचारसे जब कालांतरमें हस्तलिखित ग्रंथों अथवा उनकी प्राचीन प्रतियोंका लोप जायगा तब उस समय अशुद्धियोंको ठीक करने अथवा यथार्थ वस्तुस्थितिको निर्णय करनेका साधन ही एक प्रकारसे नहीं रहेगा और उससे अनेक बाधाएँ उपस्थित होंगी। अतः जैन ग्रंथोंको, अनेक प्राचीन प्रतियोंपरसे मीलान करके, उन प्रतियोंमें जिन जिन बातोंका परस्पर भेद हो उसे फुट नोटों द्वारा सूचित करके और यह दिखलाकर कि कहाँ कहाँकी कौनकौनसी प्रतिपरसे ग्रंथका संपादन और संशोधन किया गया है, बड़ी सावधानीके साथ शुद्ध और साफ छापना चाहिये। और जहाँ-तक बन सके प्रस्तावना, विषयसूची, श्लोकानुक्रमणिका और परिशिष्ट आदिके द्वारा उनके संस्करणोंको उपयोगी बनानेका अच्छा यत्न करना चाहिये । * आशाहै कि जैनग्रंथोंके संपादक और प्रकाशक महाशय हमारी इस समयोचित सूचनापर अवश्य ध्यान देंगे और इस बातकी पर्वाह नहीं करेंगे कि ऐसा करनेमें हमें कुछ विशेष अर्थव्यय और समयव्यय करना होगा, वह तो करना ही चाहिये।

विना मूल्य ।

हमारे यहांसे जो पुस्तकें विना मूल्य भेजी जाती थीं उनमेंसे ' अनित्य भावना ' और ' विवाहका उद्देश्य ' ये दो पुस्तकें समाप्त हो गई हैं। हम चाहते थे कि बम्बईसे इनकी कुछ और कापियाँ मँगाकर भेजनेका काम बराबर जारी रक्खें परंतु प्रेमीजीके पत्रसे मालूम हुआ कि वहाँ उनके कार्यालयमें इनकी कोई भी कापी नहीं रही। अतः अब हमारे भाइयोंको इनके लिये पत्र भेजनेका कष्ट नहीं उठाना चाहिए। हाँ, ' मेरी भावना ' नामकी पुस्तक बराबर विना मूल्य भेजी जाती है । जिन्हें अपने तथा अपने इष्टमित्रादिकोंके लिये उसकी दो दो चार चार कापियोंकी जरूरत हो वे डाक खर्चके लिये आध आनेका टिकट भेजकर हमसे मँगा सकते हैं।

—संपादक ।

* वसुनन्दिश्रावकाचारका प्रकृत संस्करण इन सब बातोंसे शून्य है और इसलिये उसका एक अच्छा उपयोगी नवीन संस्करण छपनेकी जरूरत है।

संपादक ।

विविध प्रसङ्ग ।

(लेखक—श्रीयुत नाथूराम प्रेमी ।)

१ प्राचीन पुस्तकोंका मूल्य ।

प्राचीनताके हम सबसे बड़े भक्त हैं । उसके पीछे हम सदा ही पागल बने रहते हैं । जो कुछ ज्ञान-विज्ञान, विद्या-बुद्धि, धर्म-कर्म, शौर्य-वीर्य था, सो सब प्राचीनकालमें ही था । हमारी समझमें प्राचीनता ही सर्वश्रेष्ठताकी कसौटी है । परंतु उस परमोत्कृष्ट प्राचीनताकी इस मौखिम महिमा—या बातूनी पूजा-अर्चाके सिवाय हम और क्या सेवा-प्रतिष्ठा करते हैं, यह समझमें ही नहीं आता । पहले प्राचीन ग्रन्थों या शास्त्रोंको ही ले लीजिए । कहिए, हम लोग उनकी क्या इज्जत करते हैं ? वे भण्डारोंमें पड़े पड़े सड़ रहे हैं, दीमक और चूहे उनकी सेवा कर रहे हैं और परिणमन-शील काल उन्हें धीरे धीरे अपने विशाल उदर-देशमें डालकर नाम शेष कर रहा है । यही हमारी प्राचीन भक्ति और प्राचीनताकी पूजा है ! अब जरा उधर पाश्चात्य देशोंकी ओर देखिए । हमारी समझमें वे कोरे वर्तमान और भविष्यत्के पुजारी हैं, उनकी समझमें ज्ञान—विज्ञान आदि-की उन्नति प्राचीनकालकी अपेक्षा इस समय और इस समयकी अपेक्षा आगामी कालमें अधि-काधिक होनेवाली है । प्राचीनता उनकी दृष्टिमें एक कौतुककी, प्रदर्शिनीमें रखनेकी और संसा-रकी उन्नतिका एक क्रमबद्ध इतिहास तैयार करनेकी सामग्रीकी अपेक्षा और कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती; फिर भी प्राचीन चीजोंको वे कितना बहुमूल्य समझते हैं, यह जानकर आश्चर्य होता है । एक समाचार पत्र (The Literary Digest) से मालूम हुआ कि अभी एक बहुत ही मामूली नाटककी एक प्रतिको एक अमेरिकन धनीने ३० ००० रुपया देकर खरीद किया है । इस पुस्तककी विशेषता यह है कि अँगरेजीमें यह सबसे पहले छपा हुआ नाटक है ! मुद्रित साहित्यके इतिहासमें यह एक बहुमूल्य 'चीज' होगी और इसके पास रखनेका सम्मान उक्त अमेरिकनको मिलेगा । (Book of Hours) नामकी एक मध्ययुगकी पुस्तक ११८०० पौण्डमें बेची गई है ! प्रसिद्ध यूनानी पण्डित अरस्तू (अरिस्टाटल) की एक सम्पूर्ण ग्रन्था-वली जो सन् १४८३ में रची गई थी २९०० पौण्डमें बिकी है । इस पुस्तकके कवर पेजपर अरस्तूका एक सुन्दर चित्र है । सन् १३३६ से १३४२ के बीचमें लिखी हुई नावेरकी रानी द्वितीय 'जेनीका जीवनकाल' नामक एक और पुस्तक ११८०० पौण्डमें बिकी है । इसमें छोटे छोटे ७५ चित्र हैं । दिग्विजयी बादशाह तैमूरलंगके पौत्रको भेटमें देनेके लिए सन् १४१० में समरकन्दमें जो पुस्तक लिखी गई थी, वह ५००० पौण्डमें बिकी है । उसमें ईराणके चित्र-कारोंके कई उत्तमोत्तम चित्र हैं । प्राचीन चित्रोंके संग्रह करनेका भी यूरोपके धनियोंको बड़ा भारी शौक है । अभी कुछ ही महिने पहले सर जोशुआ रेनाल्डका चित्रित किया हुआ एक चित्र वेस्ट मिनिस्टरके ड्यूकने ५२००० पौण्डमें खरीदा है !

क्या हमारे समाजके धनी भी अपनी प्राचीन-तापूजक प्रकृतिको कभी इस रूपमें सार्थक करेंगे ? क्या प्राचीन विद्वानों और आचार्योंके जीर्णशीर्ण ग्रन्थोंको संग्रह करनेकी ओर भी कभी उनका हृदय आकर्षित होगा ? इस समय यदि वे चाहें तो लाख पचास हजार रुपयोंमें ही हजारों दुर्लभ्य ग्रन्थोंका संग्रह कर सकते हैं और अपने पूर्वजोंकी अगणित कृतियोको सदाके लिए नष्ट होनेसे बचा सकते हैं ।

२ ईश्वरके विषयमें बोलशेविकोंकी राय।

समाचारपत्रोंके पाठक रूसकी जारशाही सत्ताको उलट-पलट देनेवाले बोलशेविकोंको जानते होंगे। इस समय संसारके साम्यवादियोंमें यही अग्रगण्य हैं। ऊँच नीच, धनी निर्धनी, राजा प्रजा, आदिकी सामाजिक विषमताओंको मिटादेनेवाले इनके सिद्धान्त जगत्प्रसिद्ध हो चुके हैं; परन्तु इनके धार्मिक विचारोंसे बहुत ही कम लोग परिचित हैं। हम यहाँपर उनके केवल ईश्वरसम्बन्धी विचारोंको उद्धृत करते हैं, जो एक प्रसिद्ध बोल्शेविकके लिखे हुए हैं। वह कहता है—"मनुष्य जिन बातोंको बिलकुल नहीं जानता उनके जाननेका प्रयत्न अपनी खूब जानी हुई बातोंसे ही करता है। कूपमण्डूककी तरह वह समुद्रकी विशालताका माप कुएँके व्याससे ही करता है। मनुष्य समझता है कि अन्य चीजें भी वैसी ही होंगी जैसी कि वे चीजें जिन्हें वह रात दिन देखता सुनता रहता है। कहते हैं कि एक लड़कीका पालनपोषण एक ऐसे स्थानपर हुआ था जहाँ मुर्गियोंका व्यवसाय होता था। वहाँ उसे रातदिन अंडोंसे ही काम पड़ता था। अतः अंडे सदैव उसकी आँखोंके सामने नाचा करते थे। एक बार जब उसने तारोंसे भरा हुआ आकाश देखा तब वह कहने लगी कि समस्त आसमानमें अंडे फैल हुए हैं। इसी प्रकार जब मनुष्योंने देखा कि संसारमें कुछ मनुष्योंका काम आज्ञा देना है और कुछका आज्ञा पालन करना, तब उन्होंने सोचा कि कदाचित् समस्त संसारका संगठन भी इसी प्रकार हुआ है। कोई शक्ति ऐसी भी अवश्य होगी जो सारे संसार पर हुकूमत करती है। इसी शक्तिकी कल्पनासे ईश्वरकी उत्पत्ति हुई। संसारमें जो अधिकारी कुटुम्बका मुखिया या राजा हुकूमत करता था वह सबसे अधिक बुद्धिमान्, बलवान् और धनवान् होता था, इस लिए ईश्वर भी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और लक्ष्मीपति माना गया। कमसे कम रूसी भाषामें तो ईश्वर (Bog) शब्दकी उत्पत्ति उसी मूलसे हुई है जिससे धानिक (Bogate) की। ईश्वरमें विश्वास करना गुलामीमें विश्वास करना है। ईश्वरकी स्तुति 'प्रभु' कहकर की जाती है। प्रभु किसे कहते हैं? जो स्वामी है और गुलाम नहीं। निस्सन्देह हम ईश्वरप्रार्थनामें कहते भी हैं कि 'हे ईश्वर हम तेरे दास हैं।' इसके अतिरिक्त सर्वजित, अखिलेश, इत्यादि विशेषण भी इसी बातके द्योतक हैं कि सबल विजयी धानियोंकी प्रभुतासे ही ईश्वरकी प्रभुताकी कल्पना उत्पन्न हुई है।" बोलशेविकोंके इन विचारोंसे मालूम होता है कि वे ईश्वरको नहीं मानते और ईश्वरको साम्यवादके सिद्धान्तोंका घातक समझते हैं।

हमारा अनुमान है कि भारतके जैन बौद्ध आदि धर्म भी यहाँके प्राचीन साम्यवादी हैं; उन्होंने भी पूर्ण साम्य स्थापित करनेके लिए सृष्टिकी रचना, रक्षा और प्रलय करनेवाले किसी ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नहीं किया है। जिस तरह उन्होंने सामाजिक विषमताजनित अत्याचारोंको दूर करनेके लिए ऊँच-नीच द्विज-शूद्र आदि भेदोंका विरोध किया था—ब्राह्मणोंकी प्रबल सत्ताको क्षीण किया था, उसी तरह धार्मिक गुलामीसे मुक्त करनेके लिए अनीश्वरवादका भी प्रचार किया था। कुछ ऐसे भी प्रमाण मिले हैं जिससे मालूम होता है कि इन धर्मोंने उस समय राजाओं या शासकोंके अनियंत्रित शासनको नष्ट करनेका भी प्रयत्न किया था और इसके लिए उस समय कई प्रजातंत्र स्थापित हुए थे जिन्हें कि 'गणतंत्र'

कहते थे। कुछ विद्वानोंने पता लगाया है कि स्वयं भगवान् महावीरके पिता एक गणतंत्रके ठाकुर या प्रेसीडेण्ट थे।

ऐसा जान पड़ता है कि सोशियालिज्म या बोल्शेविज्म आदि सिद्धान्त पुराने जैन बौद्ध आदि सिद्धान्तोंके ही वर्तमान देशकालानुरूप अवतार हैं—उन्हींके रूपान्तर हैं।

३ धर्मप्रचारके सम्बन्धमें गाँधीजीके विचार।

अहमदाबाद-आर्यसमाजके वार्षिक महोत्सवमें ता० १२ जनवरीको महात्मा गाँधीने एक छोटासा परन्तु महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया था। उसमें आर्यसमाजके सम्बन्धमें कई बातें बड़े मार्केकी कही थीं। नीचे उनका सारांश दिया जाता है:—

“ आर्यसमाजके आधुनिक आन्दोलनमें मुझे दो बड़ी भारी त्रुटियाँ खास तौरसे मालूम हुई हैं। एक तो **असहिष्णुता** जिसे अँगरेजीमें ‘ इनटोलरेशन ’ कहते हैं। मैं यह नहीं कहता कि यह दोष केवल आर्यसमाजमें ही है, परन्तु इतना तो सच है कि वर्तमान पवन-प्रवाहमें आर्यसमाज सबसे अधिक बहा जा रहा है।

जिस धर्मप्रचारमें असहिष्णुताका प्रभाव है, वह सच्चा धर्मप्रचार नहीं है और वह बहुत समय तक टिक भी नहीं सकता। जिस गतिसे सर्वसाधारण प्रजाको किसी प्रकारकी हानि होती हो, उस गतिको रोकना ही धर्मका कार्य है। मैं नहीं जानता कि असहिष्णुतासे कभी किसीको लाभ हुआ है। असहिष्णुतापूर्ण धर्मप्रचार मिशनरियोंका अनुकरण होकर मिशनरी-स्वरूपमें बदल जाता है और धर्मका कार्य केवल ‘प्रचार करना ’ हो जाता है। प्रचारका यह ढंग मुसलमानों और क्रिश्चियनोंमें है और आर्यसमाजने उन्हींसे इसे ग्रहण किया है! इसीसे उनमें असहिष्णुताका प्रवेश हुआ है।

सर ओयफ्रेड लायलने अपनी एक पुस्तकमें लिखा है कि धर्मका फैलाव ऐसे चुपचाप ढँगसे होना चाहिए जिसे लोग जान भी न पावें। दूसरे सम्प्रदायोंके समान आर्यसमाजने भी हालमें एक सम्प्रदायका रूप धारण कर लिया है। यदि कोई पूछे कि जिसे लोग जान भी न सकें ऐसे चुपचाप धर्मप्रचार कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर प्रकृतिसे मिलेगा।

प्रकृतिकी लीला देखिए। एक वृक्षके विषयमें विचार कीजिए। क्या आप देख सकते हैं कि वह किस प्रकार बढ़ता है? आप अपने शरीरके अवयवोंका विकास बिना किसी प्रकारकी उछल कूदके भी अनुभव कर सकते हैं। इसी तरह धर्मका विकास भी अनुभव किया जा सकता है।

शुद्ध धर्ममें असहिष्णुताको स्थान नहीं है। उसमें जो गुण हैं वे दूसरोंमें नहीं हैं। हिंसा और मारकाटसे हिन्दू धर्म निराला है—सुरक्षित है। दूसरे धर्म ऐसे नहीं रहे। यह धर्मद्वेषसे जुदा है। हिन्दूधर्ममें भी समशेरें चली हैं और लड़ाई-झगड़े हुए हैं; परन्तु दूसरे धर्मोंमें तलवारोंकी उपयोगिताकी हद हो गई है।

आर्यसमाजकी दूसरी कमी **जिह्वापर अधिकार न रखना है**। आजकल तलवारकी अपेक्षा जीभका उपयोग विशेष होता है और वह ऐसा होता है कि तलवारके घावसे भी अधिक कसकता है। यह बात मैंने समाजके उपदेशोंमें अनेक बार देखी है कि समाजी भाई जीभ पर काबू नहीं रखते। यह बात सबको समझ लेनी चाहिए कि हम सत्यको कभी अस्वीकार नहीं कर सकते।

ऋषिमुनियोंके स्वभावका विचार कीजिए और उनके स्वभावका अध्ययन कीजिए। आपको मालूम होगा कि वे केवल शान्तिसे,

दृढ़तासे और सात्विक भावसे उपदेश देश देते थे। कभी कभी वे कटुवचन भी सुनाते थे, परन्तु उनमें भी प्रियता और सत्यता रहती थी। समाजी भाइयोंको क्रिश्चियनोंकी प्रचारपद्धति छोड़ देना चाहिए। वह अनुकरणीय नहीं है।"

महात्मा गाँधीके उक्त विचारोंसे हमारे जैन-धर्मप्रचारक पण्डितगण भी बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। समाजके समान हमारे यहाँ भी असहिष्णुता और कटु तिक्त वाक्यप्रहार, ये दोनों दोष बढ़े हुए हैं। इनसे धर्मप्रचार तो नहीं होता, उलटा धर्मद्वेष बढ़ता है। धर्मप्रचारकी वही पद्धति सर्वश्रेष्ठ है; जिसे प्राचीन समयके धर्मोपदेष्टा काममें लाते थे और जिसके विषयमें गाँधीजी इशारा करते हैं। शास्त्रार्थोंसे और तीक्ष्ण वाग्वाणोंसे लोग चुप हो सकते हैं, हार मान सकते हैं; परन्तु इससे वे विजयी विद्वानके धर्मको स्वीकार नहीं कर सकते और न उन्हें उस धर्मसे प्रेम ही हो सकता है। क्योंकि प्रेमका विशेष सम्बन्ध हृदयसे है, केवल बुद्धिसे नहीं। अतः उसके उत्पन्न करनेके लिए आघातसे नहीं किन्तु आकर्षणसे काम लेना चाहिए।

४ बीस करोड़का महान् दान।

अमेरिकाके लोग जैसे धनी हैं वैसे दानी भी हैं। ज्ञान और विज्ञानकी उन्नतिके लिए अमेरिकाके धनियोंने जितने बड़े बड़े दान किये हैं, संसारके किसी भी देशमें वैसे दान नहीं किये गये। करोड़ों रुपयोंका एकमुश्त दान करनेवाले वहाँ सैकड़ों धनी हो गये हैं और इस समय भी हैं। अभी हाल ही वहाँके सुप्रसिद्ध धनकुवेर मि० राकफेलरने विद्या-शिक्षाके लिए एक साथ बीस करोड़ रुपयोंका दान किया है। जिस देशमें इतने बड़े बड़े दान होते हैं, वहाँ यदि ज्ञान-विज्ञानकी असमान्य उन्नति दिखलाई दे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। वहाँके लोगोंको विद्याबुद्धिमें, कला कौशल्यमें, व्यवसाय वाणिज्यमें और सभ्यता शिष्टतामें संसारके शिरोभूषण बनना ही चाहिए। "किं किं न साधयति-कल्पलतेव विद्या।"

५ पारसी जातिकी दानशीलता।

भारतवर्षमें पारसियोंकी जनसंख्या एक लाखसे कुछ ही अधिक है; परन्तु वह बड़ी ही धन-सम्पन्न जाति है, साथही बड़ी ही दानशीला भी है। समयोपयोगी सार्वजनिक कार्योंमें उसके बराबर दान इस देशकी किसी भी जातिके धनियोंने नहीं किया है। कुछ समय पहले इस जातिके एक धनी मि० एन० एम्० वाडियाने समस्त भारतवासियोंके कल्याणार्थ अनेक हितकर कार्योंके लिए एक करोड़ पचास लाख रुपयेका दान किया था। इतना बड़ा दान इस देशमें वर्तमान समयमें और किसीने भी नहीं किया है। इस दान-द्रव्यसे अनेक शुभकार्य हो रहे हैं। इसी वाडिया वंशकी एक जेरबाई नाम्नी महिलाने अभी हाल ही पचास लाख रुपयोंका एकमुश्त दान किया है। यह धन पारसी जातिके दरिद्र और मध्यमश्रेणीके लोगोंकी सहायतामें खर्च किया जायगा। निस्सन्देह स्त्रीजातिके लिए यह दान बड़े ही गौरवकी बात है। विख्यात धनी सर जमसेद्‌जीताताने कुछ वर्ष पहले वैज्ञानिक शिक्षाके लिए जो तीस लाख रुपयेका दान किया था और जिससे बंगलोरमें एक विशाल विज्ञान-शिक्षालय खुला हुआ है, उसे पाठक भूले न होंगे। तातावंशने पटनाके प्राचीन खंडहर खोदनेके लिए, पूनेके भाण्डारकर इन्स्टिटच्यूटमें एक भवन बनवा देनेके लिए, तथा और भी अनेक उपयोगी कामोंमें अनेक दान किये हैं। बम्बईका जमसेदजी जीजीभाई नामका विशाल हास्पिटल, जे० जे० आर्ट स्कूल, आदि और भी अनेक संस्थायें पारसियोंकी दानशील-

ताका परिचय दे रही हैं। पारसियोंकी इस दानशीलता और सार्वजनिक सेवावृत्तिने ही उन्हें इस देशकी एक गण्य मान्य जाति बना रक्खा है।

६ एक और बड़ा भारी दान।

कलकत्तेके सुप्रसिद्ध वकील सर रासविहारी घोषका नाम जैनहितैषीके पाठक अवश्य जानते होंगे। उन्होंने कुछ वर्ष पहले कलकत्ता-विश्वविद्यालयको एक वैज्ञानिक कालेज खोलनेके लिए दस लाख रुपयेकी रकम प्रदान की थी। उक्त कालेज खुल चुका है और उससे देशका बड़ा भारी उपकार हो रहा है। अब आपने उक्त विश्वविद्यालयको ही ग्यारह लाख रुपये देनेका और भी संकल्प किया है। इससे फलित-रसायनकी शिक्षा देने और शिल्पवस्तुयें बनाना सिखानेकी व्यवस्था की जायगी। उपयोगिताकी दृष्टिसे यह दान बहुत ही महत्त्वका है। इससे देशका बहुत कल्याण होगा। फलित-विज्ञानकी शिक्षाकी इस समय देशको बड़ी भारी आवश्यकता है। यदि देशमें इस शिक्षाका प्रचार होता, तो युद्धकालमें हमारे देशके व्यवसायी इस तरह हाथ पर हाथ रक्खे हुए न बैठे रहते।

७ जैनोंकी दानशीलता।

यह तो हुई मिथ्यातियोंके दानकी बातें, अब आइए पाठक, आपको जैनोंकी दानशीलताके कुछ समाचार सुनावें। पिछले महीनेमें हमारे यहाँ रथप्रतिष्ठाओंकी खूब धूम रही। एक रथप्रतिष्ठा सागर जिलेके 'हरदी' नामक ग्राममें हुई थी। उसमें लगभग २० हजार भाई एकत्र हुए थे। जो लोग वहाँ गये थे, उनका अनुमान है कि इस रथमें पचास हजार रुपयोंसे कम खर्च न हुआ होगा। जिन धनी महाशयने यह प्रतिष्ठा कराई थी, कोई ८–१० वर्ष पहले वे एक ऐसी ही प्रतिष्ठा और भी करा चुके थे। उस बार वे 'सिंघई' बने थे अबकी बार जैनधर्मके शुभचिन्तकोंने उन्हें 'सवाई सिंघई'केपदसे विभूषित कर दिया। इसके बाद दो रथ प्रतिष्ठायें एक ही साथ जबलपुरमें हुई और वे और भी अधिक ठाठसे हुई। इनमें भी हमारी समझमें ५०–६० हजारसे कम रुपयोंका श्राद्ध न हुआ होगा। इनके बाद तीसरी रथप्रतिष्ठा अकलतरा जि० विलासपुरमें हुई। संभव है; इसमें उतना रुपया खर्च न हुआ होगा। क्यों कि उस ओर जैनोंकी संख्या कम है और रथोंमें सबसे अधिक खर्च 'भोजन-प्रसाद'में ही लगता है। तो भी इस महँगाईके जमानेमें २०–२५ हजारसे क्या कम खर्च हुआ होगा। गरज यह कि पिछले एक ही महीनेमें अकेली परवार जातिके जैनोंने लगभग सवालाख रुपयेका दान कर डाला। बतलाइए, यह दानशीलता क्या मामूली है? हमारी जैन जाति इस प्रकारके दान करनेमें निरन्तर तत्पर रहती है। प्रतिवर्ष सैकड़ों नये नये मन्दिर बनवाना, पचासों वेदीप्रतिष्ठायें और बीसों रथ-प्रतिष्ठायें या विम्बप्रतिष्ठायें करना इसी दानशीला जातिका काम है। और नहीं तो इन सब कामोंमें वह प्रतिवर्ष अधिक नहीं तो ६–७ लाख रुपये अवश्य खर्च कर देती होगी। बतलाइए, और कौन जाति इस विषयमें उनकी बराबरी कर सकती है।

८ परवार जातिकी दुरवस्था।

अब जरा दूसरी ओरकी अवस्था देखिए। जिस परवार जातिके धनिकोंने एक महीनेमें लाख सवा लाख रुपये खर्च कर डाला है, उसकी दुरवस्था सुनकर हृदय काँप उठता है!

कुछ समय पहले एक जैनसंस्थाके उपदेशक महाशय बुन्देलखण्ड और बघेलखण्डकी ओर

दौरा करके आये थे। उनके द्वारा मालूम हुआ कि उक्त प्रान्तोंकी रियासतोंमें परवार जातिके लोगोंकी दुरवस्थाका वर्णन नहीं हो सकता। वे बेचारे पढ़ेंगे लिखेंगे तो कहाँसे, (पढ़ाने लिखानेके वहाँ साधारण सुभीते भी नहीं है,) पेट भर भोजन पाना भी उनके भाग्यमें नहीं है। न वहाँ कोई व्यापारका क्षेत्र है और न उनके पास पूँजी ही है कि उससे वे कोई रोजगार कर सकें। बंजी और मेहनत मजदूरी करके ही वे किसी तरह अपना जीवन धारण कर रहे हैं। उनकी दुर्दशा देखकर पत्थर भी पसीज उठता है। अन्यत्रके परवारोंमें भी इतनी नहीं, तो भी कम निर्धनता नहीं है। कुछ शहरों और खास खास स्थानोंको छोड़कर इस जातिका अधिकांश ग्रामोंमें रहता है और वह निर्धनताके समुद्रमें ही डूबा हुआ है। इसी कारण इसमें शिक्षितों—विशेष करके उच्च श्रेणीके शिक्षितों—की संख्या बहुत ही कम—प्रायः नहींके ही बराबर—है। यह अवस्था देखकर प्रश्न उठता है कि क्या इस जातिके धानियोंके—इन रथप्रतिष्ठाओंमें लाखों रुपये खर्च कर डालनेवालोंके—हृदय नहीं है? दयामय धर्मके उपासक होकर भी क्या ये उक्त ग़रीबोंपर दया करना अपना कर्तव्य नहीं समझते? इतनी विवेक बुद्धि इनमें कब जाग्रत होगी जब ये अपने भाइयों की, निर्धनों और अनाथोंकी सहायता करना अपना पहला धर्म समझेंगे? इन सब बातोंपर विचार करते हुए उन पण्डितों और जातिके पंचोंपर बड़ी ही विरक्ति उत्पन्न होती है जो इन अविवेकियोंको, इस समयके लिए सर्वथा निरर्थक, इन रथप्रतिष्ठाओं जैसे कामोंमें धन खर्च करनेके लिए उत्साहित तथा प्रेरित किया करते हैं और उन्हें सिंघई, सवाई सिंघई आदिकी पदवियोंसे सम्मानित करते हैं। अब उपदेशकों और पण्डितोंको अपने उपदेशोंका रुख बदलना चाहिए। जब तक वे इनका सर्वथा निषेध न करेंगे, और डंकेकी चोट इनका विरोध करके दूसरे उपयोगी कामोंमें दान करनेका प्रतिपादन न करेंगे, तब तक ये गतानुगतिक भेड़िया धसान लोग माननेके नहीं। उनमें इतनी सूक्ष्म बुद्धि नहीं कि वे आपके शुभास्रवोंके तारतम्यको समझ सकें। जब तक उनके सामने यह कहा जाता रहेगा कि "यद्यपि ये भी पुण्यबन्धके कारण हैं, स्वर्गमोक्षके दाता हैं," तबतक वे इसके आगेकी यह बात समझनेवाले नहीं कि "परन्तु इस समय विद्याकी बहुत बड़ी आवश्यकता है, अतएव इसीके प्रचारके लिए दान करना चाहिए।" वे 'यद्यपि' और 'परन्तु' से जकड़ी हुई बातोंको नहीं समझते। उनसे तो साफ साफ कहा जाना चाहिए।

९ माणिकचन्द्र दि० जैन-ग्रन्थमाला।

यह जानकर पाठक प्रसन्न होंगे कि अब माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालाके कामके लिए एक स्थायी विद्वान्, पं० पन्नालालजी सोनीकी नियुक्ति कर ली गई है, इस लिए अब ग्रन्थप्रकाशनका कार्य पहलेकी अपेक्षा अधिकतासे होने लगेगा और संशोधन तथा सम्पादनके कार्यमें भी विशेष उन्नति होगी। ग्रन्थमालाकी प्रबन्धकारिणी कमेटीने नीचे लिखे आठ नवीन ग्रन्थोंको प्रकाशित करनेकी अनुमति दे दी है:—

१ न्यायकुमुदचन्द्रोदय। (संस्कृत) आचार्य प्रभाचन्द्रकृत।

२ न्यायविनिश्चयालंकार। (संस्कृत) आचार्य वादिराजकृत।

३ त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति। प्राकृत। यतिवृषभाचार्यकृत।

४ षट्पाहुड़ । श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल प्राकृत और श्रुतसागरसूरिकृत संस्कृतटीका ।

५ मूलाचार । आचार्य वट्टकेरकृत मूल प्राकृत और आचार्य वसुनन्दिकृत संस्कृत आचारवृत्ति ।

६ भाव-संग्रह । श्रीदेवसेनसूरिकृत प्राकृत और पं० वामदेवकृत संस्कृत भावसंग्रह ।

७ नीतिवाक्यामृत । पं० सोमदेवकृत मूल और एक अज्ञातनामा विद्वानकृत संस्कृतटीका ।

८ रत्नकरण्डश्रावकाचार । मूल और प्रभाचन्द्र भट्टारककृत टीकासहित ।

इनमेंसे कई ग्रन्थोंकी कापियाँ हो रही हैं । इन सभी ग्रन्थोंकी प्राचीन प्रतियोंकी बहुत आवश्यकता है । प्रत्येक ग्रन्थकी जब तक कई कई प्रतियाँ न हों तबतक संशोधन और सम्पादन अच्छा नहीं हो सकता । इस लिए पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इनमेंसे जो जो ग्रन्थ जहाँ जहाँ हो, उनको भेजने और भिजवानेकी कृपा करें । ग्रन्थ सब सावधानीसे रक्खे जावेंगे और काम हो जानेपर सुरक्षित लौटा दिये जावेंगे । उनके आने जानेका खर्च भी संस्थासे दिया जायगा ।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त और भी कहीं कोई प्रकाशित करने योग्य ग्रन्थ हों तो पाठकोंको उनकी सूचना भी हमें देते रहना चाहिए ।

ग्रन्थमालाके लिए जो दस हजारका नया चन्दा लिखा गया है, उसमेंसे अभी पाँच हजारके लगभग ही वसूल हुआ है । जिन महाशयोंके यहाँसे अभी तक चन्दा नहीं आया है उन्हें अब शीघ्र ही भेज देना चाहिए ।

ग्रन्थमालाका काम इतना बड़ा है और इतने ग्रन्थ प्रकाशित करनेके लिए पड़े हुए हैं कि इसके लिए जितनी सहायता मिल सके उतनी अपेक्षित है । धर्मात्माओं और दानियोंका लक्ष्य इसकी ओर निरन्तर रहना चाहिए ।

१० सेठीजीका छुटकारा ।

समाचारपत्रोंके पाठक यह समाचार कभीके पढ़ चुके होंगे कि आखिर सरकारने सुप्रसिद्ध पं० अर्जुनलालजी सेठी बी० ए० को छोड़ दिया और बिना किसी शर्तके छोड़ दिया । अर्थात् जैसा कि पहले सुना गया था कि वे जयपुर न जा सकेंगे, व्याख्यान न दे सकेंगे, शिक्षकका काम न कर सकेंगे, आदि शर्तोंपर छोड़े जानेवाले हैं, सो बात अब न रही । अब वे अपनी इच्छानुसार चाहे जो कार्य कर सकेंगे और चाहे जहाँ जा सकेंगे । किसी तरहकी कैद उनके लिए न रहेगी । सम्राट्की राजकीय घोषणाके अनुसार उन्हें यह मुक्ति मिली है, अतएव इस तरहकी आशा की भी गई थी कि अब वे बिना किसी शर्तके ही छोड़े जावेंगे । सरकारके इस कार्यके लिए हम उसे किसी प्रकारका धन्यवाद नहीं दे सकते । क्योंकि उसने राजकीय घोषणाके उपलक्ष्यमें केवल अपनी एक भूलका संशोधन भर किया है । सेठीजीके साथ बिना किसी अपराधके वह जो अन्याय कर रही थी, उस अन्यायको ही उसने इस अवसर पर इतने समयके बाद, दूर किया है । यह बात दूसरी है कि हममेंसे बहुतसे लोग अपने एक निरापराधी भाईको, ५–६ वर्षके लम्बे वियोगके बाद पाकर, और उससे प्रसन्न होकर, सरकारकी इस भूलसंशोधनको भी मोहवश उसकी कृपा समझ लेवें ।

सेठीजी बहुत समयके बाद, अगणित कष्ट सहन करके, हमसे मिले हैं । हम उनका हृदयसे स्वागत करते हैं और उन्हें विश्वास दिलाते हैं

कि जैनसमाजकी जो कुछ अवस्था है, उसके अनुसार उसने उनके लिए, जो कुछ वह कर सकता था, किया है। यह बात दूसरी है कि उसकी शक्ति बहुत थोड़ी है, उसकी आवाज बहुत बलन्द नहीं है, राजनीतिक क्षेत्रमें उसकी पैठ भी बहुत ही कम है; फिर भी उसने जो कुछ किया है उसका मूल्य है। वह अपने किये पर संतुष्ट नहीं है, यदि वह इससे अधिक कर सकता, तो अपना सौभाग्य समझता, जो कुछ वह नहीं कर सका है उसके लिए उसे दुःख भी है। परन्तु यह निश्चय है कि उसने इस कार्यमें अपनी शक्तिको छुपाया नहीं है। आपके लिए उसके हृदयमें बड़ा मान है। समाजके बच्चे बच्चेकी जीभ पर आपका नाम है। हजारों युवक आपको हृदयसे चाहते हैं और उनका विश्वास है कि आपको पाकर जैनसमाज उन्नतिके मार्गमें फिर तेजीसे कदम बढ़ायगा।

देशको आपसे बड़ी बड़ी आशायें हैं। अब आप वह काम कर सकेंगे, जिसके करनेकी शक्ति इस समय जैनसमाजकी किसी भी व्यक्तिमें नहीं है। आपने छः वर्षतक कठिन तपस्या की है। अब उसकी सिद्धिका समय है। आपका नाम इस समय देशव्यापी है। आपके द्वारा जैनसमाज सामाजिक, धार्मिक, और राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रोंमें आशातीत प्रगति कर सकता है।

राजकीय घोषणाके अनुसार महात्मा भगवानदीनजी भी छोड़ दिये गये हैं। हम अपने इस बन्धुका भी सादर स्वागत करते हैं।

होलीकी बची-खुची गुलाल।

नये सम्पादकजी, इतनी बडी होली हो ली, पर तुमने एक बार भी अपने इस बड़े बूढ़े शास्त्रीको याद नहीं किया। तुम्हारे ये ढंग अच्छे नहीं। और नहीं तो कमसे कम तीज-त्योहारको तो अपने गुरुजनोंकी पूछताँछ कर लिया करो। दूसरी शिकायत मुझे तुम्हारी तबीयतके बारेमें है। इस तरहकी रूक्ष और नीरस तबीयत लेकर सम्पादकी की जा सकती है, यह मुझे आज ही मालूम हुआ। बिना भंग छाने और प्रेमकी तीन अलापे, समझमें ही नहीं आता कि तुम्हारी कलम कैसे चला करती है। यहाँ तो जब तक भंग भगवतीकी आराधना नहीं कर लेता, लिखनेकी तो कौन कहे, अच्छी तरह बोल भी नहीं सकता हूँ। और भैया, यदि तुम्हारे पत्रमें महीने भरमें दो चार भी हँसी मजाककी चुलबुली बातें न रहेंगी तो उसे पढ़ेगा ही कौन? लोग ऐसे मूर्ख नहीं हो गये हैं जो गाँठके पैसे खर्च करके तुम्हारी ये पुराने जमानेकी मगज चाट जानेवाली बातें पढ़नेके लिए पत्र खरीदें। मेरा तो तुम्हारे पत्रके हैडिंग देखकर ही सिर भिन्ना उठता है। यदि सतजुग होता तो इस समय मैं तुम्हें शाप दिये बिना नहीं छोड़ता। यदि तुम्हें इस बड़े बूढ़ेके अनुभवोंसे लाभ उठाना है तो सुनो, इस पागलपनको छोड़ दो और कुछ मतलबकी बातें लिखनेका अभ्यास करो। कोरे इतिहासके पीछे पड़कर अपना और दूसरोंका मस्तक खाली करनेकी आदत छोड़ दो।

लो, इस समय मैं गहरी छानकर आया हूँ। इस समयकी एक एक बात लाख लाख रुपयेकी होगी। यदि चाहो तो नोट करते जाओ, मौका मिलनेपर प्रकाशित कर देना।

हाँ लिख चलो। पंचमकालमें सच्ची बात कहना पाप है। उसे कोई सुनना भी नहीं चाहता। " मिले जुले पंचोंमें रहिए, प्राण जायँ साँची ना कहिए। " जबसे इस शरीरने खरी सुनाना शुरू किया है तबसे इसे कोई ' टका सेर ' भी नहीं पूछता। " खरो कहैया दाढ़ी जार। " यह बिलकुल सच है। मेरे ' शास्त्री ' होनेके विषयमें किसीको तिलतुष मात्र भी सन्देह नहीं है। फिर भी सिवनीकी ' शास्त्रीयपरिषत् ' का मेरे पास निमंत्रणपत्र भी नहीं आया। यद्यपि मुझे बुलानेमें आर्थिक दृष्टिसे उन्हें कोई हानि नहीं थी; क्योंकि मैं उनपर ' ट्रावलिंग ' खर्चका बिल नहीं भेजता। परन्तु शास्त्रीय दृष्टिसे मेरी खरी बातें उनके सारे गुड़को गोबर बना देतीं। मैं शास्त्री लोगोंसे यह कहे बिना कभी न रहता कि " तुम लोग अव्वल दर्जेके आलसी निष्कर्मा और बुद्धू हो, तुमसे क्या होने जानेवाला है। क्यों व्यर्थ ही उछल उछल कर बड़बड़ाते हो? " इससे बेचारोंको चुल्लू भर पानीमें डूब मरना पड़ता। मैंने यदि परिषत्को सुशोभित किया होता, तो जिस समय पं० बंशीधरजी शास्त्रीको ' जैनसिद्धान्त ' का सम्पादकत्व भेट किया जा रहा था उस समय कहता कि ' जैनसिद्धान्त ' मासिकके बदले वार्षिक निकाला जाय। क्योंकि जब पं० खूबचन्दजी वर्ष भरमें सत्यवादीके दो तीन अंक ही मुश्किलसे निकाल पाते हैं, तब उनके बड़े भाई पं० बंशीधरजी निश्चय वर्षमें ही एक निकाल सकेंगे और इसीमें उनकी वयोज्येष्ठताकी शोभा है। मासिक साप्ताहिक पत्र निकालना मजूरोंका काम है, शास्त्रियोंका नहीं।

* * *

पारसालकी परवार-महासभामें परवार भाई पूड़ियोंके लिए लड़ मरे थे। इस नये युगकी वह सबसे पहली सभा थी जिसमें पेट-पूजाके सम्बन्धमें इतनी गहरी छनी। सभापति महाशयने बहुत गम खाई, जो ब्राह्मणोंके हाथकी पूड़ियाँ खानेवालोंको जातिसे खारिज नहीं कर दिया। न जाने कहाँसे बीचमें ही एक त्यागी महाशय आ कूदे, और उन्होंने पूड़ियोंके प्रस्तावको भिक्षामें माँग लिया! मुझे उनकी पूड़ी-प्रियता पर बड़ी दया आई। बेचारे त्यागी हो गये; फिर भी पूड़ी-मोहको न त्याग सके।

* * *

इस पूड़ी-प्रस्तावके प्रधान पृष्ठपोषक जबलपुरवाले थे। वे लोग हलवाईके यहाँके खारे सेव खाना तो जायज समझते हैं, पर पूड़ियाँ खाना नाजायज! इस पर कोई सुधारक पूछ बैठा कि जब बेसनके खारे सेव खाये जाते हैं तब आटेकी पूड़ी खानेमें क्या बुराई है? मुझे बड़ा अफसोस हुआ कि जबलपुरियोंसे इसका कोई माकूल जवाब देते न बना। यदि उनका शास्त्रीय बुद्धिसे जरा भी परिचय होता तो कह देते कि जब चना और गेहूँ दो जुदा जुदा अन्न हैं तब उनके खानेके विचारमें भेद होना स्वाभाविक है। ब्राह्मणके हाथके स्पर्शसे चनेमें एक ऐसा रासायनिक असर आ जाता है कि उससे उसमें वह दोष नहीं रहता। यदि दोनों अन्नोंको एक सा मानोगे, तो फिर पुरुषोंके समान स्त्रियोंको भी दूसरा ब्याह करना जायज मानना पड़ेगा। क्योंकि स्त्री भी तो मनुष्य ही है!

* * *

मालूम नहीं, अभीकी जबलपुरकी परवारसभामें पूड़ियोंका प्रश्न क्यों नहीं उठाया गया। पेट-पूजाके प्रश्नको हल किये बिना दूसरे कामोंमें हाथ डालनेके लिए बढ़ना निरी मूर्खता है। " सर्वारम्भास्तण्डुला प्रस्थमूलाः। " जान पड़ता है, सुधारकोंका जादू सभापति महाशय पर चल गया। आश्चर्य नहीं जो इन चलते पुर्जोंने पूड़ियोंके प्रश्नको दबा देनेकी रिश्वत लेकर ही उन्हें फिरसे सभापति बनाना स्वीकार किया हो। रामटेकमें ऐसे तो लक्षण दिखते थे कि न सिंघईजी फिर कभी सभापति बननेका नाम लेंगे और न लोग उन्हें सभापति बनावेंगे ही।

* * *

परवार-महासभाने एक प्रस्ताव वृद्धविवाहके रोकनेके लिए पास किया है। प्राय सभी जातीय सभाओंमें यह प्रस्ताव किया जाता है और उन पर बड़े बड़े जोरोंके व्याख्यान दिये जाते हैं। परन्तु सारे कुँओंमें ऐसी भाँग पड़ गई है कि कोई भी मस्तकको जरा ठिकाने लाकर यह नहीं सोचता कि इन प्रस्तावोंसे बूढ़े लोग ब्याहके मोहको कैसे छोड़ देंगे ? यदि श्रीगड़बड़ानन्द शास्त्रीकी ही यह इच्छा हो कि मुझे इस बुढ़ापेमें भी नई दुलहियाके नखरे देखना है, तो उसे रोकनेवाले तुम कौन ? यदि बिरादरी दण्ड देगी तो बन्दा समझेगा कि नई दुलहियाके बापको जब दो हजार दिये हैं, तब बिरादरी भी हजार पाँच सौ पानेकी हकदार है। दोकी जगह तीन हजार लगे। और बुढ़ापेमें ब्याह कोई कंगाल तो करता नहीं है, जो बिरादरीके दण्डकी परवाह करे। धनी और मुखिया ही इसके अधिकारी हैं। ऐसे कई जातीय सभाओंके सभापतियोंके ही नाम गिनाये जा सकते हैं जिन्होंने स्वयं इस प्रस्तावको पास किया है और फिर स्त्रीके मरते ही नया ब्याह कर डाला है। वृद्ध विवाहके रोकनेका यदि कोई उपाय है तो यही कि लड़कियाँ ब्याहके समय तक इतनी सज्ञान बना दी जायँ, वे अपने हित अहितको इतना समझने लगें कि बूढ़ोंसे ब्याह होनेका मौका आने पर साफ इन्कार कर बैठें और बूढ़ोंसे साफ साफ कह देवें कि अपनी पोतीके बराबर लड़कीके साथ शादी करनेमें तुम्हें शर्म आनी चाहिए। यदि जी नहीं मानता है, तो किसी अपनी ही उमरकी बुढ़ियाको देख लो। बस, बूढ़ोंकी अकल ठिकाने आ जायगी। इसके सिवाय जिनका एक बार ब्याह हो चुका है, उनको दोबारा कन्याके साथ ब्याह करनेका अधिकार ही नहीं रहना चाहिए। यदि वे ब्याह करना चाहें तो किसी विधवाके साथ करें। पर ये खरी बातें हैं। इन्हें न कोई सुनना चाहता है और न मानना।

—श्रीगड़बड़ानन्द शास्त्री।

(त्रुवल्लुव नायनार त्रुकुरल।

(लेखक—स्वर्गीय बाबू दयाचन्दजी गोयलीय बी० ए०।)

[जैनहितैषीमें तामिल भाषाके सुप्रसिद्ध महाकवि वल्लुवर और उनके अमरकाव्य 'कुरल' का कई बार उल्लेख किया जा चुका है। यह विक्रम संवत् १०० के लगभग रचा गया था। इसके कर्ताका धर्म क्या था, इस विषयमें मतभेद है; परन्तु अधिकांश विद्वानोंने यही निर्णय किया है कि वल्लुवर जैनधर्मके अनुयायी थे। तामिल भाषाभाषियोंमें इस काव्यका अत्यन्त आदर है। उसके पाठको ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर सभी गीताके पाठके समान पुनीत मानते हैं। इसकी पूजा तक की जाती है। मद्रास यूनीवर्सिटीका यह एक पाठ्य ग्रन्थ है। यूरोपकी कई भाषाओंमें इसके अनुवाद हो चुके हैं। अँगरेजीमें भी इसके दो तीन अनुवाद हैं। कोई तीन चार वर्ष पहले हमारी इच्छा हुई कि इस अपूर्व काव्यका हिन्दी अनुवाद भी कराया जाय। तदनुसार स्वर्गीय बाबू दयाचन्दजी बी० ए० ने इस काव्यका अनुवाद करना शुरू कर दिया। जहाँतक हम जानते हैं, बाबू साहबने तीन चतुर्थांशसे अधिक अनुवाद तैयार कर लिया था और वे एक तामिल विद्वानकी सहायतासे उसका संशोधन कर रहे थे कि अचानक ही उनका स्वर्गवास हो गया। उन्होंने अपने एक पत्रमें मुझे लिखा था कि "ड० पोपका अँगरेजी अनुवाद बहुत ही भ्रमपूर्ण है, इस लिए मैंने एक मद्रासी विद्वानका किया हुआ दूसरा अंगरेजी अनुवाद मँगा लिया है; साथ ही मुझे यहाँ एक तामिल विद्वानसे परिचय हो गया है जो मूल कुरलके अच्छे जानकार हैं। अब मैंने इन दोनों साधनोंकी सहायतासे अपने अनुवादका संशोधन करना आरंभ कर दिया है। काम धीरे धीरे होगा, परन्तु अच्छा होगा।" खेद है कि बाबू साहबकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी और हमारा मनोरथ भी मनका रह गया।

बाबू साहबके स्वर्गवासके बाद जब मैंने उक्त अनुवादकी खोजकी तो मालूम हुआ कि उसका बहुतसा अंश नहीं मिलता। न जाने कोई उनके यहाँसे

उसे उड़ा ले गया अथवा उन्होंने ही उसे किसीके पास संशोधन आदिके लिए भेजा था। मूल पुस्तकोंका भी कोई पता नहीं चला। हमारे पास जो अनुवाद आया है, वह प्रारंभसे लेकर ७५ नं० के पद्य तक और फिर ३८१ से लेकर ८९९ तकके पद्योंका है। बीच बीचमेंके भी कई पद्य छूटे हुए हैं। पूर्ण पुस्तकमें २६६० पद्य हैं। अर्थात् बाबू साहबका यह अनुवाद एक चतुर्थांशके लगभग है। अस्तु। जो कुछ बच रहा है उसे ही गनीमत समझकर हम इसे धीरे धीरे जैनहितैषीके पाठकोंकी भेट कर देना चाहते हैं। इसे प्रकाशित करते हुए हमारे सामने यह भावना रहेगी कि स्व० बाबू साहब अब भी अपने प्यारे जैनहितैषीके लिए कुछ न कुछ लिखा करते हैं और इससे हमें बहुत ही सन्तोष होगा।

हम प्रयत्न कर रहे हैं कि इस काव्यका शेष अनुवाद भी किसी विद्वानसे लिखा लिया जाय और वह पुस्तकाकार प्रकाशित हो। —नाथूराम प्रेमी।]

पहला सर्ग।

१—स्तुति।

१—जैसे प्रत्येक वर्णमालाका प्रथम अक्षर 'अ' होता है उसी प्रकार संसारकी प्रत्येक वस्तुका आदि ईश्वर है।

२—जिस मनुष्यमें ईश्वर-भक्ति नहीं है, उसकी विद्या कला व्यर्थ है।

३—जिस मनुष्यमें ईश्वर-भक्ति है उसकी निश्चयसे मुक्ति होगी।

४—जो मनुष्य रागद्वेषरहित ईश्वरकी भक्ति उपासना करेगा, उसे जीवनमें कुछ भी कष्ट नहीं होगा।

५—जो मनुष्य ईश्वरकी कृपादृष्टिका अभिलाषी रहता है वह अज्ञानजनित शुभाशुभ कर्मोंके परिणामसे मुक्त होगा, अर्थात् उसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जायगी और ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे वह जन्म मरणके दुःखोंसे छूटकर निर्वाण पद प्राप्त कर लेगा।

६—जो मनुष्य उस परमात्माके पदका अनुकरण करता है कि जिसने पाँचों इन्द्रियोंका निग्रह कर लिया है वह सदा अजर अमर रहेगा।

७—जो मनुष्य परब्रह्म परमात्माके चरणारविन्दको नमस्कार नहीं करता है, उसके दुःखोंका कभी अंत नहीं होगा।

८—जब तक मनुष्य दयानिधि परमात्माके चरण-कमलकी वंदना नहीं करता तब तक धन धान्यादिक संसारिक पदार्थोंसे उसकी लालसा नहीं जाती।

९—जो मनुष्य अपना मस्तक अष्टगुणालंकृत परमात्माके चरण कमल पर नहीं झुकाता है वह उन नेत्रोंके सदृश है कि जिनमें स्वयं अपने आपको देखनेकी शक्ति नहीं है।

१०—केवल वे ही मनुष्य जन्म-मरणके समुद्रसे पार होते हैं कि जो ईश्वरके चरणकी शरण लेते हैं।

२—जलवृष्टिकी महिमा।

१—संसारमें प्राणियोंका जीवन सामयिक जलवृष्टि पर निर्भर है, इसी कारण जलवृष्टि उनके लिये अमृतके तुल्य है।

२—जलवृष्टि द्वारा मनुष्यको प्रत्येक स्वादिष्ट पदार्थकी प्राप्ति होती है और जल स्वयमेव उसके भोजनका एक मुख्य अंग है।

३-४—यदि जलवृष्टि न हो तो सम्पूर्ण पृथिवीमें यद्यपि वह समुद्रसे वेष्टित है, दुष्काल फैल जायगा और किसान लोग जमीनको जोतना छोड़ देंगे।

५—जलसे ही पृथिवीको हानि पहुँचती है और जलसे ही फिर पृथिवीकी रक्षा होती है और जिनको हानि पहुँची थी उन्हें लाभ होता है।

६—यदि जलवृष्टि न हो तो हरी घासका एक तिनका भी कहीं नहीं उग सकता।

७—यदि सूर्य समुद्रके जलको सोखता रहे, परंतु वह फिर वृष्टिके रूपमें समुद्रमें न आवे तो अगाध समुद्रका जल भी कम हो जायगा।

८—यदि जलवृष्टि न हो तो न पृथिवी पर यज्ञ हों, न भोज्य हों, न दान हो, न धन हो और न धर्म हो।

३—मुनियोंकी महिमा।

२१—शास्त्रोंमें उन महापुरुषोंकी बड़ी महिमा लिखी है जिन्होंने संसारिक वस्तुओंका सर्वथा त्याग कर दिया है और जो मुनिजीवनका विधिपूर्वक पालन करते हैं।

२२—जिस प्रकार मृतक मनुष्योंकी गणना करना असम्भव है उसी प्रकार मुनियोंकी महिमाका वर्णन करना मनुष्यकी शक्तिसे बाहर है।

२३—जिन महात्माओंने इस संसारको तुच्छ नाशवान् और असार समझकर सांसारिक सुखोंका त्याग कर दिया है और मुनिमार्गको ग्रहण कर लिया है उनका महत्त्व इस लोकमें सर्वोच्च है।

२४—जो महानुभाव अपनी इन्द्रियोंको उसी प्रकार अपने वशमें कर लेते हैं जिस प्रकार अंकुश हाथीको वशमें करता है वे स्वर्गभूमिके लिये उत्तम बीज हैं।

२५—जिस योद्धाने अपनी पाँचों इन्द्रियोंको निग्रह कर लिया है उसके बलके स्वयं देवाधिदेव साथी हैं।

२६—महापुरुष ही कठिन कार्योंको कर सकते हैं; नीच पुरुषोंसे कठिन कार्य नहीं हो सकते। (कठिन कार्योंसे यहाँ पर तात्पर्य यम, नियम, साधन, प्राणायाम इत्यादिसे है।)

२७—जो मनुष्य स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाचों इन्द्रियोंके विषयको भली भाँति समझता है और समझकर उनको अपने वशमें रखता है, संसार उसके अधीन हो जाता है।

२८—ऋषियोंके वाक्योंसे उनका महत्त्व प्रकट होता है।

२९—जिन महर्षियोंने संसारको सर्वथा त्याग दिया है उनका क्रोध इतना तीव्र होता है कि वे स्वयमेव क्षणमात्रके लिये भी उसे रोक नहीं सकते।

३०—उसी मनुष्यको ब्राह्मण कहना चाहिए जो ब्राह्मणके कार्य करता है। ब्राह्मणका कार्य जीव मात्रके प्रति दयाका व्यवहार करना है।

४—धर्मकी महिमा।

३१—जब धर्मसे इस लोक, परलोक दोनोंका सुख साम्राज्य मिल जाता है तब धर्मसे बढ़कर मनुष्यके लिये कौन वस्तु है।

३२—धर्मसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है और धर्मकी विस्मृतिसे बढ़कर कोई हानि नहीं है।

३३—जिस प्रकार हो सके और जहाँ कहीं हो सके मनुष्यको निरंतर यथाशक्ति धर्मकार्य करने चाहिएँ।

३४—अपने हृदयको शुद्ध और निर्दोष बनाओ, इसीका नाम वास्तवमें धर्म है। इसके अतिरिक्त और सब केवल आडम्बर है।

३५—लोभ, द्वेष, क्रोध और दुर्वचन इन चार बातोंका त्याग करके मनुष्यको धर्म करना चाहिए।

३६—अपने मनमें कभी यह बात मत सोचो कि मरते समय धर्म कर लेंगे, अभी क्या जल्दी है; किंतु अभीसे धर्म करना प्रारम्भ कर दो। एक क्षणका भी बिलम्ब न करो। क्यों कि मरते समय धर्म ही तुम्हारा एक मात्र सहायक और साथी होगा।

३७—धर्मका फल वाणिद्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। इसका ज्ञान तुम्हें पालकीमें बैठे हुए मनुष्य और पालकीको अपने कंधे पर रखकर दौड़कर लेजानेवाले मनुष्योंके देखनेसे भली भाँति हो सकता है।

३८—यदि तुम अपने जीवनमें निरंतर धर्मकार्य करो और एक दिन भी व्यर्थ नष्ट न करो तो तुम पुनरागमनके झंझटसे मुक्त हो जाओगे।

३९—अपनी स्त्रीके साथ रमण करनेमें ही सुख है। अन्यके साथ रमण करना दुःख और नाशका कारण है।

४०—मनुष्यको केवल धर्मकार्य करना चाहिए और अधर्मसे बचना चाहिए।

हिन्दीके नये और अपूर्व ग्रन्थ।

सिंहल विजय।

सुप्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल रायका यह सबसे सबसे अन्तिम नाटक है। बहुत पुराने समयमें बंगालके एक राजकुमारने सिंहल या लंकाको जाकर जीता था और वहाँ बौद्ध धर्मका प्रचार किया था। इसी ऐतिहासिक कथानकको लेकर इस अपूर्व नाटककी रचना की गई है। पितृ-प्रेम, पुत्र प्रेम, पति-प्रेम और बन्धु-प्रेमके इसमें अपूर्व चित्र खींचे गये हैं। रामायणमें केवल एक कैकेयी है, परन्तु इसमें आपको दो कैकेयीओं या विमाताओंके दर्शन होंगे। वहाँ केवल एक ही पत्नीभक्त पिता है; परन्तु यहाँ पत्नीभक्त पिताके सिवाय एक विपिता भी है। इसकी नायिका लीला और प्रतिनायिका कुवेणीका चरित्रचित्रण कविकी एक अपूर्व सृष्टि है। इन दोनोंके चरित्र प्रतिदानकी इच्छा न रखनेवाले निःस्वार्थ प्रेम और प्रतिदानके लिए व्याकुल वासनाविह्वल प्रेमके दो सजीव चित्र हैं। मेवाड़—पतनके समान यह भी विश्वप्रेम और देशभक्तिके भावोंसे भरा हुआ है। सुरुचिपूर्ण हास-परिहासकी भी इसमें कमी नहीं है। एक बार पढ़ना शुरू करके फिर आप इसे सहजहीमें न छोड़ सकेंगे। स्टेज पर भी यह सफलतापूर्वक खेला जाता है। द्विजेन्द्र बाबूका यह सबसे बड़ा नाटक है। अभी हालही छपकर तैयार हुआ है। मूल्य १≈), सजिल्दका १॥)

प्राकृतिक चिकित्सा। इसमें सब प्रकारके रोग होनेके कारण और उनके बिना कौड़ी पैसेके प्राकृतिक उपाय बतलाये गये हैं। ठंडे पानीके टबमें कटि-स्नान करना, मेहन-स्नान करना, बफारा (वाष्प स्नान) लेना, कोयलेंकी आँचसे पसीना लेना, धूप-स्नान करना, स्वच्छ जलको अधिक परिमाणमें पीना, लम्बी साँस लेना, व्यायाम तथा प्राणायाम करना, स्वच्छ वायुका सेवन करना, आदि आदि उपायोंको बड़े अच्छे ढँगसे इसमें बतलाया है। प्रत्येक गृहस्थके घरमें रहने योग्य पुस्तक है। मू० ।≈)

कर्नल सुरेश विश्वास। सुरेश विश्वास एक बंगाली थे। ये छुटपनमें बड़े ही खिलाड़ी, उपद्रवी, उद्धत और अवाध्य लड़के थे। पढ़ने लिखनेकी ओर इनकी जरा भी रुचि नहीं थी। ये घरसे भागकर यूरोप अमेरिका आदि देशोंमें वर्षों घूमते रहे और केवल स्वावलम्बनके बलसे उन्नति करते करते करते ब्राजिल देशकी सेनाके प्रतिष्ठित सेनापति हो गये। इतना ही नहीं ये इंग्लिश, फ्रेंच, पुर्तगीज आदि अनेक भाषाओंके और डाक्टरी ज्योतिष, प्राणिशास्त्र आदि अनेक विज्ञानोंके धुरन्धर पण्डित होगये। इस पुस्तकमें उन्हींका शिक्षाप्रद जीवनचरित है। मू० ॥)

विधवा कर्तव्य। एक बहुत ही अनुभवी विद्वानने इस पुस्तकको लिखा है। जैनियों और हिन्दुओंके प्रत्येक धर्म और पन्थकी विधवाओंका कल्याण करनेकी इच्छासे यह लिखी गई है। इससे विधवाओंके असह्य दुःख कम हो जायँगे, वे घरमें शान्ति रखनेकी, बालबच्चोंकी सेवा करनेकी, अच्छी शिक्षा देनेकी, समाज-सेवा करनेकी, दीन दुखियोंको सहायता पहुँचानेकी इस तरह अनेक प्रकारकी शिक्षायें पावेंगी और उनका निरर्थक जीवन समाज और देशके अर्थ लगने लगेगा। इसके उपदेश प्रत्येक विधवाके कानों तक पहुँचने चाहिए। सधवायें भी इससे बहुत लाभ उठा सकती हैं। मूल्य ॥)

देश-दर्शन।

अबकी बार मूल्य ३) की जगह २।) कर दिया गया है और सादी पुस्तकका मूल्य और भी कम अर्थात् १॥) है। इस ग्रंथका अधिकाधिक प्रचार हो, इसी लिए यह मूल्य घटाया गया है। चित्र पहलेकी अपेक्षा दूने हैं, छपाई और बायंडिंग भी सुन्दर है। ग्राहकोंको इसके प्रचारका प्रयत्न करना चाहिए।

देश-दर्शनमें देशकी शोचनीय अवस्थाका रोमांचकारी दर्शन कराया है। इसके दरिद्रता और दुर्भिक्ष सम्बन्धी प्रकरण पढ़नेसे हृदय दहल जाता है। इस देशका दूसरे देशवालोंके साथ व्यापार, रोग, मृत्यु, उम्र, शिक्षा, आर्थिक अवस्था आदि सभी बातोंमें संख्यायें देकर मिलान किया है। विवाह-संस्कारका प्रकरण बड़े ही महत्त्वका है। उसमें विवाहका वैदिक कालसे अबतकका इतिहास दिया है और बतलाया है कि इस विषयमें देशका कितना पतन हो गया है। भारतके शहरोंकी स्वास्थ्यनाशिनी नारकीय दशा, वेश्याओंकी वृद्धि, लोगोंके नैतिक चरित्रका अधःपात, किसानोंकी कष्टदायक अवस्था, मजदूरोंकी मुसीबतें आदि विषयोंका भी अच्छा दिग्दर्शन कराया है। हिन्दीमें अपने ढंगकी एक ही पुस्तक है। माल्थसके सिद्धान्तोंको भारतपर अच्छी तरह घटाया है।

साम्यवाद ।

युरोपकी वर्तमान अशान्तिका स्वरूप समझनेके लिए अपूर्व ग्रन्थ । इसमें भगवान् महावीर और बुद्धदेवके समयके प्राचीन साम्यवादसे लेकर अबतकके व्यापारसघवाद, श्रमजीविसंघवाद, अराजकतावाद, सोशियालिज्म, बोल्शेविज्म, आदि भिन्न भिन्न प्रकारके साम्यवादोंका स्वरूप, उनके सिद्धान्त, उनका और उनके उत्पादक विद्वानोंका इतिहास, रूसकी भयंकर राज्यक्रान्ति आदि सभी बातोंको विस्तारपूर्वक लिखा है । इस विषयके सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों और समाचारोंको पढ़ करके यह ग्रन्थ लिखा गया है । जो लोग यह समझना चाहते हैं कि संसारमें आगे किस प्रकारके राज्य स्थापित होंगे और वर्तमानके अमीरों और गरीबोंके युद्धका परिणाम क्या होगा, उन्हें यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिए । पृष्ठ संख्या ५००, मू० ३)

सुगम-चिकित्सा । खाने पीनेके नियमोंका विधिपूर्वक पालन करनेसे कैसे कैसे रोग आराम हो जाते हैं, यह बात इस अपूर्व पुस्तकके पढ़नेसे मालूम होगी और निरोग रहनेके उपाय सूझ पड़ेंगे । मूल्य दो आना ।

मूलाचार । आचार्य बट्टकेरका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ । मूल प्राकृत, संस्कृतच्छाया और भाषाटीका सहित बहुत सुन्दरताके साथ हाल ही छपकर तैयार हुआ है । मूल्य लागत मात्र अर्थात् तीन रुपया ।

पाण्डव पुराण ।

श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत संस्कृत ग्रन्थका पं० घनश्यामदासजी न्यायतीर्थकृत नवीन हिन्दी भाषानुवाद । वचनिकामें यह ग्रन्थ पहले पहल छपा है । इसे जैनोंका महाभारत समझना चाहिए । मूल्य साढ़े पाँच रुपये ।

हमारे यहाँ सब जगहके छपे हुए जैनग्रन्थ मिलते हैं ।

जैनग्रन्थ-उद्धारक कार्यालयके तमाम ग्रन्थ ।

हमने खरीद लिये हैं, इस लिए जिन भाइयोंको चाहिए वे हमसे मँगानेकी कृपा करें:—

१ **ऋषिमण्डल मंत्र कल्प** (मंत्र, पूजा और साधन-विधिसहित) । दूसरी बारका छपा हुआ । मू० ॥)

२ **प्रतिष्ठासारोद्धार** पं० आशाधर कृत । संस्कृत और भाषाविधिसहित । इसकी सहायतासे वेदीप्रतिष्ठा बिम्बप्रतिष्ठा आदि सब काम कराये जा सकते हैं । मू० १।॥) और सजिल्दका २)

३ **महावीरपुराण** । भगवान् महावीर तीर्थंकरका जीवन चरित । सकलकीर्तिभट्टारकके संस्कृतग्रन्थका पं० मनोहरलालजीकृत हिन्दी अनुवाद । मू० १॥) और १।॥)

४ **आलोचनापाठ** भाषा, अर्थसहित । मूल्य -)॥

मैनेजर, जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगाव, बम्बई ।

बम्बईका माल ।

बम्बईका सब तरहका माल—कपड़ा, किराना, स्टेशनरी, पीतल ताँबा, दवाइयाँ, तेल, साबुन आदि—हमसे मँगाइए । माल दस जगह जाँच करके बहुत सावधानी और ईमानदारीके साथ भेजा जाता है । चौथाई रुपयेके लगभग पेशगी भेजना चाहिये । एकबार व्यवहार करके देखिए ।

नन्हेंलाल हेमचन्द जैन, कमीशन एजेंण्ट,
चन्दावाड़ी, पो० गिरगाँव, बम्बई ।

Printed by Chintaman Sakharam Deole, at the Bombay Vaibhav Press, Servants of India Socity's Building, Sandhurst Road, Girgaon, Bombay.

Published by Nathuram Premi, Proprietor, Jain-Granth-Ratnakar Karyalaya, Hirabag, Bombay.

श्रीवर्द्धमानाय नमः ।

भाग १४ । अंक ६ ।

जैनहितैषी ।

चैत्र १९७६ । मार्च १९२० ।

विषय-सूची ।

पृष्ठ संख्या ।

२३-६-१९२० ।

सम्पादक, बाबू जुगलकिशोर मुख्तार ।

मुंबई वैभव प्रेस.

प्रार्थनायें ।

१ जैनहितैषी किसी स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर निजी लाभके लिए नहीं निकाला जाता है । इसके लिए जो समय, शक्ति और धनका व्यय किया जाता है वह केवल निष्पक्ष और ऊँचे विचारोंके प्रचारके लिए । अतः इसकी उन्नतिमें हमारे प्रत्येक पाठकको सहायता देनी चाहिए ।

२ जिन महाशयोंको इसका कोई लेख अच्छा मालूम हो उन्हें चाहिए कि उस लेखको वे जितने मित्रोंको पढ़कर सुना सकें अवश्य सुना दिया करें ।

३ यदि कोई लेख अच्छा न मालूम हो अथवा विरुद्ध मालूम हो तो केवल उसीके कारण लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव धारण न करनेके लिए सविनय निवेदन है ।

४ लेख भेजनेके लिए सभी सम्प्रदायके लेखकोंको आमंत्रण है । —सम्पादक ।

नियमावली ।

१ जैनहितैषीका वार्षिक मूल्य २) दो रुपया पेशगी है ।

२ ग्राहक वर्षके आरंभसे किये जाते हैं और बीचमें ७ वें अंकसे । आधे वर्षका मूल्य १।)

३ प्रत्येक अंकका मूल्य तीन आने ।

४ लेख, बदलेके पत्र, समालोचनार्थ पुस्तकें आदि "**बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा (सहारनपुर)**" के पास भेजना चाहिए । सिर्फ प्रबन्ध और मूल्य आदि सम्बन्धी पत्रव्यवहार इस पतेसे किया जायः—

मैनेजर, **जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई ।

नये जैनग्रन्थ ।

१ उत्तरपुराण । आचार्य गुणभद्रकृत मूल और पं० लालारामजीकृत भाषानुवादसहित । मू० १०)

२ त्रैलोक्यसार । मूल और पं० टोडरमलजी-कृत भाषावचनिका सहित । मू० ५॥)

३ क्रियाकोश । पं० दौलतरामजीकृत छन्दोबद्ध ग्रन्थ । मू० २॥)

४ समयसार । आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीका, तात्पर्यवृत्ति और भाषाटीकासहित । निर्णयसागरका छपा हुआ । मूल्य ४॥)

५ तीस चौवीसीपाठ । कविवर वृन्दावनजी कृत । मू० २)

६ जैनसिद्धान्तप्रवेशिका । स्वर्गीय पं० गोपालदासजी कृत । मू० ।≈)

मैनेजर, **जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई ।

जरूरत ।

वनिता-विद्यालयके लिये हमें एक ऐसी अध्यापिकाकी जरूरत है जो कि वयकी प्रौढ़ा, समयानुसार धर्मज्ञ और जीवविचार नवतत्वादिककी ज्ञाता हो । वेतन योग्यतानुसार दिया जायगा । निर्वाहके लायक उचित स्थानका प्रबंध भी कर दिया जायगा । पत्र-व्यवहार निम्नलिखित पतेसे होना चाहिये । जो भाई हमें ऐसी अध्यापिकाका पता बतलाएँगे उनके हम बहुत आभारी होंगे ।

जयलाभ मुनि
व्यवस्थापक वनिता-विद्यालय,
सदरबाजार जैनमंदिर, रायपुर सी. पी.

विलम्बका कारण ।

गत फरवरी मासमें मुझ पर एकाएक इन्फ्लुएँजा और निमोनियाका आक्रमण हो जानेसे मैं प्रायः डेढ़ महीने तक बहुत ज्यादह बीमार रहा हूँ । इस बीमारीमें निर्बलताके अत्यधिक बढ़ जानेके कारण समय पर हितैषीका संपादन नहीं हो सका । इसी लिये यह अंक विलम्बसे पाठकोंकी सेवामें पहुँच रहा है । अप्रेल और मईके अंक भी अब यथाशक्य शीघ्र पाठकोंकी सेवामें पहुँचेगे, ऐसी आशा की जाती है । मेरी बीमारीके कारण हितैषीके पाठकोंको प्रतीक्षाजन्य जो कुछ कष्ट उठाना पड़ा है उसका मुझे दुःख है ।

सरसावा
ता० १२-५-२०

जुगलकिशोर
मुख्तार ।

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।

चौदहवाँ भाग । अंक ७

जैनहितैषी ।

फरवरी १९२०
फाल्गुन २४४६

न हो पक्षपाती बतावे सुमार्ग, डरे ना किसीसे कहे सत्यवाणी ।
बने है विनोदी भले आशयोंसे, सभी जैनियोंका हितैषी हितैषी ॥

सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र ।

(लेखक-श्रीयुत मुनि जिनविजयजी ।)

(३)

जिस तरह, श्वेताम्बर संप्रदायके प्रसिद्ध आचार्योंने सिद्धसेन दिवाकरकी प्रशंसा की है उसी तरह दिगम्बर संप्रदायके सूरिवरोंने भी उनके विषयमें स्तुतिपरक उद्गार प्रकट कर, समुचित गौरव किया है ।

हरिवंशपुराणके कर्ता महाकवि जिनसेन-सूरिने अपने पुराण-रूप महाकाव्यकी प्रस्तावनामें समन्तभद्रादि बड़े बड़े प्रभावक आचार्योंका स्मरणीय उल्लेख करते हुए सिद्धसेनसूरिका भी-उनकी सूक्तियोंकी प्रशंसा द्वारा-सादर स्मरण किया है । यथा—

> जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।
> बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

इसी तरह आदिपुराणके कर्ता महाकवि जिन-सेनाचार्य (द्वितीय) ने भी अपने महापुराणके आरंभमें निम्नलिखित श्लोक द्वारा सिद्धसेन सूरिके पाण्डित्यकी प्रभुताका उल्लेख कर उनके प्रति अपना आदर-भाव प्रकाशित किया है—

> प्रवादिकरियूथानां केशरी नयकेशरः ।
> सिद्धसेनकविर्जीयाद् विकल्पनखराङ्कुरः ॥

भट्ट अकलंकदेवके ग्रन्थोंमें भी सिद्धसेन सूरिके वचन प्रमाणतया उद्धृत किये हुए दिखाई देते हैं[१] । इससे उनकी प्रामाणिकताका

१ तत्त्वार्थ राजवार्तिकके ८ वें अध्यायके १ म सूत्रके १७ वें वार्तिकमें, सिद्धसेनसूरिका, प्रथम द्वात्रिंशिकान्तर्गत निम्नलिखित सुप्रसिद्ध पद्य उद्धृत किया हुआ है—

> सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु
> स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः ।
> तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता
> जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥

यह पद्य और भी अनेकानेक ग्रंथकारों द्वारा यत्र तत्र उद्धृत किया हुआ दृष्टिगोचर होता है । इस पद्य-के विचार सिद्धसेनसूरिके मौलिक विचार हैं ।

पूरा परिचय मिल जाता है और जैन धर्मके दोनों संप्रदायोंमें उनकी प्रतिष्ठा एकरूपसे स्वीकृत की गई है यह स्पष्ट जाना जा सकता है।

लक्ष्मीभद्र नामक दिगम्बर विद्वानके बनाये हुए 'एकान्त खण्डन' नामक ग्रन्थमें

अनेकान्तलक्ष्मीविलासाऽऽवासाः सिद्धसेनार्य्या असिद्धिं प्रत्यपादयन्

'असिद्धं सिद्धसेनस्य........'

'नित्याद्येकान्तहेतोर्बुधततिमहितः सिद्धसेनो ह्यसिद्धम्।'

इत्यादि प्रकारके उल्लेखों द्वारा, सिद्धसेनसूरिका समन्तभद्रादिक आचार्योंके साथ हेतुके स्वरूप-विषयक विचार-विरोधका आदरयुक्त वर्णन किया हुआ है, और इस प्रकार समन्तभद्रादिकके समान ही उनकी प्रामाणिकता स्वीकृत की गई है[1]।

सिद्धसेनसूरिके बारेमें लिखे गये उपर्युक्त विचारोंके अवलोकनसे विज्ञ पाठक जान सकेंगे कि जैनधर्मके समर्थक आचार्योंमें उनका कितना ऊँचा आसन है और पिछले लेखकों द्वारा वे कितने सत्कृत हुए हैं।

स्वामी समन्तभद्र।

अब हम कुछ बातें सिद्धसेनसूरिहीके समानासनासीन स्वामी समन्तभद्रके बारेमें निवेदन करना चाहते हैं।

श्वेताम्बर साहित्यमें जो स्थान सिद्धसेन दिवाकरको मिला है वही स्थान दिगम्बर साहित्यमें स्वामी समन्तभद्रको प्राप्त है। श्वेताम्बर संप्रदायके तर्कशास्त्र-विषयक साहित्य पर जितना प्रभाव सिद्धसेनसूरिकी कृतियोंका पड़ा है, उतना ही प्रभाव दिगम्बर संप्रदायके तद्विषयक वाङ्मय पर स्वामी समन्तभद्रकी कृतियोंका पड़ा है। जिस तरह श्वेताम्बर साहित्यमें सिद्धसेनके पूर्वकालीन कोई स्वतंत्र तर्क-विषयक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, वैसे ही दिगम्बर साहित्यमें समन्तभद्रके पूर्वका वैसा कोई ग्रंथ नहीं है। श्वेताम्बर संप्रदायमें संस्कृत भाषाके पद्यात्मक प्रौढ ग्रंथोंके प्रथम प्रणेता जैसे सिद्धसेन हैं, वैसे ही दिगम्बर संप्रदायमें समन्तभद्र हैं। इन दोनों विद्वानोंके पहले, दोनों संप्रदायोंमें संस्कृत भाषाका विशेष अभ्यास और आदर नहीं था। तब तक जैन श्रमणोंमें प्राकृत भाषाहीका प्रभुत्व था। श्रमणोंके अभ्यासके विषय भी बहुत नहीं थे। जिस तरह, वर्तमानमें श्वेताम्बर संप्रदायकी स्थानकवासी (ढूँढिया) नामक शाखाके साधुओंमें बहुधा देखा जाता है कि उनमें केवल मूल-सूत्रोंका पाठ कंठस्थ कर लेने और सारे दिन बैठे बैठे वह पाठ मात्र पढ़ते-बाँचते रहनेके सिवा, न कोई सूत्रोंके अर्थका विशेष विचार किया जाता है और न कोई व्याकरण, काव्य कोषादिका अभ्यास किया जाता है; उसी तरह शायद उस पुराने जमानेके भी बहुतसे श्रमणोंका हाल रहा होगा। सम्मतितर्कके अन्तमें, सिद्धसेनसूरिने—

'तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइ अव्वं।'

इत्यादि प्रकारका जो उल्लेख किया है और सूत्र (मूलपाठ) के साथ अर्थसंपादन करनेमें भी यतियोंको यत्न करना चाहिए, ऐसा जो उपदेश दिया है, उससे हमारे इस विचारकी पुष्टि होती है। अर्थ-परिज्ञान और व्याकरण, काव्य, कोष, आदिक सर्वसाधारण विषयोंका ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्यको न तत्त्वबोध हो सकता है और न वह दूसरोंको करा सकता है। सर्वसाधारण परिज्ञानके उक्त सब साधन भारतवर्षमें प्राचीन कालसे एक मात्र संस्कृत भाषा-

---

१ इस विचार-विरोधके स्पष्टीकरणके लिये किसी अगले अंकमें हम एक स्वतंत्र लेख लिखना चाहते हैं। यहाँ पर सूचन मात्र कर दिया गया है।

हीमें उपलब्ध होते हैं । वर्तमानमें अंगरेजाकी तरह प्राचीनकालमें संस्कृत ही विद्वानोंके व्यवहारकी मुख्य भाषा थी। इस लिये जैनश्रमणोंको बहुज्ञ और विशिष्ट विद्वान् बनानेके लिये संस्कृत भाषाके अध्ययन-अध्यापनकी, आवश्यकता थी । यह आवश्यकता तब ही पूरी हो सकती थी जब उत्तम और प्रौढ विचारके ग्रंथ इस भाषामें बनाये जाते और उनके सीखनेकी श्रमणोंको खास जरूरत मालूम देती। इस लिये सिद्धसेन दिवाकरने संस्कृतहीमें अपने प्रौढ और गंभीर विचार लिपिबद्ध करने शुरू किये । परंतु, जैन श्रमणोंमें संस्कृतका नया ही प्रवेश था, इस लिये, जैसे वर्तमानमें अंगरेजी भाषाके देशी विद्वानोंको अपने विशिष्ट विचार अंगरेजीहीमें व्यक्त करना अधिक पसंद होने पर भी, स्वदेशनिवासी सर्वसाधारण जनसमूहको, अपने विचारोंका परिचय करानेके लिये मातृभाषामें भी कुछ थोड़ा-बहुत लिखना पड़ता है; वैसे ही शायद सिद्धसेनसूरिको, (यहाँ पर सिद्धसेनको लक्ष्य कर यह कथन लिख रहे हैं, इसलिये प्रधानत: उनका ही जिकर करना पड़ता है, परंतु यह बात इस प्रकारके अन्य विद्वानोंके लिये भी समझ लेनी चाहिए) संस्कृत भाषाहीमें लिखना विशेष प्रिय होने पर भी, सभी श्रमणोंको अपने मौलिक अतएव नवीन विचारोंका परिचय करानेके लिये, श्रमण-समूहकी साधारण और प्रिय भाषा जो उस समय प्राकृत थी, उसमें भी कुछ लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई होगी । 'सम्मतिप्रकरण' का प्राकृत भाषामें होना हमारे इस अनुमानका विशिष्ट कारण है । ऐसा न होता तो फिर, वैसा प्रौढ और तर्क-प्रवण ग्रंथ, संस्कृत भाषाके अत्यंत अनुरागी और महाकवि होने पर भी वे प्राकृत जैसी सरल और साधारण भाषामें क्यों लिखते ?

समन्तभद्र स्वामीने प्राकृत भाषामें कोई ग्रंथ-रचना की है या नहीं, इसका कुछ पता नहीं लग सकता । उनके नामसे जितने ग्रंथ वर्तमानमें प्रचलित और प्रसिद्ध हैं—और उनको उन्हींकी कृति माननेमें कोई विशेष सन्देह-जनक कारण भी नहीं है—उनके विषयका विचार करनेसे प्रतीत होता है कि उन्होंने प्राकृतमें कोई रचना नहीं की होगी । 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' का विषय प्राकृतमें गूँथे जानेके योग्य था । ऐसे धर्मतत्त्व-प्रतिपादक ग्रंथ, जैनसाहित्यमें संस्कृतकी अपेक्षा प्राकृतहीमें अधिक उपलब्ध हैं, और समाजको प्रिय भी इसी भाषाके ग्रंथ अधिक हो सकते हैं । क्यों कि अज्ञान बालक-बालिकायें और मन्दमति स्त्रियाँ भी उन्हें सरलतापूर्वक पढ़ सकती हैं । श्वेताम्बर संप्रदायमें तो बहुत अर्वाचीन कालतक भी ऐसे ग्रंथ प्राकृतहीमें लिखे गये हैं । रत्नकरण्डकका दिगम्बर संप्रदायमें सभी स्त्री-पुरुष पाठ पढ़ते-सुनते रहते हैं, इस लिये संस्कृतकी अपेक्षा यह ग्रंथ प्राकृतमें होता तो लोगोंको और भी अधिक सुगम और सरल पड़ता । परंतु हमारे विचारसे, दिगम्बराचार्योंमें, स्वामी कुन्दकुन्दके बाद, प्राकृत भाषा परसे बिलकुल प्रेम उठ गया था और उसके उठ जानेमें मुख्य कारण स्वामी समन्तभद्रका संस्कृत-प्रेम और उनकी उसीमें रची गई सब कृतियाँ हैं । समन्तभद्रकी देखादेखी पिछले प्राय: सब ही दिगम्बर विद्वान्, विशेष कर संस्कृतहीमें ग्रंथ-रचना करते रहे हैं । अस्तु ।

हमारे इस लिखनेका मतलब यही है कि, सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों जैनसमाजमें संस्कृत-भाषाके विशिष्ट लेखक और प्रचारक थे ।

हम ऊपर सूचित कर आये हैं कि सिद्धसेनके पूर्वहीमें बौद्ध और ब्राह्मणोंके बीच तर्क-युद्धका प्रारंभ हो चुका था, और इसलिये

बौद्ध श्रमणोंको पाली भाषाके प्रवाहमेंसे निकलकर संस्कृतके स्रोतमें दाखिल होना पड़ा था और ब्राह्मणोंके समान ही तर्क-विषयक साहित्यका संगठन कर भगवान् गौतम बुद्धके शासनका संरक्षण करनेमें वे कटिबद्ध हो रहे थे। उन बौद्ध श्रमणोंका प्रभाव जैन निर्ग्रन्थों पर भी पड़ा और उनको अपने कार्यमें सफल होते देख जैन निर्ग्रन्थोंने भी उसी मार्गका अनुसरण करना शुरू किया।

बौद्धोंके साथ वाद-विवाद करते हुए ब्राह्मणोंकी दृष्टि, शनैः शनैः बौद्धोंहीके समान बहुतसे आचार-विचार रखनेवाले और अतएव ब्राह्मणवर्चस्वका विनिपात करनेवाले जैन निर्ग्रन्थोंके, शान्त परंतु स्थिर भावसे बढ़ते हुए सामर्थ्य और लोकप्रियत्व पर भी पड़ने लगी। यद्यपि जैन निर्ग्रन्थ उस समय अपना प्रशमरसपरिपूर्ण जीवन केवल निर्जन-वनोंमें घूमते और धर्मध्यानमें मग्न रहते ही बिताते थे; उन्हें अपना अनुरक्त-वर्ग बढ़ानेका या सम्राटोंके गुरु बननेका कोई लोभ नहीं था। जनसमूहके विशेष संसर्गसे वे दूर दूर रहते थे। इसलिये ब्राह्मणोंको अपनी आजीविका और लोकप्रतिष्ठामें उनकी तरफसे किसी विशेष आघातके आनेकी आशंका करनेका अधिक कारण नहीं था। तथापि बौद्ध श्रमणोंकी जनहितकर प्रवृत्ति और सेवाभावनासे आकर्षित हो कर लोकमत दिन प्रतिदिन जो उनका अनुरक्त होता जाता था और ब्राह्मणोंके प्रति जो शिथिलादर होता जाता था, इसके कारण मनस्वी ब्राह्मणोंकी सात्त्विक वृत्ति तमःप्रधान बन गई थी। इस कारण, उन्होंने अनात्मवादी बुद्धानुरागियोंके साथ साथ परम आत्मवादी निर्ग्रन्थानुयायियोंको भी ‘ नास्तिक ’ ‘ नास्तिक ’ कह कर परमाप्त भगवान् महावीरके मोक्षमार्गका तिरस्कार करना शुरू कर दिया था और इस प्रकार मुमुक्षु आत्माओंके कल्याणके मार्गमें काँटे बिछा कर उन्हें मार्गभ्रष्ट करनेके प्रयत्नका प्रारंभ हो गया था। समाधिशील निर्ग्रन्थोंको, अपने मौनधर्मका इस प्रकार विपर्यास और दुरुपयोग होते देख जगत्के कल्याणार्थ और परमपुरुष महावीरके मोक्षमार्गका सत्यत्व स्थापनार्थ, मौनधर्मका त्याग करना पड़ा; और फिर बौद्ध भिक्षुओंकी तरह वे भी जनसहवासमें आकर, वाद-विवादके युद्ध-क्षेत्रमें उपस्थित हो कर, अपने प्रतिपक्षियोंका मुकाबला करने लगे। ऐसे ही एक विवाद–क्षेत्रमें वृद्धवादी नामक निर्ग्रन्थाचार्यके साथ वाद करते हुए चतुर्दशविद्यापारंगत ब्राह्मणकुल–भूषण सिद्धसेन पराजित हुए थे, और ‘ जो मुझे शास्त्रवादमें पराजित करेगा, उसका मैं शिष्य बनूँगा, ’ ऐसी गर्विष्ठ प्रतिज्ञा करनेवाले विद्योन्मत्त परंतु कृत-प्रतिज्ञाका पूर्ण निर्वाह करनेवाले सत्य-प्रतिज्ञ सिद्धसेनको अपने विजेता आचार्यके पास निर्ग्रन्थ–दीक्षा लेकर ‘ ब्राह्मणवर ’ से ‘ श्रमणवर ’ होना पड़ा था।

सिद्धसेनके उद्गारोंसे पता लगता है कि उस समय निर्ग्रन्थोंकी सरल वाद-पद्धति और आकर्षक शांतवृत्तिका लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। निर्ग्रन्थ अकेले–दुकेले ही ऐसे स्थलों पर जा पहुँचते थे, और ब्राह्मणादि परवादी विस्तृत-शिष्य समूह और जनसमुदायके सहित राजसी ठाठ–बाठके साथ पेश आते थे, तो भी जो यश निर्ग्रन्थोंको मिलता था वह उन प्रतिवादियोंको अप्राप्य था। यह बात स्वयं सिद्धसेनसूरिने, महावीरस्तुतिरूप प्रथम द्वात्रिंशिकामें इस प्रकार प्रकट की हैः—

अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतस-
स्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः।
न तावदप्येकसमूहसंहताः
प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः॥

इस कथनसे उस समयकी लोकरुचिका भी पता लगता है कि लोग ब्राह्मणोंके जल्पवितण्डा-परिपूर्ण शुष्क वाद और कर्मकाण्डके प्रपंचसे कितना ऊब गये थे और शांतिपूर्ण सात्त्विक मार्गके कितने उत्सुक बन गये थे। अस्तु।

सिद्धसेन निर्ग्रन्थ दीक्षा लेनेके पहले सर्व-शास्त्र-पारंगत ब्राह्मण विद्वान् थे, यह बात ऊपर सूचित की जा चुकी है। इस लिये निर्ग्रन्थ बनते ही उन्होंने अपनी सर्वज्ञकल्प शास्त्रज्ञताका, जैन तत्त्वोंको न्यायसंगत बनानेमें और स्याद्वा-दके सिद्धान्तको नय और प्रमाण द्वारा सुव्य-वस्थित बनानेमें, पूरा उपयोग किया। ब्राह्मण-वर्ग अपने प्रतिपक्षियोंपर जो 'नास्तिकता' का कुत्सित आरोप कर सर्व साधारणमें मिथ्याभ्रान्ति फैलानेका उद्योग किया करता था उसका प्रति-वाद और निराकरण करनेके लिये; तथा यथार्थमें आप्त-पुरुष कौन है, और किसका सिद्धान्त स्वीकरणीय होना चाहिए, इस विषयका उद्-घाटन करनेके लिये, सिद्धसेनने बड़े गंभीर और उच्च विचारवाले, भिन्न भिन्न दृष्टिसे अनेक प्रकरण लिखे। ये वे ही प्रकरण हैं जिनका जिकर हम ऊपर द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओंके नामसे कर आये हैं। इन प्रकरणोंमें उन्होंने अपने पक्षका समर्थन और परपक्षका निरसन इतनी उत्तमता, इतनी मार्मिकता और इतनी गंभीरताके साथ किया है कि उन्हें पढ़ कर सहृदय विद्वानोंको काव्यका, तर्कशास्त्रका और सत्यके साक्षात्कारका एक साथ ही आनंद आ सकता है। यह एक विचारणीय और ऐतिहासिक सत्य है कि ब्राह्मणोंके वर्चस्वका और कर्म-मार्गका विरोध करनेवाले कृष्ण, महावीर, गौतम बुद्ध आदि क्षत्रिय-वीर ही हैं और अध्यात्म मार्गकी गवेषणा कर जगत्को उसका उपदेश देनेवाले भी एक मात्र वे ही हैं; परंतु इन क्षत्रिय धर्म-प्रवर्तकोंके सिद्धान्तोंको संगत, सुस्थित और सुप्रचलित करनेवाले फिर वे ही ब्राह्मण हैं। भागवत, जैन और बौद्ध धर्मके समर्थ लेखक और आचार्योंकी जातिकी तरफ दृष्टि करते हैं तो अधिकांश ब्राह्मण जातिहीके ऐसे सरस्वतीवर-लब्ध पुत्र उत्पन्न किये हुए दिखाई देते हैं। निःसंशय ब्राह्मण जातिने जगत्के अज्ञानका नाश करनेमें सर्वाधिक श्रेष्ठ कार्य किया है। और इसी कार्यके लिये यदि वह जगत्के ऊपर अपने पूज्यत्वका अधिकार सदैवके लिये रक्खे तो उसमें उसकी कोई अनुचितता नहीं है।

सिद्धसेनसूरिके बाद, दिगम्बर संप्रदायमें, उनके ही जैसे प्रतिभाशाली और प्रतापवान् आचार्य स्वामी समन्तभद्र हुए। समन्तभद्रके समयका अनुमान किया जाय, ऐसा कोई भी विशिष्ट प्रमाण अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है, और न कोई वैसी विश्वसनीय जीवनकथा ही उनके बारेमें दृष्टिगोचर होती है। इस लिये वे कब हुए इस बारेमें हम पूरी तौरसे कुछ भी नहीं कह सकते। दिगम्बर पट्टावलियोंकी गणना-नुसार विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें उनका अस्तित्व बताया जाता है। हमने इस विषयमें अभीतक कुछ भी विशेष विचार नहीं किया है। हम जो कुछ ऊपर ऊपरसे अनुमान कर सके हैं उसका सार इतना ही है कि सिद्धसेनके बाद थोड़े ही समयमें समन्तभद्र हुए होंगे। इन दोनोंकी लेखशैली, विचारशैली और भाषाशैली बहुत कुछ मिलती जुलती है। भेद है तो केवल इतना ही है कि सिद्धसेनकी कृतियोंमें गूढार्थता अधिक है और समन्तभद्रकी कृतियोंमें स्पष्टार्थता।

इन दोनों आचार्योंके जीवनवृत्तांत-संबंधमें जो दंतकथायें पिछले जैनग्रंथोंमें देखी जाती हैं, उनमें भी लगभग एक ही बात, कुछ थोड़ेसे फेरफारके साथ, कही हुई है। सिद्धसेनके बारेमें लिखा हुआ है कि, उन्होंने अवन्ती

(उज्जैनी) के राजा विक्रमादित्यके अत्याग्रह करनेसे, वहाँके जगत्प्रसिद्ध महाकालेश्वरकी स्तुति करनी शुरू की जिसके प्रभावको महा-कालेश्वरका महालिंग सहन न कर सका, उसके टुकड़े टुकड़े हो गये और फिर उसमेंसे जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथकी मूर्ति प्रकट हुई। इससे राजा बड़ा आश्चर्यचकित हुआ और उसने सिद्धसेनके पादतलमें मस्तक रख कर उनको अपना गुरु बनाया।

इधर, समन्तभद्रकी कथामें भी इसके जैसी ही बात लिखी मिलती है। उन्होंने वाराणसी (काशी) के राजा शिवकोटिके आग्रह करने पर वहाँके विश्वविख्यात विश्वेश्वर महादेवकी स्तवना करनी प्रारंभ की और उसके सामर्थ्यसे विश्वेश्वरका महालिंग फटकर उसमेंसे चतुर्मुख जैनमूर्ति प्रकट हुई ! समन्तभद्रके इस प्रभावसे मुग्ध हो कर वह राजा उनका शिष्य बन गया !

मालूम नहीं, इन दंतकथाओंमें कितना तथ्य है। इनके आकार-प्रकारसे तो विद्वानोंको ऐसा ही भास हो सकता है कि केवल इन आचार्योंकी महिमा बढ़ानेके लिये ये कथायें मनगढन्त बना ली गई हैं, और सिद्धसेनकी कथाहीमें कुछ नाम परिवर्तन कर समन्तभद्रको भी लागू कर दी है। परन्तु संभव है कि इनमें कुछ ऐतिहासिक सत्यांश भी हो। सिद्धसेनने अवन्तीकी और समन्तभद्रने काशीकी ब्राह्मण-परिषद्में—जिस तरह न्यायाचार्य यशोविजयजीने काशीकी विद्वत्सभामें विजय प्राप्त किया था वैसे—दार्शनिक वाद-विवाद कर विजय प्राप्त किया हो, और उसके स्मरणार्थ उन उन स्थानोंमें जैन मंदिरोंकी प्रतिष्ठा करवा कर जैनधर्मका खूब जयजयकार करवाया हो। ऐसी बातें समय समय पर अनेक जगह होती रही हैं, इस लिये सिद्धसेन और समन्तभद्रके समयमें भी ऐसी ही कोई बात बनी हो और उसीको लेकर उपर्युक्त दंतकथा—अर्द्ध-सत्यमिश्रित होकर—प्रचलित हो गई हो, तो उसमें कोई असंभवनीयता नहीं है। अवन्ती और वाराणसी ये दोनों नगरियाँ प्राचीन कालसे ब्राह्मणोंकी राजधानियाँ सी बनी हुई हैं। उस समयमें जितने बड़े बड़े दिग्गज विद्वान् हुआ करते थे, वे अवश्य इन क्षेत्रोंकी यात्रा किया करते थे और वहाँके विद्वत्समाजोंमें भिन्न भिन्न विषयोंपर शास्त्रार्थ कर अपने पाण्डित्यका प्रमाणपत्र तथा विजयपताका प्राप्त कर कृतकृत्य होते थे। सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों बड़े प्रखर वाग्मी और प्रचण्ड वादी थे, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। उनकी यह प्रसिद्धि तब ही हो सकी होगी जब उन्होंने अवन्ती और वाराणसी जैसी सरस्वतीके वरपुत्रोंकी वासभूमिमें जा कर वहाँके दिग्गज विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ कर महती प्रतिष्ठा प्राप्त की होगी। इस लिये इन दंतकथाओंमें कुछ सत्यांश अवश्य होना चाहिए, ऐसा अनुमान करनेकी तरफ हमारी चित्तवृत्ति सहज खींची जाती है।

सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों महाकवि और महावादी थे। उनका महाकवित्व तो उनकी चिरंजीविनी कृतियोंमें स्पष्ट प्रतिभाषित हो रहा है और महाकवित्वका अनुमान उनकी कृतियोंमें कूट कूट कर भरे हुए पाण्डित्यको देखकर सहज किया जा सकता है। इन प्रवादि-करि-केशरियोंने अपने जीवनमें कहाँ कहाँ

---

१ आजकल जैसे निरक्षर भट्टाचार्य भी अपने आपको बड़े धाष्टर्यके साथ '**शास्त्रविशारद**' और '**व्याख्यानवाचस्पति**' कहलाते फिरते हैं, वैसे धृष्ट उस जमानेमें नहीं होते थे। और यदि कोई मूर्ख वैसा करनेका साहस कर भी लेता, तो तीसरे ही दिन लोग उसको दंड-कमंडलु छीन कर, बहिष्कृत कर देते थे।

पर किन किन विद्वानोंके साथ वाद-विवाद कर दिग्विजयिपना प्राप्त किया था इसके जाननेका कोई साधन नहीं है । सिद्धसेनकी कथाओंमें, उनके मालव देशमें विचरणके साथ दाक्षिण देशमें विचरण करनेका भी उल्लेख किया हुआ है, इस लिये इन देशोंमें तो उनके पाण्डित्यके प्रकाश—किरण सर्वत्र अवश्य फैले ही होंगे। अन्य देशोंके विषयमें हम कुछ नहीं कह सकते । समन्तभद्रके दिग्विजयका क्षेत्र बहुत विस्तृत है । दक्षिणके प्रसिद्ध दिगम्बर-जैन-तीर्थस्थल श्रवणबेलगोलाके विन्ध्यगिरि पर्वत पर एक मन्दिरमें 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' नामका एक बहुत बड़ा शिलालेख है । इस लेखमें समन्त-भद्रके परिचायक कुछ प्राचीन पद्य उत्कीर्तित हैं जिनमेंसे निम्न लिखित पद्यमें उनके दिग्विजय-क्षेत्रका उल्लेख किया हुआ है।—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटम्
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

इस पद्यमें समन्तभद्र स्वयं अपने मुखसे किसी एक राजाकी सभामें यह बात कहते हुए बताये गये हैं कि, उन्होंने कौनसे कौनसे देशोंमें वाद विवाद कर विजयपताका प्राप्त की है। पद्यका अर्थ इस प्रकार है:—

"पहले मैंने पाटलीपुत्र नगर (पटना) में वादकी भेरी बजाई, फिर मालवा, सिन्धु देश, ढक (ढाका—बंगाल), काञ्चीपुर और वैदिश (भिलसेके आसपासका देश) में भेरी बजाई। और अब बड़े विद्वान् वीरोंसे भरे हुए इस कर-हाटक (कराड, जिला सतारा) नगरको प्राप्त हुआ हूँ । इस प्रकार हे राजन्, मैं वाद करनेके लिये सिंहके समान इतस्ततः क्रीडा करता फिरता हूँ"

१ विद्वद्रत्नमाला (श्रीनाथूरामप्रेमी लिखित), १६८।

इस उल्लेखसे जाना जाता है कि समन्तभद्र स्वामी भारतके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण; सब ही खण्डोंमें घूमे थे और उन्होंने सब देशोंके विद्वा-नोंके साथ शास्त्रार्थ कर जैनधर्मकी विजय-दुन्दुभि बजवाई थी।

समन्तभद्र स्वामीकी कृतियोंके देखनेसे पता लगता है कि सिद्धसेनसूरिने अपनी कृतियोंमें जो बात संक्षेपसे सूचित की है, समन्तभद्रने उसीको व्यवस्थित रूपमें विस्तारके साथ वर्णन की है । सिद्धसेन अपने ग्रंथमें प्रमाण और नयके लक्षण स्थिर मात्र कर गये थे; समन्तभद्रने उनके अनुसार मीमांसा कर उन्हें सफल संगत और सिद्ध कर दिखाया। सिद्धसेनने आप्तपुरुषके बारेमें संक्षिप्त और प्रकीर्ण विचार प्रदर्शित किये थे; समन्तभद्रने उन्हीं विचारोंको विस्तृत और क्रमबद्ध रूपमें ग्रथित कर संपूर्ण रूपसे आप्तकी मीमांसा की। इस प्रकार, यदि सिद्धसेनने जैनधर्मके तत्त्वज्ञानको अंकुरित होनेमें जलसिंचनका काम किया; तो समन्तभद्रने उसको स्वच्छंद और निर्भय रीतिसे ऊँचे बढ़नेमें कांटोंकी बाड़का काम किया। इन्हीं दो महा-पुरुषोंके सुप्रयत्न और स्तुत्य जीवनसे जैन-दर्शन सजीव रहा और इन्हींके बताये हुए मार्गका अवलम्बन कर, पिछले समर्थ आचा-र्योंने (जिनमेंसे कितने एकके नाम हम इस लेखके प्रारंभहीमें लिख आये हैं) उसे खूब पल्लवित किया।

सिद्धसेनसूरिकी कृतियोंके समान समन्तभद्रा-चार्यकी कृतियोंका भी पिछले आचार्योंने बड़ा गौरव किया है । उनपर संक्षिप्त और विस्तृत अनेक भाष्य—टीका आदि लिख कर उनकी खूब प्रतिष्ठा बढ़ाई है। समन्तभद्रकी कृतियोंमें सबसे अधिक मान 'आप्तमीमांसाको' मिला है। यह देखनेमें ११४ श्लोकोंका एक छोटासा ग्रंथ मालूम देता है, पर इसका गांभीर्य इतना है कि,

इसपर सैकडों-हजारों श्लोकोंवाले बड़े बड़े गहन भाष्य-विवरण आदि लिखे जाने पर भी विद्वानोंको यह दुर्गम्यसा दिखाई देता है।

सबसे पहले इसपर महान् तार्किक भट्ट अकलंकदेवने अष्टशती (आठ सौ श्लोकं परिमाणवाला) नामका अल्पाक्षर और बह्वर्थवाला गंभीर भाष्य लिखा। इस भाष्यके ऊपर प्रचण्ड विद्वान आचार्य विद्यानन्दिने अष्टसहस्री (आठ हजार श्लोक प्रमाण) नामक विशद व्याख्या बनाई। समुच्चय संस्कृत साहित्यमें, भिन्न भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों-विचारोंकी आलोचना-प्रत्यालोचना करनेवाला यह एक महान् और प्रौढ ग्रंथरत्न है। इसमें ब्राह्मण और बौद्ध धर्मके सब ही तात्त्विक संप्रदायोंके तत्त्व-विचारोंका बड़ी मार्मिक और युक्तिपूर्ण पद्धतिसे खण्डन-मण्डन किया गया है और अन्तमें जैनधर्मका स्याद्वाद-सिद्धान्त कितना प्रमाणयुक्त और अखण्डनीय है, यह विचार बड़े गौरवके साथ सिद्ध किया गया है।

इस ग्रंथकी महत्ताका पता इतने ही से लगजायगा कि, श्वेताम्बर संप्रदायके महान् नैयायिक और समर्थ ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजय जैसे पूर्ण सांप्रदायिक विद्वान्‌ने भी, इस कृतिके गांभीर्यसे मुग्ध हो कर, इस पर, मूल ग्रंथके जितनी ही श्लोक प्रमाण (अर्थात् आठ हजार श्लोकवाली) और उतनी ही प्रौढ टिप्पणी लिखी है[1]। और इस प्रकार 'अष्टसहस्री' को 'षोडशसहस्री' बना कर उसके महत्त्वको द्विगुणित कर दिया है। संपूर्ण जैनसाहित्यमें यही एक ऐसा ग्रंथ है, जिस पर, दूसरे संप्रदायके एक ऐसे विद्वान्‌ने व्याख्या लिखी है, जो योग्यतामें मूल कर्तासे रत्तीभर भी न्यून न हो कर, सर्वथा सांप्रदायिकभावका पूर्ण समर्थक था।

समन्तभद्र स्वामीके इन महान् टीकाकारोंके सिवा जिनसेन, वादीभसिंह, वीरनन्दी, शुभचन्द्राचार्य इत्यादि अन्यान्य सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध दिगम्बर ग्रंथकारोंने भी उनके कवित्व, वाग्मित्व और पाण्डित्यकी भूरि भूरि प्रशंसा और स्तुति की है। और सभीने उनको जैनधर्मका एक महान् संरक्षक और समर्थक स्वीकृत किया है।

राष्ट्रकूटवंशीय प्रतापी नृपति महाराजा अमोघवर्षके परमगुरु और सुप्रसिद्ध महापुराण आदिपुराणके कर्ता महाकवि जिनसेनने अपने पुराणकी प्रस्तावनामें स्वामी समन्तभद्रकी प्रशंसा करते हुए निम्नगत उद्गार प्रकट किये हैं—

> नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
> यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः॥
> कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि।
> यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥

हरिवंश-पुराणके प्रणेता जिनसेन (प्रथम) ने भी स्वकीय पुराणके प्रारंभमें समन्तभद्रके वचनको भगवान् महावीरके वचनतुल्य लिखा है। यथा—

> जीवसिद्धिं विधायेह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
> वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते॥

गद्यचिन्तामणि नामक सुप्रसिद्ध गद्यकाव्यके रचयिता महाकवि वादीभसिंहने समन्तभद्रके वचनस्वरूप वज्रपातके कारण परवादीरूप करोड़ों पर्वत चूरचूर हो गये, बतलाये हैं। यथा—

[1] आकलूज निवासी सेठ नाथारंगजी गांधीने पं॰ वंशीधरजी शास्त्रीद्वारा संशोधित करवा कर जो अष्टसहस्री छपवाई है उसके साथ यदि यशोविजयजीकी यह टिप्पणी भी (टिप्पणी क्या टीकाकी भी टीका) छपवा दी जाती तो 'सोनेमें सुगन्ध' आ जाती। हमें इस बातका पता नहीं लगा कि शास्त्री वंशीधरजीने अपनी अष्टसहस्रीकी भूमिकामें इस महती टिप्पणीका नामोल्लेख तक क्यों नहीं किया। क्या उन्हें इसका अस्तित्व मालूम नहीं था अथवा अन्य किसी कारणसे वैसा नहीं कर सके?

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः
समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्तु वाग्वज्रनिपातपाटित-
प्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः ॥

अध्यात्मज्ञानके समुद्रस्वरूप ज्ञानार्णव ग्रन्थके निर्माता आत्मज्ञानी शुभचन्द्रने समन्तभद्रके कृतिस्वरूप सूर्यके सम्मुख अपनी कृतिको खद्योततुल्य उपहासपात्र लिख कर समन्तभद्रके वचनोंकी महत्ता प्रकट की है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥

चन्द्रप्रभचरितके कर्ता महाकवि वीरनन्दिने, मोतियोंके बने हुए हारसे कंठको विभूषित करना दुर्लभ नहीं है, परन्तु समन्तभद्रके वचनरूप मुक्ताफलसे गुँथे हुए काव्यस्वरूपहारसे कंठको अलंकृत करना परम दुर्लभ बतलाया है—

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका
नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा
समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥

इसी प्रकार और भी अनेकानेक ग्रन्थकारोंने विविध प्रकारसे समन्तभद्र स्वामीकी स्तवना और प्रशंसा की है । इतना गौरव शायद ही अन्य किसी आचार्यका किया गया हो ।

* * *

दिगम्बर विद्वानोंने तो समन्तभद्र स्वामीको इस प्रकार अपना प्रमाणभूत पुरुष माना ही है । परंतु श्वेताम्बर विद्वानोंने भी उनकी प्रामाणिकाग्रगण्यताको खुले दिलसे स्वीकार किया है । हरिभद्र, वादिदेव, हेमचन्द्र और मलयगिरि जैसे श्वेताम्बरशिरोमणि सूरियोंने भी प्रसंगोपात्त उनकी कृतियोंका उल्लेख या अवतरण कर उन्हें एक प्रमाणभूत पुरुषकी कोटिमें स्थान दिया है। हरिभद्रसूरिने उनको 'वादिमुख्य' के महत्त्वसूचक विशेषणसे सम्बोधित किया है और अनेकान्तजयपताकामें निम्नलिखित दो श्लोक इनके नामसे उद्धृत किये हैं । यथा—

आह च वादिमुख्यः समन्तभद्रः—
'बोधात्मा चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः ।
यद्बोद्धारं परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति ॥
न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते ।
शब्दाभेदेन सत्येवं सर्वः स्यात्परचित्तवित्' ॥
—अनेकान्तजयपताका पृ. ४३ (अमदाबाद)।

आचार्यवर्य हेमचंद्रने अपने सिद्धहैमशब्दानुशासन नामक व्याकरणके प्रारंभमें, दूसरे सूत्रकी व्याख्यामें 'स्तुतिकारोऽप्याह' ऐसा उल्लेख कर निम्नगत स्तुतिपद्य उद्धृत किया है जो इन्हीं समन्तभद्र स्वामीका बनाया हुआ है और बृहत्स्वयम्भू स्तोत्रमें उपलब्ध होता है । पद्य यह है—

नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे
रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥

यही पद्य मलयगिरिसूरिने आवश्यकसूत्रकी अपनी अपूर्ण टीकामें, 'आद्यस्तुतिकारोऽप्याह'—आद्य—प्रथम—स्तुतिकार भी कहते हैं—ऐसा

१ 'समन्तभद्र' यह नाम टीकामें लिखा है, जो स्वयं ग्रंथकारहीकी बनाई हुई है । मूलमें केवल 'वादिमुख्य' विशेषण ही का उल्लेख है ।

२ शान्त्याचार्य विरचित प्रमाणकलिका और वादीदेवसूरिरचित स्याद्वादरत्नाकरमें भी ये दोनों श्लोक समन्तभद्रके नामसे अवतारित हैं । जहाँ तक हम जान सके, समन्तभद्रकी उपलब्ध कृतियोंमेंसे किसीमें भी ये श्लोक नहीं पाये जाते । इस लिये यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि स्वामीकी केवल इतनी ही कृतियाँ नहीं हैं जो अभीतक जानी गई हैं । इनके सिवा, और भी कृतियाँ होनी चाहिएँ जो अद्यापि अज्ञात या अप्राप्य हैं ।

उल्लेख कर, उद्धृत किया है। इस उल्लेखसे स्पष्ट जाना जाता है कि ये प्रसिद्ध स्तुतिकार माने जाते थे। इतना ही नहीं, परंतु इन्हें आद्य—सबसे पहले होनेवाले—स्तुतिकारका मान प्राप्त था। हरिभद्रादि श्वेताम्बराग्रणी आचार्योंने सिद्धसेन दिवाकरको भी वादिमुख्य और स्तुतिकारके विशेषणोंसे उल्लिखित किया है; और उपर्युक्त प्रमाणानुसार समन्तभद्र स्वामीको भी इन्हीं विशेषणोंसे अलंकृत किया है। इससे यही अनुमान हो सकता है कि श्वेताम्बरोंकी दृष्टिमें सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों समान पूज्य और समान सत्कारास्पद हैं। इधर, सिद्धसेनसूरिको भी जिस प्रकार श्वेताम्बराचार्योंने अपना श्रद्धास्पद और प्रमाणभूत पुरुष माना है, वैसे, जैसा कि हम ऊपर सप्रमाण लिख आये हैं, दिगम्बराचार्योंने भी उन्हें अपना स्तुतिपात्र और शिरसावंद्य माना है; अतः दिगम्बरोंकी दृष्टिमें भी सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों समान गुणगणालंकृत हैं। इससे यह स्वतः सिद्ध हो गया कि, समग्र जैनसमाज और जैनसाहित्यमें इन दोनों महापुरुषोंका ज्ञानप्रभान्वित, सत्त्वपरिपूर्ण और निर्ग्रन्थगणवन्द्य सिंहासन, समान स्थान और समान रूपमें संस्थापित है।

दुष्प्राप्य और अलभ्य जैनग्रन्थ।

१६ आयज्ञान तिलक।

पालीतानासे मुनि पुण्यविजयजीके पत्रद्वारा हालमें हमें 'आयज्ञानतिलक' नामक एक नये ग्रंथका पता लगा है, जिसकी एक प्रति इस समय घोघाके[1] भंडारमें मौजूद है। यह ग्रंथ श्रीरामनंदि आचार्यके शिष्य भट्ट वोसरीका बनाया हुआ है। ग्रंथकी भाषा प्राकृत है और उसके साथमें स्वोपज्ञ संस्कृतटीका भी लगी हुई है। मूल गाथाओंकी संख्या ४१५ और टीकाकी संख्या १२०० श्लोक परिमाण है। ग्रंथका विषय ज्योतिष है और वह २५ प्रकरणोंमें विभक्त है। घोघाके भंडारकी उक्त प्रति देवनागरी लिपिमें, कागजके ऊपर, ४२ पत्रोंपर लिखी हुई है और उसकी लिखावट पुरानी है, ऐसा मुनिजी सूचित करते हैं। उन्होंने, ग्रंथकी इस प्रतिपरसे, ग्रंथकारके परिचयविषयक मूल तथा टीकाके कुछ वाक्य भी हमारे पास उद्धृत करके भेजे हैं जिन्हें हम, उक्त मुनिजीका आभार मानते हुए, अपने पाठकोंके अवलोकनार्थ ज्योंका त्यों नीचे देते हैं:—

मूलके आदिका भाग—

नमिऊण नमियनमियं दुत्तरसंसारसायरुत्तिण्णं।
सव्वण्णुं वीरजिणं पुलिंदिणिं सिद्धसंघं च ॥ १ ॥
जं दामनंदिगुरुणो मणयं आयाण जाणियं गुज्झं।
तं **आयनाणतिलए वोसिरिणा** भन्नए पयडं॥२॥

टीकाके आदिका भाग—

सिद्धाध्वजादिविरसूत्रितनामधेयान्,
सर्वांगसौहृदशुभस्थितिसौम्यपातान्।
स्वस्वामिसद्ग्रहयुतक्षितफुल्लपूर्णा—
नायान् प्रणम्य बलिनः शुभकार्यसिद्धयै ॥ १ ॥

सर्वायशास्त्रसारेण यत्कृतं जनमंडनम्।
तदायज्ञानतिलकं स्वयं विव्रियते मया ॥ २ ॥

अत्र तावत् शास्त्रस्यारंभेऽभिमतदेवतानमस्कारप्रतिपादनार्थं निर्विघ्नाभिप्रेतसिद्धयर्थं **निजगुरुगौरव**संवर्धनार्थं च शास्त्रकारो गाथायुगलं चकार—नमिऊणनमिय १ जं दामनंदि २ गाथा ॥

प्रथम प्रकरणकी टीकाका अंतिम भाग—

इति श्री**दिगंबराचार्य**पंडितश्री**दामनंदि**शिष्यभट्ट**वोसिरिविरचिते सायश्री**टीकाऽऽ**यज्ञानतिलके** आयस्वरूपप्रकरणं प्रथमं ॥ १ ॥

---

१ यह भावनगरका निकटवर्ती एक ग्राम है जिसे घोघाबन्दर भी कहते हैं।

प्राच्योदीच्यकुले द्विजोऽच्युत इति ख्यात ......यः, श्री**नारायण**संज्ञयाऽभवदतः सूनुःकुलीनाग्रणीः। विद्वान् **दुर्लभराज** इत्यभिहितस्तस्यात्मजो **वोसरिः**, स्वे शास्त्रे रचयांचकार रुचिरामायस्वरूपस्थितिं ॥ १ ॥

द्वितीयप्रकरणकी टीकाका अन्तिम भाग—

सुग्रीवादिमुनींद्रगुंफितमहाशास्त्रेषु यज्जल्पितं,
साम्नायं गुरु**दामनंदि**वचसा विज्ञाय सर्वं पुनः।
संक्षेपा**दणहिल्लपाटक**पुरि प्रज्ञापदं ज्ञानिनं,
समाश्रयं तदध्वता (?) चक्रे स्फुटं **वोसरिः** ॥ १ ॥

इति श्री दिगं० सायश्रीटीकायज्ञानतिलके पातविभागप्रकरणं द्वितीयम्

चतुर्थप्रकरणकी टीकाका अन्तिम भाग—

शास्त्राणि पूर्वमुनिभिर्बहुशो निबध्य,
मुक्तानि यान्यतिगुरूणि ततोऽवधार्य।
तत्पार्श्वचंद्रसुहृदा बहुशोऽनुभूत-
मुद्दिष्टमंत्रवदिदं प्रहयोगसारम् ॥ १ ॥

इति दिगं० आयज्ञानतिलके प्रहयोग प्रक० चतुर्थं ॥

पंचम प्रकरणकी टीकाका अन्तिम भाग—

यस्तत्कालसमागतस्य जनयत्युल्लापमात्रादपि,
प्रष्टुर्भव्यवचोविकारपटुभिस्तत्त्वोपदेशै— ।
तत्सांवत्सरमोहजालपटलप्रध्वंसदिव्यौषधं,
कार्यज्ञानमिदं चकार रुचिरं **कोकाऽनु**जो वोसरिः॥

इति दिगंबराचार्यपंडितश्रीदामनंदिशिष्यभट्टवोसरिविरचिते सायश्रीटीकायज्ञानतिलके पृच्छाकार्यज्ञानप्रकरणं पंचमम् ॥

ऊपरके इस संपूर्ण परिचयसे मालूम होता है कि ग्रंथकार भट्ट **वोसरि**, जोकि दिगम्बराचार्य श्री**दामनन्दिके** शिष्य थे, **प्राच्योदीच्य** कुलमें उत्पन्न हुए थे । आपके पिताका नाम **दुर्लभराज**, पितामहका **श्रीनारायण** और प्रपितामहका **अच्युत** द्विज था। **कोक** नामके आपके कोई बड़े भाई थे—क्योंकि आपने अपनेको उनका अनुज प्रगट किया है—और **पार्श्वचंद्र** आपके मित्र होते थे। **सुग्रीवादि** मुनीन्द्रों द्वारा रचे हुए महाशास्त्रोंमें जो कुछ कथन किया गया है उसे आम्नायपूर्वक दामनंदि गुरुसे सीखकर और भी बहुत कुछ अनुभव करके आपने संक्षेपसे यह ग्रंथ **अणहिल्लपाटणपुर**में (पाटन-गुजरात) बनाया है । परंतु कौनसे सन्संवत्में बनाया है, यह बात उक्त परिचयसे कुछ भी मालूम नहीं होती । मुनिजीने परिचय भेजते समय लिखा है कि, जिस जिस प्रकरणके अंतमें ग्रंथकार संबंधी विशेष परिचय है वह भी उल्लिखित किया जाता है । इससे मालूम होता है कि ग्रंथके अन्तमें अथवा दूसरे प्रकरणोंके अन्तमें ग्रंथकारके समयादि संबंधी और कोई विशेष परिचय नहीं है ।

श्रवणबेल्गोलके ४२ और ४३ नम्बरके शिलालेखोंको देखनेसे मालूम होता है कि दामनंदि मुनि **संपूर्णचन्द्र** मुनिके शिष्य थे। और संपूर्ण चंद्रको रविचंद्र सिद्धान्तका वेत्ता लिखा है— अर्थात्, वे ज्योतिर्विद्यामें निपुण थे। ऐसी हालतमें उनके शिष्य दामनंदि भी ज्योतिर्विद्याके जानकार रहे होंगे, यह बहुत कुछ स्वाभाविक जान पड़ता है। संभवतः इन्हीं दामनंदि गुरुसे ज्योतिःशास्त्रोंका अध्ययनकर भट्ट वोसरिने यह ग्रंथ बनाया है। इन दामनंदि आचार्यका समय उक्त दोनों शिलालेखोंसे विक्रमकी प्रायः १२ वीं शताब्दी पाया जाता है *। अतः यह ग्रंथ,

* क्योंकि, ४२ वें शिलालेखमें नयकीर्तिकी मृत्युका उल्लेख शक १०९९ (वि० सं० १२३४) में किया गया है और नयकीर्तिको गुणचंद्रका, गुणचंद्रको माघनंदिका, माघनंदिको श्रीधरका शिष्य और श्रीधरको दामनंदिका बड़ा पुत्र और शिष्य बतलाया गया है। ४३ वेंमें शुभचंद्रकी मृत्युका उल्लेख शक १०४५ (वि० सं० ११८०) में किया गया है और उनसे पहले उनकी गुरुपरम्परामें क्रमशः गंडविमुक्तदेव, मलधारि, दिवाकरनन्दि, चन्द्रकीर्ति, श्रीधरदेव और दामनंदि ये नाम दिये हैं ।

हमारी रायमें, विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके करीबका बना हुआ मालूम होता है। इससे, 'दि० जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामक सूचीमें नं० ३२० पर "वोसटी भट्ट—आर्यतिलकटीका" ऐसा जो उल्लेख है वह गलत मालूम होता है। उसके स्थानमें 'वोसरिभट्ट—आयज्ञानतिलक स्वोपज्ञटीकायुक्त' होना चाहिये। इसी तरह नं० ११६ का उल्लेख भी उसका गलत जान पड़ता है जिसमें दमनंदिको आर्यतिलक (प्राकृत) ग्रंथका कर्ता बतलाया है। यह दमनंदि उक्त दामनंदि आचार्यसे और 'आर्यतिलक' उक्त आयज्ञानतिलक' ग्रंथसे भिन्न मालूम नहीं होते। परंतु आयज्ञानतिलक ग्रंथ स्वयं दामनंदि आचार्यका बनाया हुआ नहीं है बल्कि उनके शिष्य भट्टवोसरिका बनाया हुआ है जैसा कि ऊपरके परिचयसे प्रकट है। और इस लिये सूचीका यह उल्लेख भूलसे परिपूर्ण मालूम होता है।

नहीं मालूम यह ग्रंथ और कहाँ कहाँके भंडारोंमें मौजूद है। इसकी कापी होकर उद्धार होना चाहिये।

१७ राद्धान्त (सिद्धान्त) सूत्र।

हितैषीके पिछले अंकमें, हमने, चारित्रसार और आचारसार नामक ग्रंथोंके आधार पर, 'राद्धान्त' नामके एक ग्रंथका उल्लेख किया था और, उसके एक पद्यका नमूना देते हुए, यह प्रकट किया था कि वह संस्कृत भाषाका ग्रंथ है। हालमें उक्त चारित्रसार ग्रंथको देखते हुए उसमें '**उक्तं च राद्धान्तसूत्रे**' इस वाक्यके साथ निम्न वाक्य भी पाया गयाः—

"आदाहीणं पदाहीणं तिखुत्तं तिऊणदं
चदुस्सिरं बारसावत्तं चेति।"

यही वाक्य अनगारधर्मामृतटीकामें '**उक्तं च सिद्धान्तसूत्रे**' इस वाक्यके साथ उद्धृत मिलता है। इससे मालूम होता है कि, 'राद्धान्त सूत्र' या 'सिद्धान्तसूत्र' नामका भी कोई ग्रंथ है जो प्राकृत भाषामें गद्यात्मक है। और इसलिये यह उस 'राद्धान्त' नामके शास्त्रसे भिन्न जान पड़ता है जिसके एक संस्कृत पद्यका उल्लेख पिछले अंकमें किया गया था। यदि वह पद्य और ऊपरका प्राकृत गद्य दोनों वास्तवमें एक ग्रंथके अंश हैं तो यह कहना पड़ेगा कि 'राद्धान्त' नामका ग्रंथ गद्यपद्यात्मक है और साथ ही, वह संस्कृत प्राकृत दोनों भाषाओंमें है। परंतु जहाँतक हम समझते हैं संस्कृत और प्राकृतके ये दोनों ग्रंथ भिन्न हैं और भिन्न भिन्न आचार्योंके रचे हुए हैं। यह दूसरी बात है कि संस्कृतका 'राद्धान्त' प्राकृतके राद्धान्तसूत्र परसे बनाया गया हो और दोनोंका विषय एक हो। परन्तु इन बातोंका निर्णय दोनों ग्रंथोंके सामने आये विना नहीं हो सकता। अतः विद्वानोंको ऐसे सिद्धान्त-प्रतिपादक मूल ग्रंथोंकी शीघ्र खोज लगाना चाहिये और मालूम करना चाहिये कि ये कौनकौनसे आचार्योंके बनाये हुए हैं और कब बने हैं।

१८ रत्नमाला।

राइस साहब, अपनी 'इन्स्क्रिपशंस ऐट् श्रवणबेल्गोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें, 'राजावलीकथे' नामक कनडी ग्रंथके आधार पर यह सूचित करते हैं कि श्रीसमन्तभद्रस्वामीके शिष्य शिवकोटि आचार्यने 'रत्नमाला' नामका भी कोई ग्रंथ बनाया है, जिसने बहुतोंको उस समय जैनधर्मका अनुयायी बना दिया था। यद्यपि शिवकोटि जैसे प्राचीन आचार्योंके ग्रंथ महत्त्वशाली होंगे, इस कहनेमें कोई संकोच नहीं होता तो भी राजावली कथेके इस पिछले उल्लेखसे ग्रंथका महत्त्व और भी अधिकताके साथ

१ 'सिद्धान्त' यह 'राद्धान्त' का पर्याय नाम है।

व्यक्त होता है । और इस लिये ऐसे ग्रंथके शीघ्र उद्धारकी बड़ी ज़रूरत है । अभीतक यह मालूम नहीं था कि यह ग्रंथ कहाँके भंडारमें मौजूद है, किस भाषामें है और इसकी श्लोकसंख्या कितनी है । परन्तु हालमें जैनसिद्धान्तभवन आराकी सूची देखनेसे मालूम हो गया कि, यह ग्रंथ उक्त भवनमें कनडी लिपिमें कागज़पर लिखा हुआ मौजूद है । इसकी भाषा संस्कृत और श्लोकसंख्या सिर्फ ६७ है । ऐसा छोटा ग्रंथ शीघ्र हीं 'माणिकचंदग्रंथमाला' के एक संग्रहमें निकल जाना चाहिये । परंतु हमें खेदके साथ यह लिखना पड़ता है कि सिद्धान्तभवनमें ऐसे किसी आदमीका कोई प्रबंध नहीं है जो कनड़ी लिपिके ग्रंथोंकी देवनागरी लिपिमें कापी कर-सके । और इस लिये ऐसे छोटे छोटे किन्तु महत्त्वशाली ग्रंथोंका उद्धार भी व्यर्थ ही रुका पड़ा है । आशा है, भवनके प्रबंधकर्ता महाशय शीघ्र ही भवनमें ऐसे किसी व्यक्तिका प्रबंधकर स्वर्गीय बा० देवकुमारजीके उद्देश्यको सफल करनेकी चेष्टा करेंगे । यदि यह ग्रंथ किसी दूसरी जगहके भंडारमें भी मौजूद हो और कोई भाई इसकी कापी कराकर हमारे पास भेजनेकी कृपा करें तो हम उनका आभार मानते हुए सहर्ष उसकी न्योछावर देनेके लिये तय्यार हैं ।

१९ जीवसिद्धि (द्वितीय)।

जैनहितैषीके पहले अंकमें हमने श्रीसमंत-भद्राचार्यप्रणीत 'जीवसिद्धि' नामके एक महत्त्वशाली ग्रंथका उल्लेख किया था । आज उसी नामके एक दूसरे ग्रंथका परिचय हम अपने पाठकोंको देते हैं । यह दूसरा ग्रंथ अन-न्तकीर्ति नामके आचार्यका बनाया हुआ है; जैसा कि श्रीवादिराजप्रणीत पार्श्वनाथचरितके निम्न पद्यसे प्रकट है ।

आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता ।
अनंतकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते ॥ २४ ॥

उक्त पार्श्वनाथचरित शक संवत् ९४७ (वि० सं० १०८२) में बनकर समाप्त हुआ है। और इस लिये अनन्तकीर्ति आचार्य उसके निर्माणसे पहले हो चुके हैं, इसके कहनेमें कोई संकोच नहीं हो सकता । परंतु कितने पहले हुए हैं और कौनसे सन्-संवत्‌में उन्होंने यह ग्रंथ बनाया है, ये सब बातें अभी निर्णयाधीन हैं । यह भी मालून होनेकी जरूरत है कि इस समय कहाँके भंडारमें यह ग्रंथ मौजूद है । आशा है, हमारे भाई अपने अपने भंडारोंमें इस ग्रंथरत्नकी भी खोज लगाएँगे ।

२० त्रिभंगी ।

जैनसिद्धान्तभवन आराकी सूचीसे मालूम होता है कि वहाँ 'त्रिभंगी' नामके कई ग्रंथ हैं । एक ग्रंथ प्राकृतभाषाका श्रीनेमिचंद्राचा-र्यका बनाया हुआ २१४ श्लोक परिमाण है; दूसरा संस्कृत भाषाका २९२ पत्र परिमाण है, जिसके कर्ताका नाम और श्लोकसंख्या नहीं दी; तीसरा प्राकृत भाषाका नेमिचंदका बनाया हुआ ११३६ श्लोकपरिमाण है । ये तीनों ग्रंथ कनडी लिपिमें लिखे हुए हैं और सूचीमें क्रमशः नं० १००१,१००२,१००३ पर दर्ज हैं । मालूम नहीं, इनमें नेमिचंद्रके नाम पर जो दो ग्रंथ हैं वे कौनसे नेमिचंद्रके बनाये हुए है—दोनोंका कर्ता एक ही है या भिन्न भिन्न । यद्यपि श्लोकसंख्यासे दोनों ग्रंथ अलग अलग मालूम होते हैं तो भी संभव है कि ये दोनों ग्रंथ एक ही हों और श्लोकसंख्याके लिखनेमें भूल हुई हो । अतः इसका निर्णय होनेकी जरूरत है । साथ ही यह भी मालूम होनेकी जरूरत है कि

संस्कृतका 'त्रिभंगी' ग्रंथ कौनसे आचार्यका बनाया हुआ है और उसकी श्लोकसंख्याका परिणाम कितना है। इनके सिवाय एक चौथा 'त्रिभंगी' ग्रंथ भी भवनमें मौजूद है और वह देवनागरी अक्षरोंमें लिखा हुआ है। यह ग्रंथ **श्रीकनकनंदि** आचार्यका बनाया हुआ है और इसकी श्लोकसंख्याका परिमाण १४०० दिया है। श्रीकनकनंदी आचार्य गोम्मटसारके कर्ता नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु थे। संभवतः यह ग्रंथ उन्हींका बनाया हुआ मालूम होता है। सूचीपरसे यद्यपि ग्रंथकी भाषाका कोई पता नहीं चलता, तो भी यह ग्रंथ संस्कृत-प्राकृत इन दोनों भाषाओंमेंसे ही किसी एक भाषामें होगा ऐसा खयाल होता है। अधिकतर संभावना ग्रंथके प्राकृत होनेकी है। ग्रंथका विषय यद्यपि उसके नामपरसे कुछ स्पष्ट मालूम नहीं होता तो भी जहाँ तक हम समझते हैं इसमें कर्मोंकी बंध, उदय और सत्व, इन तीन अवस्थाओंका विस्तारके साथ वर्णन होगा। नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीसे भिन्न दूसरे आचार्योंके इस विषयके ग्रंथोंके प्रकाशित होनेकी बड़ी जरूरत है। कनकनंदि आचार्यका अभीतक कोई ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ और न इससे भिन्न दूसरा कोई ग्रंथ सुननेमें आया। अतः कनकनंदिके इस त्रिभंगी ग्रंथका शीघ्र उद्धार होना चाहिये। यह ग्रंथ देवनागरी लिपिमें लिखा होनेसे इसकी कापीमें भी कोई विशेष दिक्कत नहीं हो सकती। दूसरी जगहोंके भंडारोंमें भी यदि 'त्रिभंगी' नामके कोई ग्रंथ हों तो विद्वानोंको उनका परिचय भेजनेकी कृपा करनी चाहिये। (क्रमशः)

जैनजातिका सुधार।

(लेखक-**श्रीसत्यभक्तजी**-प्रयाग)

संसारमें प्रत्येक व्यक्ति, जाति, समाज, सम्प्रदाय, समूह, देश, राष्ट्रकी सदैव यह इच्छा रहती है कि उसका सुधार हो, उन्नति हो उसे सुख, प्राप्त हो, सब उसका आदर सम्मान करें, सब पर उसका प्रभाव पड़े और सब कामोंमें उसे सफलता मिले। इस उद्देश्यको सामने रखकर सभी अपने अपने सुधार, उन्नतिके लिये प्रयत्न, किया करते हैं। यह बात दूसरी है कि नासमझी अथवा बुद्धिहीनताके कारण कभी सुधार या उन्नतिके लिये किये गये प्रयत्नोंका फल उलटा हो और वे सुधारके स्थानमें बिगाड़ अथवा अवनतिका कारण बन जायँ। पर अपनी समझमें प्रत्येक मनुष्य, जाति, समाज, देश सदा अपनी उन्नतिके लिये ही चेष्टा करता रहता है।

जैनजातिमें भी अब सुधार शब्द सुना जाने लगा है, और कितनेही सज्जन जात्यु- लिये चेष्टायें करते देखे जाते हैं। यद्यपि इस कार्यको आरम्भ हुए कितने ही वर्ष समाप्त हो गये, पर जैनियोंमें उन्नति अथवा सुधारके कोई चिह्न हमारे देखनेमें नहीं आते। सुधार अथवा उन्नति तो दूर रही, जहाँ तक जान पड़ता है जैनजातिकी दशा दिन पर दिन बिगड़ती जाती है, उसकी जड़ कमजोर होती चली जाती है और उसमें तरह तरहकी त्रुटियाँ, हानिकारक बातें, कुरीतियाँ प्रवेश करती जाती हैं। इससे मालूम होता है कि जैन जातिकी उन्नतिके लिये किये जाते हुए प्रयत्न यथोचित, समयानुकूल और बुद्धियुक्त नहीं हैं। अतः प्रत्येक जातिहितैषीका कर्तव्य है कि वह जैन जातिके सुधार, उसकी उन्नतिके लिये ठीक ठीक और कार्यकर उपाय सोचें।

प्रत्येक व्यक्ति अथवा जातिकी उन्नति मुख्य कर तीन प्रकारकी हुआ करती है। पहली धार्मिक, दूसरी सामाजिक और तीसरी राजनैतिक। यद्यपि इन तीनों प्रकारकी उन्नतियोंका एक दूसरेसे सम्बन्ध है, और तीनोंके लिये ज्ञान, विद्याका होना आवश्यक है, तो भी यदि प्रत्येक प्रकारकी उन्नतिके पृथक् पृथक् उपाय सोचे जायँ तो यह समस्या सरलतापूर्वक तय हो सकती है।

धार्मिक उन्नतिमें प्रधान बात चरित्रका सुधार और आत्माका उत्कर्ष है। जैनधर्म इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये किसी दृष्टिसे हीन नहीं है। यह धर्म शुद्ध तत्त्वज्ञान पर अवस्थित है और चरित्रका सुधार इसका एक प्रधान अंग है। पर खेदसे कहना पड़ता है कि आजकल जैनधर्मका वास्तविक स्वरूप एक प्रकारसे बिल्कुल लुप्त हो गया है; और जैनी लोग [illegible]री क्रियाकर्मों और कथा कहानियोंको ही असली धर्म समझ बैठे हैं। जैनधर्मके तत्त्वज्ञानका उन्हें नाममात्रको भी पता नहीं, और जो लोग शास्त्रोंमें उसे पढ़ते भी हैं वे उसके गूढ़ रहस्य अथवा वास्तविक तात्पर्यको नहीं समझते, इसी लिये आज कल जैनसमाज धार्मिक उन्नतिकी दृष्टिसे बिल्कुल गिर गया है। और इस सम्बन्धमें सुधार किये जानेकी बड़ी आवश्यकता है।

सामाजिक दशा और भी खराब है। जैनसमाजकी इस समय जैसी अव्यवस्था हो रही है और उसमें जिस प्रकार असंख्यों कुरीतियोंने घर कर लिया है वह वर्णन कर सकनेसे बाहर है। जैसे बेमेल विवाह इस जातिमें होते हैं वैसे शायद ही किसी दूसरी जातिमें होते हों।

समाजशासन भी क्रमशः शिथिल होता जाता है, और आजकल बुरे नियमोंके समयमें उसका शिथिल होना है भी अनिवार्य। शारीरिक, मानसिक आर्थिक सभी दृष्टियोंसे जैनी हीन होते चले जाते हैं। यदि सामाजिक पतनका यही क्रम कुछ समय और बना रहा तो जैन जातिकी अवस्था कल्पनातीत हो जायगी।

जब सामाजिक और धार्मिक अवस्था इस प्रकारकी है तो राजनैतिक उन्नतिका तो सवाल ही क्या। ऐसी बिगड़ी हुई, जर्जर त्रुटिपूर्ण, अव्यवस्थित, जीवनरहित, रूढ़ियोंकी गुलाम, कुसंस्कारयुक्त, क्षुद्रभावापन्न समाजको न आज तक कहीं राजनैतिक अधिकार मिले हैं और न आगे मिलना सम्भव है। राजनैतिक उन्नतिके लिये घोर दृढ़ता, अविरत उद्योग, धैर्य, बुद्धिमत्ता, साहस आदि अनेक सद्गुणोंकी आवश्यकता है। जैनियोंमें आजकल ये कहाँ? अतः राजनैतिक क्षेत्रमें कोई जैनियोंका नाम भी नहीं जानता।

अब आवश्यकता है कि यदि जैन समाज अपना कल्याण चाहता हो तो उसके विद्वान्, बुद्धिमान, जातिहितैषी लोग तीनों प्रकारकी उन्नतिके लिये सच्चे दिल और ठीक मार्गसे प्रयत्न करना आरम्भ करें। ठीक मार्गसे हमारा आशय यही है कि जैसे वर्षोंसे उन्नति और सुधारके लिये हल्ला मचाने पर भी अभी तक कोई फल नहीं देखा जाता, उसी प्रकार यदि अज्ञानके कारण गलत रास्ते पर कार्य किया गया तो परिणाममें निराश होना जरूरी है। अतः जब इस विषय पर बुद्धिमानीके साथ सूक्ष्म विचार किया जायगा तभी कुछ कार्य हो सकनेकी आशा है। हम तीनों प्रकारकी उन्नतिके प्रधान उपाय—अपनी सम्मतिके अनुसार—नीचे लिखते हैं।

धार्मिक उन्नतिके लिये खास बात उत्तम शिक्षाका प्रचार है। न तो भक्तामर, सत्रजी

या पूजनादिके याद कर लेनेसे धार्मिक उन्नति हो सकती है और न संस्कृत पाठशालायें खोल कर व्याकरण और काव्यके कुछ ग्रंथ पढ़ादेनेसे। धार्मिक उन्नतिके लिए इस प्रकारकी शिक्षाका देना आवश्यक है जिससे लोगोंकी बुद्धिका विकाश हो, और वे सत्य असत्यका निर्णय कर सकनेमें समर्थ हो सकें। जो शिक्षा मनुष्यके नेत्र खोल दे और संसारमें क्या हो रहा है, संसार किस तरह जा रहा है,और देशकालानुसार किन बातोंको ग्रहण करना और किनको त्याग करना जरूरी है आदि बातोंके समझने और पूरा करनेकी शक्ति प्रदान करे वही सच्ची शिक्षा है। और वही मनुष्यको सच्चा धार्मिक बना सकती है। कूपमण्डूक बना रह कर धार्मिक कहलाने वाला मनुष्य कदापि धर्मके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। अतः यदि जैनियोंको अपनी धार्मिक उन्नति और चरित्रका सुधार करना मंजूर हो तो शिक्षाका सुधार और प्रचार करना परमावश्यक है।

सामाजिक उन्नतिका सबसे अधिक सम्बन्ध विवाह-प्रणालीसे है। क्योंकि वर्तमान समयमें समाजका आधार ही विवाह अथवा स्त्रीपुरुषका मिलकर रहना है। जैनियोंकी विवाह-प्रथा इतनी अधिक बिगड़ी हुई और दोषपूर्ण है कि उसका पूरा वर्णन कर सकना भी कठिन है। यदि जैनी अपने समाजका स्थिर रहना अथवा उसकी उन्नति चाहते हों तो परमावश्यक है कि अपनी विवाह प्रथाका सुधार करें। वृद्ध-विवाह, बालविवाह, कन्याविक्रय, युवाओंका अविवाहित रहना, आदि सब हानिकारक रिवाजोंका रोका जाना जरूरी है। साथ ही दूसरी सब प्रकारकी कुरीतियोंको छोड़ना और रहन-सहनके उस ढंगको बदलना भी, जिसके कारण जैनी शारीरिक बल और बुद्धिमें हीन होकर दब्बू, कायर, डरपोक, 'बनिये' कहे जाने लगे हैं और दिनपर दिन उनकी मूर्खता बढ़ती जाती है, समाजोन्नतिके लिये आवश्यकीय है।

रही राजनैतिक उन्नति; उसके लिये मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि जैनियोंकी वर्तमान गिरी हुई दशामें उसकी कुछ आशा रखना व्यर्थ है। जिन लोगोंको अपने घरका ही होश नहीं, जिनकी जाति दोषों त्रुटियोंकी खान बन रही है उनकी राजनैतिक संसारमें पूछ हो सकना एक प्रकार असम्भव है, पर यदि जैनी लोग चाहें तो उसके लिये भी उपाय हो सकता है और वह है देशसेवा। जिसे राजनैतिक उन्नतिकी अभिलाषा हो, अधिकार प्राप्त करनेकी आकांक्षा हो उसके लिये जरूरी है कि सच्चे मनसे परिश्रमके साथ देशसेवा करे। यद्यपि आन्दोलन भी इसका उपाय समझा जाता है, पर वह नकली उपाय है। असलमें देशसेवासे ही राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो सकते हैं।

अतएव यदि जैनी लोग अपनी वर्तमान दशासे असन्तुष्ट हों, उनको अपनी अवनतिके ऊपर शोक होता हो, उनकी इच्छा हो कि वे भी दूसरी आगे बढ़ी हुई जातियोंके मुकाबिलेमें जा पहूँचे, यदि वे चाहते हों कि हमारे वर्तमान कष्ट, दुःख दुर्दशा दूर होकर संसारमें हम चैन, सुख, शांति और आरामके साथ जीवन व्यतीत कर सकें, तो उसके लिये आवश्यक है कि वे अपनी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक तीनों प्रकारकी उन्नति करें और इस उद्देशको पूरा करनेके लिये शिक्षाका वर्तमान ढंग पर प्रचार करें, विवाहप्रथाका संशोधन करके अपनी घटती हुई संख्याको रोकें और तन मन धनसे परिश्रमपूर्वक देशसेवा करना आरम्भ करें। यदि जैनियोंने ये तीनों कार्य पूर्ण परिश्रम और उद्योगके साथ तथा सच्चे मनसे किये

तो अवश्य ही उनकी उन्नति होगी और वे पुनः सच्चे और असली धर्मके ज्ञाता, सुधरी हुई और आदर्श समाजके सभ्य तथा राजनैतिक संसारमें अग्रगण्य बन कर अपने पूर्व गौरवको प्राप्त कर सकेंगे।

संपादकीय नोट—श्रीसत्यभक्तजीने जैन-जातिकी हालतपर तरस खाकर उसके सुधारके लिये जो यह कुछ पंक्तियाँ लिखनेका कष्ट उठाया है उसके लिये हम आपके बहुत आभारी हैं। और अपनी जातिके विद्वानों-नेताओं-शुभ-चिन्तकोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे जैनजातिकी वर्त्तमान दशा और उसके सुधारके उपायों पर गहरा विचार करनेकी कृपा करें। हमारे खया-लमें धर्मका रहस्य न समझने और संसारकी प्रगतिसे अनभिज्ञ होनेके कारण जैनियोंकी शक्ति व्यर्थके ऊपरी क्रियाकांडों और नुमायशी कामोंमें खर्च हो रही है। इसीसे धर्म, समाज तथा देश-उन्नतिके काम उनसे कुछ भी नहीं हो पाते। वे उलटे अधार्मिक, संकीर्णहृदय और अकर्मण्य बनते चले जाते हैं। उन्हें अनेक मार्गोंसे, पहलुओंसे, धर्मका रहस्य समझाने और संसारकी गतिका अनुभव करानेकी बहुत बड़ी जरूरत है। ऐसा होने पर उनकी शक्तिका अपव्यय रुक जायगा। शक्तिका अपव्यय रुकने पर उनका रुख पलट जायगा और तब वे स्वयं ही अपना वास्तविक सुधार—यथार्थ उन्नति—कर-नेमें लग जायँगे। अतः सहृदय विद्वानोंको इसके लिये दिल खोलकर प्रयत्न करना चाहिये।

हृदयकी तान।

(ले०-पं० दरबारीलालजी, न्यायतीर्थ।)

हृदयमें गूँजे ऐसी तान।
न्याय मार्गसे नहीं डरें हम, अनुत्साहको नहीं धरें हम,
प्राणिमात्रसे प्रेम करें हम, करें देश उत्थान;
हृदयमें गूँजे ऐसी तान।

दीनोंके सब दुःख दूर हों, कार्यक्षेत्रमें हम सुशूर हों,
अन्यायीके लिये क्रूर हों. रक्खें अपना मान;
हृदयमें गूँजे ऐसी तान।

कायर-वचन न मुखसे बोलें, ज्ञान सुधारस घटघट घोलें,
सत्य-तुलामें सब कुछ तोलें, जबतक तनमें प्रान;
हृदयमें गूँजे ऐसी तान।

निर्बल कहीं न समझे आवें, जगमें कहीं न दीन कहावें,
विघ्न करोड़ों सिर पर आवें, झेलें सब शुभ जान;
हृदयमें गूँजे ऐसी तान।

श्रीमती सरलादेवीका भाषण।

गुरुकुलोंके सम्बंधमें तीन प्रश्न।

सांताक्रूज गुरुकुलके साथ यह मेरा पहला प्रसंग नहीं है। दो वर्ष हुए इस संस्थाका मुझे अच्छा परिचय मिल चुका है। आज इस उत्सवके लिये निमंत्रण देकर उत्सवमें हाजिर होनेका जो शुभ अवसर मुझे दिया गया है उसके लिये मैं व्यवस्थापकोंका आभार मानती हूँ।

इसी तरह गुरुकुल-संस्थाओंके विषयमें मैंने जो कुछ विचार बाँधे हैं उन्हें संक्षेपमें सज्जनोंके सामने उपस्थित करनेकी अनुमति देकर कार्य-कर्ताओंने मुझे बहुत ही आभारी किया है। इसके लिये मैं उन्हें धन्यवाद देना चाहती हूँ। मुझे आशा है कि जिन विचारोंको मैं दर्शाऊँगी उनमें धृष्टता होनेपर वे क्षमापात्र ही होंगे।

बंगालसे पंजाब आने बाद—एवं आर्यसमाजके साथ मेरा संपर्क होनेके बाद, दो शब्दोंके साथ मेरा गहरा परिचय हुआ है।

पहला शब्द 'गुरुडम' है। इस शब्दके अर्थकी खोज करने—पूछताछ करनेपर ऐसा मालूम हुआ कि आर्यसमाजियोंमें किसी भी मनुष्यदेहधारी जीवके प्रति अंधविश्वास, अंधभक्ति अथवा अंध-ताबेदारीका होना बहुत ही खराब गिना जाता है। भारतवर्षका यह प्राचीन संस्कार कुसंस्कार गिननेमें आता है।

सुनकर मनमें विचार उत्पन्न हुआ, कि, हाँ, बात तो ठीक है। प्राचीन कालके गुरु आज कल कहाँ हैं, कि जिनके वचन वेदवाक्य तुल्य प्रमाणभूत माने जा सकें और जिनकी पूजा की जा सके, जिनके चरणोंमें अंधभक्ति समर्पण करके इस तरह निश्चिन्त रह सकें कि जो कुछ उनकी आज्ञानुसार किया जायगा उससे कल्याण ही होगा, उत्तम फल ही मिलेगा। अतः गुरुपदके अधिकारी मनुष्य आज कल दुर्लभ होनेसे चाहे जिसको गुरु मानकर उसकी आज्ञाका पालन करना यह ठीक ठीक गुरु-डम * ही है।

इसके साथ साथ ही दूसरा शब्द सुना गया। वह था 'गुरुकुल'। सुननेमें आया कि यह एक ऐसा विद्यालय है जहाँ प्राचीन पद्धतिसे विद्या सिखलाई जाती है। यह बात सुनकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। परंतु धीरे धीरे प्रश्नपर प्रश्न हृदयको व्यथित करने लगे। जिस समयमें और जिस देशमें सद्गुरुका अभाव होनेके कारण 'गुरुडम' जैसे एक नवीन शब्दकी उत्पत्ति हुई, उस समयमें और उस देशमें गुरुकुलका पुनः प्रचार होना कहाँतक संभव है? गुरुकुल यह अपने भारतवर्षकी एक अति प्राचीन प्रणाली है। उपनिषदों परसे प्राचीन गुरुकुलोंका कुछ दर्शन होता है। शास्त्रकारोंने गुरुकुलके सम्बंधमें नियम भी गढ़ रक्खे हैं। इन परसे हम देख सकते हैं कि गुरुकुलमें ब्रह्मज्ञानको ही प्रधान पद दिया जाता था। वहाँ विज्ञान आदि दूसरी विद्याओंकी जो शिक्षा मिलती थी वह अधि-कतर ब्रह्मज्ञानको मददरूप ही होती थी।

सनत्कुमार-नारद-संवाद परसे हमें इस विषयमें थोड़ा बहुत जाननेको मिलता है—

"अधिहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः। तं होवा च यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति। सहोवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पिन्यं (?) राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि। सोऽहं भगवो

* ईसाई धर्ममें प्रोटेस्टेंट लोग पोपके अधिकारको पोपडम (pope-dom) कहते हैं। वे पोपका अधि-कार नहीं मानते। आर्यसमाजियोंने इसी अर्थमें गुरुडम शब्द—डम (dom) यह अँगरेजी प्रत्यय लगाकर—उत्पन्न किया है।

मंत्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगव वद्भ्यस्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवांच्छोकस्य पारं तारयत्विति ॥"

इसका सारांश ऐसा है कि नारदजीने सनत्कुमारके पास आकर कहा, 'हे भगवन् मुझे ज्ञान दो।' सनत्कुमारने कहा, 'तुमको क्या आता है वह पहले बतलाओ, उसमें जो कुछ रह गया होगा वह मैं बतलाऊँगा।' नारदने कहा, 'मैं चारों वेद, इतिहास, पुराण, गणित-शास्त्र, तर्कशास्त्र, ज्योतिष इत्यादि बहुत बहुत विद्याएँ जानता हूँ; मैं मंत्रविद् हूँ, आत्मविद् नहीं; आप जैसे ऋषियोंके पाससे मैंने सुना है कि जो आत्मवित्–अर्थात् ब्रह्मवित् होता है वह शोकको तर जाता है; मुझे विद्याएँ तो प्राप्त हो गई हैं परंतु मैं अब भी शोकके वश हूँ; मुझे ब्रह्मज्ञानका दान करके शोकसे पार कीजिये।'

इस परसे हम देख सकते हैं कि गुरुके पास जानेका मुख्य उद्देश ब्रह्मज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त करना ही था। दूसरी बात यह है कि प्राचीन कालमें हरएक शिष्य समित्पाणि होकर गुरुके पास जाता था—

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।"

उस ब्रह्मको जाननेके लिये श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ ऐसे गुरुके पास समित्पाणि होकर जावे।

"ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति । तेह समित्पाणयो भगवन्तं पैप्पलादमुपसन्नाः।"

अर्थात्–भरद्वाज, सुकेशा, सत्यकाम, शैव्य, गार्ग्य, सौर्या, याण, आश्वलायन, कैशल्य, दर्भि, भार्गव और कवन्धी कात्यायन समित्पाणि होकर भगवान पिप्पलादके पास ब्रह्मान्वेषणके लिये गये।

इस 'सामित्पाणि' शब्दसे जो गूढ़भाव मेरे मनमें उदय होता है उसे मैं आपके सामने उपस्थित करना चाहती हूँ। समित्पाणि होकर जानेका अभिप्राय यह था कि शिष्यने सेवा-धर्मको अंगीकार किया है। इसके बहुतसे प्रमाण हमको मनुस्मृति, गीता और उपनिषदोंसे उपलब्ध होते हैं। उनमेंसे कुछ वाक्य यहाँ उध्दृत करती हूँ।

अग्नीन्धनं भैक्ष्यचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः॥
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥
हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥
चोदितो गुरुणा नित्यं अप्रचोदित एव वा,
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमं।
गुरुशुश्रूषयात्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते॥
यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

कृशानाबलानां चतुःशताः गा निराकृत्योवाचेयाः सोम्यानुसंव्रजेति। ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति॥

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥

एक देखा गुरुडमका चित्र और दूसरा देखा गुरुसेवाका। ये दोनों परस्परविरुद्ध जैसे मालूम होते हैं कि नहीं? जिस समय गुरु-सेवाके ऊपर श्रद्धा न हो उस समय गुरुकुलमें अध्ययन होना क्या संभवित है?

गुरुकुलमें एक दूसरी बात रही हुई है और वह गुरु-शिष्यके मध्यका कौटुम्बिक संबंध है।

अच्छा तो ये गुरु कैसे थे? गुरुत्वके योग्य कौन थे?—जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हों, इतना ही नहीं, बल्कि दुश्चरित्रसे विरत, शांत और समाहित हों, जो पूरी तौरसे विनयी हों, जिनमें दंभ तो लेशमात्र भी न हो। इसीसे वे पाठारंभमें हमेशा प्रार्थना करते हैं किः—

सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु मां विद्विषावहै।

गुरुको भी अपनी रक्षाकी जरूरत तो सदा है ही। गुरु कहीं पतनातीत तो बन गया नहीं होता। गुरु शिष्य दोनोंको वीर्यवृद्धिकी जरूरत है, केवल शिष्यको ही है ऐसा नहीं। इसीसे गुरु विनयसे नम्र होकर प्रार्थना करता है—

सहनौ अवतु सहवीर्यं करवावहै।

एक ऋषिके पास कुछ ब्रह्मविज्ञानार्थी शिष्य गये, तब ऋषिने कहा—

'भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ। यदि विज्ञास्यामः सर्वं हवो वक्ष्याम इति।'

गुरुकुलके वास्ते देखना चाहिये ऐसा विनयी, साधक, ब्रह्मनिष्ठ, स्थितप्रज्ञ, सदाचारी और शांत गुरु कि जिसका गुरुत्व गुरुडम न हो।

समित्पाणि बनकर गुरुके निकट जानेमें दूसरा जो महत्त्वका शिक्षण मिलता है उसे भी ध्यानमें रखनेकी जरूरत है। शिष्य समित्पाणि बनकर गुरुके पास जाता था, इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमें विद्याप्राप्तिके लिये द्रव्यकी जरूरत न थी। जरूरत खाली गुरु-शुश्रूषाकी ही थी। और इस सेवाके लिये विद्यार्थी अवस्थामें कुछ न कुछ शारीरिक परिश्रमका भी प्रयोजन था। अपने ही हाथसे लकड़ी काटकर लाना, अपने ही हाथसे पानी भरना, रसोई करनी, ये बहुधा ज्ञानसाधनमें अंगीभूत और मददरूप गिने जाते थे। आजकल जो इन्हें विघ्नरूप माना जाता है; ऐसा न था। संपूर्ण मनुष्यत्वके विकासके सारभूत हाथ पैरोंको पराधीन बनाकर अकेले मस्तिष्कसे ही काम लेना, यह प्राचीन मान्यतासे विरुद्ध था। उसका संस्कार आजतक अपने हिन्दू समाजमें चला आरहा है।

अधिकांश अँगरेजीभावापन्न बंगाल देशमें भी वहाँके विशुद्ध ब्राह्मण पंडित, जो ज्ञानाराधनमें ही मशगूल रहते हैं वे भी गरीब हैं और स्वयं रसोई बनाते हैं।

परमार्थदृष्टिसे जिन विद्यार्थियोंको शारीरिक श्रम करना पड़ता है उनका शरीर वज्र जैसा मजबूत बन जाता है, वे निर्भय बनते हैं और इस संसारमें आजीविकाके लिये जो दारुण संग्राम चल रहा है उसमें पूरा भाग लेनेके लिये तय्यार होते हैं। काष्ठ वगैरह चुनकर लानेके लिये जंगलमें भटकना होता है और रातको गौशाला वगैरहकी रक्षा करनी होती है इससे विद्यार्थी चुस्त और चंचल बनते हैं, भयरहित और स्वाश्रयी तय्यार होते हैं। जिन विद्यार्थियोंको पारमार्थिक दृष्टिसे शारीरिक परिश्रम उठाना पड़ता है उनके लिये सत्य, ब्रह्मचर्य वगैरह महाव्रतोंका पालन सुगम हो जाता है, यह अनुभवसिद्ध बात है।

अब प्रश्न यह है कि आजकलके स्कूल और कालिजोंमें जो शिक्षा मिलती है वह जैसी चाहिये वैसी क्यों नहीं? इतना तो निर्विवाद है कि आधुनिक शिक्षणक्रममें धर्मको बिलकुल स्थान नहीं। इतना ही नहीं बल्कि आधुनिक विद्वानोंकी ऐसी मान्यता है कि शिक्षणमें धर्मको स्थान देनेकी कोई जरूरत नहीं। धर्मकी शिक्षा देनेमें हानि है, ऐसा भी कितनोंहीका कहना है। अतः जिन्हें धर्मशिक्षणसे प्रेम है उनके लिये आधुनिक पाठशालाएँ निरर्थक हैं। परिणाम भी ऐसा ही निकला है। यद्यपि आधुनिक विद्यार्थियोंके अंदर थोड़ा बहुत नैतिक विकास

देखनेमें आता है तो भी उनकी धर्ममें श्रद्धा नहीं होती। कोई कोई तो नास्तिक तक बन जाते हैं। बहुतसे हिन्दूधर्मके मूलतत्त्वोंसे भी अनभिज्ञ रहते हैं। ऐसी दशा अवश्य शोचनीय है। अतः जहाँ धर्मका ज्ञान और धर्माचरणकी शिक्षा मिल सके ऐसे स्थानकी खास जरूरत है।

अब हमारे आधुनिक गुरुकुल कैसे होने चाहियें इसका विचार किया जाना चाहिये। यदि हम अपने बच्चोंको वैसा ही ज्ञान देना चाहते हैं जैसा कि स्कूल कालिजोंमें दिया जाता है तो मैं जरूर कहूँगी कि हमारे लिये यह बेहतर है कि हम अपने बच्चोंको स्कूल कालिजोंमें भेजें और गुरुकुलके लिये खास प्रयत्न करना छोड़ देवें। परंतु गुरुकुलोंका प्रयोजन है। क्योंकि आज धर्मज्ञानकी, धर्माचरणकी अतिशय आवश्यकता है और वह हमेशा रहनेवाली है। भारतवासियोंकी धर्मकी पिपासा अभी तक लुप्त नहीं हुई। इस परसे यह सिद्ध होता है कि हमें गुरुकुलोंकी परीक्षा करते समय बड़े बड़े मकानोंसे मोहित नहीं होना चाहिये, अँगरेजी भाषा, विज्ञान, गणितशास्त्र वगैरहका ज्ञान देनेके लिये वहाँ कैसा प्रयत्न जारी है यह देखकर हमें हर्षित नहीं हो जाना चाहिये, बल्कि ऐसी बड़ी संस्थाओंमें धार्मिक ज्ञान और धार्मिक वर्तनको विशेष पद देनेमें आता है या कि नहीं, यह हमें देखना चाहिये, और इसीके ऊपरसे ऐसी संस्थाओंकी परीक्षा करनी चाहिये।

धर्मज्ञानका अर्थ केवल वेदोंका या पुराणोंका अध्ययन ही नहीं है। धर्मज्ञान केवल पुस्तकोंसे दिया जाना असंभव है। धर्मज्ञान सुशिक्षित और सदाचारी गुरुके संपर्कसे ही दिया जाना संभव है। इसीसे गीताजीका महावाक्य कहता है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

इसमें गुरुभक्तिकी महिमा मधुर शब्दोंद्वारा बतलाई गई है। इसप्रकारका धर्मज्ञान दिये जानेके अर्थ बाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकारकी व्यवस्थाकी जरूरत है। बाह्य साधनोंमें एकान्त रमणीय प्रदेश, जहाँ विद्यार्थीगणको शांति, कोमलता, पवित्रता—इनका ही परिचय हो सके, और ऐसे स्थानमें पर्णकुटी अथवा प्राचीनकलाकी जिनमें प्रधानता हो ऐसे सादा आडम्बररहित मकान ही होने चाहियें।

आभ्यन्तर आवश्यकताका विचार करते हुए जिस तरह हमें योग्य अधिकारी, विनयी गुरुका प्रयोजन मालूम होता है, उसीतरह सेवावृत्तिवाले विनीत शिष्योंका। परंतु जबतक सुयोग्य गुरुका और सेवाभावसे भरे हुए शिष्योंका अभाव रहेगा, तबतक हम गुरुकुलोंमें जान नहीं डाल सकते। सामान्य बाजारमेंसे गुरुकुलके योग्य शिक्षक मिलना असंभव है। जबतक इस त्रुटिको हम दूर नहीं कर सकेंगे तबतक आदर्श गुरुकुल तय्यार होनेवाले नहीं। ऐसे शिक्षक मिलना दुर्लभ है, यह बात मैं स्वीकार करती हूँ, परंतु साथ साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जबतक ऐसे गुरु हिन्दुस्तानमें तय्यार नहीं होंगे तबतक हमारे गुरुकुल बहुत ही अपूर्ण रहेंगे। इतना ही नहीं, बल्कि जिस सफलता और जिस विशेषताकी हमें अभिलाषा रखनी चाहिये वह व्यर्थ जायगी। यदि मेरा यह अभिप्राय उचित माना जाय तो हमारे सामने यह बहुत ही महत्त्वका प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसे गुरुओंको हम किस रीतिसे तय्यार कर सकते हैं?

प्रश्न उपस्थित करना जितना आसान है, उत्तर देना उतना ही कठिन है। मुझमें उत्तर देनेकी शक्ति नहीं। विद्वानोंके सामने इस प्रकारके प्रश्न खड़े कर देना इतना ही मेरा कर्तव्य है। अतः गुरुकुल-व्यवस्थापकोंसे मेरी तीन प्रार्थनाएँ हैं—

१ गुरुकुलमें धर्मज्ञान और धर्माचरणको प्रधानपद दिया गया है या नहीं इसका विचार करना।

२ धर्माचारी शिक्षक किस रीतिसे उत्पन्न किये जा सकते है, इस प्रश्नके ऊपर खूब विचार करके कुछ न कुछ इलाज निकालना।

३ विद्यार्थियोंके लिये ऐसे शारीरिक उद्योगकी व्यवस्था की जाय कि जिससे भारतवर्षका कल्याण हो।

आज मैं गुजरातके एक आश्रमसे, जहाँ मेरा लड़का पढ़ रहा है, इस गुरुकुलके जल्सेमें आई हूँ। इस आश्रमका नाम गुरुकुल नहीं। यह है महात्मा गाँधीजीका सत्याग्रहाश्रम।

विद्यार्थियोंमें सेवाभाव उत्पन्न करनेका यहाँ हरएक प्रकारसे प्रयत्न होता है। विद्यार्थी अपने बहुतसे काम अपने ही हाथोंसे कर लेते हैं। योग्य गुरुओंके दृष्टांतसे धर्मज्ञान और धर्माचरण यह यहाँ विद्यार्थियोंके लिये प्रधानवस्तुके तौरपर रक्खा गया है।

अन्तमें एक दर्ख्वास्त मैं आप लोगोंके सामने पेश करना चाहती हूँ।

आज हिन्दुस्तानमें जब कोई काम आन पड़ता है तो हिन्दू मुसलमान महात्मा गाँधीजीका शरण ग्रहण करके उनकी धीर बुद्धिसे लाभ उठाते हैं। हमारे गुरुकुल इस लाभसे किस लिये वंचित रहते हैं? गुरुकुलका पुनरुद्धार करनेके लिये संपूर्ण गुरुकुलोंकी एक परिषद् एकत्र करनी चाहिये और दारिद्र्यव्रतधारी, यमनियमादिसाधनसंपन्न, सेवाधर्मी, सत्यनिष्ठ और ब्रह्मपरायण महात्मा गाँधीजीकी सहायतासे अपने अपने गुरुकुलकी पद्धति वर्तमानकालके अनुकूल बना लेनी चाहिये।

इस सूचनाके साथ इस सांताक्रूज संस्थाकी उन्नतिके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करके मैं विराम लेती हूँ। +

नोट—श्रीमती सरलादेवीजीने, अपने इस भाषणमें, गुरुकुलोंके सम्बंधमें जो जो बातें कही हैं और जो तीन प्रश्न उपस्थित किये हैं उन पर हमारे जैनी भाईयोंको भी और खासकर ऋषभ-ब्रह्मचार्याश्रम हस्तिनापुरके संचालकोंको विचार करना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि गुरुकुल जैसी संस्थाओंके लिये गुरुका प्रश्न एक बड़े ही महत्त्वका प्रश्न है। परंतु खेदके साथ कहना पड़ता है कि इस पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है और बहुधा यही वजह है कि आधुनिक गुरुकुलोंसे प्रायः यथेष्ट परिणाम निकलता हुआ नजर नहीं आता—जिस परिमाणमें समाजकी आर्थिक आदि शक्तियोंका व्यय होता है नतीजा उसका शतांश भी नहीं। गुरुकुलोंके शिक्षकोंको धर्मके रहस्यका जाननेवाला, आत्मनिष्ठ, संयतेंद्रिय, विनयी, शांत, उदार, गंभीर, धीर और सदाचारी होना चाहिये। परंतु ऐसे शिक्षक साधारण बाजारोंसे उपलब्ध नहीं हो सकते, यह बिलकुल सच है। और इस लिये उनकी प्राप्तिके लिये खास यत्नकी जरूरत है। अन्तमें श्रीमतीने महात्मा गाँधीजीकी अध्यक्षतामें सर्व गुरुकुलोंकी एक परिषद् एकत्र करने आदिके सम्बंधमें जो बात कही है वह बहुत ही समुचित मालूम होती है। —**संपादक**।

+ 'नवजीवन' की १८ वीं अप्रेलकी संख्यामें प्रकाशित श्रीमतीके गुजराती भाषण परसे अनुवादित।

मुझे यदि निर्वृति न मिले तो कोई चिन्ता नहीं—मैं उसे अभी चाहता भी नहीं—परंतु मेरे अंतर्जल्परूप उत्प्रेक्षाजालोंका मूलसे नाश होना चाहिये। अर्थात्, मेरे हृदयमें जो अक्सर बैठे बिठाए ख्वामख्वाह किसी व्यक्ति आदिकी कल्पनाएँ उठकर उनके सम्बंधमें व्यर्थकी बातचीत हुआ करती है वह न हुआ करे। यह अंतरंगकी बातचीत दुःखोंका मूल कारण है। इससे न सिर्फ आत्माकी शक्तियाँ ही नष्ट होती हैं बल्कि शारीरिक और मानसिक शक्तियोंको भी बहुत बड़ा धक्का पहुँचता है। और इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि जब तक यह अन्तरंगकी बातचीत बनी रहेगी तब तक इस जीवात्माको कर्मबंधनसे छुटकारा नहीं मिल सकता।

—**खंडविचार**।

गड़बड़ानन्दिनी गवेषणायें।

[लेखक, **श्रीमान् पं० श्रीगड़बड़ानन्द शास्त्री।**]

जान पड़ता है बाबूदल जैनधर्मके पीछे हाथ धोकर पड़ गया है। अब उसने जैनधर्मके नाश करनेका एक और नया तरीका निकाला है। वह जैनधर्मके बड़े बड़े शास्त्रोंका अस्तित्व ही मिटा देना चाहता है। बाबू जुगलकिशोरजी बड़ी बड़ी दलीलें पेश करके फरमाते हैं कि स्वामी समन्तभद्रका बनाया हुआ 'गन्धहस्ति महाभाष्य' नामका कोई ग्रन्थ ही नहीं है। हमारी शास्त्रीय भाषामें उन्होंने उसे बिलकुल आकाशकुसुम या खरविषाण बतला दिया है। तरीका बड़ा बढ़िया है। "न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।" जब जैनग्रन्थोंके अस्तित्वमें ही सन्देह होने लगेगा जैनधर्म क्या खाक रह जायगा ? हमारे शास्त्री भाइयोंको जल्दी सावधान हो जाना चाहिए। यह कोई मामूली बात नहीं है। इसके लिए शास्त्रीयपरिषत्की एक स्पेशल मीटिंग बुलानी चाहिए और उसमें ऐसे विचारोंके प्रचारके रोकनेका कोई खास इन्तजाम करके महाभाष्यकी प्रति लानेके लिए जितनी जल्दी हो सके, किसी धुरन्धर शास्त्रीको आस्ट्रिया भेज देना चाहिए। जब कि एक शास्त्रीने वियना-लायब्रेरीके 'कैटलाग' में महाभाष्यका नाम देखा है तब वह वहाँ अवश्य ही होगा। उनकी बात पर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं दिखाई देता। कोई 'बाबू' होता तो सन्देह भी किया जा सकता था। आस्ट्रियासे महाभाष्यके आनेपर बाबूसाहबकी सारी दलीलोंपर पानी फिर जायगा।

× × × ×

जिस तरह राक्षसराज रावण बहुरूपिणी विद्याकी साधनामें तन्मय हुआ था, उसी प्रकार बाबू सूरजभानजी वकील कथाग्रंथोंको कपोलकल्पित सिद्ध करनेकी साधनामें संलग्न हो रहे हैं। हमारे शास्त्री मित्र अंगदका रूप धारण करके उनके ऊपर तरह तरहके उपद्रव करनेके लिए आज वर्षोंसे कटिबद्ध हो रहे हैं—वाग्वाणोंकी वर्षा करते हैं, तिरस्कारवर्षा और गालिवर्षा करनेमें भी कसर नहीं रखते हैं, फिर भी वे टससे मस नहीं होते हैं—बराबर लिखे ही चले जाते हैं। उन्होंने सब तरफसे इस तरह आँख कान बन्द कर लिये हैं मानों कोई उनसे कुछ कहता ही नहीं है, कोई उनके विरुद्ध कुछ लिखता ही नहीं है। हम लोग शास्त्रार्थ करनेके लिए चुनौतियाँ देते देते थक गये, लिखते लिखते हार गये कि यदि दम हो तो खम ठोककर मैदानमें आ जाओ, नहीं तो अपनी मूर्खतापर पश्चात्ताप करो; तिरस्कार कर करके तंग आ गये कि पहले न्यायशास्त्रका 'ओनामा' पढ़ो तब इस तरह छोटे मुँह बड़ी बातें करो; पर यारने ऐसी गजबकी चुप्पी लगाई है कि कुछ कहते ही नहीं बनता। कौन जानता था कि यह बूढ़ा खुर्राट अपनी धुनका इतना पक्का होगा और मवक्किलोंके चाटे हुए इसके दिमागमें इतनी एकाग्रता बाकी बनी होगी, जो इस वानरदलके कोलाहलसे जरा भी चल-विचल न होगी! हमारे शास्त्री मित्र चाहे जो समझें, परन्तु मुझे तो यही निश्चय हो गया है कि यह महासाधना निष्फल जानेवाली नहीं है। सूरजभानी विद्या अवश्य सिद्ध होगी, बल्कि आँख खोलकर देखा जाय तो मालूम होगा कि उसका सिद्ध होना शुरू भी हो गया है। समाजमें जहाँ तहाँ बीसों सूरजभान दिखाई देने लगे हैं और यह राक्षसवंश बराबर बढ़ता ही चला जाता है। अब इसके सिवाय और कोई उपाय

नहीं दिखाई देता कि स्वयं नारायण-बलभद्र मैदानमें आवें और अपने चक्ररत्नसे इनका शिरच्छेद करके जैनधर्मकी धुजा फहरावें।

× × × ×

देखते हैं कि वन और जंगल तो हिंस्रजन्तुओंसे खाली हो रहे हैं; परन्तु धर्मोंकी चहारदीवारियोंके भीतर इनके झुण्डके झुण्ड बेखौफ़ होकर घूम रहे हैं। इनके उपद्रवोंके मारे धर्मात्माओंका नाकों दम है। बेचारे बड़े ही परेशान हैं। यद्यपि आजकलकी सभ्य भाषामें ये 'शिक्षित' या 'पढ़े लिखे' कहलाते हैं, परन्तु इनके कृत्य वन्यजन्तुओंसे भी भयंकर हैं। शास्त्रियोंकी भाषामें इन्हें 'साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः' के सिवाय और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। लोगोंकी भक्ति और श्रद्धारूपी निरीह गऊयें इनके मारे त्रस्त हैं। नित्य ही सुन पड़ता है कि आज अमुकके लड़केकी श्रद्धाको अमुक 'बाबू' चट कर गया और अमुककी भक्तिको अमुक 'मिस्टर' साफ कर गये! भगवन्! यह क्या हो रहा है? यदि कुछ समय तक यही क्रम जारी रहा तो जिस तरह श्वेताङ्गोंके मारे गोवंशका नाश समीप दिखलाई देता है, उसी प्रकार इन श्वापदोंके मारे श्रद्धावंशका सर्वनाश हो जायगा और तब समझमें नहीं आता कि इस सुजल-सुफल-शस्यश्यामल धर्मराज्यकी क्या दशा होगी। हमें तो सिवाय इसके और कोई उपाय नजर नहीं आता कि अब क्षेत्रपाल पद्मावती आदि शासनदेवताओंके द्वार खड़खड़ाये जावें और उनसे इस संकटसे रक्षा करनेकी प्रार्थना की जाय। सैकड़ों वर्षोंसे ये देवता आराम कर रहे हैं। इनसे कोई भी शासनकार्य नहीं लिया जा रहा है। इस समय वे अवश्य काम आयँगे।

जो विधवा लोकलाज तथा किसी प्रकारके भयादिकी अपेक्षा न कर, ब्रह्मचर्य (शील) के माहात्म्यको वस्तुतः भले प्रकार समझती और श्रद्धान करती हुई, खुशीसे पूर्ण ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान और प्रेमसे उसका पालन करती है; साथ ही, ऐसा करते हुए किसी पर कुछ अहसान नहीं जताती बल्कि यह समझती है कि मैं जो कुछ कर रही हूँ, वह सब अपने आत्मोत्कर्षके लिये कर रही हूँ, वह उत्तम विधवा है। मध्यम विधवा वह है जो पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिये असमर्थ है, अथवा देश, काल तथा स्वकुटुम्बादिककी परिस्थितियोंके कारण पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना अपने लिये उचित तथा हितावह नहीं समझती, और इस लिये जो पुनर्विवाहदीक्षासे दीक्षित हो जाती है। इसके सिवाय अवस्था ढल जाने आदिके कारण जिनकी कामवासनाएँ प्रायः शान्त हो गई हैं, जो ब्रह्मचर्यके महत्त्व और उसके द्वारा अपने आत्मोत्कर्षको कुछ जानतीं या समझतीं नहीं, केवल लोकरीति ही जिनकी ब्रह्मवृत्तिका एक मात्र आश्रय है, अथवा जो लोकलाज या किसी भयादिके कारण मजबूरीसे ब्रह्मचर्यका पालन करती हैं वे सब विधवाएँ भी मध्यम श्रेणीमें दाखिल हैं। जघन्य श्रेणीकी या अधम विधवाएँ वे हैं जो न तो किसी प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पालन करती हैं और न पुनर्विवाहदीक्षासे दीक्षित होकर बैठ रहनेकी जिनमें हिम्मत है; बल्कि जो बाहरसे सती साध्वीका ढोंग बनाकर बराबर गुप्त व्यभिचार किया करती हैं और अपने इस दुष्कर्मपर पर्दा डालनेके लिये भ्रूणहत्या तथा बालहत्यादि जैसे महान् पापोंके करनेमें भी जिन्हें कुछ भय तथा संकोच नहीं होता और जो बराबर उनके करने करानेमें तय्यार रहती हैं।

—खंडविचार।

विविध प्रसङ्ग ।

१–महावीरस्वामीकी सच्ची जयन्ती ।

अहमदाबादमें महावीर जयन्तीके उत्सव पर महात्मा गाँधीने नीचे लिखी विचारणीय बातें कही थीं—

" मैं आप लोगोंसे विश्वासपूर्वक यह बात कहूँगा कि महावीर स्वामीका नाम इस समय यदि किसी भी सिद्धान्तके लिए पूजा जाता हो, तो वह अहिंसा है । मैंने अपनी शक्तिके अनुसार संसारके जुदा जुदा धर्मोंका अध्ययन किया है और जो जो सिद्धान्त मुझे योग्य मालूम हुए हैं उनका आचरण भी मैं करता रहा हूँ । मैं अपनेको एक पक्का सनातन हिन्दू मानता हूँ; परन्तु मैं नहीं समझता कि जैन-दर्शन दूसरे दर्शनोंकी अपेक्षा हलका है अथवा उसकी हिन्दूधर्ममें गणना न हो सके; और इसी लिए मैं मानता हूँ कि जो सच्चा हिन्दू है वह जैन है और जो सच्चा जैन है वह हिन्दू है। प्रत्येक धर्मकी उच्चता इसी बातमें है कि उस धर्ममें अहिंसाका तत्त्व कितने परिमाणमें है और इस तत्त्वको यदि किसीने भी अधिकसे अधिक विकसित किया हो, तो वे महावीर स्वामी थे । परन्तु उन महावीर भगवानका वर्तमान शासन उसका पूरा पूरा आचरण नहीं करता । महावीर स्वामीका शासन ऐसे लोगोंके हाथोंमें जा पड़ा है कि उनके द्वारा वह यथेष्ट रूपमें विकसित नहीं हो सका । मैं यह बात त्रुटि बतलानेके लिए नहीं कह रहा हूँ और न मुझे जैनोंसे किसी प्रकारकी घृणा ही है । मैं सैकड़ों हजारों लोगोंके समागममें रहता हूँ । अनेक श्रावकोंके साथ मेरा गाढ़ परिचय है । जैनसाधुओंके साथ मैंने मित्रभावसे अनेक बार वादविवाद किये हैं और इससे मुझे अनुभव हुआ है कि महावीर भगवानने जिन तत्त्वोंका उपदेश दिया है उनका आचरण जैनोंमें नहीं होता है । यद्यपि वे पशुओंकी रक्षा करते हैं, नानाप्रकारके जीवजन्तुओंको बचाते हैं, पानी छानकर पीते हैं, गिने चुने खाद्य पदार्थोंको खाते हैं, दूसरे अभक्ष्य पदार्थोंको त्यागे रहते हैं और कुछ खास खास धर्मक्रियाओंको करते रहते हैं और केवल इतनेसेही वे अपनेको सच्चा जैन मानते हैं । परन्तु जैनधर्मकी और महावीरपुत्रोंकी ऐसी छोटी–अपूर्ण व्याख्या समझ लेनेसे आजकलके जैनभाई अगणित छोटे छोटे जीवजन्तुओंकी रक्षा भले ही करते हों परन्तु मनुष्योंके प्रति उनका जो बर्ताव है–जो आचरण है–वह कदापि ठीक नहीं कहा जा सकता । भले ही वे खटमल, कीड़ों-मकोड़ों और मच्छड़ोंकी चिन्ता रखते हों, परन्तु मनुष्योंके प्रति तो वे विश्वासघात करते हैं, उनका पेट काटते हैं, झूठ बोलते हैं और निर्दयता प्रकट करते हैं । अतः उनकी अपेक्षा जो मनुष्य सैकड़ों कीड़ों-मकोड़ोंकी ओरसे लापरवा रहकर भी मनुष्यजातिकी ऊँचीसे ऊँची सेवा करता है, लकवा, गलितकुष्ठ अथवा छूतके रोगोंसे ग्रसित रोगियोंकी अपने जीवनकी भी परवा किये बिना सेवाशुश्रूषा करता है, उसे मैं विशेष पूजनीय समझता हूँ। मैं आप सब लोगोंसे बिनती करता हूँ कि आप महावीर स्वामीके उपदेशोंको पहचानें, उन पर विचार करें, और उनके अनुसार आचरण करें । जिस समय हम ऐसा करने लगेंगे उसी समय महावीर भगवानकी सच्ची जयन्ती मनानेके योग्य गिने जायँगे । जो मनुष्य मनुष्यकी सेवा करनेमें अपने आत्माको ओतप्रोत कर डालते हैं, उन्हें मैं विशेष उत्तम गिनता हूँ । मेरे इस कथनका कहीं आप उलटा अर्थ नहीं करने लगना । महावीर स्वामी क्षत्रिय थे और उन्होंने जिस अहिंसाधर्मका प्रतिपादन किया है तथा अपने चरित्रके द्वारा जिस

अहिंसा और करुणाके दृष्टान्त संसारके सामने खड़े किये हैं, उस अहिंसाधर्म और प्रेमधर्मको समझकर जिस समय आप आचारमें लावेंगे, उसी समय समझा जायगा कि आप लोगोंने महावीर भगवानकी वास्तविक जयन्ती मनाई है।"

महात्माजीकी इन मार्मिक बातों पर हमारे जैनी भाईयोंको गहरे विचारके साथ ध्यान देना चाहिये। और उन्हें शीघ्र ही अपनी त्रुटियोंको दूर करके महावीर भगवानके सच्चे भक्त कहेजाने और सच्चे जैनी बननेका सौभाग्य प्राप्त करना चाहिये।

२–उपवास और प्रार्थना।

महात्मा गाँधीजीने उपवास और प्रार्थनाकी प्रेरणा करते हुए 'यंगइंडिया' और 'नवजीवन' में जो अपने विचार प्रकट किये हैं उनमेंसे कुछ विचारोंको हम अपने पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे देते हैं—

"उपवास और प्रार्थनाका रिवाज पुराना है। उपवाससे शरीर, मन और आत्माकी शुद्धि होती है। उपवाससे देहको कष्ट होता है और इतने ही दर्जे आत्मा मुक्त होता है। शुद्ध हृदयकी प्रार्थनामें चमत्कार भरा हुआ है। इसके द्वारा आत्मा अपनी अधिकसे अधिक शुद्धिके लिये प्रयत्न करता है।

(समझपूर्वक भी) गायत्रीका जप करना, निमाज़ पढ़नी अथवा प्रार्थना करनी, यह ज्यादातर अज्ञानी तथा भोले लोगोंके वास्ते हैं और यह उनका वहम है, ऐसा मानना मोटीसे मोटी भूल है। उपवास और प्रार्थना यह आत्माकी शुद्धिके लिये सबसे अच्छा मार्ग है। जिससे आत्माकी शुद्धि होती है उससे अपना धर्म भी अधिक अच्छी रीतिसे पाला जा सकता है और अपना लक्ष्यस्थान भी निकट आता जाता है। इससे उपवास और प्रार्थना निरर्थक हैं उनमें कुछ भी नहीं, ऐसा नहीं, बल्कि उनके बराबर कोई योग्य बल नहीं ऐसा समझना चाहिये।

जो मनुष्य जन्माष्टमीके दिवसकी तरह अपना सारा दिन उपवास करके ही गाल देते हैं वे मनुष्य उपवासका फल एवं शुद्धि प्राप्त नहीं कर सकते। बल्कि इस प्रकारके निकम्मे उपवाससे मनुष्य निर्बल बन जाता है। उपवास तो खरा तभी कहलाता है जब कि उपवासके साथ शुद्ध विचारोंका सेवन होवे और अधम वासनाओंके साथ टक्कर झेलनेका संकल्प किया जाय। उसी तरह प्रार्थना भी खरी तभी कहलाती है जब कि वह समझपूर्वक और चौकस रीतिसे (यथाविधि) की जाय। मनुष्यको उसके साथ तन्मय हो जाना चाहिये। जब अपना मन दशोंदिशाओंमें भटकता हो तब प्रभुके नामके मणके फेरना निरर्थक है।

प्राचीन समयमें प्रजा तथा व्यक्तिके जीवनविकासमें प्रार्थनाओंने अतिमहत्वका भाग लिया है।"

आशा है हमारे जैनीभाई महात्माजीके इन विचारोंसे कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे। उनके ये विचार जैनधर्मके विचारोंसे बहुत कुछ मिलते जुलते हैं।

३–धर्मके डूब जानेका भय।

हमारे ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको बहुत दिनोंसे जैनधर्मके डूब जानेका भय चला आता है। परंतु हालमें आपका यह भय और भी ज्यादा बढ़ गया है। आपको अनुभव हुआ है कि अब जैनियोंमें ही जैनधर्मको डुबानेवाले पैदा हो गये हैं। और इस लिये आपने इन धर्मशत्रुओंको मार गिराकर जैनधर्मकी रक्षा करनेके लिये कुछ पंडितोंसे जोरदार अपील की है। आपकी यह अपील जरूर सुनी जानी चाहिये,

क्योंकि आप अनुभवी पुरुष हैं! परंतु हमारे ख्यालमें न तो जैनधर्म डूबनेवाला है और न उसे कोई डुबानेवाला है । आजकल तो देशमें चहुँओर प्रेमका आलाप सुनाई पड़ता है, उदारताका गीत गाया जाता है और लोग मत-मतान्तरोंसम्बंधी परस्परके द्वेषभावोंको भुलाते जाते हैं। फिर यह विभीषिकामय स्वप्न (अनुभव) कैसा? कहीं स्वतंत्र विचार-वायुके झकोरोंका तो यह विकार नहीं है!!

४–स्वतंत्र विचारोंसे घृणा।

हिन्दी जैनगजटके वयोवृद्ध संपादक पं० रघुनाथदासजीको स्वतंत्र विचारोंसे बड़ी घृणा है। आप उन्हें जैनधर्मके अधःपतनका कारण समझते हैं और यह बतलाते हैं कि वे उसका मटियामेट करके पीछा छोड़ेंगे! जैनधर्मकी प्यारी वस्तु परीक्षा-प्रधानताको भी आप शायद अच्छी नजरसे नहीं देखते। और विचार-परिवर्तनके तो आप सख्त विरोधी ही बने हुए हैं। आप विचारोंमें कूटस्थताका साम्राज्य चाहते हैं। जो विचार बाल्यावस्थामें—अव्युत्पन्नावस्थामें उत्पन्न होते हैं—चाहे वे अच्छे हों या बुरे, सत्य हों या असत्य, उपयोगी हों या अनुपयोगी—उन्हें मरणपर्यंत ज्योंका त्यों बनाये रखना चाहिये, व्युत्पन्नदशा हो जाने पर भी उनमें जरा भी परिवर्तन न होना चाहिये, ऐसी आपकी नीति मालूम होती है! शायद भगवती आराधना और गोम्मटसारकी उस गाथाको भी आप नहीं मानते जिसका ऐसा आशय है कि अल्पज्ञानी गुरुके संयोगसे यदि किसी मनुष्यको पदार्थका कुछ अन्यथा श्रद्धान हो जाय तो बादमें विशेष ज्ञानी तथा शास्त्रादिकके द्वारा समाधान होने पर उसे वह श्रद्धान छोड़ देना चाहिये—अपने पूर्व विचारको बदल देना चाहिये—न छोड़ने और बदलनेकी हालतमें वह उसी क्षणसे मिथ्यादृष्टि हो जायगा। विचारपरिवर्तनका विधान करनेवाले ऐसे और भी सैकड़ों ऋषिवाक्य हैं जो आपके सिद्धान्तके विरुद्ध पड़ते हैं और इस लिये शायद आप उन्हें भी नहीं मानते। नहीं मालूम फिर आप जैनगजटका संपादन क्यों करते हैं? क्या आप इसके द्वारा अपने पाठकोंके विचारोंको बदलनेका उद्योग नहीं करते? उन्हें अपने विचारानुकूल बनाना नहीं चाहते? यदि ऐसा नहीं है तो फिर पत्र ही क्यों निकाला जाता है? इसका उत्तर शायद पंडितजी ही दे सकेंगे। हम तो देशकालानुसार अपनेमें बराबर परिवर्त्तन देखते हैं और इसे प्रगति तथा जीवनका चिह्न समझते हैं। अभी थोड़े दिन हुए घड़ी भर रुईका लिहाफ लेकर बड़ी खुशीसे मकानके अन्दर दर्वाजे बंद करके सोते थे। परंतु अब रुचि बदल गई—वह घड़ीभर रुईका लिहाफ लेना और बन्द मकानके अन्दर सोना अच्छा मालूम नहीं होता—और इसलिये अब खुली हवामें छतोंपर सोते हैं और एक पतलासा चादरा ओढ़ते हैं, यही अच्छा मालूम होता है। शायद पंडितजीकी अवस्था कूटस्थ हो, उनके विचारोंमें बचपनसे लेकर अब तक कुछ भी हेर फेर न हुआ हो और इसीसे आप दूसरोंके सामने मुँह खोलने—उन पर कुछ आक्षेप करनेका साहस करते हों!!

५–परमात्माकी पहिचान।

हालमें सहयोगी 'पद्मावती–पुरवाल' ने, मिथ्यात्वमें फँसे हुए कुछ अज्ञानी और भोले जीवों पर दया करके, 'परमात्मा' शीर्षक एक कविता प्रकाशित की है और उसके द्वारा परमात्माकी कुछ पहिचान बतलाई है। इस कविताका एक युक्तिवाक्य इस प्रकार है:—

'किसी इन्सानके वालिदको कैसे? ईश मानें हम।'

इस वाक्य द्वारा यह बतलाया गया है कि जो किसी इन्सान (मनुष्य) का वालिद (पिता) होता है उसे हम ईश (परमात्मा) नहीं मान सकते। अर्थात्, जो मनुष्योंका पिता होता है वह परमात्मा नहीं हो सकता। इस युक्ति परसे क्या हम यह समझें कि श्रीऋषभदेव भगवान् जो भरत, बाहुबलि आदि मनुष्योंके पिता थे परमात्मा नहीं थे? इसी तरह और भी बहुतसे तीर्थंकर तथा इतर केवलीगण, जिनके अपने उस शरीरसे अनेक संतातियाँ मौजूद थीं और इसलिये वे उन इन्सानोंके (मनुष्योंके) साक्षात् पिता थे, क्या परमात्मा नहीं थे? हमारे खयालमें सहयोगीके इस युक्तिवादने जैनियोंके लिये, परमात्माके विषयमें, एक बड़ी ही विलक्षण समस्या उपस्थित कर दी है; क्योंकि वे अभी तक अर्हंतोंको, जो प्रायः मनुष्योंके पिता होते हैं, सकल परमात्मा मानते आए हैं और उनके शास्त्रोंमें भी ऐसा ही विधान पाया जाता है।

६–सहयोगीका भ्रम।

सहयोगी जैसवाल जैनने, अपनी १० वें नम्बरकी संख्यामें, 'स्त्रीमुक्ति' नामक पुस्तकका परिचय देते हुए यह बतलाया है कि इस पुस्तकके लेखक "सूरजभानु वकील" हैं। हमें यह पढ़कर बड़ा कौतूहल हुआ, कई बार पुस्तकको उठाकर देखा; परंतु उसमें सूरजभानु वकील तो क्या, किसी भी लेखकका नाम नहीं पाया। तब 'सत्योदय' की फायलको निकाला गया, जिस परसे यह पुस्तक उद्धृत की गई है। उसे टटोलने पर मालूम हुआ कि इस 'स्त्रीमुक्ति' शीर्षक लेखमालाके लेखक 'सूरजमलजी, छावड़ा' हैं। हम नहीं कह सकते कि लेखकका यह नाम कहाँ तक सही है–सूरजमलजी छावड़ा वास्तवमें इस लेखमालाके लेखक हैं या कि नहीं। परंतु पं० रघुनाथदासजीको ऐसा मालूम हुआ है कि इसके वास्तविक लेखक बाबू अर्जुनलालजी सेठी हैं और इस लिये आपने इस बातको सर्व साधारण पर प्रकट भी कर दिया है। हालमें पद्मावती–पुरवालके संपादक महोदयने भी ऐसा ही कुछ इशारा किया है। अस्तु इस पुस्तकके लेखक सूरजमलजी छावड़ा हों या उनके गुरु पं० अर्जुनलालजी सेठी–यहाँ हमें इस विषयको कुछ स्पष्ट करनेकी जरूरत नहीं–परंतु इसमें संदेह नहीं कि बाबू सूरजभानजी वकील इस पुस्तकके लेखक नहीं हैं, और इस लिये सहयोगी जैसवाल जैनका उन्हें उसका लेखक प्रकट करना कोरा भ्रम है। हम नहीं समझते प्रकाशकजीने पुस्तक पर लेखकका नाम क्यों नहीं दिया। क्या उसके फर्जी होनेके कारण ही पीछेसे उन्हें उसके देनेमें संकोच हो गया? कुछ भी हो पुस्तकप्रकाशकोंका यह ढंग अच्छा नहीं।

७–सेठीजी और जैनसमाज।

जबसे सेठी अर्जुनलालजी जेलसे छूट कर आए हैं तबसे उनके विषयमें तरह तरहकी बातें सुननेमें आती हैं। पत्रोंमें परस्परविरोधी लेख भी निकल रहे हैं जो एक दूसरेकी बातका खंडन करते हैं। अभी तक हम, विश्वस्त रूपसे, आपकी हालतके विषयमें कोई ठीक निश्चय नहीं कर सके और इसलिये हम उन संदिग्ध बातोंका उल्लेख करके अपने पाठकोंको भ्रममें डालना नहीं चाहते; तो भी इतना जरूर कहेंगे कि जैनियोंसे बिगड़कर या उनकी किसी बातसे चिढ़कर भले ही दुःखितहृदय सेठीजी कुछ कह जायँ, फिर भी जहाँ तक हम समझते हैं, आप जैनधर्मके विरोधी नहीं हो सकते। जैनधर्म चिरकालसे आपकी अस्थिमज्जामें समाया हुआ है। यह दूसरी बात है कि जैनसिद्धान्तोंका आशय समझनेमें आपके और दूसरे विद्वानोंके परस्पर

मतभेद हो और उसमें आपकी भी भूल हो। इसी तरह जैनसमाजके विरोधी होकर आप उसकी हितचिन्तासे भी मुख नहीं मोड़ सकते। क्योंकि जैनसमाजसे आपका गाढ़ सम्बंध है और आप बराबर उसकी हितकामना करते आए हैं। यह दूसरी बात है कि समाजका हित समझनेमें भी आपकी कुछ भूल हो। परंतु इस प्रकारकी भूलोंका प्रेमपूर्वक सुधार होना चाहिये। अनादर और तिरस्कारसे वे उलटी वृद्धिको प्राप्त होती हैं।

८–जैनों और अजैनोंका दान।

सूरतके सार्वजनिक कालिजको एक बनियेने दो लाख रुपये देना स्वीकार किया है। इस समाचारको देकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी पूछते हैं, 'है कोई ऐसा दानी जैनियोंमें?' हम कहते हैं हालमें जबलपुरकी दो जैनविधवा-ओंने प्रतिष्ठा कराने और रथ चलानेमें अस्सी हजार रुपया खर्च किया है। एक तो स्त्रीजाति, दूसरे विधवा और तिसपर इतना भारी त्याग; मुकाबला कर देखिये, यह कुछ कम दान नहीं है। धर्मके नामपर मेले ठेले और तमाशोंमें खर्च किये हुए रुपयोंसे भी जब स्वर्गोंके सुखोंकी प्राप्ति होती है तो फिर भला ऐसा कौन मूर्ख है जो इस उपयोगी नाचने कूदनेके मार्गको छोड़कर कालिज जैसे कामोंमें अपने रुपयेको देकर बर्बाद करे!! ब्रह्मचारीजी! आप अपने इन उद्गारोंको रहने दीजिये और जैनियोंको अपने धर्मकी यथेष्ट प्रभावना कर लेने दीजिये! अभी आपकी इस धीमी आवाजको कोई सुनने सुना-नेवाला नहीं है। जब समाजकी शक्ति इधर व्यय हो रही है तो उधर कैसे लग सकती है?

९–पुनर्विवाह-दीक्षा।

हालमें स्थानीय अग्रवाल जैन बिरादरीकी एक बालविधवाने अपने कुछ रिश्तेदारोंकी सलाहसे, सहारनपुर जाकर एक अग्रवाल जैनसे अपनी शादी कर ली है और इस तरह अपनेको पुनर्विवाह-दीक्षासे दीक्षित बना लिया है। सुना गया है, यह विधवा अपने चरित्र और शीलव्रतको बराबर सुरक्षित रखती आई है। उसे यह बात कभी पसंद नहीं आई कि वह दूसरी अनेक विधवाओंकी तरह गुप्त व्यभिचार करके अपने आपको हिंसा, झूठ, चोरी आदि बहुतसे महान अपराधोंकी अपराधिनी बनाए। उसे अपना भविष्य दोनों ओरसे पूर्ण निराशा-जनक प्रतीत हुआ और इसलिये कौटुम्बिक परिस्थितियोंसे मजबूर होकर उसने अपने लिये अब यही मार्ग उचित समझा है!! जो लोग अच्छे सलूकद्वारा विधवाओंको सुरक्षित रखनेका यत्न नहीं करते और न उनके जीवन-निर्वाह तथा सुखदुःखकी कुछ पर्वाह करते हैं उन्हें इस घटनासे सबक सीखकर सावधान होना चाहिये।

१०–देशके लिये शुभचिह्न।

सहयोगी भारतमित्र सूचित करता है कि—

"जोधपुर राज्यके रिजेण्ट महाराज सर प्रताप सिंह १६ अप्रेलको श्रीमती बाईजी लाल साहबा सहित स्पेशल ट्रेनसे कुचामनरोड पधारे थे। सेठ साहूकार नजर लेकर आपकी सेवामें उप-स्थित हुए। जब प्रजाजन मोहरें नजर करने लगे तब श्रीमान्ने उन्हें यह उपदेश दिया—हम इन गिन्नियोंकी नजरसे प्रसन्न नहीं होते हैं, यदि तुम लोग वास्तवमें हमें प्रसन्न करना चाहते हो तो देशका हित करो, स्वदेशी वस्त्र धारण करो, कपड़ेकी मिलें खोलो और उन मिलोंमें जो बढ़िया कपड़ा बने उसे लाकर हमारी नजर करो तब हम सचमुच प्रसन्न होंगे। प्रजाजनोंने आपकी आज्ञा शिरोधार्य की।"

हमें इस समाचारको पढ़कर बहुत प्रसन्नता हुई। सचमुच यह देशके लिये बड़ा ही शुभ

चिह्न है जो हमारे देशी नरेशोंका ध्यान स्वदेशी वस्त्र धारण करने और कल कारखाने खुलवाने आदि देशके हितवर्धक कामोंकी ओर आकर्षित हुआ है। आशा है जोधपुरके महाराज अपने इस उपदेशको कार्यमें परिणत करानेका शीघ्र यत्न करेंगे, और दूसरी रियासतोंके महाराजा भी अपनी अपनी प्रजाको इस प्रकारका उपदेश देकर उसे देशके हितसाधनमें लगाएँगे।

११-विधवा-विवाहके विषयमें महात्मा गाँधीकी सम्मति।

गुजराती 'नवजीवन' में एक सज्जनने भारतवर्षकी विधवाओंका एक कोष्टक प्रकाशित कराया है। उसके ऊपर नोट करते हुए महात्मा गाँधीजी कहते हैं,—"विधवाओंकी संख्याका कोष्टक जो बाँचेगा, वह अवश्य ही रोएगा। उतावले सुधारक तो तत्काल ही कह उठेंगे कि इस रोगका सबसे अच्छा और सीधा उपाय विधवा-विवाह है। परन्तु मुझसे ऐसा नहीं कहा जाता। मैं एक कुटुम्बी हूँ और मेरे कुटुम्बमें भी अनेक विधवायें हैं। परन्तु उनसे फिर विवाह करनेके लिए कहनेको मेरी जीभ तैयार नहीं होती। वे फिरसे विवाह करनेका विचार करेंगी भी नहीं। इसका सच्चा उपाय यह है कि पुरुषोंको पुनर्विवाह (दूसरा तीसरा विवाह) नहीं करनेकी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए।

इसके सिवाय और भी कई उपाय हैं, जिन्हें न हम करते हैं और न करना चाहते हैं। वे उपाय ये हैं:—

१ बालविवाह बन्द होना चाहिए।

२ जब तक वर कन्या साथ रहनेके योग्य न हो जायँ, तब तक उनका विवाह हरगिज न किया जाय।

३ जो स्त्री अपने पतिके साथ बिलकुल न रही हो, उसे विवाह करनेकी छुट्टी दी जानी चाहिए। इतना ही नहीं बल्कि उसे विवाह करनेके लिए उत्साहित करना चाहिए। ऐसी स्त्री विधवा ही न समझी जानी चाहिए।

४ जो १५ वर्षकी उमरके भीतर विधवायें हुई हैं और जो अभी जवान हैं, उन्हें पुनर्विवाह करनेकी छुट्टी मिलनी चाहिए।

५ वैधव्य एक अपशकुनका चिह्न समझा जाता है। इसके बदले उसे पवित्र समझना चाहिए और विधवाओंको आदरकी दृष्टिसे देखना चाहिए।

६ विधवाओंके लिए शिक्षाका और उद्योग-धंदे सिखानेका भी उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए।

इतने सुधार हो जायँ तो इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि विधवाओंकी शापसे हिन्दू-संसार बच जाय। ऊपर लिखे हुए सुधार प्रत्येक कुटुम्ब और प्रत्येक जाति अपने आप कर सकती है। लोग एक दूसरेकी राह देखा करते हैं और इसीसे अनेक सुधार नहीं हो पाते हैं। जिसे जिस समय जो काम पुण्यकर्म मालूम हो उसे उसी समय कर डालना चाहिए। यह ईश्वरीय नियम है। पाप कर्म करते हुए अवश्य ही विचारना चाहिए, जोशको दबाना चाहिए, हजारोंकी सलाह लेनी चाहिए और अन्तमें उसे नहीं करना चाहिए। परन्तु पुण्य कर्म करनेके लिए समयकी अपेक्षा करते रहना, यह ईश्वरके निकट अपराधी बननेके समान है। फिर भी हमारा बर्ताव उलटा ही होता है। पाप कर्म करते हुए तो हम डरते नहीं हैं; परन्तु पुण्य कर्म करनेके लिए सभा-पंचायतियोंके प्रस्तावोंकी राह देखा करते हैं!"

१२-एक प्रशंसनीय दान।

पाठकोंने खुरई (सागर) निवासी श्रीमन्त सेठ मोहनलालजीका नाम अवश्य सुना होगा। आप कई वर्ष तक दिगम्बरजैनमहासभाके

प्रधान कार्यकर्त्ता रह चुके हैं। बिलकुल पुराने खयालोंके आदमी हैं। नये विचारोंकी आपके पास गुजर नहीं। परन्तु अभी आपने सागरके प्रान्तीय हिन्दीसाहित्यसम्मेलनके समय जबलपुरके हिन्दीसाहित्यमन्दिरको दसहजार रुपयेका प्रशंसनीय दान किया है। हम इस उदारताके लिए सेठजीका हृदयसे अभिनन्दन करते हैं; विशेषतः इस लिए कि आप उस परवार जातिके मुखिया हैं जो रथप्रतिष्ठाओं और मन्दिरों जैसे अनावश्यक और निरुपयोगी कार्योंमें ही अपने धनको पानीकी तरह बहाया करती है और जो जैनसमाजके कार्योंको छोड़कर अन्य सार्वजनिक कार्योंकी सहायता करनेमें बहुत ही कृपण गिनी जाती है।

जान पड़ता है कि समयके प्रवाहमें जैनसमाज भी स्थिर नहीं रह सकेगा, उसका प्रबल वेग उसे भी, इच्छा या अनिच्छापूर्वक, अपना साथी बनाये विना न छोड़ेगा। बहे विना वह रह भी नहीं सकता। क्योंकि उसका अस्तित्व उसी भूमिपर और उसी स्थानपर है जिस परसे देशोत्थानकी लहरें निरन्तर कलरव करती हुई बह रही हैं। उनकी रगड़ बड़ी बड़ी जड़ शिलाओंके भीतरसे भी अपना मार्ग बनानेकी शक्ति रखती है।

१३–खंडेलवाल और हूमड़का विवाह-सम्बन्ध।

जिन लोगोंने जैनसमाजके सामाजिक संकटों पर विचार किया है, वे इस बातकी आवश्यकता बहुत समयसे अनुभव कर रहे हैं कि जैनसमाजमें जो पचासों छोटी छोटी जातियाँ हैं उनमें आपसमें विवाह सम्बन्ध होने लगे। इसके बिना दिन पर दिन क्षीण होनेवाले जैनसमाज की रक्षा नहीं हो सकती। जैनहितैषीमें और दूसरे पत्रोंमें इस प्रकारके विचार अनेक वार प्रकट किये जा चुके हैं, परन्तु अभी तक किसीने अगुआ बनकर इस विचारको कार्यमें परिणत करके नहीं दिखाया था। खुशीकी बात है कि जैनसमाजके सुपरिचित विद्वान् पं० अर्जुनलालजी सेठी बी० ए० इस कार्यमें सबके लिए पथप्रदर्शक बने हैं और उन्होंने अपनी मध्यमा कन्याका विवाह शोलापुरके एक हूमड़जातीय सुशिक्षित लड़केके साथ कर देनेका साहस प्रकट किया है। यह अनुकरणीय विवाह बम्बईके हीराबाग-हालमें ता० ८ जूनको वैय्यवर्य पं० भरमण्णाजी उपाध्यायके द्वारा जैनविधिके अनुसार अनेक गण्यमान्य स्त्रीपुरुषोंकी उपस्थितिमें बड़े उत्साहके साथ हो गया और उन लोगोंके लिए एक उदाहरण बन गया जो ऐसे कामोंको नैतिक साहसके अभावसे करनेमें डरते हैं। इस विषयमें विशेष विस्तारके साथ आगामी अंकमें लिखा जायगा।

प्यारा भारतदेश।

(ले०–मुनि तिलकविजयजी, पंजाबी)

हमारा प्यारा भारत देश। हमारा प्यारा०।
करें स्वदेशी व्रत हम धारण, तजें विदेशी वेष। हमारा प्यारा०
भक्त बनें भारत शुभभूमिके, सिद्ध करें उद्देश। हमारा प्यारा०
बन्धुबन्धुमें भिन्न-भावना, रहे नहीं लवलेश। हमारा प्यारा०
आर्यभूमिमें प्रेम परस्पर फैल जाय सविशेष। हमारा प्यारा०।
दान करो वरदान यही 'हम बनें वीर' अखिलेश! हमारा प्यारा०

उत्थान ।

(ले०--बाबू कन्हैयालाल जैन, कस्तला ।)

१ जैनो ! उठो, सजग होकर, आँख खोलो,
पातालमें पतित भाव हुए तुम्हारे ।
देखो अधोगत दशा कितनी हुई है,
हैं भ्रष्ट-से अब हुए कृतिकर्म्म सारे ॥

२ हैं व्यर्थके व्यय बढ़े शुभकर्म्म भागे,
हैं आय-श्रोत सब ही अब पापपूर्ण ।
सत्कर्म्म कर्म्म सब भूलगए भला जो-
वे क्या कभी कर सकें भवताप चूर्ण ?

३ साहित्य-वृद्धि-हित क्या करते प्रयत्न ?
मोहान्ध हैं न लखते-लखते सभी हैं
पुण्य-प्रचार-कृति दूर रही-यहाँ तो
वे भाव भी न मनमें रखते कभी है

४ यों जातिका प्रिय ! गला नित घोटते हो,
प्राचीन गौरव सदा अपमान पाते ।
यों आप पाप-मल-पङ्क फँसे पड़े हो,
आश्चर्य क्या फिर रसातल आप जाते ?

५ विद्वेष-भाव तज, प्रेम पगे नहीं जो-
है ऐक्यका छिड़ रहा फिर राग कैसा ?
आशा नहीं उचित है मृदु भी फलोंकी
हो मूल-स्थान जिनका नभलोक जैसा।

६ ऐसी वृथा हृदयमें रखना न आशा,
आकाशका कुसुम तोड़ नहीं सकोगे ।
क्या चन्द्र-बिम्ब जल-संस्थित पासकोगे ?
प्राप्त्यर्थ व्यर्थ श्रम ही करके थकोगे ।

७ हे जैनियो, अब सुकर्म्म-ध्वजा उड़ाओ,
कर्तव्य-क्षेत्र-दिशि पाद अभी बढ़ाओ
जो कर्म्म-वेदि अतिविस्तृत जातिकी हो-
ऐसा अपूर्व कुछ अर्घ्य यहाँ चढ़ाओ ।

श्रीवर्द्धमानाय नमः।

भाग १४। अंक ७-८-९।

जैनहितैषी।

वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ १९७७। अप्रैल, मई, जून १९२०।

विषय-सूची।

१३-८-१९२०।

सम्पादक, बाबू जुगलकिशोर मुख्तार।

द्वारा खोजे हुए इसी प्रकारके नियमोंसे आपसमें लोगोंके मतभेदका निर्णय हो सकता है और होता है।

यद्यपि इस विचारणीय विषयके सम्बन्धमें यहाँ दुनियामें सैकड़ों प्रकारके मत माने जा रहे हैं तो भी वे सब, मोटे रूपसे, तीन भागोंमें विभाजित हो जाते हैं। (१) एक विभागवाले तो एक परमेश्वर या ब्रह्मको ही अनादि अनन्त मानते हैं। इनमेंसे भी कोई तो यह कहते हैं कि उस ईश्वर या ब्रह्मके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, यह जो कुछ भी सृष्टि दिखाई दे रही है वह स्वप्नके समान एक प्रकारका भ्रम मात्र है। कुछ यह कहते हैं कि भ्रम मात्र तो नहीं है, दुनियाके सब पदार्थ सत्‌रूप विद्यमान तो हैं परन्तु इन सभी चेतन अचेतन पदार्थोंको उस परमेश्वरने ही नास्तिसे अस्तिरूप कर दिया है। पहले तो एक परमेश्वरके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं था; फिर उसने किसी समयमें अवस्तुसे ही ये सब वस्तुएँ बना दी हैं, जब वह चाहेगा तब इन सब पदार्थोंको नास्तिरूप कर देगा और तब सिवाय उस एक ईश्वरके अन्य कुछ भी न रह जायगा। (२) दूसरे विभागवाले यह कहते हैं कि अवस्तुसे कोई वस्तु बन नहीं सकती; वस्तुसे ही वस्तु बना करती है; इस कारण जीव अजीव ये दोनों प्रकारकी वस्तुएँ जो संसारमें दिखाई देती हैं न तो किसीके द्वारा बनाई गई हैं और न बनाई ही जा सकती हैं। जिसप्रकार परमेश्वर सदासे है और सदातक रहेगा उसी प्रकार जीव अजीवरूप वस्तुएँ भी सदासे हैं और सदा रहेंगी। परन्तु इन जीव-अजीवरूप वस्तुओंकी अनेक अवस्थाओं—अनेक रूपों—का बनाना बिगाड़ना उस परमेश्वरके ही हाथमें है। (३) तीसरे प्रकारके लोगोंका यह कहना है कि जीव और अजीव ये दोनों ही प्रकारकी वस्तुएँ अनादिसे हैं और अनन्त तक रहेंगी। इनकी अवस्था और रूपको बदलनेवाली, संसार-चक्रको चलानेवाली, कोई तीसरी वस्तु नहीं है। बल्कि इन्हीं वस्तुओंके आपसमें टक्कर खानेसे इन्हींके गुण और स्वभावके द्वारा संसारका यह सब परिवर्तन होता रहता है—रंग-बिरंगे रूप बनते बिगड़ते रहते हैं।

इस प्रकार, यद्यपि, इन तीनों प्रकारके लोगोंके सिद्धान्तोंमें धरती आकाशका सा अन्तर है तो भी एक जरूरी विषयमें ये सभी सहमत हैं; अर्थात् ये तीनों ही किसी न किसी वस्तुको अनादि अवश्य मानते हैं। नम्बर अव्वल तो यह कहता है कि परमेश्वरको किसीने नहीं बनाया, वह तो बिना बनाये ही सदासे चला आता है और अपने अनादि स्वभावानुसार ही इस सारे संसारको चला रहा है—अनेक प्रकारकी वस्तुओंको बना बिगाड़ रहा है। नम्बर दोका यह कहना है कि परमेश्वरके समान जीव और अजीवको भी किसीने नहीं बनाया, वे सदासे चले आते हैं और सदातक रहेंगे। इसी तरह नं० ३ भी कहता है कि जीव और अजीवको किसीने नहीं बनाया, किन्तु ये दोनों प्रकारकी वस्तुएँ बिना बनाये ही सदासे चली आती हैं। इन तीनों विरोधी मतवालोंमें यह विवाद तो उठ ही नहीं सकता कि बिना बनाये सदासे भी कोई वस्तु हो सकती है या नहीं और जब यह बात भी सभी मानते हैं कि वस्तुमें कोई न कोई गुण या स्वभाव भी अवश्य ही होता है; अर्थात् बिना किसी प्रकारके गुण या स्वभावके कोई वस्तु हो ही नहीं सकती है, तब ये तीनों ही प्रकारके लोग यह बात भी जरूर मानते हैं कि जो वस्तु अनादि है उसके गुण और स्वभाव भी अनादि ही होते हैं। अर्थात्, अकेले एक परमेश्वरको अनादि माननेवाले तो उस परमेश्वरके गुण और स्वभावको अनादि बताते हैं; जीव, अजीव और परमेश्वरको अनादि मानने-

वाले इन तीनोंहीके गुणोंको अनादि कहते हैं, और केवल जीव और अजीवको ही अनादि माननेवाले इन दोनोंहीके गुणोंको अनादि बताते हैं। अतः इन दो बातोंमें तो संसारके सभी मतवाले सहमत हैं कि (१) संसारमें कोई वस्तु बिना बनाये अनादि भी हुआ करती है और (२) उसके गुण और स्वभाव भी बिना बनाये अनादि होते हैं। अब केवल इतनी ही बात निश्चय करनी बाकी रह जाती है कि कौन वस्तु तो बिना बनी हुई अनादि है और कौन वस्तु बनी हुई अर्थात् सादि है।

इस बातका निर्णय करनेके वास्ते हम अपने पाठकोंको फिर उस बातकी याद दिलाते हैं जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है; अर्थात्, ऐसी बातोंके निर्णय करनेके हेतु मनुष्य जो कुछ भी अपने बुद्धिबलसे कर सकता है वह यही है कि संसारके चलते हुए कारखानेके नियमोंको ढूँढ़ निकाले और फिर उन्हीं नियमोंके द्वारा इन गुप्त और गहन विषयोंका भी निर्णय कर लेवे। परन्तु इस प्रकार खोज करने पर संसारमें तो ऐसी कोई भी वस्तु नहीं मिलती है जो बिना किसी वस्तुके ही बन गई हो, अर्थात् नास्तिसे ही अस्तिरूप हो गई हो। और न कोई ऐसी ही वस्तु देखी जाती है जो किसी समय नास्तिरूप हो जाती हो। बल्कि यहाँ तो वस्तुसे ही वस्तु बनती देखी जाती है; अर्थात् प्रत्येक वस्तु किसी न किसी रूपमें सदा ही बनी रहती है। भावार्थ, न तो कोई नवीन वस्तु पैदा ही होती है और न कोई वस्तु नाश ही होती है, बल्कि जो वस्तुएँ पहलेसे चली आती हैं उन्हींका रूप बदल बदल कर नवीन नवीन वस्तुएँ दिखाई देती रहती हैं; जैसा कि सोना रूपा आदि धातुओंसे ही अनेक प्रकारके आभूषण बनाये जाते हैं। सोना रूपा आदिके बिना ये आभूषण कदाचित् भी नहीं बन सकते हैं। फिर उन्हीं आभूषणोंको तोड़कर अन्य अनेक प्रकारके आभूषण बना लिये जाते हैं। उन्हींका तार खींच कर गोटा ठप्पा आदि बना लिया जाता है, अथवा पत्रा छेत (गढ़) लिया जाता है। गरज यह कि एक सोना या रूपा आदि धातुएँ यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकारके रूप धारण करती रहती हैं परन्तु सभी रूपोंमें वे धातुएँ अवश्य विद्यमान रहती हैं। इसी प्रकार बीज, मिट्टी, पानी और वायु आदि परमाणुओंके संगठनसे ही वृक्ष बनता है और फिर उस वृक्षको जला देनेसे वे ही परमाणु कोयला धूँआँ और राख आदिका रूप धारण कर लेते हैं और फिर आगेको भी अनेक रूप धारण करते रहते हैं। इस तरह जहाँ तक भी इस संसारकी वस्तुओंकी जाँच की जाती है उससे तो यही सिद्ध होता है कि जगतका एक भी परमाणु कमती बढ़ती नहीं होता। बल्कि जो कुछ भी होता है वह यही होता है कि उनका रूप और अवस्था बदल बदल कर नवीन नवीन वस्तुएँ बनतीं और बिगड़ती रहती हैं। ऐसी दशामें मनुष्यके पास तो ऐसा कोई हेतु हो ही नहीं सकता जिससे वह यह कह सके कि किसी समयमें कोई वस्तु बिना किसी वस्तुके ही बन गई थी, अर्थात् नास्तिसे अस्तिरूप हो गई थी; बल्कि तर्क प्रमाण तथा बुद्धिबलसे काम लेने, और दुनियाके चलते हुए कारखानोंके नियम टटोलने पर तो मनुष्य इसी बातके मानने पर बाध्य होता है कि नास्तिसे अस्ति हो जाना अर्थात् बिना वस्तुके वस्तु बन जाना बिलकुल ही असम्भव है और इस लिये यह बात तो स्पष्ट ही सिद्ध है कि संसारकी वस्तुएँ नास्तिसे अस्तिरूप नहीं हो गई हैं किन्तु किसी न किसी रूपमें सदासे ही विद्यमान चली आती हैं और आगेको भी किसी न किसी रूपमें सदा विद्यमान रहेंगी। अर्थात् संसारकी सभी जीव, अजीवरूप वस्तुएँ

अनादि अनन्त हैं जिनके अनेक प्रकारके नवीन नवीन रूप होते जानेके द्वारा ही यह विचित्र संसार चल रहा है ।

इस प्रकार जीव और अजीवरूप संसारकी सभी वस्तुओंकी नित्यता सिद्ध हो जाने पर अब केवल यह बात निर्णय करनेके योग्य रह जाती है कि संसारके ये सब पदार्थ किस प्रकारसे नवीन नवीन रूप धारण करते हैं, अर्थात् इन अनादि वस्तुओंके द्वारा इस विचित्र संसारका कारखाना किस तरह चल रहा है । इस बातके निश्चय करनेके वास्ते भी मनुष्य सिवाय इसके और कुछ नहीं कर सकता कि वह संसारके ढाँचेकी जाँच करे और उसकी कार्यप्रणालीके नियमोंको ढूँढ़ निकाले । परन्तु इस प्रकारकी खोजमें लगते ही सबसे पहली बात मनुष्यको यह मालूम होती है कि मनुष्य मनुष्यसे ही पैदा होता अनादि कालसे चला आता है । गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, भेड़, बकरी, कुत्ता, बिल्ली, शेर, भेड़िया, चील, कबूतर, कौआ, और चिड़िया आदि पशु पक्षियोंकी बाबत भी जो अपने मा-बापसे ही पैदा हुए देखे जाते हैं, यह मानना पड़ता है कि वे भी नसल दर नसल सदासे ही चले आते हैं और बिना माँ-बापके पैदा नहीं किये जा सकते हैं । गेहूँ, चना, मक्का, बाजरा, उड़द, मूँग, और आम अमरूद आदि उन पौधोंकी बाबत भी, जो अपने पौधेके बीज, जड़ शाखा आदिसे ही पैदा होते हैं, यह मानना पड़ता है कि वे भी सन्तानक्रमसे सदासे ही चले आते हैं, और किसी समयमें एकाएक पैदा होने शुरू नहीं हो गये हैं । इस तरह इन पशु, पक्षी, वनस्पति और मनुष्योंका अपने माँ बाप या बीज आदिके द्वारा अनादि कालसे पैदा होता हुआ चला आना मानकर इन सबकी उत्पत्ति और निवासस्थानके वास्ते इस धरतीका भी अनादि कालसे ही मौजूद होना मानना पड़ता है । आगे चलकर हम वस्तुस्वभावकी खोज करते हैं तो उनके स्वभाव भी अनादि और अनन्त ही पाते हैं । अर्थात्, अग्निका जो स्वभाव जलाने, उष्णता पहुँचाने और प्रकाश करनेका अब है वह उसमें सदासे ही है और सदा तक रहेगा । इसी प्रकार लोहे, पीतल, सोने, चाँदी, नमक, सुहागा और फिटकरी आदि सभी पदार्थोंके गुण और स्वभाव भी सदासे ही चले आते हैं । इनके ये गुण और स्वभाव अटल होनेके कारण ही मनुष्य इनके स्वाभावोंकी खोज करता है और फिर उन खोजे हुए उनके स्वभावोंके द्वारा उनसे नाना प्रकारके काम लेता है और बेखटके उनको काममें लाता है । यदि वस्तुओंके ये गुण और स्वभाव अटल न होते—बदलते रहा करते—तो मनुष्यको किसी वस्तुके छूने और उसके पास जाने तकका भी साहस न होता; क्यों कि तब तो यही खटका बना रहता कि न जानें आज इस वस्तुका क्या स्वभाव हो गया हो, और इसके छूनेसे न जाने क्या फल पैदा हो । परन्तु संसारमें तो यही दिखाई दे रहा है कि वस्तुका जो स्वभाव आज है वही कल था और वही आगामी कलको रहेगा । इसी कारण वह वस्तुओंके स्वभावके विषयमें अपने और अपनेसे पहलेके लोगोंके अनुभव पर पूरा भरोसा करता है और सभी वस्तुओंके स्वभावको अटल मानता है । इससे साफ साफ यही नतीजा निकलता है कि किसी खास समयमें कोई किसी वस्तुमें कोई खास गुण पैदा नहीं कर सकता है, बल्कि जबसे वह वस्तु है तभीसे उसमें उसके गुण भी हैं । और चूँकि संसारकी वस्तुएँ अनादि हैं इस वास्ते उनके गुण भी अनादि ही हैं—उनको किसीने नहीं बनाया है ।

इसी प्रकार संसारकी वस्तुओंकी जाँच करनेसे, यह भी मालूम हो जाता है कि दो या अधिक

वस्तुओंको किसी विधिके साथ मिलानेसे जो नवीन वस्तु इस समय बन जाती है वह इस प्रकारके मिलापसे पहले भी बनती थी और वही आगेको भी बनेगी, जैसा कि नीला और पीला रंग मिलनेसे जो हरा रंग इस समय बनता है वही सदासे बनता रहा है और सदाको बनता रहेगा। ऐसे ही किसी वस्तुके प्रभावसे जो परिवर्तन किसी दूसरी वस्तुमें हो जाता है वह पहले भी होता था और वही आगेको भी होगा ; जैसा कि आगकी गर्मीसे पानीकी जो भाप इस समय बनती है वही पहले बनती थी और वही आगेको भी बनती रहेगी। लकड़ियोंको आगमें डालनेसे, इस समय, जैसी वे कोयला धुँआँ और राखरूप हो जाती हैं वैसी ही पहले भी होती थीं और आगेको भी होती रहेंगीं। सारांश यह कि, संसारकी वस्तुओंके आपसमें अथवा अन्य वस्तुओंपर अपना प्रभाव डालने या अन्य वस्तुओंसे प्रभावित होने आदिके सब प्रकारके गुण और स्वभाव ऐसे नहीं हैं जो बदलते रहते हों या बदल सकते हों, बल्कि वस्तुओंकी जाँच और खोजके द्वारा उनके ये सब स्वभाव अटल ही दिखाई देते हैं—अनादि अनन्त ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार, मनुष्यको अपने बुद्धिबलसे काम लेने पर जब यह बात सिद्ध हो जाती है कि वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्षकी उत्पत्तिके समान या अंडेसे मुरगी और मुरगीसे अंडेके समान संसारके सभी मनुष्य, अनेक पशु पक्षी और वनस्पतियाँ नसल दर नसल, सन्तान दर सन्तान, अनादिकालसे ही चले आते हैं, किसी समयमें इनका आदि नहीं हो सकता और इन सबके अनादि होनेके कारण इस पृथ्वीका भी अनादि होना जरूरी है जिसपर वे अनादि कालसे उत्पन्न होते और वास करते हुए चले आवें। साथ ही, वस्तुओंके गुण, स्वभाव और आपसमें एक दूसरे पर असर डालने तथा एक दूसरेके असरको ग्रहण करनेकी प्रकृति आदि भी अनादि कालसे ही चली आती है, तब जगतके प्रबन्धका सारा ही ढाँचा मनुष्यकी आँखोंके सामने हो जाता है, उसको साफ साफ दिखाई देने लग जाता है कि दुनियामें जो कुछ भी हो रहा है वह सब वस्तुओंके गुण और स्वभावसे ही हो रहा है। संसारकी इन सब वस्तुओंके सिवाय न तो कोई भिन्न प्रकारकी शक्ति ही इस प्रबन्धमें कोई कार्य्य कर रही है और न किसी भिन्न शक्तिकी किसी प्रकारकी कोई जरूरत ही है। जैसा कि जब समुद्रके पानी पर सूरजकी धूप पड़ती है तो उस धूपमें जितना ताप होता है उसीके अनुसार समुद्रका पानी उस तापसे प्रभावित हो (तप्त हो) भाफ बनजाता है और जिधरको हवाका प्रवाह होता है उधरको ही माफके रूपमें बहा चला जाता है। फिर जहाँ कहीं भी उसे इतनी ठंड मिल जाती है कि वह पानीका पानी हो जावे वहीं पानी होकर बरसने लगता है। पुनः वह बरसा हुआ पानी अपने समतल रूप रहनेके स्वभावके कारण ढालहीकी तरफको बहने लग जाता है और धरतीकी उस वस्तुको, जो पानीमें घुल सकती है, घोलता और अपने साथ लेता हुआ चला जाता है। इसी प्रकार जो वस्तुएँ पानीपर तैर सकती हैं वे भी उस पानी पर तैरती हुई साथ साथ चली जाती हैं, परन्तु जो वस्तुएँ न पानीमें घुल सकती हैं और न पानी पर तैर सकती हैं वे प्रवाहित पानीके धक्कोंसे कुछ दूरतक तो लुढ़कती हुई साथ जाती हैं परन्तु जिस स्थानपर धरतीका ढाल कम होनेके कारण पानीका प्रवाह हलका हो जाता है वहीं वे वस्तुएँ रह जाती हैं। पानीका यह प्रवाह अपने मार्गकी हलकी हलकी रुकावटोंको हटाकर अपना मार्ग साफ करता, बलवान् रुकावटोंसे अपना मार्ग अदलता बदलता, घूमता घामता ढालहीकी ओर बहता जाता है। और जहाँ कहीं भी कोई गढ़ा पाता है वहीं जमा

होने लग जाता है तथा जो पानी गढ्ढेसे अधिक होता है वह आगेको बहता चला जाता है; यहाँ तक कि वह बहता बहता समुद्रमें ही जा पहुँचता है।

धूप, हवा, पानी और मिट्टी आदिके इन उपर्युक्त स्वभावोंसे दुनिया भरमें लाखों और करोड़ों ही परिवर्तन हो जाते हैं, जिनसे फिर नवीन नवीन लाखों करोड़ों काम होने लग जाते हैं। और भी जिन जिन कार्योंपर दृष्टि दौड़ाते हैं उन उनपर इसी प्रकार वस्तुस्वभावके द्वारा ही कार्य्य होता हुआ पाते हैं और होना भी चाहिए ऐसा ही; क्योंकि जब संसारकी सारी वस्तुएँ तथा उनके स्वभाव सदासे हैं; जब संसारकी सारी वस्तुएँ आपसमें एक दूसरे पर अपना अपना प्रभाव डालती हैं और दूसरी वस्तुओंके प्रभावसे प्रभावित होती हैं तब तो यह बात जरूरी ही है कि उनमें सदासे ही बराबर खिचड़ीसी पकती रहे और संसारकी वस्तुओंके स्वभावानुसार नाना प्रकारके परिवर्तन होते रहें। यही संसारका सारा कार्य्य-व्यवहार है जो वस्तुस्वभावके द्वारा अपने आप हो रहा है और अविचारी पुरुषोंको चकित करके भ्रममें डाल रहा है।

इस प्रकार दुनियाके इस सारे ढाँचेकी पड़ताल करने पर, बुद्धि और विचारसे काम लेने पर, सिवाय इसके और कुछ भी सिद्ध नहीं होता कि जिन जिन वस्तुओंसे यह दुनिया बनी हुई है वे सभी जीव, अजीव तथा उनके गुण और स्वभाव अनादि अनन्त हैं। उनके इन अनादि स्वभावोंके द्वारा ही जगतका यह सब कार्य्य व्यवहार चल रहा है। इन जीव अजीव पदार्थोंके सिवाय न तो कोई तीसरी वस्तु सिद्ध होती है और न उसके होनेकी कोई जरूरत ही मालूम होती है। इसके सिवाय यदि विचारके वास्ते कोई तीसरी वस्तु मान भी लें तो उसके विरुद्ध आक्षेपोंका ऐसा भारी समूह सामने आ खड़ा होता है कि जिसको दूर हटाना और विचार-क्षेत्रमें खड़ा रहना ही असम्भव हो जाता है। हाँ, विचारके क्षेत्रसे दूर भाग जाने पर, पक्षपात और अंधविश्वासकी लाठीको चारों तरफ घुमाकर किसी भी हेतु या प्रमाणको अपने पास न फटकने देनेकी अवस्थामें हम जो चाहे मान सकते हैं; पर ऐसी दशामें हमारे लिये यह बात भी जरूरी हो जाती है कि न अपनी कहें और न किसी-की सुनें—अर्थात्, स्वयं भी जो चाहे विश्वास बाँध कर बैठ जावें और दूसरोंको भी उलटा पुलटा जो मन चाहे विश्वास बाँध लेने देवें। गरज न तो अपने विश्वासको झूठा बतानेका किसीको अधिकार देवें और न स्वयं किसीके विश्वासको असत्य ठहरावें।

विचारनेकी बात है कि जब समुद्रके पानीकी ही भाफ बन कर उसका ही बादल बनता है तब यदि वस्तुस्वभावके सिवाय कोई अन्य ही बारिश बरसानेका प्रबन्ध करनेवाला होता तो वह तो कदाचित् भी उस समुद्र पर पानी न बरसाता जिसके पानीकी भाफ बन कर ही यह बादल बना था। परन्तु देखनेमें तो यही आता है कि बादलको जहाँ भी इतनी ठंड मिल जाती है कि भाफका पानी बन जावे वहीं वह बरस पड़ता है। यही कारण है कि वह समुद्र पर भी बरसता है और धरती पर भी। वह बादल तो इस बातकी जरा भी परवाह नहीं करता कि मुझे कहाँ बरसना चाहिए और कहाँ नहीं। इसी कारण कभी तो यह वर्षा समय पर हो जाती है और कभी कुसमय पर होती है, बल्कि कभी कभी तो यहाँ तक भी होता है कि सारी फसल भर अच्छी बारिश बरस कर और खेतीकी अच्छे प्रकार पालना होकर अन्तमें एक आध बारिशकी ऐसी कमी हो जाती है कि सारी करी कराई खेती मारी जाती है। यदि वस्तु-स्वभावके सिवाय कोई दूसरा प्रबंध करनेवाला

होता तब तो ऐसी अंधाधुंधी कभी भी न होती। इस स्थान पर यदि यह कहा जावे कि उसकी तो इच्छा ही यह थी कि इस वर्ष इस खेतमें अनाज पैदा न हो या कमती पैदा हो । परन्तु यदि यही बात होती तब तो वह सारी फसल भर अच्छी अच्छी बारिशें बरसा कर उस खेतीको इतनी बड़ी ही क्यों होने देता ? बल्कि वह तो उस खेतके किसानको ही इतना साहस न करने देता जिससे वह उस खेतमें बीज बोवे । यदि किसान पर उस प्रबंधकर्ताका काबू नहीं चल सकता था और बीजके बोये जानेको वह नहीं रोक सकता था तो खेतमें पड़े हुए बीजको ही न उगने देता । यदि बीज पर भी उसका काबू नहीं था तो कमसे कम बारिशकी एक बूँद भी उस खेतमें न पड़ने देता, जिससे वह बीज ही जल भुन कर वहीं नष्ट हो जाता । और यदि संसारके उस प्रबंधकर्ताकी यही इच्छा होती कि इस वर्ष अनाज पैदा ही न हो या कमती पैदा हो, तो वह केवल उन्हीं खेतोंको खुश्क न करता जो बारिशके ऊपर ही निर्भर हैं बल्कि उन खेतोंको भी जरूर खुश्क करता, जिनमें नहरसे पानी आता है । परन्तु देखनेमें यही आता है कि जिस वर्ष बारिश नहीं होती या कमती बारिश होती है उस वर्ष उन खेतोंमें तो प्राय: कुछ भी पैदा नहीं होता जो बारिश पर ही निर्भर हैं, हाँ, नहरसे पानी आनेवाले खेतोंमें उन्हीं दिनों सब कुछ पैदा हो जाता है। इससे यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि संसारका कोई एक प्रबंधकर्ता नहीं है; बल्कि वस्तुस्वभावके कारण ही जब बारिश बरसनेका सामान बँध जाता है तब पानी बरस जाता है और जब वैसा सामान नहीं बँधता तब वह नहीं बरसता। बर्षाको इस बातकी कुछ भी परवाह नहीं है कि उसके कारण कोई खेती हरी होगी या सूखेगी और संसारके जीवोंको नफा पहुँचेगा या नुकसान। इसीसे कभी कभी ऐसी गड़बड़ी भी हो जाती है कि जहाँ जरूरत नहीं होती वहाँ तो बारिश बरस जाती है और जहाँ जरूरत होती है वहाँ एक बूँद भी नहीं पड़ने पाती । किसी प्रबंधकर्ताके न होनेके कारण ही तो मनुष्य, कुएँ खोद कर और नहर आदि निकाल कर, यह प्रबंध कर सका है कि यदि बारिश न बरसे तो भी वह अपने खेतोंको पानी देकर सब कुछ अनाज पैदा कर लेवे ।

इसके सिवाय जब प्रत्येक धर्म और पंथके कथनानुसार संसारमें इस समय पापोंकी ही अधिकता हो रही है और नित्य ही भारी भारी अन्याय देखनेमें आते हैं, तब यह कैसे माना जा सकता है कि जगतका कोई प्रबंधकर्ता भी अवश्य है, जिसकी आज्ञाओंको न माननेके कारण ही ये सब पाप और अपराध हो रहे हैं। संभव है कि यहाँ पर कोई भाई ऐसा भी कहने लगें कि राजाकी आज्ञा भी तो भंग होती रहती है। उनको यह विचारना चाहिये कि राजा न तो सर्वका ज्ञाता सर्वज्ञ ही होता है और न सर्वशक्तिमान। इसलिये न तो उसको सर्व प्रकारके अपराधों तथा अपराध करनेवालोंका पता लग सकता है और न वह सर्व प्रकारके अपराधोंको दूर ही कर सकता है। परन्तु जो सर्वज्ञ हो, सर्वशक्तिमान् हो, संसार भरका प्रबंध करनेवाला हो और एक छोटेसे परमाणुसे लेकर धरती आकाश तककी गति-स्थितिका कारण हो, उसके सम्बंधमें यह बात कभी भी नहीं कही जा सकती कि, वह ऐसा प्रबंध नहीं कर सकता, जिससे कोई भी उसकी आज्ञाको भंग न कर सके और सारा कार्य उसकी मर्जीके मुताबिक (इच्छानुसार) ही होता रहे । एक ओर तो संसारके एक एक कण (अणु) का उसे प्रबंधकर्ता बताना और दूसरी ओर अपराधोंके रोकनेमें उसे असमर्थ ठहराना, यह तो वास्तवमें उस

प्रबंधकर्ताका मखौल ही उड़ाना है; बल्कि यों कहना चाहिये कि इस तरह तो असिलमें उसका न होना ही सिद्ध करना है।

अफसोस है कि मनुष्योंने वस्तुस्वभावको न जानकर बिना किसी हेतुके ही संसारका एक प्रबन्धकर्ता मान लिया है। पृथ्वी पर राजाओंको मनुष्योंके बीचमें प्रबंधसम्बंधी कार्य करता हुआ देखकर सारे संसारके प्रबंधकर्ताको भी वैसा ही कमशक्तिवाला समझ लिया है और जिस प्रकार राजा लोग खुशामद तथा स्तुतिसे प्रसन्न होकर खुशामद करनेवालोंके काबूमें आ जाते हैं और उनकी इच्छाके अनुसार ही उलटे सीधे कार्य करने लग जाते हैं उस ही प्रकार दुनियाके लोगोंने संसारके प्रबंधकर्ताको भी खुशामद तथा स्तुतिसे काबूमें आजानेवाला मानकर उसकी भी खुशामद करनी शुरू कर दी है और वे अपने आचरणको सुधारना छोड़ बैठे हैं। यही कारण है कि संसारमें ऐसे ऐसे महान् पाप फैल रहे हैं जो किसी प्रकार भी दूर होनेमें नहीं आते। जब संसारके मनुष्य इस कच्चे खयालको हृदयसे दूर करके वस्तुस्वभावके अटल सिद्धान्तको मानने लग जावें तब ही उनके दिलोंमें यह खयाल जड़ पकड़ सकता है कि जिस प्रकार आँखोंमें मिरच झोंक देनेसे या घाव पर नमक छिड़क देनेसे दर्दका हो जाना जरूरी है और वह दर्द किसी प्रकारकी खुशामद या स्तुतिके करनेसे दूर नहीं हो सकता, उस ही प्रकार जैसा हमारा आचरण होगा उसका फल भी हमको अवश्य ही भुगतना पड़ेगा, वह केवल खुशामद तथा स्तुतिसे टाला न टलेगा। जैसा बीज वैसा वृक्ष और जैसी करनी वैसी भरनीके सिद्धान्त पर पूर्ण विश्वास हो जाने पर ही यह मनुष्य बुरे कृत्योंसे बच सकता है और भले कृत्योंकी तरफ लग सकता है। परन्तु इसके विरुद्ध, जब तक मनुष्यको यह खयाल बना रहेगा कि खुशामद करने, स्तुतियाँ पढ़ने या भेट चढ़ाने आदिके द्वारा भी मेरे अपराध क्षमा हो सकते हैं तब तक वह बुरे कृत्य करनेसे नहीं बच सकता और न शुभ आचरणोंकी तरफ लग सकता है। अतः मैं संसारके सभी लोगोंसे पुकार पुकार कर यह अपील करता हूँ कि वे कारण-कार्यके अटल सिद्धान्तको मान कर वस्तुस्वभाव पर पूरा पूरा विश्वास लावें, अपने भले बुरे कृत्योंका फल भुगतनेके वास्ते पूरी तौरसे तय्यार रहें और उनका फल टल जाना बिलकुल ही असंभव समझें। ऐसा मान लेने पर ही मनुष्योंको अपने ऊपर पूरा भरोसा होगा, वे अपने पैरोंके बल खड़े होकर अपने आचरणोंको ठीक बनानेके लिये कमर बाँध सकेंगे और तब ही दुनियासे ये सब पाप और अन्याय दूर हो सकेंगे। नहीं तो, किसी प्रबंधकर्ताके माननेकी अवस्थामें, अनेक प्रकारके भ्रम हृदयमें उत्पन्न होते रहेंगे और दुनियाके लोग पाप करनेकी तरफ ही झुकेंगे। एक तो यह सोचने लग जायगा कि यदि उस प्रबंधकर्ताको मुझसे पाप कराना मंजूर न होता तो वह मेरे मनमें पाप करनेका विचार ही क्यों आने देता; दूसरा विचारेगा कि यदि वह मुझसे इस प्रकारके पाप कराना न चाहता तो वह मुझे ऐसा बनाता ही क्यों, जिससे मेरे मनमें इस प्रकारके पाप करनेकी इच्छा पैदा होवे; तीसरा कहेगा कि यदि वह पापोंको न कराना चाहता तो पापोंको पैदा ही क्यों करता; चौथा सोचेगा कुछ ही हो अब तो यह पाप कर लें फिर संसारके प्रबंधकर्ताकी खुशामद करके और नजर भेट चढ़ाकर क्षमा करा लेंगे; गरज यह कि संसारका प्रबंधकर्ता माननेकी अवस्थामें तो लोगोंको पाप करनेके लिये सैकड़ों बहाने बनानेका अवसर मिलता है, परन्तु वस्तुस्वभावके

द्वारा ही संसारका संपूर्ण कार्य व्यवहार चलता हुआ माननेकी अवस्थामें सिवाय इसके और कोई विचार ही नहीं उठ सकता कि जैसा करेंगे उसका फल भी हम स्वयं वैसा ही अवश्य भुगतेंगे। ऐसा मानने पर ही हम बुरे आचरणोंसे बच सकते हैं और अच्छे आचरणोंकी तरफ लग सकते हैं।

पाठक जरा यह भी विचार करें कि यदि कोई प्रबंधकर्ता होता तो क्या ऐसा ही अन्धेर रहता जैसा कि अब हो रहा है। अर्थात्, किसीको भी इस बातकी खबर नहीं कि हमको इस समय जो कुछ भी सुख दुःख मिल रहा है वह हमारे कौनसे कृत्योंका फल है। प्रबंधकर्ता होनेकी हालतमें हमें वह बात प्रकट रूपसे अवश्य ही बतलाई जाती, जिससे हम आगामीको बुरे कृत्योंसे बचते और भले कृत्योंकी तरफ लगते, परंतु अब यह मालूम होना तो दूर रहा कि हमको कौन कौन दुःख किस किस कृत्यके कारण मिल रहा है, यह भी मालूम नहीं है कि पाप क्या होता है और पुण्य क्या। इसीसे दुनियामें यहाँतक अन्धेर छाया हुआ है कि एक ही कृत्यको कोई पाप मानता है और कोई पुण्य अथवा धर्म। और यही वजह है कि संसारमें सैकड़ों प्रकारके मत फैले हुए है, जिनमें यह बड़े तमाशेकी बात है कि सब ही अपने अपने मतको उसी सर्वशक्तिमान प्रबंधकर्ताका प्रचार किया हुआ बतलाते हैं। जहाँतक हम समझते हैं ऐसा अंधेर तो मामूली राजाओंके राज्यमें भी नहीं होता। प्रत्येक राजाके राज्यमें जिस प्रकारका कानून जारी होता है उसके विरुद्ध यदि कोई मनुष्य कोई विपरीत नियम चलाना चाहे तो वह राजविद्रोही समझा जाता है और दंड पाता है, परंतु सर्वशक्तिमान परमेश्वरके राज्यमें दिनदहाड़े सैकड़ों ही मतोंके प्रचारक अपने अपने धर्मोंका उपदेश करते हैं, अपने अपने सिद्धान्तोंको उसी एक परमेश्वरकी आज्ञा बताकर उसके ही अनुसार चलनेकी घोषणा करते हैं, और यह सब कुछ होते हुए भी उस परमेश्वर या संसारके प्रबंधकर्ताकी तरफसे कुछ भी रोक-टोक, इस विषयमें, नहीं होती। ऐसे भारी अन्धेरकी अवस्थामें तो कदाचित् भी यह नहीं माना जा सकता कि कोई महाशक्तिसंपन्न प्रबंधकर्ता इस संसारका प्रबंध कर रहा है; बल्कि ऐसी दशामें तो यही माननेके लिये विवश होना पड़ता है कि वस्तुस्वभाव पर ही संसारका सारा ढाँचा बँध रहा है और उसीके अनुसार जगतका यह सब प्रबन्ध चल रहा है। यही वजह है कि यदि कोई मनुष्य वस्तुस्वभावको उलटा पुलटा समझकर गलती खाता है या दूसरोंको बहकाकर गलतीमें डालता है तो संसारकी ये सब वस्तुएँ उसको मना करने अथवा रोकने नहीं जातीं और न अपने अपने स्वभावके अनुसार अपना फल देनेसे ही कभी चूकती हैं। जैसे आगमें चाहे तो कोई नादान बच्चा अपने आप हाथ डाल देवे और चाहे किसी बुद्धिमान-पुरुषका हाथ भूलसे पड़ जावे, परंतु वह आग उस बच्चेकी नादानीका और बुद्धिमानके अनजानपनेका कुछ भी खयाल नहीं करेगी, बल्कि अपने स्वभावके अनुसार उन दोनोंके हाथोंको जलानेका कार्य्य अवश्य कर डालेगी। मनुष्यके शरीरमें सैकड़ों बीमारियाँ ऐसी होती हैं जो उसके विना जाने बूझे दोषोंका ही फल होती हैं, परन्तु प्रकृति या वस्तुस्वभाव उसे यह नहीं बताती कि तेरे अमुक दोषके कारण तुझको

यह बीमारी हुई है। इसी तरह हमारे आत्मीय दोषोंका फल भी हमको वस्तुस्वभावके अनुसार ही मिलता है और वस्तुस्वभाव हमको यह नहीं बतलाता है कि हमको हमारे किस कृत्यका कौन फल मिला, परन्तु फल प्रत्येक कृत्यका मिलता अवश्य है।

इस प्रकार वस्तुस्वभावके सिद्धान्तानुसार तो यह बात ठीक बैठ जाती है कि सुख दुःख भुगतते समय क्यों हमको हमारे उन कृत्योंकी खबर नहीं होती, जिनके फलरूप हमको वह सुख दुःख भुगतना पड़ता है। परन्तु किसी प्रबंधकर्ताके माननेकी हालतमें वह बात कभी ठीक नहीं बैठती, बल्कि उलटा बड़ा भारी अंधेर ही दृष्टिगोचर होने लगता है। यदि हम यह मानते हैं कि जो बच्चा किसी चोर, डाकू या वेश्या आदि पापियोंके घर पैदा किया गया है वह अपने भले बुरे कृत्योंके फलस्वरूप ही ऐसे स्थानमें पैदा किया गया है तो प्रबन्धकर्ता परमेश्वर माननेकी अवस्थामें यह बात भी ठीक नहीं बैठती; क्योंकि शराबी यदि शराब पीकर और पागल बनकर फिर भी शराबकी दुकानपर जाता है और पहलेसे भी ज्यादा तेज शराब माँगता है तो वस्तुस्वभावके अनुसार तो यह बात ठीक बैठ जाती है कि शराबने उसके दिमागको ऐसा खराब कर दिया है, जिससे अब उसको पहलेसे भी ज्यादा तेज शराब पीनेकी इच्छा उत्पन्न हो गई है; परन्तु जगतके प्रबंधकर्ताके द्वारा ही फल मिलनेकी अवस्थामें तो शराब पीनेका यही दंड मिलना चाहिये था कि वह किसी ऐसी जगह पटक दिया जाय जहाँसे वह शराबकी दुकान तक ही न पहुँच सके और ऐसा दुःख पावे कि फिर कभी शराबका नाम तक भी न लेवे। इसी तरह व्यभिचार तथा चोरी आदिकी भी ऐसी ही सजा मिलनी चाहिये थी, जिससे वह कदापि व्यभिचार तथा चोरी न करने पाता। जो जीव चोरों तथा वेश्याओंके यहाँ पैदा किये जाते हैं उनका ऐसी जगह पैदा करना तो चोरी और व्यभिचारकी शिक्षा दिलानेकी ही कोशिश करना है। संसारके प्रबंधकर्ताकी बाबत तो ऐसा कभी भी खयाल नहीं किया जा सकता कि उसीने ऐसा प्रबंध किया हो—अर्थात्, वही पापियों और अपराधियोंको चोरों तथा व्यभिचारियोंके यहाँ पैदा करके चोरी और व्यभिचारकी शिक्षा दिलाना चाहता हो। ऐसी बातें देखकर तो लाचार यही मानना पड़ता है कि संसारका कोई भी एक बुद्धिमान् प्रबंधकर्ता नहीं है—बल्कि वस्तुस्वभावके द्वारा और उसीके अनुसार ही जगतका यह सब प्रबंध चल रहा है, दुनियाका सब कार्य व्यवहार हो रहा है। अतः किसी प्रबंधकर्ताकी खुशामद करके या भेट चढ़ाकर उसको राजी कर लेनेके भरोसे न रह कर हमको स्वयं अपने आचरणोंको सुधारनेकी ही ओर दृष्टि रखनी चाहिये और यही श्रद्धान बाँधे रखना चाहिये कि जगत् अनादिनिधन है और उसका कोई एक बुद्धिमान प्रबंधकर्ता नहीं है।

सत्यसमान कठोर, न्यायसम पक्षविहीन,
हूँगा मैं, परिहास-रहित, कूटोक्ति-क्षीण।
नहीं करूँगा क्षमा, इंचभर नहीं टलूँगा,
तो भी हूँगा मान्य, ग्राह्य, श्रद्धेय बनूँगा॥

—हितैषी।

जैनाचार्योंका शासनभेद।

[तृतीय लेख।]

गुणव्रत और शिक्षाव्रत।

जैनधर्ममें, अणुव्रतोंके पश्चात्, श्रावकके बारह व्रतोंमें तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंका विधान पाया जाता है। इन सातों व्रतोंको सप्त शीलव्रत भी कहते हैं। गुणव्रतोंसे अभिप्राय उन व्रतोंका है जो अणुव्रतोंके गुणार्थ अर्थात् उपकारके लिये नियत किये गये हैं—भावनाभूत हैं—अथवा जिनके द्वारा अणुव्रतोंकी वृद्धि तथा पुष्टि होती है; और शिक्षाव्रत उन्हें कहते हैं जिनका मुख्य प्रयोजन शिक्षा अर्थात् अभ्यास है—जो शिक्षाके स्थानक तथा अभ्यासके विषय हैं—अथवा शिक्षाकी—विद्योपादानकी—जिनमें प्रधानता है और जो विशिष्ट श्रुतज्ञानभावनाकी परिणति द्वारा निर्वाह किये जानेके योग्य होते हैं। इनमें गुणव्रत प्रायः यावज्जीविक कहलाते हैं; अर्थात्, उनके धारणका नियम प्रायः जीवनभरके लिये होता है—वे प्रतिसमय पालन किये जाते हैं—और शिक्षाव्रत यावज्जीविक न होकर प्रतिदिन तथा नियत दिवसादिकके विभागसे अभ्यसनीय होते हैं— उनका अभ्यास प्रतिसमय नहीं हुआ करता, उन्हें परिमितकालभावित समझना चाहिये। यही सब इन दोनों प्रकारके व्रतोंमें परस्पर उल्लेखयोग्य भेद पाया जाता है *। यद्यपि इन दोनों जातिके व्रतोंकी संख्यामें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती—प्रायः सभी आचार्योंने, जिन्होंने गुणव्रत और शिक्षाव्रतका विधान किया है, गुणव्रतोंकी संख्या तीन और शिक्षाव्रतोंकी संख्या चार बतलाई है—तो भी इनके भेद तथा स्वरूपादिकके प्रतिपादनमें कुछ आचार्योंके परस्पर मत-भेद है। आज उसी मत-भेदको स्थूलरूपसे, यहाँपर, दिखलानेका यत्न किया जाता है:—

१—श्रीकुंदकुंदाचार्य, अपने 'चारित्रपाहुड' में, इन व्रतोंके भेदोंका प्रतिपादन इस प्रकारसे करते हैं:—

दिसविदिसमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ २५ ॥
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं अतिहीपुज्जं चउत्थं संलेहणा अंते ॥ २६ ॥

अर्थात्—१ दिशाविदिशाओंका परिमाण, २ अनर्थदंडका त्याग और ३ भोगोपभोगका

---

* यथाः—

१—'गुणार्थमणुव्रतानामुपकारार्थंव्रतं गुणव्रतं। शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात्। अतएव गुणव्रतादस्यभेदः। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। अथवा शिक्षाविद्योपादानं शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतं देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात्। शिक्षाव्रतत्वं चास्य शिक्षाप्रधानत्वात् परिमितकालभावित्वाच्च।'

—इत्याशाधरः स्वसागारधर्मामृतटीकायां।

२—अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः।

—इति स्वामिसमन्तभद्रः।

३—'अणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि गुणव्रतानि।' 'शिक्षापदानि च शिक्षाव्रतानि वा तत्र शिक्षा अभ्यासः स च चारित्रनिबंधनविशिष्टक्रियाकलापविषयस्तस्य पदानि स्थानानि तद्विषयानि वा व्रतानि शिक्षाव्रतानि।'

—इति श्रावकप्रज्ञप्तिटीकायां हरिभद्रः।

४—'शीलं च गुणशिक्षाव्रतं। तत्र गुणव्रतानि... अणुव्रतानां भावनाभूतानि। यथाणुव्रतानि तथा गुणव्रतान्यपि सकृद्गृहीतानि यावज्जीवं भावनीयानि।' 'शिक्षाभ्यासस्तस्याः पदानि स्थानानि अभ्यासविषयस्तान्येव व्रतानि शिक्षापदव्रतानीति। गुणव्रतानि तु न प्रतिदिवसग्राह्याणि सकृद्ग्रहणान्येव।

—इति तत्त्वार्थसूत्रस्य स्वल्पटीकायां सिद्धसेनगणिः यशोभद्रश्च।

परिमाण, ये ही तीन गुणव्रत हैं। १ सामायिक, २ प्रोषध, ३ अतिथिपूजन और ४ अन्तमें सल्लेखना, ये चार शिक्षाव्रत हैं।

२—तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता श्रीउमास्वाति आचार्यने यद्यपि अपने सूत्रमें 'गुणव्रत' ऐसा स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया तो भी सप्तशील व्रतोंका जिस क्रमसे निर्देश किया है उससे मालूम होता है कि उन्होंने १ दिग्विरति, २ देशविरति, ३ अनर्थदंडविरतिको गुणव्रत, और १ सामायिक, २ प्रोषधोपवास, ३ उपभोगपरिभोगपरिमाण, ४ अतिथिसंविभागको शिक्षाव्रत माना है। यथाः—

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च।

इस सूत्रकी टीकामें—सर्वार्थसिद्धिमें—श्रीपूज्यपाद आचार्य भी दिग्विरतिः, देशविरतिः, अनर्थदंडविरतिरिति । एतानि त्रीणिगुणव्रतानि, इस वाक्यके द्वारा पहले तीन व्रतोंको गुणव्रत सूचित करते हैं। और इसलिये बाकीके चारों व्रत शिक्षाव्रत हैं, यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि शीलव्रत गुणशिक्षाव्रतात्मक कहलाते हैं।

सप्तशीलानि गुणव्रतशिक्षाव्रतव्यपदेशभांजीति,

ऐसा, श्लोकवार्तिकमें, श्रीविद्यानन्द स्वामीका भी वाक्य है।

इससे उमास्वाति आचार्यका शासन, और संभवतः उनके समर्थक श्रीपूज्यपाद और विद्यानंदस्वामीका शासन भी, इस विषयमें, कुंदकुंदाचार्यके शासनसे एकदम विभिन्न जान पड़ता हैं। उमास्वातिने सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें तो क्या, श्रावकके बारह व्रतोंमें भी वर्णन नहीं किया; बल्कि व्रतोंके अनन्तर उसे एक जुदा ही धर्म प्रतिपादन किया है, जिसका अनुष्ठान मुनि और श्रावक दोनों किया करते हैं। इसके सिवाय उन्होंने गुणव्रतोंमें 'देशविरति' नामके एक नये व्रतकी कल्पना की है और, साथ ही, भोगोपभोगपरिमाण व्रतको गुणव्रतोंसे निकाल कर शिक्षाव्रतोंमें दाखिल किया है। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारों पूज्यपाद, अकलंकदेव और विद्यानंदमेंसे किसीने उनके इस कथनपर कोई आपत्ति नहीं की। बल्कि विद्यानंदने एक वाक्यद्वारा साफ तौरसे सल्लेखनाको अलग दिखलाया है और यह प्रतिपादन किया है कि जिस प्रकार मुनियोंके महाव्रत और शीलव्रत सम्यक्त्वपूर्वक तथा सल्लेखनान्त होते हैं उसी प्रकार गृहस्थके पंच अणुव्रत और गुणव्रत-शिक्षाव्रतके विभागको लिये हुए, सप्तशीलव्रत भी सम्यक्त्वपूर्वक तथा सल्लेखनान्त समझने चाहियें। अर्थात्, इन व्रतोंसे पहले सम्यक्त्वकी जरूरत है और अन्तमें—मृत्युके संनिकट होनेपर—सल्लेखना, संन्यास अथवा समाधिका विधान होना चाहिये। वह वाक्य इस प्रकार हैः—

'तेन गृहस्थस्य पंचाणुव्रतानि सप्तशीलानि गुणव्रतशिक्षाव्रतव्यपदेशभांजीति द्वादशदीक्षाभेदाः सम्यक्त्वपूर्वकाः सल्लेखनांताश्च महाव्रततच्छीलवत्।'

इस वाक्यमें गृहस्थके बारहव्रतोंको 'द्वादश दीक्षाभेद' प्रकट किया है, जिससे उन लोगोंका बहुत कुछ समाधान हो सकता है जो अभीतक यह समझे हुए हैं कि श्रावकके बारहव्रतोंका युगपत् ही ग्रहण होता है, क्रमशः अथवा व्यस्त रूपसे नहीं।

हाँ, श्वेताम्बर टीकाकारोंमें श्रीसिद्धसेनगणि और यशोभद्रजीने उमास्वातिके उक्त सूत्र पर कुछ आपत्ति जरूर की है। उन्होंने, दिग्विरतिके बाद देशविरतिके कथनको परमागमके क्रमसे विभिन्न सूचित करते हुए, एक प्रश्न खड़ा किया है और उसके द्वारा यह विकल्प उठाया है कि, जब परमागममें गुणव्रतोंका क्रमसे निर्देश करनेके बाद शिक्षाव्रतोंका उपदेश

दिया गया है तो फिर सूत्रकार (उमास्वाति)ने उसके विरुद्ध भिन्नक्रम किस लिये रक्खा है। अर्थात्, दिग्विरत्यादि गुणव्रतोंका कथन पूरा किये बिना ही बीचमें 'देशविरति' नामके शिक्षाव्रतका उपदेश क्यों दिया है ? और फिर आगे स्वयं ही इस क्रमभंगके आरोपका समाधान किया है। यथाः—

"संप्रति क्रमनिर्दिष्टं देशव्रतमुच्यते । अत्राह वक्ष्यति भगवान् देशव्रतं । परमार्षप्रवचनक्रमः कैमर्थ्याद्भिन्नः सूत्रकारेण । आर्षे तु गुणव्रतानि क्रमेणादिश्य शिक्षाव्रतान्युपदिष्टानि सूत्रकारेण त्वन्यथा । तत्रायमभिप्रायः पूर्वतो योजनशतपरिमितं गमनमभिगृहीतं न चास्तिसंभवो यत्प्रतिदिवसं तावती दिगवगाह्याऽतस्तदनंतरमेवोपदिष्टं देशव्रतमिति । देशे भागेऽवस्थापनं प्रतिदिनं प्रतिप्रहरं प्रतिक्षणमिति सुखावबोधार्थमन्यथाक्रमः ।"

इस अवतरणमें क्रमभंगके आरोपका जो समाधान किया गया है और उसका जो अभिप्राय बतलाया गया है, वह इस प्रकार हैः—

"पहलेसे सौ योजन गमनका परिमाण ग्रहण किया था, परंतु यह संभव नहीं कि प्रति दिन इतने परिमाणमें दिशाओंका अवगाहन हो सके इस लिये उसके (दिग्व्रतके) बाद ही देशव्रतका उपदेश दिया गया है। इस तरह सुखसे समझमें आनेके लिये (सुखावबोधार्थ) सूत्रकारने यह भिन्नक्रम रक्खा है।"

जो विद्वान् निष्पक्ष विचारक हैं उन्हें ऊपरके इन समाधानवाक्योंसे कुछ भी संतोष नहीं हो सकता। वास्तवमें इनके द्वारा आरोपका कुछ भी समाधान नहीं हो सका । देशव्रतको दिग्व्रतके अनन्तर रखनेसे वह भले प्रकार समझमें आ जाता है, बादको रखनेसे वह समझमें न आता या कठिनतासे समझमें आता, ऐसा कुछ भी नहीं है। और इस लिये 'सुखावबोध' नामके जिस हेतुका प्रयोग किया गया है वह कुछ कार्यसाधक मालूम नहीं होता। सूत्रकार जैसे विद्वानोंसे ऐसी बड़ी गलती कभी नहीं हो सकती कि वे, जानते बूझते और मानते हुए भी, ख्वामख्वाह एक जातिके व्रतको दूसरी जातिके व्रतोंमें शामिल कर दें, उन्हें ऐसी बातोंका खास खयाल रहता है और इसी लिये उन्होंने अपने सूत्रमें अनेक बातोंको, किसी न किसी विशेषताके प्रतिपादनार्थ, अलग अलग विभक्तियों द्वारा दिखलानेकी चेष्टा की है। यहाँ क्रमनिर्देशसे ही गुणव्रत और शिक्षाव्रत अलग हो जाते हैं, इस लिये किसी विभक्तिद्वारा उन्हें अलग अलग दिखलानेकी जरूरत नहीं पड़ी। हाँ, दिग्देशानर्थदंडके बाद 'विरति' शब्द लगाकर इन तीनों व्रतोंकी एकजातीयता और दूसरे व्रतोंसे विभिन्नताको कुछ सूचित जरूर किया है, ऐसा मालूम होता है। यदि उमास्वातिको 'देशविरति' नामके व्रतका शिक्षाव्रत होना इष्ट था तो कोई वजह नहीं थी कि वे उसका यथास्थान निर्देश न करते। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें भी, जिसे स्वयं उमास्वातिका बनाया हुआ भाष्य बतलाया जाता है, इस विषयका कोई स्पष्टीकरण नहीं है। यदि उमास्वातिने सुखावबोधके लिये ही (जो प्रायः सिद्ध नहीं है) यह क्रमभंग किया होता और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य स्वयं उन्हींका स्वोपज्ञ टीका—ग्रंथ था तो वे उसमें अपनी इस बातका स्पष्टीकरण जरूर करते, ऐसा हृदय कहता है। परंतु वैसा नहीं पाया जाता और न उनकी इस सुखावबोधिनी वृत्तिका श्वेताम्बर सम्प्रदायमें पीछेसे कुछ अनुकरण देखा जाता है। इस लिये, बिना इस बातको स्वीकार किये कि उमास्वाति आचार्य देशविरति नामके व्रतको गुणव्रत और उपभोगपरिभोगपरिमाण नामके व्रतको शिक्षाव्रत मानते थे, उक्त क्रमभंगके

आरोपका समुचित समाधान नहीं बनता । हमारी रायमें, ऐसा मालूम होता है कि श्वेताम्बर-सम्प्रदायके आगम ग्रंथोंसे तत्त्वार्थसूत्रकी विधि ठीक मिलानेके लिये ही यह सब खींचातानी की गई है । अन्यथा, उमास्वाति आचार्यका मत इस विषयमें वही मालूम होता है जो इस नम्बर (२) के शुरूमें दिखलाया गया है और जिसका समर्थन श्रीपूज्यपादादि आचार्योंके वाक्योंसे भले प्रकार होता है । और भी बहुतसे आचार्य तथा विद्वान् इस मतको माननेवाले हुए हैं, जिनमेंसे कुछके वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

क—दिग्देशानर्थदंडानां विरतिस्त्रितयाश्रयम् ।
गुणव्रतत्रयं सद्भिः सागारयतिषु स्मृतम् ॥
आदौ सामायिकं कर्म प्रोषधोपासनक्रिया ।
सेव्यार्थनियमो दानं शिक्षाव्रतचतुष्टयं ॥

—यशस्तिलके सोमदेवः ।

यहाँ 'सेव्यार्थनियम' से उपभोगपरिभोग-परिमाणका और 'दान' से अतिथिसंविभागका अर्थ समझना चाहिये ।

ख—स्थवीयसीं विरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य व्रत-विशेषो गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्यु-च्यते । दिग्विरतिः, देशविरतिः, अनर्थदंडविरतिः, सामायिकं, प्रोषधोपवासः, उपभोगपरिभोगपरिमाणं, अतिथिसंविभागश्चेति ।

—चारित्रसारे श्रीचामुंडरायः ।

ग—दिग्देशानर्थदंडेभ्यो विरतिर्या विधीयते
जिनेश्वरसमाख्यातं त्रिविधं तद्गुणव्रतं ॥

—सुभाषितरत्नसंदोहे अमितगतिः ।

"देशविरतेर्द्वितीयं गुणव्रतं वर्ण्यते तस्य ॥"
"भोगोपभोगसंख्या शिक्षाव्रतमुच्यते तस्य ॥"

—उपासकाचारे अमितगतिः ।

घ—'दिग्देशानर्थदंडेभ्यो यत्त्रिधा विनिवर्तनम् ।
पोतायते भवाम्भोधौ त्रिविधं तद्गुणव्रतम् ॥'
'भोगोपभोगसंख्यानं...। तृतीयं तत्तदाख्यं स्यात्...॥'

—धर्मशर्माभ्युदये श्रीहरिचंद्रः ।

ऊपरके इन सब अवतरणोंसे साफ प्रकट है कि श्रीसोमदेवसूरि, चामुंडराय, अमितगति आचार्य और श्रीहरिचंद्रजीने दिग्विरति, देश-विरति , अनर्थदंडविरति इन तीनोंको गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण, अतिथिसंविभाग, इन चारोंको शिक्षा-व्रत वर्णन किया है । साथ ही, इन सभी विद्वा-नोंने भी सल्लेखनाको श्रावकके बारह व्रतोंसे अलग एक जुदा धर्म प्रतिपादन किया है । इस लिये इनका शासन भी, इस विषयमें, श्रीकुंद-कुंदाचार्यके शासनसे विभिन्न है । परंतु उसे उमास्वातिके शासनके अनुकूल समझना चाहिये ।

३—स्वामी समंतभद्र, अपना शासन, इस विषयमें, कुंदकुंद और उमास्वातिके शासनसे कुछ भिन्नाभिन्नरूपसे स्थापित करते हुए, अपने 'रत्नकरंडक' नामके उपासकाध्ययनमें, इन व्रतोंका प्रतिपादन इस प्रकारसे करते हैं:—

दिग्व्रतमनर्थदंडव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥
देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैय्यावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥

अर्थात्—दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत और भोगो-पभोगपरिमाण; इन तीन व्रतोंके द्वारा गुणोंकी (अणुव्रतों अथवा समंतभद्र प्रतिपादित अष्ट मूलगुणोंकी) वृद्धि तथा पुष्टि होनेसे आर्य पुरुष इन्हें गुणव्रत कहते हैं । देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्य, ये चार शिक्षाव्रत बतलाये गये हैं ।

इससे स्पष्ट है कि गुणव्रतोंके सम्बंधमें स्वामी समंतभद्र और कुंदकुंदाचार्यका शासन एक है । परंतु शिक्षाव्रतोंके सम्बंधमें वह एक नहीं है । समंतभद्रने 'सल्लेखना' को शिक्षाव्रतोंमें नहीं

रक्खा बल्कि उसकी जगह 'देशावकाशिक' नामके एक दूसरे व्रतकी तजवीज की है और उसे शिक्षाव्रतोंमें सबसे पहला स्थान प्रदान किया है। रही उमास्वातिके साथ तुलनाकी बात, समंतभद्रका शासन उमास्वातिके शासनसे दोनों ही प्रकारके व्रतोंमें कुछ विभिन्न है। उमास्वातिने जिस देशविरति व्रतको दूसरा गुणव्रत बतलाया है समंतभद्रने उसे 'देशावकाशिक' नामसे पहला शिक्षाव्रत प्रतिपादन किया है। और समंतभद्रने जिस 'भोगोपभोगपरिमाण' नामके व्रतको गुणव्रतोंमें तीसरे नम्बर पर रक्खा है उसे उमास्वातिने शिक्षाव्रतोंमें तीसरा स्थान प्रदान किया है। इसके सिवाय 'अतिथिसंविभाग' के स्थानमें 'वैय्यावृत्य' को रखकर समंतभद्रने उसकी व्यापकताको कुछ अधिक बढ़ा दिया है। उससे अब केवल दानका ही प्रयोजन नहीं रहा बल्कि उसमें संयमी पुरुषोंकी दूसरी प्रकारकी सेवा टहल भी आ जाती है। इसी बातका स्पष्टीकरण करनेके लिये आचार्य महोदयने, अपने ग्रंथमें, दानार्थप्रतिपादक पद्यसे भिन्न एक दूसरा पद्य भी दिया है जो इस प्रकार है:—

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥

पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतमें इन व्रतोंका कथन प्रायः स्वामी समंतभद्रके मतानुसार ही किया है। गुणव्रतोंका कथन प्रारंभ करते हुए, टीकामें, 'आहुर्ब्रुवन्ति स्वामिमतानुसारिणः' इस वाक्यके द्वारा उन्होंने स्वामी समंतभद्रके मतकी औरोंसे भिन्नता और अपनी उसके साथ अनुकूलताको खुले शब्दोंमें उद्घोषित किया है। परंतु शिक्षाव्रतोंका प्रारंभ करते हुए टीकामें ऐसा कोई वाक्य नहीं दिया, जिसका कारण शायद यह मालूम होता है कि उन्होंने समंतभद्रके 'वैय्यावृत्य' नामक चौथे शिक्षाव्रतके स्थानमें उमास्वातिके 'अतिथिसंविभाग' व्रतको ही रखना पसंद किया है। और उसका लक्षण भी दानार्थप्रतिपादक किया है। यथा:—

व्रतमतिथिसंविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय॥५-४१

देशावकाशिक व्रतका वर्णन करते हुए, टीकामें, पं० आशाधरजीने लिखा है कि, शिक्षाकी प्रधानता और परिमितकाल भावितपनेकी वजहसे इस व्रतको शिक्षाव्रतत्वकी प्राप्ति है। यह दिग्व्रतके समान यावज्जीविक नहीं होता। परंतु **तत्त्वार्थसूत्र आदिकमें जो इसे गुणव्रत माना है** सो वहाँ इसका लक्षण दिग्व्रतको संक्षिप्त करने मात्र विवक्षित मालूम होता है। साथ ही वहाँ इसे दूसरे गुणव्रतादिकोंका संक्षेप करनेके लिये उपलक्षण रूपसे प्रतिपादित समझना चाहिये। अन्यथा, दूसरे व्रतोंके संक्षेपको यदि अलग अलग व्रत करार दिया जाता तो व्रतोंकी 'बारह' संख्यामें विरोध आता। यथा:—

'शिक्षाव्रतत्वं चास्य शिक्षाप्रधानत्वात्परिमितकालभावित्वाच्चोच्यते। न खल्वेतद्दिग्व्रतवद्यावज्जीविमपीष्यति। यत्तु तत्त्वार्थादौ गुणव्रतत्वमस्य श्रूयते तद्दिग्व्रतसंक्षेपण लक्षणत्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वाल्लक्ष्यते। दिग्व्रतसंक्षेपकरणं चात्रा (न्य) गुणव्रतादि संक्षेपकरणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं। एषामपि संक्षेपस्यावश्यकर्तव्यत्वात्प्रतिव्रतं च संक्षेपकरणस्य भिन्नव्रतत्वे गुणाः स्युर्द्वादशेति संख्याविरोधःस्यात्॥'

पं० आशाधरजीके इन वाक्योंसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि उमास्वातिका शासन, चाहे वह किसी भी विवक्षासे * क्यों न

* पं० आशाधरजीने जिस विवक्षाका उल्लेख किया है उसके अनुसार 'देशव्रत' गुणव्रत हो सकता है और उसका नियम भी यावज्जीवके लिये किया जा सकता है। इसी तरह भोगोपभोगपरिमाण यावज्जीविक भी होता है, ऐसा न मानकर यदि उसे नियतकालिक ही माना जावे तो इस विवक्षासे वह शिक्षाव्रतोंमें भी जा सकता है। विवक्षासे केवल विरोधका परिहार होता है। परंतु शासनभेद और भी अधिकताके साथ दृढ़ तथा स्पष्ट हो जाता है।

हो, इस विषयमें समंतभद्रके शासनसे और उन श्वेताम्बर आचार्योंके शासनसे विभिन्न है जिन्होंने 'देशावकाशिक' को शिक्षाव्रत प्रतिपादन किया है।

४-स्वामि कार्तिकेयने, अपने अनुपेक्षाग्रंथमें, देशावकाशिकको चौथा शिक्षाव्रत प्रतिपादन किया है। अर्थात्, शिक्षाव्रतोंमें उसे पहला दर्जा न देकर अन्तका दर्जा प्रदान किया है। साथ ही, उसके स्वरूपमें दिशाओंके परिमाणको संकोचनेके साथ साथ इंद्रियोंके विषयोंको अर्थात् भोगोपभोगके परिमाणको भी संकोचनेका विधान किया है। यथा:—

पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसीणं पुणोवि संवरणं।
इंदियविसयाण तहा पुणोवि जो कुणदि संवरणं ॥
वासादिकयपमाणं दिणेदिणे लोहकामसमणत्थं।
सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि ॥

इस तरह उनके इस व्रतका क्रम तथा विषय समंतभद्रके क्रम तथा विषयसे कुछ भिन्न है और इस भिन्नताके कारण दूसरे शिक्षाव्रतोंके क्रममें भी भिन्नता आ गई है—उनके नम्बर बदल गये हैं। इसके सिवाय स्वामि कार्तिकेयने वैय्यावृत्यके स्थानमें 'दान' का ही विधान किया है।* इन सब विभिन्नताओंके सिवाय अन्य प्रकारसे उनका शासन, इस विषयमें, समंतभद्रके शासनसे प्रायः मिलता जुलता है। और इस लिये यह कहनेमें कोई संकोच नहीं हो सकता कि स्वामिकार्तिकेयका शासन कुंदकुंद, उमास्वाति, पूज्यपाद, विद्यानंद, सोमदेव, अमितगति और कुछ समंतभद्रके शासनसे भी भिन्न है।

५—श्रीजिनसेनाचार्य, अपने आदिपुराण ग्रंथके १० वें पर्वमें, लिखते हैं:—

दिग्देशानर्थदंडेभ्यो विरतिः स्याद्गुणव्रतम्।
भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद्गुणव्रतम् ॥ ६५ ॥
समतां प्रोषधविधिं तथैवातिथिसंग्रहम्।
मरणान्ते च संन्यासं प्राहुः शिक्षा व्रतान्यपि ॥ ६६ ॥

अर्थात्—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति, (तीन) गुणव्रत हैं। भोगोपभोगपरिमाणको भी गुणव्रत कहते हैं। समता (सामायिक), प्रोषधविधि, अतिथिसंग्रह (अतिथिपूजन) और मरणके संनिकट होने पर संन्यास, इन (चारों) को शिक्षाव्रत कहते हैं।

इससे मालूम होता है कि श्रीजिनसेनाचार्यका मत, इस विषयमे, समन्तभद्रके मतसे बहुत कुछ भिन्न है। उन्होंने देशविरतिको शिक्षाव्रतोंमें न रख कर उमास्वाति तथा पूजापादादिके सदृश उसे गुणव्रतोंमें रक्खा है, और साथ ही संन्यास (सल्लेखना) को भी शिक्षाव्रत प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय भोगोपभोगपरिमाणको भी जो उन्होंने गुणव्रत सूचित किया है उसे केवल समन्तभद्रादिके मतका उल्लेख मात्र समझना चाहिये। अन्यथा, गुणव्रतोंकी संख्या चार हो जायगी, और यह मत प्रायः सभीसे भिन्न ठहरेगा। हाँ, इतना जरूर हैं कि इसमें गुणव्रतसंबंधी प्रायः सभी मतोंका समावेश हो जायगा। शिक्षाव्रतोंके सम्बंधमें आपका मत कुंदकुंदको छोड़कर उमास्वति, पूज्यपाद, विद्यानंद, सोमदेव, अमितगति, समंतभद्र और स्वामिकार्तिकेय आदि प्रायः सभी आचार्योंसे भिन्न पाया जाता है।

६—श्रीवसुनन्दी आचार्यने, अपने श्रावकाचारमें, शिक्षाव्रतोंके १ भोगविरति, २ परिभोगनिवृति, ३ अतिथिसंविभाग ओर ४ सल्लेखना, ये चार नाम दिये हैं। यथाः—

'तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते।'
'तं परिभोयणिवुत्ती विदिय सिक्खावयं जाणे।'
'अतिहिस्स संविभागो तिदियं सिक्खावयं मुणेयव्वं।'
'सल्लेखणं चउत्थं सुत्ते सिक्खावयं भणियं।'

*...दाणं जो देदि सयं णवदाणविहीहिं संजुत्तो।
सिक्खावयं च तिदियं तस्स हवे......॥

इससे स्पष्ट है कि वसुनन्दी आचार्यका शासन, इस विषयमें, पहले कहे हुए सभी आचार्योंके शासनसे एकदम विभिन्न है। आपने भोगपरिभोगपरिमाण नामके व्रतको, जिसे किसीने गुणव्रत और किसीने शिक्षाव्रत माना था, दो टुकड़ोंमें विभाजित करके उन्हें शिक्षाव्रतोंमें सबसे पहले दो व्रतोंका स्थान प्रदान किया है और भोगविरतिके संबंधमें लिखा है कि उसे सूत्रमें पहला शिक्षाव्रत बतलाया है। मालूम नहीं वह कौनसा सूत्रग्रंथ है, जिसमें केवल भोगविरतिको प्रथम शिक्षाव्रत प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय आपने सामायिक और प्रोषधोपवास नामके दो व्रतोंको, जिन्हें उपर्युक्त सभी आचार्योंने शिक्षाव्रतोंमें रक्खा है, इन व्रतोंकी पंक्तिमेंसे ही कतई निकाल डाला है। शायद आपको यह खयाल हुआ हो कि जब 'सामायिक' और 'प्रोषधोपवास' नामकी दो प्रतिमाएँ ही अलग हैं तब व्रतिक प्रतिमामें इन दोनों व्रतोंके रखनेकी क्या जरूरत है। और इसी लिये आपको वहाँसे इन व्रतोंके निकालनेकी जरूरत पड़ी हो अथवा इस निकालनेकी कोई दूसरी ही वजह हो। कुछ भी हो, यहाँ हम, इस विषयमें, कुछ विशेष विचार उपस्थित करनेकी जरूरत नहीं समझते। परंतु इतना जरूर कहेंगे कि बारह व्रतोंमें व्रतिक प्रतिमामें— सामायिक और प्रोषधोपवास शीलरूपसे निर्दिष्ट हैं और अपने अपने नामकी प्रतिमाओंमें वे व्रतरूपसे प्रतिपादित हुए हैं*। शीलका लक्षण अकलंकदेव और विद्यानंदने, अपने अपने वार्तिकोंमें 'व्रतपरिरक्षण' किया है। पूज्यपाद भी 'व्रतपरिरक्षणार्थं शीलं,' ऐसा लिखते हैं। जिस प्रकार परिधियाँ नगरकी रक्षा करती हैं उसी प्रकार 'शील' व्रतोंकी पालना करते हैं, ऐसा श्रीअमृतचन्द्र आचार्यका कहना है×। श्वेताम्बराचार्य श्रीसिद्धसेनगणि और यशोभद्रजी भी अणुव्रतोंकी दृढताके लिये शीलव्रतोंका उपदेश बतलाते हैं+। अतः अहिंसादिक व्रतोंकी रक्षा, परिपालना और दृढता संपादन करना ही सप्तशीलोंका मुख्य उद्देश्य है। और इस दृष्टिसे सप्तशीलोंमें वर्णित सामायिक और प्रोषधोपवासको नगरकी परिधि और शस्यकी वृत्ति (धान्यकी बाड़) के समान अणुव्रतोंके परिरक्षक समझना चाहिये। वहाँ पर मुख्यतया रक्षणीय व्रतोंकी रक्षाके लिये उनका केवल अभ्यास होता है, वे स्वतंत्र व्रत नहीं होते। परंतु अपनी अपनी प्रतिमाओंमें जाकर वे स्वतंत्र व्रत बन जाते हैं और तब परिधि अथवा वृति (बाड़) के समान दूसरोंके केवल रक्षक न रहकर नगर अथवा शस्यकी तरह स्वयं प्रधानतया रक्षणीय हो जाते हैं। यही इन व्रतोंकी दोनों अवस्थाओंमें परस्पर भेद पाया जाता है।

मालूम नहीं उक्त वसुनन्दी सैद्धान्तिकने, और श्रीकुंदकुंद तथा जिनसेनाचार्यने भी, सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें क्यों रक्खा है, जब कि शिक्षाव्रत अभ्यासके लिये नियत किये गये हैं और सल्लेखनामरणके संनिकट होनेपर एक बार ग्रहण की जाती है, उसका पुनः पुनः अनुष्ठान नहीं होता और इसलिये उसके द्वारा प्रायः कोई अभ्यासविशेष नहीं बनता। दूसरे, प्रतिमाओंका विषय अपने अपने पूर्वगुणोंके साथ क्रमविवृद्ध बतलाया गया है।

---

* यथाः—यत्प्राक् सामायिकं शीलं तद्व्रतं प्रतिमावतः।
यथा तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक्॥
—आशाधरः।

× परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि। —पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।

\+ प्रतिपन्नस्याणुव्रतस्यागारिणस्तेषामेवाणुव्रतानां द्रढिमापादनाय शीलोपदेशः। —तत्त्वार्थसूत्रटीका

अर्थात्, उत्तर-उत्तरकी प्रतिमाओंमें, अपने अपने गुणोंके साथ, पूर्व-पूर्वकी प्रतिमाओंके सारे गुण विद्यमान होने चाहिये*। बारह व्रतोंमें सल्लेखनाको स्थान देनेसे 'व्रतिक' नामकी दूसरी प्रतिमामें उसकी पूर्ति आवश्यक हो जाती है। बिना उस गुणकी पूर्तिके अगली प्रतिमाओंमें आरोहण नहीं हो सकता और संल्लेखनाकी पूर्तिपर शरीरकी ही समाप्ति हो जाती है, फिर अगली प्रतिमाओंका अनुष्ठान कैसे बन सकता है। अतः सल्लेखनाको शिक्षाव्रत मानकर दूसरी प्रतिमामें रखनेसे तीसरी सामायिकादि प्रतिमाओंका अनुष्ठान अशक्य हो जाता है और वे केवल कथनमात्र रह जाती हैं, यह बड़ा दोष आता है। इस पर विद्वानोंको विचार करना चाहिये। इसी लिये प्रसंग पाकर यहाँ पर यह विकल्प उठाया गया है। संभव है कि ऐसे ही किन्हीं कारणोंसे समंतभद्र, उमास्वाति, सोमदेव, अमितगति और स्वामिकार्तिकेयादि आचार्योंने सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें स्थान न दिया हो। अथवा वसुनंदी आदिकका सल्लेखनाको शिक्षाव्रत करार देनेमें कोई दूसरा ही हेतु हो। उन्हें प्रतिमाओंके विषयका अपने पूर्व गुणोंके साथ विवृद्ध होना ही इष्ट न हो—कुछ भी हो उसके मालूम होनेकी जरूरत है। और उससे आचार्योंका शासनभेद और भी अधिकताके साथ व्यक्त होगा।

गुणव्रतोंके सम्बंधमें भी वसुनन्दीका शासन समंतभद्रादिके शासनसे विभिन्न है। उन्होंने दिग्विरति, देशविरति और संभवतः अनर्थदंडविरतिको गुणव्रत करार दिया है। अनर्थदंडके साथमें 'संभवतः' शब्द इस बजहसे लगाया गया है कि उन्होंने अपने ग्रंथमें उसका नाम नहीं दिया। और लक्षण अथवा स्वरूप जो दिया है वह इस प्रकार है:—

> अयदंडपासविक्कयकूडतुलामाणकूरसत्ताणं।
> जं संगहो ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तिदियं ॥

इसमें लोहेके दंड-पाशको न बेचने और झूठी तराजू, झूठे बाट तथा क्रूर जंतुओंके संग्रह न करनेको तीसरा गुणव्रत बतलाया गया है। अनर्थदंडका यह लक्षण अथवा स्वरूप समंतभद्रादिकके पंचभेदात्मक अनर्थदंडके लक्षण तथा स्वरूपसे बिलकुल विलक्षण मालूम होता है। इसी तरह देशविरतिका लक्षण भी आपका औरोंसे विभिन्न पाया जाता है। आपने उस देशमें गमनके त्यागको देशविरति बतलाया है जहाँ व्रतभंगका कोई कारण मोजूद हो *। और इस लिये जहाँ व्रतभंगका कोई कारण नहीं उन देशोंमें गमनका त्याग आपके उक्त व्रतकी सीमासे बाहर समझना चाहिये। दूसरे आचार्योंके मतानुसार देशावकाशिक व्रतके लिये ऐसा कोई नियम नहीं है। वे कुछ कालके लिये दिग्व्रतद्वारा ग्रहण किये हुए क्षेत्रके एक खास देशमें स्थितिका संकल्प करके अन्य संपूर्ण देशों—भागोंके त्यागका विधान करते हैं चाहे उनमें व्रतभंगक कोई कारण हो या न हो। जैसा कि देशावकाशिक व्रतीके निम्न लक्षणसे प्रकट है।—

> स्थास्यामीदमिदं यावदियत्कालमिहास्पदे।
> इति संकल्प्य संतुष्टस्तिष्ठन्देशावकाशिकी ॥
>
> —इत्याशाधरः।

यहाँ पर हमें इन व्रतोंके लक्षणादिसंबंधी विशेष मतभेदको दिखलाना इष्ट नहीं है। वह वसुनन्दीसे पहले उल्लेख किये हुए आचार्योंमें भी थोड़ा बहुत, पाया जाता है। और इन व्रतोंके अतीचारोंमें भी अनेक आचार्योंके परस्पर मत-

---

* श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥
—समंतभद्रः।

* वयभंगकारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण।
कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं विदियं ॥२१४॥

भेद है । इस संपूर्ण मतभेदको दिखलानेसे लेख बहुत बढ़ जायगा । अतः लक्षण, स्वरूप तथा अतीचारसंबंधी विशेष मतभेदको फिर स्वतंत्र शीर्षकों द्वारा दिखलानेका यत्न किया जायगा । यहाँ, इस समय, सिर्फ इतना ही समझना चाहिये कि इन दोनों प्रकारके व्रतोंके भेदादिक प्रतिपादनमें आचार्योंके परस्पर बहुत कुछ मतभेद है । इन व्रतोंका विषयक्रम (कोर्स course) कक्षाओंके पठनक्रमकी तरह समय समय पर बदलता रहा है । और इस लिये यह कहना बहुत कठिन है कि महावीर भगवानने इन विभिन्न शासनोंमेंसे कौनसे शासनका प्रतिपादन किया था । संभव है कि उनका शासन इन सबोंसे कुछ विभिन्न रहा हो । परंतु इतना जरूर कह सकते हैं कि इन विभिन्न शासनोंमें परस्पर सिद्धान्तभेद नहीं है—जैनसिद्धान्तोंसे कोई विरोध नहीं आता—और न इनके प्रतिपादनमें जैनाचार्योंका परस्पर कोई उद्देश्यभेद पाया जाता है । सबोंका उद्देश्य सावद्य कर्मोंके त्यागकी परिणतिको क्रमशः बढ़ाने—उसे अणुव्रतोंसे महाव्रतोंकी ओर ले जाने—और लोभादिकका निग्रह कराकर संतोषके साथ शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करानेका मालूम होता है । हाँ, दृष्टिभेद, अपेक्षाभेद, विषयभेद, क्रमभेद, प्रतिपादकोंकी समय और प्रतिपाद्योंकी स्थिति आदिका भेद अवश्य है, जिसके कारण उक्त शासनोंको विभिन्न जरूर मानना पड़ेगा । और इस लिये यह कभी नहीं कहा जा सकता कि महावीर भगवानने ही इन सब विभिन्न शासनोंका विधान किया था—उनकी वाणीमें ही ये सब मत अथवा इनके प्रतिपादक शास्त्र इसी रूपसे प्रकट हुए थे । ऐसा मानना और समझना नितान्त भूलसे परिपूर्ण तथा वस्तुस्थितिके विरुद्ध होगा । अतः श्रीकुंदकुंदाचार्यने गुणव्रतोंके संबंधमें, 'एव' शब्द लगाकर—'इयमेव गुणव्वया तिण्णि' ऐसा लिखकर—जो यह नियम दिया है कि, दिशाविदिशाओंका परिमाण, अनर्थदंडका त्याग और भोगोपभोगका परिमाण, ये ही तीन गुणव्रत हैं दूसरे नहीं, इसे उस समयका, उनके सम्प्रदायका अथवा खास उनके शासनका नियम समझना चाहिये । और श्रीअमितगतिने 'जिनेश्वरसमाख्यातं त्रिविधं तद्गुणव्रतं' इस वाक्यके द्वारा दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदंडविरतिको जो जिनेंद्रदेवका कहा हुआ गुणव्रत बतलाया है उसका आशय प्रायः इतना ही लेना चाहिये कि अमितगति इन व्रतोंको जिनेंद्रदेवका—महावीर भगवानका—कहा हुआ समझते थे अथवा अपने शिष्योंको इस ढंगसे समझाना उन्हें इष्ट था । इसके सिवाय यह मान लेना ठीक नहीं होगा कि, महावीर भगवानने ही इन दोनों प्रकारके गुणव्रतोंका प्रतिपादन किया था । इसी तरह अन्यत्र भी जानना । वास्तवमें हर एक आचार्य उसी मतका प्रतिपादन करता है जो उसे इष्ट होता है और जिसे वह अपनी समझके अनुसार सबसे अच्छा तथा उपयोगी समझता है और इस लिये इन विभिन्न शासनोंको आचार्योंका अपना अपना मत समझना चाहिये । हमारी रायमें ये सब शासन भी, जैसा कि हमने अपने पहले लेखोंमें प्रकट किया है, पापरोगकी शांतिके नुसखे (Prescriptions) हैं—ओषधिकल्प हैं—जिन्हें आचार्योंने अपने अपने देशों तथा समयोंके शिष्योंकी प्रकृति और योग्यता आदिके अनुसार तय्यार किया था । और इस लिये सर्व देशों, सर्व समयों और सर्व प्रकारकी प्रकृतिके व्यक्तियोंके लिये अमुक एक ही नुसखा उपयोगी होगा, ऐसा हठ करनेकी जरूरत नहीं है । जिस समय और जिस प्रकारकी प्रकृति आदिके व्यक्तियोंके लिये जैसे ओषधिकल्पोंकी जरूरत होती है, बुद्धिमान् वैद्य, उस समय और उस प्रकारकी प्रकृति आदिके व्यक्तियोंके

लिये वैसे ही ओषधिकल्पोंका प्रयोग किया करते हैं। अनेक नये नये ओषधिकल्प गढ़े जाते हैं, पुरानोंमें फेरफार किया जाता है और ऐसा करनेमें कुछ भी आपत्ति नहीं होती, यदि वे सब रोगशांतिके विरुद्ध न हों। इसी तरह पर देशकालानुसार किये हुए आचार्योंके उपर्युक्त भिन्न शासनोंमें भी प्रायः कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। क्योंकि वे सब जैनसिद्धान्तोंके अविरुद्ध हैं। हाँ, आपेक्षिक दृष्टिसे उन्हें प्रशस्त-अप्रशस्त, सुगम-दुर्गम, अल्पविषयक--बहुविषयक, अल्पफलसाधक--बहुफलसाधक इत्यादि जरूर कहा जा सकता है, और इस प्रकारका भेद आचार्योंकी योग्यता और उनके तत्तत्कालीन विचारों पर निर्भर है। अस्तु, इसी सिद्धान्ताविरोधकी दृष्टिसे यदि आज कोई महात्मा वर्तमान देशकालकी परिस्थितियोंको ध्यानमें रखकर उपर्युक्त शीलव्रतोंमें भी कुछ फेरफार करना चाहे और उदाहरणके तौरपर १ क्षेत्र-(दिग्देश) परिमाण, २ अनर्थदंडविरति, ३ भोगोपभोगपरिमाण, ४ आवश्यकतानुत्पादन,[1] ५ अन्तःकरणानुवर्तन,[2] ६ सामायिक और ७ निष्कामसेवा (अनपेक्षितोपकार-) नामके सप्तशीलव्रत, अथवा गुणव्रत और शिक्षाव्रत, स्थापित करे तो वह खुशीसे ऐसा कर सकता है। उसमें कोई आपत्ति किये जानेकी जरूरत नहीं है और न यह कहा जा सकता है कि उसका ऐसा विधान जिनेंद्रदेवकी आज्ञाके विरुद्ध है अथवा महावीर भगवानके शासनसे बाहर है; क्योंकि उक्त प्रकारका विधान जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं है। और जो विधान जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं होता वह सब महावीर भगवानके अनुकूल है। उसे प्रकारान्तरसे जैनसिद्धान्तोंकी व्याख्या अथवा उनका व्यावहारिक रूप समझना चाहिये, और इस दृष्टिसे उसे महावीर भगवानका शासन भी कह सकते हैं। परंतु भिन्न शासनोंकी हालतमें महावीर भगवानने यही कहा, ऐसा ही कहा, इसी क्रमसे कहा, इत्यादिक मानना मिथ्या होगा और उसे प्रायः मिथ्यादर्शन समझना चाहिये। अतः उससे बचकर यथार्थ वस्तुस्थितिको जानने और उसपर ध्यान रखनेकी कोशिश करनी चाहिये। इसीमें वास्तविक हित संनिहित है।

यहाँ, श्वेताम्बर आचार्योंकी दृष्टिसे, हम इस समय सिर्फ इतना और बतला देना चाहते हैं, कि श्वेताम्बरसम्प्रदायमें आमतौरपर १ दिग्व्रत, २ उपभोगपरिभोगपरिमाण, ३ अनर्थदंडविरति, इन तीनको गुणव्रत और १ सामायिक, २ देशावकाशिक, ३ प्रोषधोपवास, ४ अतिथिसंविभाग, इन चारको शिक्षाव्रत माना है*। उनका 'श्रावकप्रज्ञप्ति' नामक ग्रंथ भी इन्हींका विधान करता है और, योगशास्त्रमें, श्रीहेमचंद्राचार्यने भी इन्हीं व्रतोंका, इसी क्रमसे, प्रतिपादन किया है। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार श्रीसिद्धसेनगणि और यशोभद्रजी, अपनी अपनी टीकाओंमें, लिखते हैं:--

'गुणव्रतानि त्रीणि दिग्भोगपरिभोगपरिमाणानर्थदंडविरतिसंज्ञानि। शिक्षापदव्रतानि सामायिकदेशावकाशिकप्रोषधोपवासातिथिसंविभागाख्यानि चत्वारि।'

---

[1] आवश्यकताओंको बढ़ने न देना, प्रत्युत घटाना।
[2] अन्तःकरणकी आवाजके विरुद्ध न चलना।

*ये सब व्रत प्रायः वही हैं जो ऊपर स्वामी समंतभद्राचार्यके शासनमें दिखलाये गये हैं और इस लिये श्वेताम्बर आचार्योंका शासन, इस विषयमें प्रायः समंतभद्रके शासनसे मिलता जुलता है। सिर्फ दो एक व्रतोंमें, क्रमभेद अवश्य है। समंतभद्रने अनर्थदंडविरतिको दूसरे नम्बर पर रक्खा है और यहाँ उसे तीसरा स्थान प्रदान किया गया है। इसी तरह शिक्षाव्रतोंमें देशावकाशिकको यहाँ पहले नम्बर पर न रख कर दूसरे नम्बर पर रक्खा गया है। इसके सिवाय चौथे शिक्षाव्रतके नाममें भी कुछ परिवर्तन है

कलकत्ता जैनसभाकी आज्ञा !

संपादकीय विचार।

हालमें दिगम्बरजैनसभा कलकत्ताने, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीके सभापतित्वमें, एक प्रस्ताव पास किया है और उसके द्वारा संपूर्ण जैनियोंके नाम यह आज्ञा जारी की है कि वे 'सत्योदय' और 'जातिप्रबोधक' नामके दो पत्रोंको 'जैनपत्र' न समझें, न वैसा समझकर खरीदें और न उन्हें पढ़ें। सभाकी तरफसे प्रस्तावकी एक नकल, हितैषीमें प्रकाशित होनेके लिये; हमारे पास भी आई है। उसे पढ़कर हमारे हृदयमें जिन जिन विचारोंका उदय हुआ है उनके साथ हम उक्त प्रस्तावको नीचे प्रकाशित करते हैं। वह प्रस्ताव इस प्रकार है:—

"कलकत्ता दिगम्बरजैनसभा प्रस्ताव करती है कि सत्योदय इटावा व जातिप्रबोधक झांसी पत्रोंके लेखोंसे पर ('यह' या 'प्र'?) स्पष्ट झलकता है कि उसके लेख जैनधर्मके विरुद्ध तथा जैनधर्मके गौरवको अयोग्य वाग्जालद्वारा घटानेका उद्योग करनेवाले निकलते हैं जिससे ये पत्र कभी जैनपत्र नहीं माने जा सकते अतएव कोई भी जैनी भाई उनको जैनपत्र समझकर न खरीदें और न पढ़ें इस प्रस्तावकी नकल तमाम जैनपत्रोंमें तथा पंचायतीमें भेज दी जाय।

प० पं० जयदेवजी

स० पं० कस्तूरचन्दजी

पं० बल्देवदासजी

अ० पं० भूरामलजी

पं० बाबूलालजी वैद्य

सभापति ब्र० शीतलप्रसादजी

(प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास) २१-४-२०"

इस प्रस्तावमें जिन दो पत्रोंको अजैनपत्र करार दिया गया है उन्हें हम बराबर पढ़ते आये हैं। ये दोनों पत्र जैनसमाजसे सम्बंध रखते हैं, जैनियोंके हिताहितकी चिन्ता करते हैं, जैनसमाज ही इनका ध्येय तथा आराध्य है, और दूसरे समाजोंसे इनका प्रायः कोई सम्बंध विशेष नहीं है। ऐसी हालतमें इन्हें जैनपत्र न मानकर अजैन कहना, यह बात हमें अभी सुननेको मिली है। समझमें नहीं आता कलकत्ता जैनसभाने जैनपत्रका क्या लक्षण तजवीज किया है—किसको जैनपत्र माना है। 'जैन' शब्दके साथ न होनेसे किसी पत्रका अजैन होना तो सभाको इष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसी हालतमें सत्यवादी, पद्मावतीपुरवाल आदि और भी दूसरे अनेक ऐसे पत्रोंको अजैन कहना होगा, जिनके साथ 'जैन शब्द' लगा हुआ नहीं है। इसी तरह सभाकी दृष्टिमें यह भी इष्ट नहीं हो सकता कि जो पत्र जैनव्यक्तियों द्वारा संपादित होते हैं वे ही जैनपत्र हैं; क्योंकि अजैन व्यक्तियों द्वारा भी जैनपत्र संपादित हुए हैं और होते हैं। * इसके सिवाय जिन दो पत्रोंको उसने अजैन करार दिया है वे दोनों ही जैनव्यक्तियों द्वारा संपादित होते हैं—दोनोंके एडीटर जैन हैं—एकके 'वर्तमान का-एडीटर तो खास पं० गोपालदासजीके शिष्यों-से है और वे बहुत दिनोंतक उक्त पंडितजी समंत-सत्संगमें रहे हैं। इन दोनों संपादकोंमेंसे हा र इस किसीने जैनधर्मका परित्याग भी नहीं कि विषयमें और न जैनजातिने ही उन्हें अपनेसे '। सिर्फ किया है, जिससे जैन न रहनेके कारण समंतभद्रने पत्रोंको अजैन समझ लिया जाता। त है और । इसी

* दिगम्बरजैनमहासभाका मुखपत्र 'जैनग नम्बर एक बार अजैन व्यक्ति द्वारा संपादित हुआ था व बके 'धर्माभ्युदय' नामका जैनपत्र एक अजैन जैन है। द्वारा संपादित होता है।

उक्त सभा निम्न लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणसे लक्षित पत्रको जैनपत्र समझती है ?—

१—जो केवल जैनधर्मसे सम्बंध रखता हो और एक मात्र उसके सिद्धान्तोंका ही प्रतिपादक हो।

२—जो जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंसे अविरुद्ध हो—उनका विरोध न करता हो।

३—जिसका खास समाजसे सम्बंध हो और जो प्रायः उसीके हित, अहित तथा उत्थानकी चिन्तामें निमग्न रहता हो।

पहले लक्षणानुसार इस समय समाजमें कोई भी पत्र विद्यमान नहीं है। अर्थात् ऐसा कोई भी पत्र मौजूद नहीं है जो केवल जैनधर्मके सिद्धान्तोंका ही प्रतिपादन या विवेचन करनेवाला हो, और सामाजिक आदि दूसरे विषयोंसे जिसका कुछ भी सम्बंध न हो। ऐसा लक्षण करने पर 'जैनमित्र' आदि समाजके उन सभी पत्रोंको अजैन कहना होगा जिनमें अधिकतर सामाजिक आदि विषयोंका ही प्रसंग रहता है और जो खालिस जैनसिद्धान्तोंके प्रतिपादक नहीं हैं।

दूसरा लक्षण मानने पर देश विदेशके उन प[...]भी राष्ट्रीय (पोलीटिकल), वैज्ञानिक, [...]यापारिक और कलाकौशलादि संबंधी पत्रोंको दो जैनपत्र कहना होगा, जिनका किसी भी संज्ञा[...] कुछ सम्बंध नहीं है, और इस लिये जो स्थान[...]के सिद्धान्तोंका कुछ भी विरोध नहीं किया [...] परंतु जैनसमाजसे भी इन पत्रोंका कोई परिवर्तन[...]बंध नहीं, और न वे खास जैन समा-कुछ[...] लक्ष्य करके निकाले जाते हैं। इस लिये है [...]हैं कोई जैनपत्र नहीं कहता।

शिक्ष[...]तीसरा लक्षण स्वीकार करने पर 'सत्योदय' शील[...] 'जातिप्रबोधक' उसकी सीमासे बाहर [...]नतक रहते—वे बराबर जैनपत्र कहलानेके योग्य होते हैं—क्योंकि, जैसा कि हमने ऊपर बयान किया है, ये दोनों ही पत्र जैनसमाजसे खास सम्बंध रखते हैं, उसीको लक्ष्य करके निकाले जाते हैं, जैनसमाज ही इनका ध्येय तथा आराध्य है और ये बराबर उसके हित, अहित तथा उत्थानकी चिन्ता किया करते हैं। यह दूसरी बात है कि एक व्यक्ति जिसे हित समझता है दूसरा उसे अहित मानता हो, अथवा हितसाधनके उपायोंमें दोनोंके परस्पर मतभेद हो। क्योंकि ऐसा हरएक शख्स अपने अपने बुद्धिवैभवके अनुसार ही समाजकी हितचिन्तना और हितसाधनाके उपायोंकी योजना किया करता है। इस चिन्तना और योजनामें भूलका होना भी संभव है, जिसका सुधार हो सकता है। परंतु इतनेपरसे ही बिना किसी कलुषितहृदयता अथवा शत्रुताका स्पष्ट प्रमाण मिले—कोई व्यक्ति समाजहितैषियोंकी पंक्तिसे बाहर नहीं हो जाता। फिर नहीं मालूम सभाने उक्त दोनों पत्रोंको किस आधार पर अजैन करार दिया है। हाँ, प्रस्तावसे इतना जरूर मालूम होता है कि सभा इन पत्रोंके लेखोंको जैनधर्मके विरुद्ध और जैनधर्मके गौरवको घटानेका उद्योग करनेवाले समझती है। नहीं मालूम सभाने जैनधर्म और उसकी विरुद्धताका क्या आशय समझा है। क्या वह, जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंपर आघात न करते हुए, प्रचलित रीति-रिवाजोंके विरोधको—उनमें देशकालानुसार कुछ परिवर्तन करनेके परामर्शको—भी जैनधर्मका विरोध समझती है ? अथवा अमुक सिद्धान्त जैनधर्मका सिद्धान्त है या कि नहीं—हो भी सकता है या कि नहीं, इस प्रकारके विवेचनको भी धर्मविरुद्धतामें परिगणित करती है ? यदि ऐसा है तो समझना चाहिये कि सभा बड़ी भारी भूल कर रही है। वह अंधश्रद्धा—अंधविश्वासका एकच्छत्र राज्य चाहती है, अविवेकको आश्रय देने—बुद्धिमान

करनेका यत्न करती है और परीक्षाप्रधानताका गला घोंटनेके लिये तय्यार है । उसे अभीतक किसी कविका यह वाक्य मालूम नहीं है—

जिनमतमहल मनोज्ञ अति कलियुगछादित पंथ ।
समझबूझके परखियो चर्चा निर्णय-ग्रंथ ॥

अनगारधर्मामृतकी टीकामें, पं० आशाधरजी द्वारा उद्धृत किसी विद्वानके निम्न वाक्यकी भी उसे खबर नहीं है:—

पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् * ॥

शायद वह जैनशास्त्रोंके परस्परविरुद्ध कथनोंको भी सोलह आना महावीर भगवान-द्वारा प्रतिपादित समझती है और इसी लिये परीक्षा तथा विवेकका दर्वाजा बंद करना चाहती है । अस्तु; यह उसकी समझ उसके साथ है; कोई भी सहृदय विद्वान् और विचारवान् मनुष्य उसकी इस समझका साथी नहीं हो सकता ।

और यदि उक्त सभा वैसा नहीं समझती और न परिगणित करती है तो फिर हम नहीं समझते कि वह कैसे इन पत्रोंके लेखोंको सर्वथा जैन-धर्मके विरुद्ध कहनेका साहस करती है ! इन पत्रोंमें प्रायः ऐसे ही तो लेख रहा करते हैं जो प्रचलित रीति-रिवाजोंके विरोध—उनमें देश-कालानुसार परिवर्तनसे सम्बंध रखते हैं, प्राचीन रीति-रिवाजोंपर टीका-टिप्पण किया करते हैं अथवा इस प्रकारके विचार पबलिकके सामने रक्खा करते हैं कि अमुक सिद्धान्त जैनसिद्धान्त है या कि नहीं और हो भी सकता है या कि नहीं । 'जातिप्रबोधक' नामका पत्र तो खास कर सामाजिक विषयोंसे ही सम्बंध रखता है । उसमें जैनधर्मके सिद्धान्तोंका ऊहापोह करनेवाले ऐसे कोई लेख निकले भी नहीं जिनपर धर्मविरुद्धताका कलंक लगाया जा सके । रही जैनधर्मका गौरव घटानेके उद्योगकी बात, सो जहाँ तक हमने इन पत्रोंको देखा है इनमें बराबर जैनधर्मकी प्रशंसाके गीत गाये जाते हैं । जो शख्स खुले दिलसे दूसरेका यशोगान करता हो उसके सम्बंधमें यह कभी खयाल नहीं किया जा सकता कि वह जान बूझकर उसके गौरवको घटानेका कोई काम कर रहा है । हाँ, यह हो सकता है कि गौरवको समझनेमें उसकी समझमें कुछ फ़र्क हो—वह किसी अपमानकी बातको भी गौरव समझता हो—परंतु इससे उसपर यह इलजाम नहीं लगाया जा सकता कि वह जान बूझकर गौरवको घटानेका उद्योग करनेवाला है । डिपुटी कालेरायके इजलासमें एक देहातीका मुकदमा था । डिपटी साहबने पूरा न्याय किया और वह देहाती जीत गया । इस पर देहातीने प्रसन्न होकर भरे इजलासमें दोनों बाँह उठाकर डिपटी साहबका गुणानुवाद गाते हुए यह भी कहा कि "तेरा नाम किस बड़चोदने काले-राय धरा तौं तो मेरा धौलेराय है ।" इस वाक्य-को सुनकर डिपटी साहब कुछ मुसकराहटके साथ चुप हो गये, उन्हें जरा भी क्षोभ नहीं आया और वे यही खयाल करते रहे कि यह गँवार है, इसे इस बातकी तमीज (विवेक) नहीं कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ उससे डिपटी साहबके पितादिकको गाली भी दे रहा हूँ । क्योंकि वे जान रहे थे कि उसका आशय बुरा नहीं है—वह भक्तिसे परिपूर्ण है—इस लिये उन्होंने उक्त वाक्यसे अपना कुछ भी अपमान नहीं समझा और न दूसरोंने ही उससे डिपटी साहबके गौरवमें कुछ खलल (बाधा) आते देखा, बल्कि सबको उस देहातीके गँवारपन पर ही हँसी आई ।

शीतकालमें एक मुनि महाराज रात्रिके समय जंगलमें नग्न बैठे हुए ध्यान लगा रहे थे ।

---

* जिनेंद्र भगवानके निर्मल शासनको भ्रष्टचरित्र पंडितों और धूर्त मुनियोंने मलीन कर दिया है ।

एक गँवार ग्वाला वहाँ आया। उसके हृदयमें मुनिको इस प्रकारसे जाड़ेमें अकड़ते देखकर बहुत दया उत्पन्न हुई और उसने अपना कम्बल उन्हें ओढ़ा दिया। साथ ही, जंगलसे कुछ लकड़ियाँ वगैरह इकट्ठा करके उसने उनके पास आग भी जला दी। मुनिराजने ग्वालेके इस कृत्यको उपसर्ग समझा और वे सवेरे तक विना कुछ हले चले उसी तरह बैठे रहे। प्रातःकाल जब कुछ श्रावक वहाँ पर आये और उन्होंने कम्बलादिकको दूर किया तब मुनि महाराजने उपसर्ग टला समझ कर अपना ध्यान खोला और वे दूसरे कामोंमें लगे। शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि यद्यपि मुनिराजने ग्वालेके इस कृत्यको उपसर्ग समझा और वह उनकी चर्यानुसार था भी उनके लिये उपसर्ग, तो भी ग्वालेका भाव उपसर्ग करनेका नहीं था, वह उनके शीतोपसर्गको दूर करके उन्हें आराम ही पहुँचाना चाहता था। उसे यह खबर नहीं थी कि ऐसे कामोंसे भी दिगम्बर मुनियोंको उपसर्ग हुआ करता है। और इस लिये उसके इस कृत्यसे पुण्यका ही बंध हुआ पापका नहीं। लोगोंने भी उसकी अज्ञता, दयार्द्रता और सरलहृदयके कारण उसे मुनिको उपसर्ग करने या उनका गौरव घटाने आदि किसी भी अपराधका अपराधी नहीं समझा। इन दोनों उदाहरणोंसे हमारे पाठक गौरव घटाने, अपमान करने या नुकसान पहुँचाने आदिके उद्योगका रहस्य बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं। किसी मनुष्य पर गौरव घटाने या नुकसान पहुँचाने आदिके उद्योगका आरोप (इलजाम) उस वक्त तक नहीं लगाया जा सकता जब तक कि उसका कलुषित भाव सिद्ध न हो—बदनीयती साबित न कर दी जाय। क्या सभाके पास ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण मौजूद है जिससे इन पत्रोंकी बदनीयती पाई जाय और यह साबित हो कि ये जान बूझकर गौरवको गौरव और अगौरवको अगौरव समझते हुए भी अमुक द्वेषभावसे जैनधर्मके गौरवको घटानेका उद्योग कर रहे हैं। यदि सभाके पास ऐसा कोई प्रमाण मौजूद नहीं है बल्कि वह सिर्फ इतना ही जानती है कि जिसे मैं गौरव, गौरव घटाना या गौरव घटानेका उद्योग समझती हूँ दूसरे भी उसको वैसा ही समझते होंगे, तो यह उसकी महामूर्खता और कोरी अनुभवशून्यता है।

हम पूछते हैं, बहुतसे जैनी भाई देवोंके आगमन, आकाशमें गमन और चँवरछत्रादि विभूतिको जिनेन्द्र भगवानके गौरवकी उनके अतिशय, चमत्कारकी चीज समझते हैं। परंतु श्रीसमन्तभद्राचार्य महावीर भगवानको लक्ष्य करके कहते हैं कि इन बातोंसे मेरे हृदयमें आपका कोई गौरव नहीं है—मैं इनके आधार पर आपको महान्—पूज्य—नहीं मानता, ये बातें तो मायावियों—इंद्रजालियोंमें भी पाई जाती हैं*। क्या सभा स्वामी समंतभद्रके इन उद्गारोंको जैनधर्म अथवा महावीर भगवानका गौरव घटानेवाले अथवा घटानेका उद्योग करनेवाले समझती है? यदि नहीं समझती, तो फिर किसी पत्रमें यदि इस प्रकारके विचारभेदको लिये हुए कोई लेख निकलें अथवा इन पत्रोंके कोई लेखक किसी बातको जैनधर्मके गौरवकी चीज न समझकर उसको वैसी ही अथवा गौरव घटानेवाली प्रतिपादन करें तो उससे सभा उत्तेजित क्यों होती है? क्या वह इतनेहीसे उनकी बदनीयती समझती है? उदाहरणके लिये हालमें 'स्वामी समन्तभद्रकी अद्भुत कथा' शीर्षक एक लेख सत्योदयमें प्रकाशित हुआ है। इस लेखमें लेखक बाबू सूरजभानजी वकीलने श्रीसमंतभद्राचार्यकी खुले दिलसे

---

* देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान्॥
—आप्तमीमांसा।

प्रशंसा की है और उन्हें भगवान्, अद्वितीय विद्वान्, न्यायविद्याके पारगामी, जैनधर्मको प्रकाश करनेवाले अद्वितीय सूर्य, इस कलिकालमें धर्मको परवादियोंसे बचानेवाले, जैनधर्मके स्तंभस्वरूप, आचार्योंमें भी उत्कृष्ट आचार्य इत्यादि विशेषणोंके साथ स्मरण करके उनके प्रति अपना बहुमान प्रदर्शित किया है । परंतु साथ ही आपकी कथा जोड़नेवाले ब्रह्मचारी नेमिदत्तकी बुद्धि पर दुःख प्रकाशित करते हुए यह भी जतलाया है कि यह कथा बिलकुल असम्बद्ध और बनावटी है, इससे भगवान् समंतभद्रका गौरव उलटा नष्ट होता है, इतना ही नहीं, बल्कि इससे जैनजाति और जैनधर्मकी कीर्तिमें भी बहुत बड़ा धब्बा लगता है । यद्यपि हम बाबू साहबके इस लेखसे बहुतसे अंशोंमें सहमत नहीं है और अवकाश मिलने पर उस पर कुछ लिखना भी चाहते हैं तो भी इतना जरूर कहेंगे कि इस लेखके लिखनेमें बाबू साहबका कोई बुरा भाव मालूम नहीं होता । क्या सभा इस लेखको जैनधर्म अथवा स्वामी समंतभद्रके गौरवको घटानेका उद्योग समझती है ? यदि ऐसा है तो कहना होगा कि यह सभाकी बड़ी भारी भूल है । नहीं मालूम एक साधारण ग्रंथकर्ताकी भूलें प्रकट करनेका जैनधर्मके गौरवसे क्या संबंध है, और उस लेखमें ऐसे कौनसे शब्द है, जिनसे जैनधर्म अथवा स्वामी समंतभद्रके प्रति लेखकका कोई बुरा भाव पाया जाय और जिससे उनके लेखको गौरव घटानेका उद्योग समझ लिया जाय ? उत्तर इसका कुछ भी नहीं हो सकता । हाँ, हम इतना जरूर कह सकते हैं कि लेखोंकी लेखनप्रणाली अच्छी नहीं है और उसमें कुछ ऐसी बातें भी हैं, जिनमें लेखकको भ्रम हुआ है । बल्कि सत्योदयके विषयमें हमारी शुरूसे यह धारणा है कि उसके अधिकांश लेखोंकी लेखनप्रणाली अच्छी नहीं होती । उससे साधारण जनता पर बुरा असर भी पड़ता है । इसी तरह जातिप्रबोधककी लेखनप्रणालीको भी हम अनेक अंशोंमें अच्छा नहीं समझते हैं, परंतु इतनेसे ही ये पत्र जैनकी कोटिसे निकलकर अजैन नहीं हो जाते । जैन शब्द एक बहुत व्यापक शब्द है । उसमें दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी और उनकी शाखा प्रतिशाखायें सभी शामिल हैं, सभा किस किसको अजैन करार देगी ? सभाका काम ज्यादासे ज्यादा इतना ही हो सकता था कि वह इन पत्रोंकी लेखनप्रणाली पर शोक प्रकाशित करती, खेद जतलाती, उन्हें अपनी चालढाल सुधारनेकी प्रेरणा करती । और उसके सदस्योंका यह कर्तव्य था कि उनके ज्ञानमें जो जो बातें स्पष्ट रूपसे जैनधर्मके विरुद्ध और उसके गौरवको घटानेवाली झलकी थीं उन्हें प्रमाणसहित विशद रूपसे सर्वसाधारण पर प्रकट करते, जिससे जनताका भ्रम दूर होता । परंतु ऐसा कुछ भी न करके सभाने जो यह प्रस्ताव पास किया है इससे उसकी अनधिकारचेष्टा पाई जाती है । एक साधारण और स्थानीय सभा होनेकी हैसियतसे सभाको इस प्रकारकी तजवीज देनेका कोई अधिकार नहीं था, और यह बात तो उसके अधिकारसे बिलकुल ही बाहर थी कि वह संपूर्ण जैनियों और जैन पंचायतियोंके नाम इस प्रकारकी आज्ञा जारी करे कि कोई भी जैनी अमुक अमुक पत्रोंको जैनपत्र न समझे, न तद्दृष्टिसे खरीदे और न पढ़े । उसका काम सम्मति प्रकाश करनेका था आज्ञा जारी करनेका नहीं ।

हमारी रायमें कलकत्ता जैनसभाने इस प्रस्तावको पास करके अपने हृदयकी संकीर्णता, अनुदारता, अदूरदृष्टता और नासमझीका ही परिचय नहीं दिया, बल्कि साथ ही विद्वानोंके प्रति अपनी धृष्टता भी प्रकट की है ।

सरसावा । ता० १६ मई सन् १९२०

मुक्तिके मार्ग ।

[अनु०—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी ।]

बहुत समयसे एक किम्वदन्ती चली आ रही है कि मनुष्यजातिके आदिम माता पिताने (आदम और हव्वाने) ज्ञानवृक्षके फल खाकर संसारमें पाप, दुःख और मृत्युको निमंत्रण दिया था ।

इस किम्वदन्तीमेंसे एक आध्यात्मिक तत्त्व निकाला जा सकता है । ज्ञानसे पापकी और तज्जात दुःखकी उत्पत्ति हुई है । अज्ञान अवस्थामें पाप नहीं है और तज्जात दुःख भी नहीं है। यह जगतका अन्यतम विभीषिकामय सत्य है ।

अन्य स्थानोंमें इससे सर्वथा विपरीत और एक तत्त्व प्रचलित है । जिस तरह ज्ञानसे दुःखकी उत्पत्ति मानना किसी किसी समाजके प्रचलित धर्मतत्त्वकी दीवार है, उसी प्रकार ज्ञानकी पूर्णता होनेसे दुःखका विनाश मानना, अन्य कई समाजोंके प्रचलित धर्मतत्त्वकी जड़ है।

यहाँ इस बातकी आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं है कि इनमेंसे कौनसी बात सत्य है पर यह स्वीकार किये बिना नहीं चल सकता कि दोनों बातोंके मूलमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य छुपा हुआ है ।

तब यह ऐतिहासिक सत्य है कि उक्त दो वाक्य मानवजातिके दो बड़े समाजोंको एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न दो मार्गों पर खींच ले गये हैं ।

जब ज्ञानसे दुःखकी उत्पत्ति हुई है, तब जान पड़ता है कि किसी न किसी तरहसे—योगयागसे—ज्ञानका नाश साधन कर सकनेसे ही दुःखसे रक्षा की जा सकती है । कमसे कम तर्कशास्त्रकी निर्दिष्ट युक्तियोंके बलसे इसी प्रकारके सिद्धान्त पर आना पड़ता है । परन्तु दुःखकी बात यह है कि जिस रसनाने एक बार ज्ञानवृक्षके फलका रसास्वादन कर लिया है उसे उस रसके खोजनेसे रोकना एक प्रकारसे असाध्य कार्य हो जाता है और इस लिए इस रोकनेकी चेष्टासे कुछ भी लाभ नहीं होता है। तो भी, जब दुःखनिवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है और उस परमपुरुषार्थके साधनका उपाय करना ही मानवजातिके गुरुओं और शिक्षकोंके जीवनका व्रत है, तब उन गुरुओं और शिक्षकोंने मानवोंके दुःख दूर करनेके लिए किस किस प्रकारके उपाय किये, यूरोपके लगभग डेढ़ हजार वर्षके इतिहासमें, वे खूनके अक्षरोंमें लिखे हुए हैं।

सभ्यताके प्रारंभिक कालमें, यूरोपमें यूनानने जो ज्ञानका दीपक जलाया था, वह कई सौ वर्षोंतक सारे पश्चिमी देशोंको आलोकित करता रहा था । पीछे, ईसाई मतका अभ्युदय होनेपर, राष्ट्रीय शक्ति और याजक शक्ति (पादरियोंकी शक्ति) ने एक होकर, किस प्रकारसे उस ज्ञानके दीपकको बुझाकर गंभीर अन्धकारकी सृष्टि की, सो इतिहासमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा हुआ है । कोई डेढ़ हजार वर्षतक ईसाई पादरियोंने किसीको भी किसी प्रकारका उजेला नहीं करने दिया * । यूरोपके ईसाई मतका केवल यही इतिहास है । उसने बड़ी ही निर्लज्जताके साथ अपनी सारी शक्ति इस दीवारकी

* ईसाई धर्मका इतिहास बड़ा ही भयंकर है। बाइबलमें जो कुछ लिखा हुआ है, उसके विरुद्ध कोई एक शब्द भी नहीं कह सकता था । यदि कोई विद्वान् कोई नई खोज करता था और वह बाइबलसे विरुद्ध होती थी, तो उसकी शामत आ जाती थी । गैलेलियोने जब यह सिद्धान्त प्रकाशित किया कि पृथ्वी चलती है और सूर्य स्थिर है, तब सारा ईसाई-संसार उसपर टूट पड़ा और उसको बड़े ही अमानुषिक कष्ट दिये गये ।

जड़को उखाड़ डालनेके लिए लगा रक्खी कि जिसके ऊपर प्रतिष्ठालाभ करके मनुष्य अपने महत्त्वको अव्याहत बनाये आ रहा है और अबतक प्रकृतिके निष्ठुर कवलसे अपनी रक्षा कर सका है।

इस विश्वासके कारण मनुष्य बहुत युगोंतक ठगा गया है कि जब ज्ञानसे दुःखकी उत्पत्ति हुई है तब ज्ञानका पथ रुद्ध कर देनेसे ही उस दुःखसे छुटकारा हो जायगा। जिन लोगोंने इस तरह अपनेको ठगाया है, वे पुकार पुकार कर कहते आ रहे हैं कि यदि दुःखसे मुक्त होना चाहते हो तो ज्ञानमार्गको छोड़कर अन्धविश्वासके मार्गका अवलम्बन करो, यदि तुम्हारी इच्छा परमपुरुषार्थ प्राप्त करनेकी है तो बुद्धिवृत्तिका निरोध करो, ज्ञानके अन्वेषणमें व्यर्थ समय मत खोओ; जविनके मार्गपर व्यक्तिविशेष + और वाक्यविशेषमें × विश्वास स्थापन करके, चलनेसे ही परमपुरुषार्थ प्राप्त होगा।

वास्तवमें देखा जाय तो मनुष्यके समान अभागा जीव संसारमें शायद ही कोई हो। मनुष्य क्षुद्र और दुर्बल है; और सदासे चले आये नियमके अनुसार जो क्षुद्र है वह अभागा है और जो दुर्बल है वह दीन है। वह अपनी असमर्थताके कारण दूसरोंके आगे कृपा-भिक्षाके लिए सदासे लालायित है और अपनी परमुखापेक्षिता (पराया मुँहताकनेकी आदत)के फलसे सदासे प्रतारित (ठगाया हुआ) है। मनुष्य प्रकृतिके द्वारा तरह तरहसे पीड़ित होकर दुःखकी यंत्रणासे 'हाय हाय' करता आ रहा है, इस लिए जब जब जिस किसी व्यक्तिने अपनी मूर्खता और निर्लज्जताके भरोसे अपनेको इस सनातन दुःखरोगका एक मात्र चिकित्सिक (वैद्य) प्रकट किया तब तब यह उसीके बहकानेमें भूल कर, उसके दिये हुए कुपथ्यका सेवन करके ठगा गया है।

यह ठीक है कि ज्ञानसे दुःखकी उत्पत्ति हुई है; परन्तु उस दुःखबन्धनसे छूटनेके लिए ज्ञानके प्रकाशको छोड़कर अज्ञानके अन्धकारमें प्रवेश करना होगा, इस प्रकारकी आज्ञा माननेके लिए तो कोई भी सुस्थ और मोहमुक्त मनुष्य सिर झुकाकर तैयार न होगा।

यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है कि सब देशोंकी सभी जातियोंने इस बातको स्वीकार नहीं किया कि ज्ञानके मार्गको छोड़कर दुःखनाशके उपायका अवलम्बन किया जाय। कमसे कम एक बड़े भारी समाजमें* यह मत ग्रहण किया गया है कि अपूर्ण ज्ञानसे जिसकी उत्पत्ति होती है, ज्ञानका पूर्ण विकास होना ही उसके नाशका एक मात्र उपाय है।

परन्तु, ज्ञानकी पूर्णता होने पर वास्तवमें दुःखकी निवृत्ति होना सम्भवपर है या नहीं, इसकी आलोचना अवश्य कर देखनी चाहिए। जहाँ तक देखा जाता है, ज्ञान तो यही पड़ता है कि ज्ञानके विकाशके साथ साथ दुःखकी मात्रा भी बढ़ती जाती है। इस प्रश्नका उत्तर देनेकी चेष्टायें अनेक प्रकारसे की गई हैं।

कोई कोई तो पृथिवीमें दुःखका आस्तित्व ही नहीं स्वीकार करना चाहते, मंगल (ईश्वर) के राज्यमें अमंगलका आस्तित्व स्वीकार करनेमें उन्हें संकोच होता है। किन्तु मनुष्यकी अनुभूतिका तीव्रतम और मुख्यतम विषय दुःख ही है; इसके अस्तित्वमें सन्देह करनेसे काम नहीं चल सकता। यहूदी 'जेकब' से लेकर हिन्दू 'रामप्रसाद' तक सबने ही एक स्वरसे इसे मान लिया है। पृथिवीपर अवतीर्ण होते ही मनु-

+ ईसा या मुहम्मद आदि धर्मप्रवर्तक।

× बाइबल या कुरान आदि धर्मग्रन्थ।

* भारतवर्षके ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि संप्रदायोंमें।

ष्यको पद पद पर जीवनकी प्रसारण-विरोधी सर्व-ग्रासी जडशक्ति और समाजशक्तिके साथ संग्राम करके आगे बढ़ना पड़ता है, यह नित्य-की घटना और प्रत्यक्ष व्यापार है। यही मनुष्यका जीवन है। इस संग्राममें जरा भी शिथिलता आई कि फिर जीवनरक्षा असाध्य हो जाती है। यहाँ तक कि सावधानता और वीरतासे युद्ध चलाते रहने पर भी जीवनरक्षा अन्त तक साध्य नहीं होती, यही तो जीवनकी विशिष्टता है। यह दूसरी बात है कि तुम उसका नाम दुःख मत रक्खो; वह भाषागत विवादका विषय है, परन्तु इससे हम जिसे दुःख नाम दे रहे हैं, उसका अभाव सिद्ध नहीं होता।

पर सभी लोग दुःखके आस्तित्वको अस्वीकार नहीं करते और इसकी उत्पत्तिके कारण भी और और बतलाते हैं।

जेरथोस्तके मतानुसार संसारमें दो प्रतिद्वन्द्वी विधाता प्रभुत्व कर रहे हैं, एकका कार्य है सुखविधान और दूसरेका दुःखविधान। अन्तमें जान पड़ता है सुखविधाताकी ही जय होती है, अतएव मनुष्यका कर्तव्य है कि वह सुखविधाताका ही आश्रय ग्रहण करे।

शेमेटिक जातियोंने भी संभवतः यही मत ग्रहण करके दो विधाताओंका—खुदा और शैतानका—अस्तित्व स्वीकार किया है। सुखविधाताका पराक्रम दुःखविधाताकी अपेक्षा सर्वतोभावसे अधिक है, यहाँतक कि यदि वे चाहते तो सारे दुःखोंका विलोप-साधन भी कर सकते। परन्तु उनकी आज्ञाकी अवहेलना ही इस अभागिनी मनुष्यजातिके प्रति उनके निदारुण क्रोधका कारण हो गई है, और मनुष्यको इसी क्रोधका फल निर्दिष्ट काल तक अपने पापके प्रायश्चित्तस्वरूप भोगना पड़ेगा। यही उनकी व्यवस्था और आदेश है। उनके प्रतिद्वन्द्वी दुःखविधाताके बहकानेसे मानवजातिके आदिम माता-पिता (आदम और हव्वा) ने उनकी आज्ञाकी अवहेला की थी, इसी लिए उनका मनुष्यजातिके ऊपर यह दुर्जय कोप है। आदिम माता-पिताके पापसे भविष्यत् वंशपरंपरा किस प्रकार दण्डनीय हो सकती है और परम दयालुताके साथ इस तीव्र प्रतिहिंसाप्रवृत्ति (बदलेकी इच्छा) का किसप्रकार सामञ्जस्य हो सकता है, इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। जान पड़ता है, यह खुदाका एक खयाल मात्र है, अथवा उसकी रहस्यमय जागतिक विधानावलियोंमेंसे एक रहस्यमय विधान मात्र है। कुछ भी हो; जब प्रतिद्वन्द्वी दुःखविधाता उनके प्यारे जगतमें झगड़ा मचाकर अनर्थघटित करनेमें समर्थ हुआ है, तब इसे सर्वशक्तिमानकी अदूरदृष्टिताका ही फल समझना पड़ता है। परन्तु वे इस अनर्थका प्रतिकार करनेमें समर्थ हैं और किसी समय इसका प्रतीकार कर भी देंगे, मनुष्य इसी भरोसे पर ढाढ़स बाँधे रहता है। उस सुखविधाताने मानवजातिके आदि दम्पती (जोड़े) को स्वाधीन इच्छाके साथ साथ असमर्थता प्रदान करके क्यों अपने प्रतिद्वन्द्वीकी ईर्ष्यावृत्तिको तृप्त करनेका सुयोग दिया, यह भी एक सोचने समझनेकी बात है।

वास्तवमें विधातामें करुणामयत्वका आरोप करके उसकी सृष्टिमें दुःखका अस्तित्व स्वीकार करनेसे बड़ा ही गोलमाल मच जाता है। इसी लिए इस दुःखकी नाना प्रकारकी व्याख्यायें करके दुःखके अस्तित्वको ढँक देने अथवा उड़ा देनेके लिए नाना प्रकारकी चेष्टायें की गई हैं।

१ पारसी-धर्मके प्रवर्तक जरतुष्ट्र या जरथोस्त।

१ खुदा और शैतानको माननेवाले सभी धर्म खुदा या ईश्वरको परमदयालु करुणासागर मानते हैं।

एक तरहकी व्याख्या और भी है। दुःखकी परिणति परम सुख है। यदि दुःखका अभाव होता तो सुखानुभूतिमें बाधा पड़ती, इस लिए अन्त तक सुखकी मात्रा बढ़ानेके लिए ही इस दुःखकी सृष्टि हुई है। अर्थात् अन्तमें परम सुखवर्द्धन ही दुःखसृष्टिका उद्देश्य है।

आजकल जो लोग अभिव्यक्तिवाद (विकाशवाद या उत्क्रान्तिवाद) की नीव पर दार्शनिक तत्त्वोंकी आलोचना करने बैठते हैं, वे भी इस प्रकारकी एक बात कह कर मानवजातिको आश्वस्त करने या ढाढस बँधानेकी चेष्टा किया करते हैं। अभिव्यक्तिवादका एक और नाम क्रमोन्नति है। अभिव्यक्तिके फलसे सुखकी उन्नति और दुःखका ह्रास क्रम क्रमसे होता जायगा। किन्तु जब मृत्युके समान महादुःखजनक व्यापार प्रत्येक मनुष्यके और सारे मानव कुलके सन्मुख हर समय उपस्थित रहता है और उस मृत्युके साथ अविराम युद्ध करना ही जीवोंका जीवन है, एवं मृत्युसे बचनेकी चेष्टामें ही जीवकी क्रमोन्नति या अभिव्यक्ति है, परन्तु मृत्युके हाथसे बचनेका कोई भी उपाय अब तक कोई भी जीव आविष्कार नहीं कर सका है, तब, अभिव्यक्तिका यह परिणाम देखते हुए, इस प्रकारसे, दुःखके अपलाप करनेकी चेष्टा निष्फल ही प्रतीत होती है।

फलतः जिस तरह यह सच है कि दुःखके साथ सुख आता है, अविमिश्र दुःख जगतमें नहीं है, उसी तरह यह भी सच है कि सुखके साथ दुःख आता है, अविमिश्र सुख जगतमें नहीं है। इसमें सन्देह करनेसे सत्यका अपलाप होता है।

ज्ञानकी वृद्धि दुःख नाश करनेका प्रयास मात्र है, बस यहीं तक निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है; किन्तु यह बात नहीं कही जा सकती कि ज्ञानकी वृद्धिसे दुःखका ह्रास होकर सुखका परिणाम बढ़ेगा।

इस बातकी यथार्थताके सम्बन्धमें चारों ओरसे संशय आकर उपस्थित हो जाते हैं कि ज्ञानकी पूर्णता होने पर दुःखसे छुटकारा हो जायगा। आश्चर्य नहीं जो मनुष्यजातिका पूर्वोक्त समाज (ईसाई आदि धर्मोंका माननेवाला) इसी कारणसे ज्ञानका मार्ग छोड़कर अतिशय निरुपाय होकर विश्वासका मार्ग अवलम्बन करनेका उपदेश देता हो। तुम कहते हो कि ज्ञानवृद्धिके साथ साथ दुःखकी उत्पत्ति हुई है और ज्ञानवृद्धिके साथ साथ उसकी मात्रा बढ़ती जाती है। ऐसी दशामें यह कैसे माना जा सकता है कि ज्ञानकी पूर्णता होने पर दुःखका नाश हो जायगा?

इस प्रश्नका कोई संगत उत्तर है या नहीं, यह तो हम नहीं जानते; परंतु एक इस प्रकारका उत्तर देनेकी चेष्टा की गई है:—

तुम जिसे ज्ञान कहते हो वह जगतके सम्पर्कसे ज्ञान है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इस ज्ञानके न रहने पर भी जगत् रहेगा। उस तथाकथित ज्ञानके अभावमें यदि जगतका अभाव माना जाय, तो फिर उस जगतके साथ उस ज्ञानका एक अविच्छेद्य सम्बन्ध खड़ा हो जाता है; एकके बिना दूसरेका अस्तित्व नहीं रहता। ज्ञानसे ही इस सुखदुःखमय जगतकी उत्पत्ति हुई है। इस जगतकी उत्पत्तिके साथ दुःखकी उत्पत्ति और सुखकी उत्पत्ति हुई है। सुख दुःख दोनों ही इस ज्ञाननामधारक भ्रान्तिसे उत्पन्न हुए हैं। दोनों ही एक तरहके विकारके फल हैं; एक ही विक्रियाके दो बाजू हैं। एक बाजूसे देखने पर जो सुख है, दूसरी बाजूसे देखनेसे वह दुःख है। यदि तुम विशुद्ध सुख चाहो, तो वह तुम्हें कहीं नहीं

मिलेगा; यदि विशुद्ध दुःख चाहो तो वह भी कहीं नहीं मिलेगा। एक कढ़ाहा (कटाह) एक तरफसे जैसे भीतरको धँसा हुआ और दूसरी तरफसे ऊपरको उठा हुआ होता है; 'धँसाहुआ-पन' मिटानेसे जैसे 'उठाहुआ-पन' चला जाता है और 'उठाहुआ-पन' मिटानेसे 'धँसाहुआ-पन' नहीं रहता है, और एकके मिटानेके साथ दोनोंके मिट जानेसे कढ़ाहेका कटाहत्व भी नहीं रहता है, उसी प्रकार इस जगतके दुःखभागको लोप करनेका प्रयत्न करनेसे सुखका भाग आप ही लोप हो जाता है, सुखभागको लोप करनेसे दुःखका भाग भी लुप्त हो जाता है और सुखदुःख दोनोंको लुप्त करनेसे सुखदुःखमय जगतका अस्तित्व नहीं रहता है। इस जगतमें सुख भी नहीं है, और सुख-दुःख भोगनेके लिए चेतन कोई नहीं है, उस अचेतन जगतका अस्तित्व अकल्पनीय है। ज्ञान नामक परिचित भ्रान्तिसे इसकी उत्पत्ति है और वह भ्रान्ति जबतक वर्तमान रहेगी तबतक सुखदुःखपरिहारकी चेष्टा व्यर्थ है।

ज्ञान नामसे परिचित इस भ्रान्तिका नाश करना कुछ असाध्य नहीं है। परन्तु उसके लुप्त होने पर जिस तरह दुःख नहीं रहेगा, उसी तरह सुख भी नहीं रहेगा और तब यह जो प्रत्यक्षगोचर सुखदुःखका आश्रय जगत् है, उसका भी अस्तित्व विलुप्त हो जायगा।

दुःखसे मुक्त होना मनुष्यके लिए वाञ्छनीय हो सकता है, इसमें कोई हर्ज नहीं है; परन्तु दुःखके बदले, दुःखको दूर करके उसके स्थानमें सुखप्रतिष्ठाकी आशा रखना बड़ी भारी मूर्खता है। अत एव मुक्तिका अर्थ केवल दुःखसे ही मुक्त होना नहीं है, वह सुखसे भी मुक्त होना है, भ्रान्तिके जालसे मुक्त होना है, और जगतके बन्धनसे मुक्त होना है। इस तरह सुखदुःख-विनिर्मुक्त होकर रहना यदि कल्पनीय हो, तभी परम पुरुषार्थ साधित होगा।

एक समय भारतवर्षमें इसी प्रकारका मुक्ति-तत्त्व प्रचारित हुआ था। इस मुक्तिवादने भारतवर्षके जनसमाजको गठित, नियमित और चालित किया था। अब तक भी यहाँके जनसमाजकी अस्थि-मज्जाओंमें यह मत गूढ़भावसे निहित रह कर उसे जीवनके पथमें प्रेरित कर रहा है। हम यह नहीं कहते कि अन्य देशोंमें और अन्य समाजोंमें इस मतकी क्षीण ध्वनि भी नहीं सुनी गई है। किन्तु अन्य देशोंमें यह मत मानवजीवनकी गतिका नियामक हुआ है, या मनुष्यके गन्तव्य मार्गमें इसने कोई विशेष अनुकूलता उत्पन्न कर दी है, यह इतिहासमें नहीं लिखा। यह मत विचारसह है या नहीं, यह पथ सुपथ है या नहीं, इन बातोंका विचार करना इस लेखका आलोच्य विषय नहीं है।*

नोटः—यद्यपि हम इस लेखके विचारोंसे सर्वथा सहमत नहीं हैं तो भी अपने पाठकोंको विभिन्न विचारोंका परिचय कराने और विज्ञ पाठकोंको उनपर विचार करनेका अवसर देनेके लिये इसे प्रकाशित किये देते हैं। —सम्पादक।

---

* स्वर्गीय पं० रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी एम० ए० के बंगलालेखका अनुवाद।

श्रीहरिषेणकृत कथाकोश।

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी।]

दिगम्बर और श्वेताम्बरसम्प्रदायके विद्वानों द्वारा अनेक कथाकोश रचे गये हैं, परंतु अभी तक जितने कथाकोश उपलब्ध हुए हैं, वे अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं—ग्यारहवीं शताब्दीके पहलेका अभी तक कोई कथाकोश प्राप्त नहीं हुआ है। इस लेखमें हम जिस कथाकोशका परिचय देना चाहते हैं वह शक संवत् ८५३, विक्रम संवत् ९८९ और खर नामक वर्तमान संवत्के २४ वें वर्षका बना हुआ है और इस लिए इस समय हम उसे सबसे प्राचीन जैन-कथाकोश कह सकते हैं।

इस कथाकोशकी एक प्रति पूनेके "भाण्डारकर–प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर" में मौजूद है जो वि० सं० १८६८ की लिखी हुई है। यह जयपुरके गोधाजीके मन्दिरमें लिखी गई थी और संभवतः वहींसे गवर्नमेण्टके लिए खरीदी गई है। इसकी श्लोकसंख्या १२५००, पत्रसंख्या ३५० और कथासंख्या १५७ है। प्रायः सारा ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्दोंमें रचा गया है। रचना बहुत प्रौढ और सुन्दर तो नहीं है; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके अन्य कथाकोशोंसे अच्छी है।

इसके कर्ता हरिषेण नामक आचार्य हैं जो अपनी गुरुपरम्परा इस भांति बतलाते हैं—१ मौनि भट्टारक, २ श्रीहरिषेण, ३ भरतसेन और ४ हरिषेण। हरिषेण पुन्नाट संघके आचार्य थे। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदायके अनेक आचार्योंने इस संघको पांच जैनाभासोंमें[1] एक बतलाया है; परन्तु फिर भी यह दिगम्बर सम्प्रदायका ही भेद था। यह द्राविडसंघका नामान्तर जान पड़ता है। द्रविडदेशीय होनेके कारण इसका द्रविडसंघ नाम हुआ है। पुन्नाट भी संभवतः द्रविड देशका ही नामान्तर है। इस कथाकोशमें ही भद्रबाहु-कथानकमें लिखा है:—

> अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः।
> दक्षिणापथदेशस्थपुन्नाटविषयं ययौ ॥ ४० ॥

इससे सिद्ध है कि पुन्नाट दक्षिणापथका ही एक देश है और उसे द्रविडदेश मानना कुछ असंगत नहीं हो सकता। उस समय शायद कर्नाटक देश भी द्रविडदेशमें गिना जाता था। इस संघका एक और नाम द्रविडसंघ भी है। न्यायविनिश्चयालंकार और पार्श्वनाथचरित आदिके कर्ता सुप्रसिद्ध तार्किक वादिराजने अपनेको द्रविडसंघीय लिखा है। द्रविडदेशको द्रमिलदेश भी कहते हैं।

सुप्रसिद्ध हरिवंशपुराणके कर्ता प्रथम जिनसेन भी इसी पुन्नाट संघके आचार्य थे:—

> "व्युत्सृष्टापरसंघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये—"
>
> हरिवंश-प्रशस्ति।

यह कथाकोश भी उसी वर्द्धमाननगरमें बनाया गया है जहाँ कि जिनसेनसूरिने हरिवंश-पुराणकी रचना की थी। और जब कि जिनसेन पुन्नाट संघके ही आचार्य हैं तब संभव है कि हरिषेण आचार्य जिनसेनकी ही शिष्यपरम्परामें हों। यदि मौनिभट्टारककी गुरुपरम्पराका पता लग जाय तो इस बातका निर्णय सहज ही हो जाय।

वर्द्धमानपुर कर्नाटक देशका ही कोई प्रसिद्ध नगर है। मालूम नहीं, इस समय वह किस नामसे प्रसिद्ध है। जिनसेनसूरि लिखते हैं:—

---

१ मेरे द्वारा सम्पादित और जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'दर्शनसार' में जैनाभासोंका विस्तृत विवेचन देखिए।

१ दक्खिणमहुराजादो द्राविडसंघो महामोहो ॥ ९८ ॥ देवसेन।

२ आपटेकी संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरीमें पुन्नाटका अर्थ 'कर्नाटक देश' लिखा है।

"कल्याणैः परिवर्द्धमानविपुलश्रीवर्द्धमाने पुरे,
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः ××"

इसी प्रकार इस कथाकोशके कर्ता लिखते हैं:-
"जैनालयव्रातविराजितांते चन्द्रावदातद्युतिसौधजाले।
कार्तस्वरापूर्णजनाधिवासे श्रीवर्द्धमानाख्यपुरे ××× ॥"

इससे जान पड़ता है कि उस समय यह नगर बहुत समृद्धिशाली था और अनेक जैन-मन्दिरोंसे सुशोभित था। वहाँके नन्नराजके बनाये हुए पार्श्वनाथालय नामक जैनमन्दिरका-जहाँ कि हरिवंशपुराण समाप्त हुआ था-और भी कई ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलता है।

यह ग्रन्थ विनयपाल नामक राजाके समयमें लिखा गया है। ग्रन्थप्रशस्तिसे यह मालूम नहीं होता है कि विनयपालकी राजधानी कहाँ थी। संभवतः वह वर्धमानपुरमें ही होगी। हम इस बातका पता नहीं लगा सके कि विनयपाल किस वंशका राजा था; परन्तु संभवतः वह राष्ट्रकूट राजाओंका माण्डलिक होगा और चतुर्थ गोविन्द या सुवर्णवर्षका समकालीन होगा जिसने शक संवत् ८५६ तक राज्य किया था।

यह कथाकोश किसी 'आराधना' नामक ग्रन्थसे उद्धृत करके सारांश रूपमें या उसके सहारेसे लिखा गया है, यह बात प्रशस्तिके आठवें श्लोकके 'आराधनोद्धृतः' पदसे मालूम होती है। ऐसी दशामें कहना होगा कि इस ग्रन्थकी कथायें अधिक नहीं तो हरिषेणके समयसे सौ दो सौ वर्ष पहलेकी अवश्य होंगी।

दिगम्बर सम्प्रदायमें 'आराधना-कथाकोश' नामके दो संस्कृत कथाकोश और भी हैं। इनमेंसे एक प्रभाचन्द्र भट्टारकका बनाया हुआ गद्यमें है और दूसरा मल्लिभूषणके शिष्य नेमिदत्त ब्रह्मचारीका पद्यमें है। यह दूसरा प्रथमका पद्यानुवाद मात्र है।[1] ये दोनों कथाकोश इस कथाकोशकी अपेक्षा छोटे हैं, इसीलिए जान पड़ता है कि इसकी प्रति लिखनेवालेने इसके नामके साथ बृहत् विशेषण लगा दिया है। ग्रंथकर्ताने स्वयं इसे 'कथाकोश' ही लिखा है।

हमको इस कथाकोशकी सब कथायें पढ़नेका अवसर नहीं मिला। हैं भी वे बहुत मामूली और विशेषत्वहीन। कुछ कथायें ऐतिहासिक पुरुषोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं, जैसे चाणक्य, शकटाल, और भद्रबाहु; परन्तु वे भी वास्तविक इतिहाससे कम सम्बन्ध रखती हैं-केवल जैनधर्मकी महिमा बढ़ानेके उद्देश्यसे लिखी गई हैं।

इसमें भद्रबाहुकी जो कथा लिखी गई है उसमें दो बातें बड़ी विलक्षण हैं और पुरातत्त्वज्ञोंके ध्यानमें रहने योग्य हैं। एक तो यह कि, भद्रबाहुने १२ वर्षका घोर दुर्भिक्ष पड़नेका निश्चय करके अपने शिष्योंको ही दक्षिणापथ तथा सिन्ध्वादि देशोंको भेज दिया था, पर वे स्वयं उज्जयिनीमें रहे और कुछ दिनोंमें उज्जयिनीके निकट भाद्रपद-(भेलसा?) नामक स्थानमें स्वर्गवासी हो गये[2]। दूसरे, उज्जयिनीके राजा चन्द्रगुप्तने भद्रबाहुके समीप दीक्षा ले ली थी और वे ही पीछे विशाखाचार्यके नामसे

१-नेमिदत्त ब्रह्मचारी वि० सं० १५७५ के लगभग हुए हैं।

१-देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन तेन प्रभाचन्द्रमुनीश्वरेण।
अनुग्रहार्थं रचितं सुवाक्यैराराधनासारकथाप्रबन्धः॥६॥
तेन क्रमेणैव मया स्वशक्त्या श्लोकैः प्रसिद्धैश्च निगद्यते सः। मार्गे न किं भानुकरप्रकाशे स्वलीलया गच्छति सर्वलोकः॥ ७॥   -नेमिदत्तकृत कथाकोश।

२-भद्रबाहुमुनीर्धीरो भयसप्तकवर्जितः।
पपाक्षुधाश्रमं तीव्रं जिगाय सहसोत्थितम्॥ ४२॥
प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयिनीभवम्।
चकारानशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम्॥ ४३॥
आराधनां समाराध्य विधिना स चतुर्विधाम्।
समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ॥ ४४॥

प्रसिद्ध हुए थे[1]। वे भद्रबाहुके समीप न रह कर दक्षिणापथको चले गये थे। अन्य कई कथाओंके और शिलालेखोंके अनुसार भद्रबाहु आचार्य भी दक्षिणापथको गये थे और उनका स्वर्गवास श्रवणबेलगोलके चन्द्रगिरि पर्वतपर हुआ था, तथा उनके साथ चन्द्रगुप्त भी गये थे और उनका दूसरा नाम विशाखाचार्य नहीं किन्तु प्रभाचंद्र था[2]। विशाखाचार्य नामके आचार्य उस संघमें दूसरे ही थे। इन कथाओं और शिलालेखोंके आधारसे ही सम्राट् चन्द्रगुप्तके जैन होनेकी सारी दीवाल खड़ी की गई है और स्वर्गीय विन्सेंट स्मिथ जैसे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ भी चन्द्रगुप्तका जैन होना 'संभवनीय' बतला गये हैं। जिन शिलालेखोंसे और कथाओंसे चन्द्रगुप्तका जैनत्व सिद्ध करनेका प्रयत्न किया जाता है, इसमें सन्देह ही है कि उनमेंसे कोई भी इस कथाकोशसे प्राचीन हो। हम आशा करते हैं कि इतिहासज्ञ इस विषयपर विशेष विचार करनेकी कृपा करेंगे।

इस कथाकोशमें समन्तभद्र, अकलंकदेव और पात्रकेसरी (विद्यानंद) की कथायें नहीं हैं; जो अवश्य होनी चाहिए थीं। क्यों कि इसके कर्ता उक्त समन्तभद्रादि आचार्योंके देशके ही थे और अकलंकदेव पात्रकेसरीसे थोड़े ही समय बाद हुए थे। प्रभाचन्द्र और नेमिदत्तके कथाकोशोंमें ही सबसे पहले उक्त कथायें दिखलाई देती हैं, जिससे संदेह होता है कि उनकी रचना किम्वदन्तियों या प्रचलित प्रवादोंके अनुसार स्वयं उक्त कथाकोशकारों द्वारा ही की गई है।

अन्तमें हरिषेणके कथाकोशके प्रारंभका मंगलाचरण और अन्तकी प्रशस्ति देकर हम इस लेखको समाप्त करते हैं:—

ओं नमो वीतरागाय।

श्रियं परां प्राप्तमनन्तबोधं मुनीन्द्रदेवेन्द्रनरेन्द्रवन्द्यम्।
निरस्तकन्दर्प्पगजेन्द्रदर्प्पं नमाम्यहं वीरजिनं पवित्रम्॥ १

विघ्नो न जायते नूनं न क्षुद्रामरलंघनम्।
न भयं भव्यसत्त्वानां जिनमंगलकारिणाम्॥ २

जि (ज) नस्य सर्वस्य कृतानुरागं
विपश्चितां कर्णरसायनं च।
समासतः साधुमनोभिरामं
परं कथाकोशमहं प्रवक्ष्ये॥ ३

अन्तमें ग्रंथकर्ता ग्रन्थके अमर होनेकी इच्छा करते हुए अपना परिचय इस प्रकार देते हैं—

यावच्चन्द्रो रविः स्वर्गो यावत्सलिलराशयः।
यावद्व्योम नगाधीशो यावद्गंगादिनिम्नगाः॥ १
यावत्तारा धरा यावद्रामरावणयोः कथा।
तावद्बालकथाकोशः तिष्ठतु क्षितिमण्डले॥ २
युगलमिदम्।

यो बोधको भव्यकुमुद्वतीनां निःशेषराद्धान्तवचोमयूखैः।
पुन्नाटसंघांबरसन्निवासी श्रीमौनिभट्टारकपूर्णचन्द्रः॥ ३
जैनालयव्रातविराजितान्ते चन्द्रावदातद्युतिसौधजाले।
कार्तस्वरापूर्णजनाधिवासे श्रीवर्धमानाख्यपुरे वसन्सः॥ ४
युगलमिदम्।

सारागमाहितमतिर्विदुषां प्रपूज्यो
नानातपोविधिविधानकरो विनेयः।
तस्याभवद्गुणनिधिर्जनताभिवंद्यः
श्रीशब्दपूर्वपदको हरिषेणसंज्ञः॥ ५

छन्दोलंकृतिकाव्यनाटकचणः काव्यस्य कर्ता सतो,
वेत्ता व्याकरणस्य तर्कनिपुणस्तत्त्वार्थवेदी परं।
नानाशास्त्रविचक्षणो बुधगणैः सेव्यो विशुद्धाशयः,
सेनान्तो भरतादिरत्र परमः शिष्यः बभूव क्षितौ॥ ६

1—भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।
अस्यैव योगिनं पार्श्वे दधौ जैनेश्वरं तपः॥ ३८॥
चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम्।
सर्वसंघाधिपो जातो विशाखाचार्यसंज्ञकः॥ ३९॥
अनेन सह संघोपि समस्तो गुरुवाक्यतः।
दक्षिणापथदेशस्थपुन्नाटविषयं ययौ॥ ४०॥

2—इसके लिये देखो जैनसिद्धान्तभास्कर किरण १-२-३, वर्ष १।

१ दुर्बलस्य वा पाठः।

लक्षणलक्षविधानविहीनः छन्दसापि रहितः प्रमया च ।
तस्य शुभ्रयशसो हि विनेयः संबभूव विनयी हरिषेणः ॥ ७

आराधनोध्दृतः पथ्यो भव्यानां भावितात्मनाम् ।
हरिषेणकृतो भाति कथाकोशो महीतले ॥ ८

हीनाधिकं चारुकथाप्रबन्धाख्यातं यदस्माभिरतिप्रमुग्धैः ।
मात्सर्यहीनाः कवयो धरण्यां तत्शोधयन्तु स्फुटमादरेण॥९

भद्रं भूयाज्जिनानां निरुपमयशसां शासनाय प्रकामं,
जैनो धर्मोपि जीयाज्जगति हिततमो देहभाजां समस्तं ।
राजानोऽवन्तु लोकं सकलमतितरां चाखतोऽनुकूलः,
सर्वे शाम्यन्तु सत्त्वाः जिनवरवृषभाः सन्तु मोक्षप्रदा नः॥

नवाष्टनवकेष्वेषु स्थानेषु त्रिषु जायतः ।
विक्रमादित्यकालस्य परिमाणमिदं स्फुटम्॥ ११

शतेष्वष्टसु विस्पष्टं पंचाशत् त्र्यधिकेषु च ।
शककालस्य सत्यस्य परिमाणमिदं भवेत् ॥ १२

संवत्सरे चतुर्विंशे वर्तमाने खराभिधे ।
विनयादिकपालस्य राज्ये शक्रोपमानके ॥ १३

एवं यथाक्रमोक्तेषु कालराज्येषु सत्सु कौ ।
कथाकोशः कृतोऽस्माभिर्भव्यानां हितकाम्यया ॥ ११

कथाकोशोऽयमीदक्षो भव्यानां मलनाशनः ।
पठतां श्रृण्वतां नित्यं व्याख्यातॄणां च सर्वदा ॥ १६

सहस्रैर्द्वादशैर्बद्धो नूनं पंचशतान्वितैः ।
जिनधर्मश्रुतोद्युक्तैरस्माभिर्मतिवर्जितैः ॥ १७

संवत् १८६८ का मासोत्तममासे जेठमास शुक्लपक्ष चतुर्थ्यां तिथौ सूर्यवारे श्रीमूलसंघे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकजी श्रीमहेन्द्रकीर्तिजी तत्पट्टे भट्टारकजी श्रीक्षेमेन्द्रकीर्तिजी तत्पट्टे भट्टारकजी श्रीसुरेन्द्रकीर्तिजी तत्पट्टे भट्टारकशिरोमणी भट्टारकजी श्रीसुखेन्द्रकीर्तिजी तदाम्नाये सवाई जयनगरे श्रीमन्नेमिनाथचैत्यालये गोधाख्यमान्दिरे पंडितोत्तमपंडितजी श्रीसंतोषरामजी तत्सिख्यपंडित वषतरामजी ताच्छिष्य हरिवंशदासजी तत्सिष्य कृष्णचन्द्रः तेषां मध्ये वषतरामकृष्णचंद्राभ्यां ज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं बृहदाराधनाकथाकोशाख्यं ग्रन्थं स्वाशयेन लिषितं श्रोतृवक्तृजनानामिदं शास्त्रं मंगलं भवतु । ”

वेश्यानृत्य-स्तोत्र ।

वेश्यानृत्य नमस्तुभ्यं स्वार्थचिन्ताविघातिने ।
लज्जां पापादिभीतीश्च हित्वा स्वातंत्र्यदायिने ॥

हे वेश्यानृत्य ! ऐ रंडीके नाच ! ! तुझे नमस्कार हो, प्रणाम हो, हम तेरे आगे ढाई हाथ जोड़ते हैं ! संसारके अधिकांश मनुष्य स्वार्थमें फँसकर पतित हो रहे हैं, स्वार्थी और खुदगर्ज जैसे बुरे नामोंसे पुकारे जाते हैं; परन्तु जो लोग तेरी शरणागत हैं वे इस कलंकसे मुक्त हैं ! तू अपने भक्तोंकी स्वार्थचिन्ताको ही दूर कर देता है—तेरे उपासकोंको कमाने खाने तककी फिकर नहीं रहती, फिर लिखने पढ़ने और गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा आदिकी बात तो कौन कहे ! वे अर्थकी तो क्या धर्म पुरुषार्थकी भी कुछ पर्वाह नहीं करते ! ऐसी निश्चिन्तावस्था जिसके द्वारा साध्य हो वह क्या स्तुतिका पात्र नहीं है ? अवश्य ही स्तुतिके योग्य है ! महाशय ! आपके प्रतापसे, आपके संसर्ग अथवा सत्संगसे भक्तजनोंकी गति सहजहीमें वेश्या महादेवी तक हो जाती है और वे उस रूपेन्धनसे प्रज्वलित कामज्वालामें बड़ी खुशीके साथ अपने धन, धर्म और यौवन सभीका स्वाहा कर डालते हैं, यह कितना बड़ा स्वार्थत्याग है ! सच पूछिये तो त्यागभावकी शिक्षा आपके ही द्वारा प्रारंभ होती है। आपकी प्रेरणासे कभी कभी मनुष्य इतने निर्मोही हो जाते हैं कि वे अपनी सर्वांगसुन्दर, सच्चरित्र और शीलसम्पन्न गृहदेवियोंका भी त्याग कर देते हैं ! वेश्या महादेवीका सामीप्य प्राप्त होने पर भक्तजनोंके क्रोध, मान, माया और लोभ शान्त हो जाते हैं—उन पर चाहे कितनी भी गालिवर्षा हुआ करे,

ज़ूतियोंकी मार तक पड़े परंतु वे चूँ तक नहीं करते। उन्हें क्रोध नहीं आता और न वे उसके द्वारा अपना कुछ अपमान ही समझते हैं। खुशीके साथ सब कुछ सहन करते हुए खुले हाथों अपना द्रव्य लुटाते हैं। मायाचार किये उनसे नहीं बनता और न लोभी मनुष्यको उक्त महादेवीका सामीप्य ही प्राप्त होता है। इस तरह जब आपकी बदौलत चारों कषायें ही शांत हो जाती हैं तब स्वार्थचिन्ता कैसे रह सकती है? फिर तो मुक्तिका सर्टिफिकेट मिला ही समझिये; चाहे वह मुक्ति हो अपने कुटंब परिवारसे, कार्यव्यवहारसे, धनधान्यसे, धर्माचरणसे, इज्जत आबरूसे, शरीर मनसे और या जीवनोपायकी चिन्ताओंसे। गरज है मुक्ति, और वह मुक्ति आपके दर्शनोंसे सहज साध्य हो जाती है। इस लिये आपको हमारा दंडवत् है। महात्मन्! वास्तवमें आपकी महिमा अपरंपार है। आपकी छत्र-छायामें रह कर मनुष्य बहुत कुछ स्वच्छंद हो जाता है, उसके बंधन टूट जाते हैं, वह स्वतंत्र बन जाता है, लोकलाजका भूत फिर उसे नहीं सताता और न गुरुजनोंकी ही उसे कुछ पर्वाह रहती है। आपके अखाड़ेमें बाप-बेटा, बाबा-पोता, चचा-भतीजा, श्वशुर-जँवाई और मामा-भानजा सभी एक स्थान पर बैठे हुए, विना किसी संकोचके, बड़ी खुशीके साथ उक्त महादेवीकी आराधना किया करते हैं, वह देवी उस समय सभीके विनोद और विलासकी चीज होती है, सभी उसको एक नजरसे देखते हैं और उसे अपनी प्राणवल्लभा बनानेकी चेष्टा किया करते हैं। वहाँ लज्जाका नाम नहीं और न शरमका कुछ काम होता है। संसारमें लोकलाजका बड़ा भारी बंधन है, सैकड़ों अच्छे बुरे काम इसकी वजहसे रुके रहते हैं, गृहस्थोंको परम दिगम्बर मुनिमुद्रा धारण करनेमें भी यही बाधक होती है; सो श्रीमन्, इसका विजय आपके प्रतापसे बातकी बातमें हो जाता है, आपके अनुग्रहसे भक्तजनोंका यह बंधन शीघ्र टूट जाता है और उनका आत्मबल फिर इतना बढ़ जाता है कि उन्हें एक व्यभिचारिणी, पापप्रचारिणी और मद्य-मांस तथा व्यभिचारादिके सेवनका उपदेश देनेवाली विलासिनी स्त्रीके द्वारतक पहुँचने, दर्वाज़ा खटखटाने और उसकी चरणसेवाको अपना अहोभाग्य समझनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता और न कोई प्रकारका भय रहता है। यह कितना बड़ा स्वात्मलाभ है! कभी कभी स्त्रियाँ भी आपके प्रसादसे पार उतर जाती हैं— बन्धमुक्त हो जाती हैं—उन्हें विवाहादिके अवसरोंपर जब आपके दर्शनोंका शुभ सौभाग्य प्राप्त होता है तब वे आपकी अधिष्ठात्री देवताकी बेहद भक्तिपूजाको देखकर, यह देखकर गद्गद हो जाती हैं, कि अच्छे अच्छे सेठ-साहूकार और धनकुबेर भी सामने हाथ बाँधे खड़े अथवा बैठे हैं, उसकी तानमें हैरान व परेशान हैं, भेट तथा नजरें चढ़ा रहे हैं और इस बातकी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब वह देवी एक प्रेमभरी नजरसे उनकी ओर देखती है या कमसे कम अपनी मधुर मुसकराहटसे उन्हें पवित्र बनाती है। इस दृश्यसे वे स्त्रियाँ जो हमेशा घरकी चार दीवारियोंमें बंद रहती हैं, चौका चूल्हा करती हैं, रसोई बनाती हैं, बर्तन माँजती हैं, संतानका पालन करती हैं और कुटुंबी जनोंकी दूसरी अनेक प्रकारकी सेवाशुश्रूषाओंमें लगी रहती हैं

परंतु फिर भी तिरस्कार पाती हैं अपनेको धिक्कारती हैं—अपने इस दासत्वमय जीवनकी निन्दा करती हैं—और उस महाभाग्यशालिनी देवीके जीवनकी सराहना करती हुईं, उसे धन्य कहती हुईं और यह समझती हुईं कि पुरुषोंको ऐसी स्त्रियाँ पसंद आती हैं, आप भी तद्रूप होनेकी भावना करती हैं! बहुतसी स्त्रियोंकी व्यभिचारसे घृणा उठ जाती है! और किसी किसीका लज्जाबंधन तो यहाँतक टूट जाता है कि वे परपुरुषके साथ घरके जेलखानेसे निकल भागती हैं और इसतरह अपनेको स्वच्छंदचारिणी बना लेती हैं! महोदय! यह सब आपकी ही करामात है! आपके कृपाकटाक्षसे भक्तजन उन पंच पापोंका जरा भी भय नहीं करते जिनसे अच्छे अच्छे महात्मा तथा योगिजन डरते और घबराते हैं। वे वेश्या महादेवीकी आराधनाके लिये सब कुछ पापाचरण करनेको तय्यार रहते हैं। उसे मांस चढ़ाते हैं, शराबकी बोतलें पिलाते हैं; उसके कारण झूठ बोलते हैं, चोरीतक करते हैं, जेवर कपड़ा छीनकर या अन्य प्रकारसे अपनी स्त्रीको सताते हैं, और यह बात तो सब जानते हैं कि उक्त महादेवीको जो कुछ भेट पूजा चढ़ाई जाती है उससे वह गौ आदिकी कुर्बानी जरूर करती है परंतु फिर भी भक्तजन उसके चरणोंमें बराबर द्रव्य अर्पण किये जाते हैं और इस बातकी जरा भी पर्वाह नहीं करते कि उसके द्वारा कितने गोवंशका नाश होगा और कितने मूक पशुओंकी जानें जायँगी। यह कितनी बड़ी निर्भीकता है! भला जो लोग इतने कायर हैं कि पापोंसे ही डरते हैं वे इस संसारसमुद्रसे कैसे पार उतर सकते हैं? पार वे ही उतर सकते हैं जो पापोंकी जरा भी पर्वाह नहीं करते और न उनसे कुछ भय खाते हैं! प्रत्युत, पापियोंको उनके पापाचरणमें बराबर सहायता प्रदान करते रहते हैं! महानुभाव! यह अभया दशा और यह निर्भय पदकी प्राप्ति आपके ही द्वारा साध्य होती है! आपके प्रसादसे गुरुजनोंका, पञ्च-पंचायतका, और राज्यका भी कोई भय नहीं रहता! आप लज्जा तथा पापादिजन्य भयोंको दूर करके स्वतंत्रता प्रदान करनेवाले हैं। भले ही आपके कारण मनुष्य घरका या घाटका न रहे परंतु वह स्वतंत्र जरूर हो जाता है। स्वतंत्रता संसारमें बड़ी ही स्पृहणीय वस्तु है। सारा संसार उसके पीछे मारा मारा फिरता है। हर एक यही चाहता है कि मैं स्वतंत्र अथवा स्वाधीन बन जाऊँ; और यह बात है भी अच्छी। क्यों कि परतंत्रता अथवा पराधीनतामें दुःख ही दुःख भरा हुआ है। कहा भी है—"पराधीन सुपने सुख नाहीं।" जब स्वतंत्रता जैसी अच्छी वस्तु ही आपकी बदौलत प्राप्त होती है फिर आपके बराबर उपास्य और कौन हो सकता है?

महाभाग्य! इस तरह आप स्वार्थचिन्ताओंका नाश करनेवाले और लज्जा तथा पापादिजन्य भीतियोंको दूर करके स्वतंत्रता प्रदान करनेवाले हैं। अतः आपको हमारा साष्टांग प्रणाम है! आप हमारे ऊपर दूरसे ही कृपादृष्टि रक्खें और हमेशा हमें ऐसी बुद्धि प्रदान करते रहें जिससे हम आपको इसी प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा याद करते रहें।

साधु–विवेक ।

(ले०—ला० दलीपसिंहजी कागजी, देहली ।)

असाधु ।

वस्त्र रँगाते, मन न रँगाते, कपटजाल नित रचते हैं;
'हाथसुमरनी पेट कतरनी,' पर-धन-वनिता तकते हैं ।
आपापरकी खबर नहीं, परमार्थिक बातें करते हैं;
ऐसे ठगिया साधु जगतमें, गली गलीमें फिरते हैं ॥ १ ॥

साधु ।

राग, द्वेष जिनके नहिं मनमें, प्रायः विपिन विचरते हैं;
क्रोध, मान, मायादिक तजकर, पंचमहाव्रत धरते हैं ।
ज्ञान–ध्यानमें लीनचित्त, विषयोंमें नहीं भटकते हैं;
वे हैं साधु; पुनीत, हितैषी, तारक जो खुद तरते हैं ॥ २ ॥

स्वदेश-सन्देश ।

(ले०—श्रीयुत भगवन्त गणपति गोयलीय ।)

महावीरके अनुयायी प्रिय पुत्र हमारे—
श्वेताम्बर, ढूँढिया, दिगम्बर-पंथी सारे ।
उठो सबेरा हो गया, दो निद्राको त्याग;
कुक्कुट बाँग लगा चुका, लगा बोलने काग ।
अँधेरा गत हुआ ॥

(२)

उदयाचलपर बाल-सूर्यकी लाली छाई;
उषा सुन्दरी अहो, जगाने तुमको आई ।
मन्द मन्द बहने लगा, प्रातः मलय समीर;
सभी जातियाँ हैं खड़ीं, उन्नति-नदके तीर ।
लगाने डुबकियाँ ॥

(३)

उठो उठो, इस तरह कहाँ तक पड़े रहोगे;
कुटिल कालकी कड़ी धमकियाँ अरे ! सहोगे ।
मेरे प्यारो ! सिंहसे, बनो न कायर स्यार;
तन्द्रामय-जीवन बिता, बनो न भारत-भार ।
शीघ्र शय्या तजो ॥

(४)

मत इसकी परवाह करो क्या कौन कहेगा;
तथा सहायक कौन, हमारे संग रहेगा।
क्या चिन्ता तुम हो वही, जिसकी शक्ति अनन्त;
जिसका आदि मिला नहीं, और न होगा अन्त।
अटल सिद्धान्त है॥

(५)

यद्यपि कुछ कुछ लोग, मार्ग रोकेंगे आकर;
किन्तु शीघ्र ही भाग जायँगे धक्के खाकर।
यदपि मिलेंगे मार्गमें, तुमको कितने शूल;
पग रखते बन जायँगे, वे सबके सब फूल।
यही आश्चर्य है॥

(६)

युद्ध स्वार्थ अथवा असत्यसे करना होगा;
जीनेही के लिए, तुम्हें अब मरना होगा।
तब न मरे अब ही मरे, मरना निस्सन्देह;
अब न मरे सब कुछ रहे, रहे न केवल देह।
देह-ममता तजो॥

(७)

सुनो सुनो जो आज, कहीं साहस तुम हारे;
डूबोगे यों, नहीं लगोगे कभी किनारे।
तन मन धनसे देश-हित, करो प्रमाद बिसार;
सबके सँग मिलकर सहो, भूख-प्यास या मार।
पुनः आनन्द भी॥

(८)

पिछड़ गए हो बहुत, लड़ रहे हो आपसमें;
पकड़ पकड़ रूढ़ियाँ, घोलते हो विष रसमें।
ऐसा ही करते रहे, तो विनाश है पास;
बस भविष्यमें देयगा, तव-परिचय इतिहास।
एक मृत-जाति कह॥

कदम्बवंशीय राजाओंके तीन ताम्रपत्र।

आज हम अपने पाठकोंके सामने कदम्ब राजाओंके तीन ताम्रपत्र रखते हैं जो कि ऐतिहासिकदृष्टिसे बहुत कुछ पुराने और बड़े महत्त्वके हैं। ये तीनों ताम्रपत्र, कुछ अर्सा हुआ, देवगिरि तालुका करजघी (जि० धारवाड़) का तालाब खोदते समय मिले थे और इन्हें मिस्टर काशीनाथ त्रिम्बक तेलंग, एम. ए., एलएल. बी. ने, रायल एशियाटिक सोसायटीकी बम्बईशाखाके जर्नल नं० ३४ की १२ वीं जिल्दमें, अपने अनुसंधानोंके साथ प्रकाशित कराया था। इनमेंसे पहला पत्र (Plate) समकोण तीनपत्रों (Rectangular sheets) से दूसरा चार पत्रोंसे और तीसरा तीन पत्रोंसे बना हुआ है। अर्थात्, ये तीनों दानपत्र, जिनमें जैनसंस्थाओंको दान दिया गया है, क्रमशः ताँबेके तीन, चार और तीन पत्रोंपर खुदे हुए हैं। परंतु प्रत्येक दानपत्रके पहले और अन्तिम पत्रका बाहिरी भाग खाली है और भीतरी पत्र दोनों ओरसे खुदे हुए हैं। इस तरह पर इन दानपत्रोंकी पृष्ठसंख्या क्रमशः ४, ६ और ४ है। प्रत्येक दानपत्रके पत्रोंमें एक एक मामूली छल्ला (Ring) सुराखमें होकर पड़ा हुआ है जिसके द्वारा वे पत्र नत्थी किये गये हैं। छल्लों पर मुहर मालूम होती है, परंतु वह अब मुशकिलसे पढ़ी जाती है। उक्त जर्नलमें इन तीनों दानपत्रोंके प्रत्येक पृष्ठका फोटू भी दिया है और उस परसे ये पत्र गुप्त राजाओंकी लिपिमें लिखे हुए मालूम होते हैं। मिस्टर काशीनाथजी अपने अनुसंधानविषयक नोट्समें, लिखते हैं कि, " कृष्णवर्मा, जिसका उल्लेख यहाँ तीसरे दानपत्रमें है, वही कृष्णवर्मा मालूम होता है जिसका उल्लेख चेरा (chera) के दानपत्रोंमें पाया जाता है। क्योंकि उन पत्रोंमें जिस प्रकार कृष्णवर्माको महाराजा और अश्वमेधका कर्ता लिखा है उसी प्रकार उक्त तीसरे दानपत्रमें भी लिखा है। चेरा दानपत्रोंके कृष्णवर्माका समय ईसवीसन् ४६६ के लगभग निश्चित है। इस लिये यह तीसरा दानपत्र भी उसी समयके लगभगका होना चाहिये। शेष दोनों दानपत्र इससे पहलेके हैं या पीछेके, यह पूरी तौरसे नहीं कहा जासकता। संभवतः इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके लगभग है।" इसके सिवाय आपने अपने अनुसंधानके अन्तमें ये पंक्तियाँ दी हैं:—

We may now sum up the result of our investigations. We find, then, that there were two branches of the Kadamba family, one of which may be described as Goa branch, and the other as the Vanvâsi branch. It is just possible that there was some connection between the two branches, but we have not at present the materials for settling the question. We find, too, that the princes mentioned in our plates belong to the Vanvâsi branch, and that there is not sufficient ground for refering them to a different division from the Vanvâsi Kadambas enumerated in Sir W. Elliot's paper. We find, further, that these princes appear from their recorded grants to have been independent sovereigns, and not under subordination to the Chalukya kings, as their successors were, and that they flourished, in all probability, before the fifth century after Christ. Lastly we find that there is great reason for believing that these early Kadambas were of the jain persuation, as we find some of the latter Kadambas to have been from their recorded grants.

इन पंक्तियोंके द्वारा, काशीनाथजीने अपने अनुसंधानका नतीजा निकाला है, और वह इस प्रकार है:—

'हमें ऐसा निश्चित हुआ है कि कदम्ब-वंशकी दो शाखाएँ थीं, जिनमेंसे एकको 'गोआ' शाखा और दूसरीको 'वनवासी' शाखाके तौर पर निरूपण किया जा सकता है। यह बिलकुल संभव है कि इन दोनों शाखाओंके मध्यमें कुछ सम्बंध था, परंतु इस समय उस विषयका निर्णय करनेके लिये हमारे पास सामग्री नहीं है। हमारा यह भी निश्चय है कि जिन राजाओंका हमारे इन पत्रोंमें उल्लेख है वे 'वनवासी' शाखाके थे, और यह कि उन्हें सर डब्ल्यू एलियटके पत्रमें गिनाये गये वनवासी कदम्बोंसे एक भिन्न विभागमें स्थापित करनेकी कोई काफी वजह नहीं है। इसके सिवाय, हमारा निर्णय यह है कि ये राजा अपने पत्रारूढ दानोंसे स्वतंत्र सम्राट् मालूम होते हैं, न कि चालुक्य राजाओंके मातहत (अधिकाराधीन), जैसा कि उनके उत्तराधिकारी थे। और यह कि वे, संपूर्ण संभावनाओंको ध्यानमें लेने पर भी ईसाके बाद पाँचवीं शताब्दीसे पहले हुए जान पड़ते हैं। अन्तमें हमारी यह तजवीज है कि यहाँ इस बातके विश्वास करनेकी बहुत बड़ी वजह है कि ये प्राचीन कदम्ब जैनमतानुयायी थे, जैसा कि हम कुछ बादके कदम्बोंको उनके दानपत्रों परसे पाते हैं।

इन तीनों दानपत्रोंकी बहुतसी शब्दरचना परस्पर कुछ ऐसी मिलती जुलती है कि जिससे एक दूसरेको देखकर लिखा गया है, यह कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। परंतु सबसे पहले कौनसा पत्र लिखा गया है, यह अभी निश्चित नहीं हो सका। संभव है कि ये पत्र इसी क्रमसे लिखे गये हों जिस क्रमसे इन पर प्रकाशनके समय नम्बर डाले गये हैं। तीनों पत्रोंमें 'स्वामि महासेन' और 'मातृगण' का उल्लेख पाया जाता है जिनके अनुध्यानपूर्वक कदम्ब राजा अभिषिक्त होते थे। जान पड़ता है 'स्वामि महासेन' कदम्ब वंशके कोई कुलगुरु थे। इसीसे राज्याभिषेकादिकके समयमें उनका बराबर स्मरण किया जाता था। परंतु स्वामि महासेन कब हुए हैं और उनका विशेष परिचय क्या है, ये सब बातें अभी अंधकाराच्छन्न हैं। मातृगणसे अभिप्राय उन स्वर्गीय माताओंके समूहका मालूम होता है जिनकी संख्या कुछ लोग सात, कुछ आठ और कुछ और इससे भी अधिक मानते हैं। जान पड़ता है कदम्बवंशके राजघरानेमें इन देवियोंकी भी बहुत बड़ी मान्यता थी। जिन कदम्ब राजाओंकी ओरसे ये दानपत्र लिखे गये हैं वे सभी 'मानव्यस' गोत्रके थे, ऐसा तीनों पत्रोंमें उल्लेख है। साथ ही, पहले दो पत्रोंमें उन्हें 'हारितीपुत्र' भी लिखा है। परंतु 'हारिती' इन कदम्बवंशी राजाओंकी साक्षात् माता मालूम नहीं होती, बल्कि उनके घरानेकी कोई प्रसिद्ध और पूजनीया स्त्री जान पड़ती है जिसके पुत्रके तौर पर ये सभी कदम्ब पुकारे जाते थे, जैसा कि आज कल खुर्जेके सेठोंको 'रानीवाले' कहते हैं।

अब हम इस समुच्चय कथनके अनन्तर प्रत्येक दानपत्रका कुछ विषद परिचय अथवा सारांश देकर मूलपत्रोंको ज्योंका त्यों उद्धृत करते हैं:—

+यथाः—"ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
माहेंद्री चैव वाराही चामुंडा सप्तमातरः॥"
"ब्राह्मी माहेश्वरी चंडी वाराही वैष्णवी तथा।
कौमारी चैव चामुंडा चर्चिकेत्यष्ट मातरः॥
देखो 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी'—वामन शिवराम आपटेकी बनाई हुई।

पत्र नम्बर १—यह पत्र 'श्रीशांतिवर्माके पुत्र महाराज श्री 'मृगेश्वरवर्मा' की तरफसे लिखा है, जिसे पत्रमें काकुस्था (त्स्था) न्वयी प्रकट किया है, और इससे ये कदम्बराजा, भारतके सुप्रसिद्ध वंशोंकी दृष्टिसे, सूर्यवंशी अथवा इक्ष्वाकुवंशी थे, ऐसा मालूम होता है। यह पत्र उक्त मृगेश्वरवर्माके राज्यके तीसरे वर्ष, पौष (?) नामके संवत्सरमें, कार्तिक कृष्णा दशमीको, जब कि उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र था, लिखा गया है। इसके द्वारा अभिषेक, उपलेपन, पूजन, भग्नसंस्कार (मरम्मत) और महिमा (प्रभावना) इन कार्मोके लिये कुछ भूमि, जिसका परिमाण दिया है, अरहंत देवके निमित्त दान की गई है। भूमिकी तफसीलमें एक निवर्तनभूमि खालिस पुष्पोंके लिये निर्दिष्ट की गई है। ग्रामका नाम कुछ स्पष्ट नहीं हुआ, 'बृहत्परलूरे' ऐसा पाठ पढ़ा जाता है। अन्तमें लिखा है कि जो कोई लोभ या अधर्मसे इस दानका अपहरण करेगा वह पंच महा पापोंसे युक्त होगा और जो इसकी रक्षा करेगा वह इस दानके पुण्यफलका भागी होगा। साथ ही इसके समर्थनमें चार श्लोक भी 'उक्तं च' रूपसे दिये हैं, जिनमेंसे एक श्लोकमें यह बतलाया है कि जो अपनी या दूसरेकी दान की हुई भूमिका अपहरण करता है वह साठ हजार वर्षतक नरकमें पकाया जाता है, अर्थात् कष्ट भोगता है। और दूसरेमें यह सूचित किया है कि स्वयं दान देना आसान है परंतु अन्यके दानार्थका पालन करना कठिन है, अतः दानकी अपेक्षा दानका अनुपालन श्रेष्ठ है। इन 'उक्तं च' श्लोकोंके बाद इस पत्रके लेखकका नाम 'दामकीर्ति भोजक' दिया है और उसे परम धार्मिक प्रकट किया है। इस पत्रके शुरूमें अर्हन्तकी स्तुतिविषयक एक सुन्दर पद्य भी दिया हुआ है जो दूसरे पत्रोंके शुरूमें नहीं है, परंतु तीसरे पत्रके बिलकुल अन्तमें जरासे परिवर्तनके साथ, जरूर पाया जाता है।

पत्र नं० २—यह दानपत्र कदम्बोंके धर्म-महाराज 'श्रीविजयशिवमृगेश वर्मा' की तरफसे लिखा गया है और इसके लेखक हैं 'नरवर' नामके सेनापति। लिखे जानेका समय चतुर्थ संवत्सर, वर्षा (ऋतु) का आठवाँ पक्ष और पौर्णमासी तिथि है। इस पत्रके द्वारा 'कालवङ्ग' नामके ग्रामको तीन भागोंमें विभाजित करके इस तरह पर दान दिया है कि पहला एक भाग तो अर्हच्छाला परम पुष्कलस्थाननिवासी भगवान् अर्हन्महाजिनेंद्रदेवताके लिये, दूसरा भाग अर्हत्प्रोक्त सद्धर्माचरणमें तत्पर श्वेताम्बर महाश्रमणसंघके उपभोगके लिये और तीसरा भाग निर्ग्रंथ अर्थात् दिगम्बर महाश्रमणसंघके उपभोगके लिये। साथ ही, देवभागके सम्बंधमें यह विधान किया है कि वह धान्य, देवपूजा, बलि, चरु, देवकर्म, कर, भग्नक्रिया प्रवर्तनादि अर्थोपभोगके लिये है, और यह सब न्यायलब्ध है। अन्तमें इस दानके अभिरक्षकको वही दानके फलका भागी और विनाशकको पंच महापापोंसे युक्त होना बतलाया है, जैसा कि नं० १ के पत्रमें उल्लेख किया गया है। परंतु यहाँ उन चार 'उक्तं च' श्लोकोंमेंसे सिर्फ पहलेका एक श्लोक दिया है जिसका यह अर्थ होता है कि, इस पृथ्वीको सगरादि बहुतसे राजाओंने भोगा है, जिस समय जिस जिसकी भूमि होती है उस समय उसी उसीको फल लगता है। इस पत्रमें 'चतुर्थ' संवत्सरके उल्लेखसे यद्यपि ऐसा भ्रम होता है कि यह दानपत्र भी उन्हीं मृगेश्वर वर्माका है

१—साठ संवत्सरोंमें इस नामका कोई संवत्सर नहीं है। संभव है कि यह किसीका पर्याय नाम हो या उस समय दूसरे नामोंके भी संवत्सर प्रचलित हों।

जिनका उल्लेख पहले नम्बरके पत्रमें है अर्थात् जिन्होंने पत्र नं० १ लिखाया था और जो उनके राज्यके तीसरे वर्षमें लिखा गया था, परंतु एक तो 'श्रीमृगेश्वर वर्मा' और 'श्रीविजयशिवमृगेश वर्मा' इन दोनों नामोंमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर है; दूसरे, पहले नम्बरके पत्रमें 'आत्मनः राज्यस्य तृतीये वर्षे पौष संवत्सरे' इत्यादि पदोंके द्वारा जैसा स्पष्ट उल्लेख किया गया है वैसा इस पत्रमें नहीं है, इस पत्रके समग्र निर्देशका ढंग बिलकुल उससे विलक्षण है। 'संवत्सरः चतुर्थः, वर्षा पक्षः अष्टमः, तिथिः पौर्णमासी,' इस कथनमें 'चतुर्थ' शब्द संभवतः ६० संवत्सरोंमेंसे चौथे नम्बरके 'प्रमोद' नामक संवत्सरका द्योतक मालूम होता है; तीसरे, पत्र नं० १ में दातारने बड़े गौरवके साथ अनेक विशेषणोंसे युक्त जो अपने 'काकुत्स्थान्वय' का उल्लेख किया है और साथ ही अपने पिताका नाम भी दिया है, वे दोनों बातें इस पत्रमें नहीं हैं जिनके, एक ही दातार होनेकी हालतमें, छोड़े जानेकी कोई वजह मालूम नहीं होती; चौथे इस पत्रमें अर्हतकी स्तुतिविषयक मंगलाचरण भी नहीं है, जैसा कि प्रथमपत्रमें पाया जाता है; इन सब बातोंसे ये दोनों पत्र एक ही राजाके पत्र मालूम नहीं होते । इस पत्र नं० २ में श्रीविजयशिवमृगेशवर्माके जो विशेषण दिये हैं उनसे यह भी पाया जाता है कि, "यह राजा उभय लोककी दृष्टिसे प्रिय और हितकर ऐसे अनेक शास्त्रोंके अर्थ तथा तत्त्वविज्ञानके विवेचनमें बड़ा ही उदारमति था, नयविनयमें कुशल था और ऊँचे दर्जेके बुद्धि, धैर्य, वीर्य, तथा त्यागसे युक्त था। इसने व्यायामकी भूमियोंमें यथावत् परिश्रम किया था और अपने भुजबल तथा पराक्रमसे किसी बड़े भारी संग्राममें विपुल ऐश्वर्यकी प्राप्ति की थी; यह देव, द्विज, गुरु और साधुजनोंको नित्य ही गौ, भूमि, हिरण्य, शयन (शय्या), आच्छादन (वस्त्र) और अन्नादि अनेक प्रकारका दान दिया करता था; इसका महाविभव विद्वानों, सुहृदों और स्वजनोंके द्वारा सामान्यरूपसे उपभुक्त होता था; और यह आदिकालके राजा (संभवतः भरतचक्रवर्ती) के वृत्तानुसारी धर्मका महाराज था।" दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों-ही संप्रदायोंके जैनसाधुओंको यह राजा समानदृष्टिसे देखता था, यह बात इस दानपत्रसे बहुत ही स्पष्ट है।

पत्र नं० ३—यह दानपत्र कदम्बोंके धर्ममहाराज श्रीकृष्णवर्माके प्रियपुत्र '**देववर्मा**' नामके युवराजकी तरफसे लिखा गया है और इसके द्वारा '**त्रिपर्वत**' के ऊपरका कुछ क्षेत्र अर्हत भगवानके चैत्यालयकी मरम्मत, पूजा और महिमाके लिये '**यापनीय**' संघको दान किया गया है। पत्रके अन्तमें इस दानको अपहरण करनेवाले और रक्षा करनेवालेके वास्ते वही कसम दी है अथवा वही विधान किया है जैसा कि पहले नम्बरके पत्रसम्बंधमें ऊपर बतलाया गया है। 'उक्तं च' पद्य भी वही चारों कुछ क्रमभंगके साथ दिये हुए हैं। और उनके बाद दो पद्योंमें इस दानका फिरसे खुलासा दिया है, जिसमें देववर्माको रणप्रिय, दयामृतसुखास्वादनसे पवित्र, पुण्यगुणोंका इच्छुक और एक वीर प्रकट किया है। अन्तमें अर्हतकी स्तुतिविषयक प्रायः वही पद्य है जो पहले नम्बरके पत्रके शुरूमें दिया है । इस पत्रमें श्रीकृष्णवर्माको 'अश्वमेध' यज्ञका कर्ता और शरदृतुके निर्मल आकाशमें उदित हुए चंद्रमाके समान एक छत्रका धारक, अर्थात् एकछत्र पृथ्वीका राज्य करनेवाला लिखा है।

मूल—Text.

सिद्धम् जयत्यर्हंस्त्रिलोकेशः सर्वभूतहिते रतः
रागाद्यरिहरोनन्तोनन्तज्ञानदृगीश्वरः

स्वस्ति विजेयवैजन्त्या[1] स्वामिमहासेनमातृगणानुध्याताभिषिक्तानां मानव्यसगोत्राणां हारितीपुत्राणं अङ्गिरसां प्रतिकृतस्वाध्यायचर्च्चकानां सद्धर्म्मसदम्बानां कदम्बानां अनेकजन्मान्तरोपार्जितविपुलपुण्यस्कंधः आहवार्जितपरमरुचिरदृढसत्वः[2] विशुद्धान्वयप्रकृत्यानेकपुरुषपरंपरागते जगत्प्रदीपभूते महत्यदितोदिते काकुस्थान्वये श्रीशान्तिवर्म्मतनयः श्रीमृगेशवरवर्म्मा आत्मनः राज्यस्य तृतीये वर्षे पौषसंवत्सरे कार्तिकमासे बहुले पक्षे दशम्यां तिथौ उत्तराभाद्रपदे नक्षत्रे बृहत्परलूरे (?) त्रिदशमुकुटपरिघृष्टचारुचरणेभ्यः परमार्हद्देवेभ्यः संमार्ज्जनोपलेपनाभ्यर्च्चनभग्नसंस्कारमहिमार्त्थं ग्रामापरदिग्विभागसीमाभ्यन्तरे राजमानेन चत्वारिंशन्निवर्त्तनं कृष्णभूमिक्षेत्रं चत्वारिक्षेत्रनिवर्त्तनं च चैत्यालयस्य बहिः[4] एकं निवर्त्तनं पुष्पार्थं देवकुलस्याङ्गनञ्च एकनिवर्त्तनमेव सर्व परिहारयुक्तं दत्तवान् महाराजः लोभादधर्म्माद्वा योस्याभिहर्त्ता स पंचमहापातकसंयुक्तोभवति योस्याभिरक्षिता स तत्पुण्यफलभाग्भवति उक्तञ्च बहुभिर्वसुधाभुक्ता राजभिस्सगरादिभिः यस्य यस्य यदा भूमितस्य तस्य तदा फलं स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां षष्ठिं वर्ष सहस्राणि नरके पच्यते तु सः अद्भिर्द्दत्तं त्रिभिर्भुक्तं सद्भिश्च परिपालितं एतानि न निवर्तंते पूर्वराजकृतानि च स्वन्दातुं सुमहच्छक्यं दुःखमन्यार्त्थपालनं दानं वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोनुपालनं

परमधार्मिकेण दामकीर्तिभोजकेन लिखितेयं पट्टिका इति सिद्धिरस्तु ॥—

(२)

सिद्धम् ॥ विजयवैजयन्त्याम् स्वामिमहासेनमातृगणानुद्ध्याताभिषिक्तस्य मानव्यसगेत्रस्य हारितिपुत्रस्य प्रतिकृतचर्चापारस्य विबुधप्रतिबिम्बानां कदम्बानां धर्ममहाराजस्य श्रीविजयशिवमृगेशवर्म्मणः विजयायुरोग्यैश्वर्यप्रवर्द्धनकरः संव्वत्सरः चतुर्थः वर्षापक्षः अष्टमः तिथिः पौर्ण्णमासी अनयानुपूर्व्या अनेकजन्मान्तरोपार्ज्जितविपुलपुण्यस्कंधः सुविशुद्धपितृमातृवंशः उभयलोकप्रियहितकरानेकशास्त्रार्थतत्वविज्ञानविवेच (?) ने विनिविष्टविशालोदारमतिः हस्त्यश्वारोहणप्रहरणादिषु व्यायामिकीषु भूमिषु यथावत्कृतश्रमः दक्षो दक्षिणः नयविनयकुशलः अनेकाहवार्जितपरमदृढसत्वः उदात्तबुद्धिधैर्य्यवीर्य्यत्यागसम्पन्नः सुमहति समरसङ्कटे स्वभुजबलपराक्रमावाप्तविपुलैश्वर्यः सम्यक्प्रजापालनपरः स्वजनकुमुदवनप्रबोधनशशाङ्कः देवद्विजगुरुसाधुजनेभ्यः गोभूमिहिरण्यशयनाच्छादनान्नादि अनेक विधदाननित्यः विद्वत्सुहृत्स्वजनसामान्योपभुज्यमानमहाविभवः आदिकालराजवृत्तानुसारी धर्ममहाराजः * कदम्बानां श्रीविजयशिवमृगेशवर्म्मा कालवङ्गग्रामं

---

१ मूलमें ऐसा ही है, यह ' वैजयन्त्या ' होना चाहिये।

२ इन पत्रोंमें यह एक खास बात है कि जहाँ द्वित्वाक्षरोंका इतना अधिक प्रयोग किया गया है वहाँ ' सत्व ' और ' तत्व ' में ' त ' अक्षर द्वित्व नहीं किया गया।

३ मूलमें ऐसा ही है। ४ व्याकरणकी दृष्टिसे यह वाक्य बिलकुल शुद्ध मालूम नहीं होता।

५ यह पद्य मिस्टर फ्लीटके शिलालेख नं० ५ में मनुका ठहराया गया है। आम तौरपर यह व्यासका माना जाता है।

* यह बात एक वार सर्वदाके लिये बतला देनेकी है कि इन प्रतिलिपियोंमें विसर्ग उस चिह्नके स्थानमें लिखा गया है जो कंठ्यवर्णों (gutturals) से पहले विसर्गकी जगह प्रयुक्त हुआ है।

त्रिधा विभज्य दत्तवान् अत्रपूर्व्वमर्हच्छालापरमपुष्कलस्थाननिवासिभ्यः भगवदर्हन्महाजिनेन्द्रदेवताभ्य एकोभागः द्वितीयोर्हत्प्रोक्तसद्धर्म्मकरणपरस्यश्वेतपटमहाश्रमणसंघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपभोगायति अत्र देवभाग धान्यदेवपूजाबलिचरुदेवकर्म्मकरभग्नक्रियाप्रवर्त्तनाद्यर्थोपभोगाय एतदेवं न्यायलब्धं देवभोगसमयेन योभिरक्षति सतत्फलभाग्भवति यो विनाशयेत्स पंचमहापातकसंयुक्तो भवति उक्तञ्च बहुभिर्वसुधाभुक्ता राजभिस्सगरादिभिः यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदाफलं नरवरसेनापतिना लिखिता

(३)

विजयत्रिपर्व्वते स्वामिमहासनमातृगणानुद्ध्याताभिषिक्तस्य मानव्यसगोत्रस्य प्रतिकृतस्वाध्याय चर्च्यापारगस्य[१] आदिकालराजर्षिबिम्बानां आश्रितजनाम्बानां कदम्बानां धर्ममहाराजस्य अश्वमेधयाजिनः समरार्जितविपुलैश्वर्य्यस्य सामन्तराजविशेषरत्नसुनागजिनाकम्पदायानुभूतस्य (?) शरदमलनभस्युदितशशिसदृशैकातपत्रस्य धर्ममहाराजस्य श्रीकृष्णवर्म्मणः प्रियतनयो देववर्म्मयुवराजः स्वपुण्यफलाभिकांक्षया त्रिलोकभूतहितदेशिनः धर्मप्रवर्त्तनस्य अर्हतः भगवतः चैत्यालयस्य भग्नसंस्कारार्च्चनमहिमार्थं यापनीयसंङ्घेभ्यः सिद्धकेदारे राजमानेन द्वादश निवर्त्तनानि क्षेत्रं दत्तवान् योस्य अपहर्त्ता स पंचमहापातक संयुक्तो भवति योस्याभिर[२]क्षिता (?) स पुण्यफलमश्नुते उक्तं च बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिस्सगरादिभिः यस्य यस्य यदाभूमिस्तस्यतस्य तथा (?) फलं अद्भिर्द्दत्तं त्रिभिर्युक्तं सद्भिश्च परिपालितं एतानि न निवर्त्तन्ते पूर्वराजकृतानि च स्वं दातुं सुमहच्छक्यं दु (?):ख (म) न्यार्त्थपालनं दानं वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोनुपालनं स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां षष्ठिवर्षसहस्राणि नरके पच्यते तु सः श्रीकृष्णनृपपुत्रेणकदम्बकलकेतुना रणाप्रियेण देवेन दत्ता भु (?) मिस्त्रिपर्व्वते दयामृतसुखास्वादपूतपुण्यगुणेप्सुना देववर्म्मैकवीरेण दत्ता जैनाय भूरियं जयत्यर्हं त्रिलोकेशः सर्व्वभूतहितंकरः रागाद्यरिहरोनन्तोनन्तज्ञानदृगीश्वरः

इन तीनों दान पत्रों परसे निम्नलिखित ऐतिहासिक व्यक्तियोंका पता चलता है:—

१ स्वामिमहासेन—गुरु ।
२ हारिती—मुख्य और प्रसिद्ध स्त्री ।
३ शांतिवर्मा—राजा ।
४ मृगेश्वरवर्मा—राजा ।
५ विजयशिवमृगेशवर्मा—महाराजा ।
६ कृष्णवर्मा—महाराजा ।
७ देववर्मा—युवराज ।
८ दामकीर्ति—भोजक ।
९ नरवर—सेनापति ।

इन व्यक्तियोंके सम्बंधमें यदि किसी विद्वान् भाईको, दूसरे पत्रों, शिलालेखों अथवा ग्रंथप्रशस्तियों आदि परसे, कुछ विशेष हाल मालूम हो तो वे कृपाकर हमें उससे सूचित करनेका कष्ट उठावें जिससे एक क्रमबद्ध जैन इतिहास तय्यार करनेमें कुछ सहायता मिले ।

सरसावा । ता० १८ जुलाई सन् १९२० ।

---

१ मूलमें ऐसा ही है । शुद्ध पाठ 'चर्चा' होना चाहिये । २ यह अक्षर 'स' मूलमें नहीं है जो निःसन्देह छोड़नेसे रह गया है । ३ मूलमें यह 'रन्धिता' सा मालूम होता है ।

पुस्तक-परिचय।

१ जैनसाहित्यसंशोधक। यह वही त्रैमासिक पत्र है जिसके निकाले जानेके विचारोंकी सूचना एक आवेदन पत्रद्वारा, जो जैनहितैषी अंक नं० २-३ के साथ बँटा है, दी गई थी। अब यह पत्र पूनासे निकलना प्रारंभ हुआ है। विद्वद्वर मुनि जिनविजयजी इसके संपादक हैं। अभी इसका पहला ही अंक प्रकाशित हुआ है और वही इससमय हमारे सामने है। इस अंकको देखनेसे मालूम होता है कि यह पत्र 'सरस्वती' के आकारमें १२४ पृष्ठों पर निकाला गया है। प्रेस ऐक्टके अनुसार सरकारसे डिक्लेरेशन लेनेकी दिक्कतके कारण, अभी इसे त्रैमासिकका रूप न देकर एक 'निबंधसंग्रह' का रूप दिया गया है। इससे, यद्यपि यह पत्र नियतकालिक नहीं रहता तो भी सालमें इसके चार अंक यथावसर जरूर निकाले जायँगे; इसीसे इसका वार्षिक मूल्य ५) रु० और प्रत्येक अंकका १।।) रुपया रक्खा गया है। इस अंकके साथमें दो सुन्दर चित्र भी लगे हुए हैं, जिनमेंसे महावीर भगवानकी निर्वाणभूमि पावापुरीका रंगीन चित्र बड़ा ही चित्ताकर्षक और मनोमोहक मालूम होता है, दूसरा चित्र चितौड़गढ़के किसी प्राचीन जैनकीर्तिस्तंभका फोटो है जो संभवतः दिगम्बर सम्प्रदायका है। पत्रमें इन दोनों चित्रोंका कोई परिचय विशेष नहीं दिया जिसके दिये जानेकी जरूरत थी। ये दोनों चित्र आराके श्रीयुत कुमार देवेंद्रप्रसादजीने अपने खर्चसे तय्यार कराकर पत्रको भेट किये हैं। इस अंकमें प्रायः चार लेख हिन्दीके, चार गुजरातीके और दो अंग्रेजीके, इस तरह तीन भाषाओंके प्रायः दस लेख हैं। लेख प्रायः सभी अच्छे, पढ़ने और विचार किये जानेके योग्य हैं। 'हरिभद्रसूरिका समयनिर्णय' नामका हिन्दी लेख बड़े महत्त्वका है, अनेक ऐतिहासिक बातोंको लिये हुए है और बहुत कुछ परिश्रम तथा परिश्रमके साथ लिखा गया है। वास्तवमें यह लेख उस संस्कृत निबंधका अनुवाद जान पड़ता है जिसे मुनि जिनविजयजीने, गत नवम्बर मासमें होनेवाली, पूनाकी ओरियंटल कान्फरेंसके सामने पढ़ा था और जो अब चार आने मूल्यमें उक्त पत्रके आफिससे मिलता है। अथवा यह भी संभव है कि पहले यह लेख हिन्दीमें ही तय्यार हुआ हो और फिर इसीका संस्कृत अनुवाद उक्त कान्फरेंसमें पढ़ा गया हो। कुछ भी हो, मुनिजीने पत्रमें इस विषयका कोई नोट नहीं दिया। दूसरा विस्तृत हिन्दी लेख 'सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समंतभद्र' के विषयका वह है जो जैनहितैषीके पिछले कई अंकोंमें प्रकाशित हो चुका है। तीसरा हिन्दी लेख 'हरिषेणकृत कथाकोश' हितैषीके इस अंकमें उध्दृत किया जाता है। गुजराती लेखोंमें डाक्टर हर्मन जैकोबीकी लिखी हुई 'कल्पसूत्रकी प्रस्तावना' का अनुवाद, और पं० बेचरदास जीवराजजी न्याय-व्याकरणतीर्थका लिखा हुआ 'जैनागमसाहित्यकी मूल भ[ाषा] क्या थी और अर्धमागधी किसे कहते हैं' इ[स] आशयका लेख, ये दोनों ही लेख खास तौरपर ध्यानके साथ पढ़े जाने और विचार किये जानेके योग्य हैं। हमारे खयालमें पत्र बहुत अच्छा है और छपाई, सफाई और कागजकी दृष्टिसे भी कुछ बुरा नहीं है। ऐसे एक पत्रकी जैनसमाजमें बड़ी जरूरत थी। आशा है इस पत्रके द्वारा जैनइतिहासकी बहुतसी त्रुटियाँ दूर होंगी, अनेक नई नई बातें मालूम होंगी, प्राचीनसाहित्यकी खोज होगी और साथ ही, तत्त्वज्ञान पर भी कुछ अच्छा प्रकाश पड़ेगा। इतिहास-

प्रेमी और नये नये अनुसंधानोंको जाननेके इच्छुक प्रत्येक दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनी भाईको इसका ग्राहक होकर संपादक तथा प्रकाशकके उत्साहको बढ़ाना चाहिये। अजैन विद्वान् भी इससे बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। मँगानेका पता–मैनेजर 'जैनसाहित्यसंशोधक' ठि० भारत जैन-विद्यालय, फर्गुसन कालिज रोड, पूना सिटी है। अन्तमें हम इतना निवेदन कर देना उचित समझते हैं कि इस पत्रमें संपादकीय विचार हिन्दीमें प्रकट होने चाहियें और साथ ही शुद्ध छपनेकी ओर कुछ अधिक ध्यान रक्खे जानेकी जरूरत है।

२ **जैसवाल जैन**। मासिकपत्र। सम्पादक-महेन्द्र। मूल्य, १) रु० वार्षिक। मिलनेका पता, जैसवाल जैन कार्यालय, मानपाड़ा, आगरा।

यह पत्र भारतवर्षीय जैसवाल जैन सभाका मुखपत्र है और कोई ढाई सालसे जारी है। तीसरे सालका पहला संयुक्त अंक नं० १–२ इस समय, हमारे सामने है, बादके अंक शायद अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। इस अंकके लेख पिछले सालके अंकोंकी अपेक्षा अच्छे हैं और अनेक विद्वानोंके लिखे हुए हैं। संपादक महाशयने इस अंकको खास अंकके तौर पर निकालनेका विचार प्रकट किया था और ऐसा लिखकर कुछ विद्वानोंको लेख भेजनेकी प्रेरणा भी की थी। परंतु किसी वजहसे फिर वे इसे खास अंकके तौर पर नहीं निकाल सके। अस्तु यह पत्र जैसवाल जैनोंकी उन्नतिके लिये बहुत कुछ प्रयत्नशील रहता है, अतः हमारे जैसवाल भाईयोंको खास तौरसे इसका ग्राहक होना चाहिये और इस तरह अपने जातीयपत्रके उत्साहको बढ़ाकर उन्नतिमें अग्रसर होनेके लिये सहायता देनी चाहिये।

३ **श्रीशारदा**—सचित्र मासिकपत्रिका। संपादक, साहित्यशास्त्री पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद। मूल्य, ५) रु० वार्षिक, मिलनेका पता, प्रबंधक 'श्रीशारदा,' दीक्षित-पुरा, जबलपुर।

यह पत्रिका हालमें नई प्रकाशित होनी शुरू हुई है। अभी तक इसके चार अंक निकले हैं। आकार इसका 'सरस्वती' जैसा और पृष्ठसंख्या ६८ के करीब है। इसमें हिन्दीके अच्छे अच्छे प्रसिद्ध विद्वानोंके लेख निकलते हैं। प्रत्येक अंकमें अधिकांश लेख बहुत कुछ उपयोगी, पढ़ने तथा विचारनेके योग्य होते हैं। हिन्दीकी इसे उच्चकोटिकी पत्रिका समझना चाहिये। यदि यह बराबर चलती रही तो इसके द्वारा हिन्दी संसारका बहुत कुछ उपकार होना संभव है। हिन्दी भाषाके प्रेमियोंको इसे जरूर अपनाना चाहिये।

४ **वैद्य**—मासिकपत्र। संपादक, वैद्य शंकर-लालजी (जैन)। मूल्य, १।) रु० वार्षिक। मिलनेका पता, वैद्य शंकरलाल हरिशंकर, आयुर्वेदोद्धारक औषधालय, मुरादाबाद।

यह अपने विषयका एक अच्छा पत्र है और कई वर्षसे जारी है। समय समय पर इसमें अनेक रोगोंकी औषधियोंके नाना वैद्योंद्वारा किये हुए अनुभूत तथा परीक्षित प्रयोग भी निकला करते हैं जिनसे पाठक बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। कविताएँ भी इसमें अपने ही विषयकी मनोरंजक रहती हैं। इस वर्षका चौथा अंक इस समय हमारे सामने है। इसके प्रायः सभी लेख पढ़नेयोग्य हैं, खासकर शिशुका प्राकृतिक खाद्य और मानसिक रोग नामके लेख 'स्वास्थ्य-सर्वस्व' नामकी कविता भी अच्छी है, जिसका प्रथम पद्य इस प्रकार है:—

कुलसम्पतिसे भरा सदन है, वर वैभव है।
प्रभुता है, पाण्डित्य, प्रशंसा, गुणगौरव है॥

सुर-दुर्लभ बहुमूल्य भवनमें भोग भरे हैं ॥
हैं सब निष्फल, जो शरीरमें रोग भरे हैं ॥
परिणत होगी कार्यमें, तभी शास्त्रकी योग्यता।
धर्म, अर्थ, कामादिप्रद, जो होगी आरोग्यता ॥

५ गुणस्थानक्रमारोह, सानुवाद। लेखक, श्रीयुत मुनि तिलकविजयजी। प्रकाशक श्रीआत्मतिलक-ग्रंथ-सोसायटी, रतनपोल, अहमदाबाद। पृष्ठसंख्या. २००। मूल्य, बारह आने।

यह मूल ग्रंथ अपने विषयका एक छोटासा—१३६ पद्योंका-संग्रहग्रंथ है जिसे श्रीरत्नशेखर सूरि नामके श्वेताम्बर आचार्यने अनेक प्राचीन ग्रंथों परसे उद्धृत करके बनाया है। ग्रंथका विषय उसके नामसे ही प्रकट है। इसमें १४ गुणस्थानोंका संक्षेपसे स्वरूपवर्णन किया गया है। मूलकी भाषा संस्कृत और अनुवादकी भाषा हिन्दी है। अनुवादक हैं मुनि तिलकविजयजी पंजाबी। आपने अनुवादके साथ साथ अपनी व्याख्याएँ लगाकर ग्रंथकी उपयोगिताको बहुत कुछ बढ़ानेका यत्न किया है। इन व्याख्याओंमें ही आपने श्रावकके बारह व्रतों, चार प्रकारके ध्यानों और १४ मार्गणाओंका भी कुछ विस्तारके साथ वर्णन कर दिया है जो मूलमें नहीं है। अनुवाद प्रायः अच्छा हुआ है और सुबोध भाषामें लिखा गया है। छपाई, सफाई और कागज भी सब अच्छे हैं। सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। परंतु छपनेमें अनेक स्थानोंपर कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। बाईसवें श्लोकमें 'त्रितुर्येवा' का अर्थ 'अथवा चतुर्थ भवमें' ऐसा किया गया है जो ठीक नहीं, उसमें चतुर्थसे पहले 'तृतीय' शब्द और आना चाहिये था। हमारे खयालमें इस प्रकारकी अशुद्धियाँ भी छापेकी ही अशुद्धियाँ मालूम होती हैं। इनके सिवाय पुस्तकमें उर्दू फार्सीके शब्दोंके कुछ अशुद्ध प्रयोग भी पाये जाते हैं, जैसे नसा, होस, थाने, दानत, पेस इत्यादि। पुस्तकमें विषय-सूची नहीं लगाई गई जिसका लगना बहुत जरूरी था। इसी तरह श्लोकानुक्रमणिका भी नहीं है। फिर भी पुस्तक उपयोगी, पढ़ने और संग्रह किये जानेके योग्य है। साथमें, मुनि तिलकविजय और वल्लभविजयजीके दो फोटू भी हैं।

६ परिशिष्ट पर्व, प्रथम व द्वितीय भाग। मूल्य, प्रथम भाग बारह आने, द्वितीयभाग आठ आने। मिलनेका पता, 'श्रीआत्मतिलक-ग्रंथ-सोसायटी, अहमदाबाद।'

इस पुस्तकके लेखक भी मुनि तिलकविजयजी पंजाबी हैं। यह श्वेताम्बराचार्य श्रीहेमचंद्रके 'परिशिष्ट पर्व' नामक संस्कृत ग्रंथका अनुवाद है। अनुवादके साथमें मूल लगा हुआ नहीं है और न मूलसे अनुवादको जाँचनेका हमें अवसर मिला। पुस्तकमें श्वेताम्बर सम्प्रदायानुसार, महावीरस्वामीके बाद होनेवाले जम्बूस्वामी आदि खास खास आचार्योंका जीवनचरित्र है। इतिहासकी दृष्टिसे पुस्तक अच्छी पढ़ने और संग्रह किये जानेके योग्य है। इस पुस्तकके साथ भी विषयसूची लगी हुई नहीं है। पहले भागमें मुनि तिलकविजय और उनके गुरु मुनि ललितविजयजीके दो सुन्दर फोटू लगे हुए हैं।

७ नकली और असली धर्मात्मा। यह साधारण हिन्दी भाषामें लिखी हुई २०० पृष्ठकी पुस्तक समाजके चिरपरिचित विद्वान् बाबू सूरजभानजी वकीलकी बनाई हुई है, 'सत्योदय' मासिकपत्रके उपहारमें बाँटी गई है, और इस समय बाबू चंद्रसेनजी जैन वैद्य इटावाके पाससे आठ आने मूल्यमें मिलती है।

पुस्तकमें कुछ औपन्यासिक ढंगसे, एक कथाके रूपमें, नकली और असली धर्मात्माओंका चित्र खींचा गया है। चित्र एक नहीं

अनेक हैं और वे सब बड़े ही हृदयग्राही तथा सत्य-प्राय मालूम होते हैं । बाबू साहब सामाजिक घटनाओंका चित्र खींचनेमें बहुत कुछ सिद्धहस्त हैं । उनका यह चरित्र-चित्रण निःसन्देह अच्छा हुआ है। धर्मात्मापनेकी कुछ रजिष्टर्ड--नुमायशी क्रियाओंको करनेवाले कैसे कैसे बेईमानी और अधर्मके काम किया करते हैं उनका इस पुस्तकमें अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है । आजकल ऐसे ही नकली धर्मात्माओंका आधिक्य है--साथ ही, उक्त क्रियाओंको न करते हुए भी, असली धर्मात्माओंकी परिणति शील-शांति-संतोषपूर्वक कैसी ईमानदारीको लिये हुए, सत्यनिष्ठ, निष्कपट और दया तथा प्रेममय होती है, यह भी दर्शाया है । यद्यपि यह पुस्तक खास जैनियोंको लक्ष्य करके लिखी गई है और दूसरोंकी तरफ सिर्फ कुछ इशारा ही किया गया है, तो भी दूसरे धर्मावलम्बी इससे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं । अच्छा होता यदि दूसरे धर्मके धर्मात्माओंके भी इसमें खास खास चित्र रहते और इसे एक अच्छे चित्रालयका रूप दिया जाता । अस्तु, पुस्तक उपयोगी, सब स्त्रीपुरुषोंके पढ़ने और संग्रह किये जानेके योग्य है । छपाई पुस्तककी कुछ अच्छे ढंगसे नहीं हुई, उसमें बहुतसी अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं और साथ ही कागज भी घटिया लगाया गया है । आशा है दूसरी आवृत्तिमें इस प्रकारकी त्रुटियोंके दूर करनेका यत्न किया जायगा ।

८ एक आदर्श जीवन । ले०,पं० कन्हैयालालजी जैन, कस्तला । प्रकाशक, श्री आत्मानंद जैन ट्रेक्ट सोसायटी, अम्बालाशहर । मूल्य, एक आना ।

इस पुस्तकमें सम्राट् अकबर द्वारा पूजित श्वेताम्बराचार्य श्रीहीरविजयसूरिका ७६ पद्योंमें संक्षिप्त जीवन वृत्तांत है । रचना प्रायः अच्छी है और पुस्तक पढ़ने योग्य है । कहीं कहीं कुछ अशुद्धियाँ जरूर पाई जाती हैं जिनसे छंदोभंग हो गया है ।

हिन्दी ज्ञानार्णव ।

अलीगंज जि० एटासे बाबू कामताप्रसादजी पी० जैन लिखते हैं कि मैं स्थानीय मंदिरजीमें शास्त्रोंके कुछ अस्तव्यस्त पत्रोंको देख रहा था, तो उनमें एक पत्र पर अत्यंत ही मनोहर, भावपूर्ण--परंतु कठोर छंदोंको संकलित देखा । प्रारंभमें लिखा हुआ है ' हिन्दी ज्ञानार्णवके छंद; ' फिर सवैया ३१ सा और दोहेमें वृद्धाधिकार सम्यग्ज्ञानाधिकार आदि विषयों पर कविता है; अन्तमें लेख है कि " मिती आस्विनसुदी ३ जीवालालने सं० १८६५ वि० में लिखा । " इससे मालूम होता है कि हिन्दीमें भी ' ज्ञानार्णव ' नामका कोई ग्रंथ बना है जिसपरसे जीवालालने अपनी रुचि तथा आवश्यकताके अनुसार कुछ छंदोंको उक्त पत्र पर उध्दृत कर रक्खा था । यह ग्रंथ कब बना है और किसने बनाया है, इन बातोंका उक्त पत्र परसे कोई पता नहीं चलता । हाँ, इतना पता जरूर चलता है कि ग्रंथ वि० सं० १८६५ से पहलेका बना हुआ है । बाबूसाहब लिखते हैं कि " यहाँ पर ऐसा कोई ग्रंथ नहीं है और न मेरे सुननेमें ही कोई हिन्दी ज्ञानार्णव नामक ग्रंथ आया है । " अस्तु; हमारे खयालमें यह वही छंदोबद्ध ज्ञानार्णव होगा जो जैनसिद्धान्तभवन आराकी, हस्तलिखित भाषाग्रंथोंकी, सूचीमें नं० २३७ पर दर्ज है । सूचीमें ग्रंथकर्ताका नाम लक्ष्मीचंद, पत्रसंख्या १११, श्लोकसंख्या ३०००, और लिपिकाल सं० १८६९ दिया है । बाबूसाहबने उक्त पत्र परसे, जिन छंदोंको उद्धृत करके हमारे पास भेजनेकी कृपा की है और जिन्हें हम अपने पाठकोंके परिज्ञानार्थ नीचे प्रकट करते हैं उनमें स्त्रीवर्णनसम्बंधी एक दोहेमें 'चंदबुद्धिकी संपदा' ये शब्द आये हैं । इनसे कविने अपना

नाम 'लक्ष्मीचंद' सूचित किया है, ऐसा ध्वनित होता है। और इस लिये दोनों ग्रंथ एक ही जान पड़ते हैं। परंतु इसका विशेष निर्णय निम्नपद्योंको उक्त ग्रंथमें देखनेसे हो सकता है। आशा है कि आराके कोई भाई या दूसरे किसी स्थानके भाई जहाँ छंदोबद्ध ज्ञानार्णव ग्रंथ हो, इस विषयका स्पष्टीकरण करनेकी कृपा करेंगे।

यहाँ बाबूसाहबके भेजे हुए उक्त पत्रके पद्योंको देनेसे पहले हम अपने पाठकोंपर इतना और प्रकट किये देते हैं कि इन पद्योंपरसे यह ग्रंथ श्रीशुभचंद्राचार्यके संस्कृत ज्ञानार्णवका अनुवाद मालूम नहीं होता। संभव है कि उसका आशय लेकर यह ग्रंथ हिन्दीके नाटक समयसारकी तरह स्वतंत्र रचा गया हो। ग्रंथके देखने पर इन सब बातोंका भले प्रकार निर्णय हो सकता है:—

वृद्धसेवा। सवैया ३१—

"त्यागु त्यागु संगकौ अनंगकौ अंदोह (?) जहां,
मुंच मुंच कुप्रपंच मोह-उरझाव रे।
जानि जानि एक तत्व आतमीक नीके करि,
एकमेक रमि रहु चारितके चाव रे॥
सुनि सुनि सीख गुरु जिनकी समाधि भजि,
तजि तजि विषयविकारकौ विभाव रे।
कर करु एक पुरुषारथ मुकतिहेतु,
देख देख निजरूप कैसो है रे बावरे॥ १॥

दोहा—

सुखनिधान विज्ञानघन, विगतविश्वपरचार।
आपुनहीते पाइए, प्रीतमतत्वविचार॥"

स्त्रीवर्णन। सवैया ३१—

"जाति है न निंद्य कहूँ, निंद्य है कुचालि चालि,
सारी हैं न नारी बुरी बुरी ये बुरी कहीं।
दूषन है कोऊ कुलभूषन है कोऊ तातें,
भूषवत दूषनको संग एह है मही।
भवभीतहारी सबश्रुतज्ञानधारी, जो ये
निंदी साधु नारी तोक बड़ाबड़ी है नहीं।
शील सावधान, संयमसहित ज्ञान नाहीं (?)
नहीं निंदनीक ++ ऐसी बानी है सही॥

दोहा—

यह सरूप लखिया लख्यौ, नारि सुभासुभ जाति।
चंदबुद्धिकी संपदा, ताहीको नियरात॥"

सम्यकज्ञानमहिमा। सवैया ३१—

"दुरति तिमिरको दिनेस यौं जिनेस कहैं
मोक्ष इंदिराकौ, यहै इंदीवर (?) एक है।
मदन महाभुजंग मंत्र साँचौ जगमांहि,
चित्त गज समनकों सिंह याकौ कै कहैं॥
व्यसन सघन [घन] मथन समीरसम
जगतत्व देखिवेकौ दीपक विवेक है।
विषय सफर जाल कालको विसाल साल,
साधु साधु ज्ञान एक आतमीक टेक है॥
याही जग कक्षमें विपक्ष जगजीवनकौ,
तक्षक कीनास विष व्यापि रह्यो जनमें।
क्रोध ऊंचे सैलसम कुटिल सरितगति
पतन यतन विनु होत भव वनमें॥
विषई विरंध (?) फिरैं विधुरित प्रानीगन,
तौलौं जौलौं ज्ञानभानु प्रघटै न मनमें।
लवधि विमल ज्ञान विमल प्रमान रहै,
राते सुख आतमीक संपतिके गनमें॥

दोहा—

सुखद दसा सारी चहै, वंछित चितकौ आप।
साधु एक तू ज्ञान गुन तजिके और कलाप।"

[क्रोधवर्णन] सवैया—

"द्वारिकाकौ दाह कीनो द्वीपाइन क्रोधवस,
यादव जराये सारे पापै न विचार्यो है।
आप पर दोऊ कोऊ पावें अपकार एहु,
साथ हो अनादिके या चेतन उचार्यो है॥
पापको संतापीको मिलापी है नरक देन,
याहीते महंत जन नातो तोरि डार्यो है।
तातें समसेवी जीव क्रोधकौं निवारि दूरि,
आगम अभ्यासें जीवैं भ्रमको निवार्यो है।

दोहा—

क्रोधअग्निकों एक ही, उपसावने समर्थ।
क्षमानदी सम जलभरी, न रहै अघा अनर्थ॥"

धर्म और समाज।

(प्रतिभासे उद्धृत।)

समाजके लिए धर्मकी आवश्यकता है या नही ? इस प्रश्न पर कुछ अपने विचार प्रकट करना ही आज इस लेखका उद्देश हे। प्राचीन और नवीन अथवा पूर्व और पश्चिम इन दोनोंके संघर्षसे यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। पूर्वी सभ्यता सदासे धर्मकी पक्षपातिनी रही हे ओर उसने धर्मको समाजमें सबसे ऊँचा स्थान दिया है। पश्चिमी सभ्यता इस समय चाहे उसकी विरोधिनी न हो, पर उससे उदासीन अवश्य है और कमसे कम समाजकी उन्नतिके लिए वह उसे आवश्यक नही समझती। उसकी सम्मतिमें बिना धर्मका आश्रय लिए भी नैतिक बलके सहारे मनुष्य अपनी वैयक्तिक ओर सामाजिक उन्नति कर सकते हैं।

यद्यपि पहले पश्चिम भी धर्मका ऐसा हा अनन्य भक्त था जेसा कि इस समय भारतवर्ष। पर मध्यकालमें कई शताब्द तक वहाँ धर्मके कारण बडी अशांति मची रही। धर्ममदसे उन्मत्त होकर समाजने बडे बडे विद्वानों और संशोधकोंके साथ वह सलूक किया जो लुटेरे मालदारोंके साथ करते है। ५० वर्ष तक लगातार जारी रहनेवाला यूरोपका धर्मयुद्ध प्रसिद्ध ही है। इसलामने जो सलूक ईसाइयोंके साथ किया उसको जाने दीजिए, क्योंकि वह एक भिन्न धर्म था। ईसाई धर्मकी ही दो शाखाओंने, जिनका नाम कैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट है, एक दूसरेके साथ जैसे जैसे अत्याचार और अमानुषिक बर्ताव किये हैं उनपर अब तक यूरोपका इतिहास रुधिरके आँसू बहा रहा है। इसलिए अब सभ्यता और उन्नतिके युगमें पश्चिमनिवासियोंकी यदि धर्म पर वह श्रद्धा नहीं है जो उनके पूर्वजोंकी थी तो वह सकारण है। यद्यपि पूर्वापेक्षा अब उनके धर्मका भी बहुत कुछ संस्कार हो गया है और शिक्षाकी उन्नतिके साथ साथ जिसमें यूरोप और अमेरिकाने सबसे अधिक भाग लिया है, उनके धर्ममें भी सहिष्णुता, स्वतन्त्रता और उदारताकी मात्रा बढ़ गई है, तथापि धर्मवादके परिणामस्वरूप जो कडवे फल उनको चखने पड़े है, उन्होने उनको धर्मकी सीमा नियत कर देनेके लिए बाधित किया, तदनुसार उन्होने धर्मकी अबाध सत्तासे अपने समाजको मुक्त कर दिया। अब वहाँ यही नहीं कि समाजकी शासन-सत्तामें धर्म कुछ विक्षेप नहीं डाल सकता। किन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक प्रबंधमें भी कुछ हस्तक्षेप नहीं कर सकता और बहुतसी बातोंके समान धर्म भी एक व्यक्तिगत बात मानी जाती है, जिसका जी चाहे, किसी धर्मको माने, न चाहे न माने। माननेसे कोई विशेष स्वत्व पैदा नहीं होते, न माननेसे कोई हानि नही होती।

यह तो रही पश्चिमकी धार्मिक अवस्था, अब रहा पूर्व। यद्यपि पूर्वमें सर्वत्र ही धर्मका प्राधान्य है तथापि भारतवर्षमें तो उसका एकाधिपत्य राज्य है। यद्यपि यहाँकी शासनसत्ता पश्चिमी लोगोंके हाथमें होनेसे अब उसमें वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता, तथापि भारतीय समाजोंमें और उनकी विविध शाखाओंमें उसका अप्रतिबन्ध अधिकार है। हम जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त चाहे किसी दशामें रहें, कुछ करें, धार्मिक बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकते।

हमको केवल अपने पूजा-पाठ या संस्कारोंमें ही धर्मकी आवश्यकता नहीं किन्तु हमारा हर काम चाहे वह सामाजिक हो या व्यक्तिगत धर्मके

बन्धनसे जकड़ा हुआ है । यहाँतक कि हमारा खाना पीना, जाना आना, सोना, जागना और देना लेना इत्यादि सभी बातोंमें धर्मकी छाप लगी हुई है । हम हिन्दू होकर सब कुछ छोड़ सकते हैं पर धर्मको किसी अवस्थामें भी नहीं छोड़ सकते । हमारे पूर्वज धर्मको ही अपना जीवनसर्वस्व मानते थे और यही उपदेश शास्त्रोंमें वे हमको भी कर गये हैं । मनु लिखता है:—

धर्मएव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानोधर्मो हतोऽवधीत् ॥

प्राचीन आर्य लोग धर्मको केवल परलोकका ही साधन नहीं मानते थे, किन्तु इसलोकका बड़ेसे बड़ा सुख भी धर्मके बिना उनकी दृष्टिमें हेय था । त्रिवर्गमें जिसका सम्बन्ध संसारसे है, धर्म ही सबसे पहला और मुख्य माना गया है । कणाद तो अपने वैशेषिक दर्शनमें अभ्युदयकी नींव भी धर्मपर ही रखता है । यथाः—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

अतएव हम अपने शास्त्रोंको मानते हुए और पूर्वजों पर श्रद्धा रखते हुए किसी दशामें भी धर्मकी उपेक्षा नहीं कर सकते ।

पश्चिमकी शिक्षाका प्रभाव जिन लोगों पर पड़ा है, वे चाहे हमारे स्वदेशी बान्धव ही क्यों न हों, हमको भी यह सलाह देते हैं कि हम भी यदि इस जातीय उन्नतिकी दौड़में भाग लेना चाहते हैं तो धर्मकी कोई ऐसी सीमा नियत कर दें, जिससे आगे यह अपने पैर न फैला सके । उनका यह कथन है कि जबतक हमारे हरएक काममें धर्मका पचड़ा लगा हुआ है, हम समयकी गतिके साथ नहीं चल सकते और न अपना कोई जातीय आदर्श बना सकते हैं । जो लोग हमको यह सलाह देते हैं, हम उनके सद्भावमें कोई संदेह नहीं कर सकते और यह भी हम मानते हैं कि देशहितकी प्रेरणासे ही वे यह सलाह हमको देते हैं । पर हाँ यह हम अवश्य कहेंगे कि वर्तमान धार्मिक अवस्थाके विकृत स्वरूपको देख कर और हमारे धर्मके वास्तविक तत्त्व पर गम्भीर दृष्टि न डाल कर ही यह सम्मति दी जाती है । यदि धर्मको उसके वास्तविक रूपमें देखा जाय तो वह कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकता । यद्यपि विदेशियोंके संसर्गसे या हमारे दौर्भाग्यसे यहाँ भी धर्मका विधेय वह नहीं रहा, जो प्राचीन कालमें था । हमें यह कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं है कि सभ्यताके आदि गुरु आर्योंका धर्म मतवादसे सर्वथा पृथक् है ।

इस मतवादको धर्म समझनेका यूरोपमें यह परिणाम हुआ कि वह राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रसे ही अलग नहीं किया गया किन्तु मानसिक और नैतिक उच्चभावोंकी रीतिके लिए भी अनावश्यक समझा गया । उसका सम्बन्ध केवल उपासनालयोंसे रह गया और वह भी रविवारके दिन घंटे दो घंटेके लिए । बहुतसे स्वतन्त्रता देवीके उपासक तो इससे भी मुक्त हो गये । हम उनकी बुद्धिमत्ताकी प्रशंसा करते हैं । यदि वे ऐसा न करते और हमारी तरहसे अपनी विचारशक्तिको कल्पनाशक्तिके अधीन कर देते तो आज उनके देशमें विद्या और बुद्धिका यह विकास, कलाकौशलकी यह उन्नति और उद्योग तथा व्यवसायका यह प्रभाव देखनेमें न आता । यदि हमारे धर्मकी भी ऐसी ही व्यवस्था हो औरवह वास्तवमें मतवादका प्रवर्तक हो, तब तो हमको भी कृतज्ञताके साथ उनकी यह सलाह मान लेनी चाहिए और यदि ऐसा नहीं है तो हमें धर्मका वास्तविक तत्त्व उन्हें समझाना चाहिए ।

---

१ जैनाचार्य श्रीसोमदेवसूरिने अपने नीतिवाक्यामृतमें भी धर्मका लक्षण इन्हीं वाक्योंमें दिया है ।
—सम्पादक ।

हम यहाँ पर कह देना चाहते हैं कि मत या संप्रदायके अर्थमें धर्म शब्दका प्रयोग करना भी हमने अधिकतर विदेशियोंहीसे सीखा है। जब विदेशी भाषाओंके 'मजहब' 'रिलीजन' शब्द यहाँ प्रचलित हुए, तब भूलसे या स्पर्धासे हम उनके स्थानमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग करने लगे। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें जो विदेशियोंके अनेसे पूर्व रचे गये थे, कहीं पर भी 'धर्म' शब्द मत, विश्वास या संप्रदायके अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ, प्रत्युत उनमें सर्वत्र स्वभाव और कर्त्तव्य इन दो ही अर्थोंमें इसका प्रयोग पाया जाता है। प्रत्येक पदार्थमें उसकी जो सत्ता है, जिसको स्वभाव भी कहते हैं, वही उसका धर्म है। जैसे वृक्षका धर्म जड़ता और पशुका धर्म पशुता कहलाती है, ऐसे ही मनुष्यका धर्म मनुष्यता है। वह मनुष्यता किस वस्तु पर अवलम्बित है ? इसमें किसीका मतभेद नहीं हो सकता कि मनुष्यताका आधार बुद्धि है। बुद्धिकी दो शाखायें हैं, एक कल्पनाशक्ति, दूसरी विचारशक्ति। कल्पनाशक्ति, सन्देहात्मक है और विचारशक्ति निर्णयात्मक। बिना सन्देहके किसी बातका निर्णय हो नहीं सकता। अतएव अपनी कल्पनाशक्तिसे सन्देह उठा कर पुनः विचारशक्तिसे उसका निर्णय करनेमें जो समर्थ है, वही मनुष्य है। संसारमें सिवाय असभ्य और वन्य लोगोंके और कौन ऐसा मनुष्य होगा, जिसको ऐसे धर्मकी आवश्यकता न होगी, जो उनको मनुष्य बनाता है ?

यह तो हुआ सामान्य धर्म, अब रहा विशेष धर्म, इसीका दूसरा नाम कर्त्तव्य भी है। मनुष्य चाहे किसी दशा में हो, उसका कुछ न कुछ कर्त्तव्य होता है। यदि राजा राजधर्मका, प्रजा प्रजाधर्मका, स्वामी प्रभुधर्मका, सेवक सेवाधर्मका, पिता पितृधर्मका, पुत्र पुत्रधर्मका, पति पतिधर्मका, स्त्री स्त्रीधर्मका, गृहस्थ गृहस्थधर्मका और यति यतिधर्मका साधन न करें तो फिर संसारमें न कोई मर्यादा रहे, न व्यवस्था। संसारमें शान्ति और व्यवस्था तभी रह सकती है, जब प्रत्येक मनुष्य कर्तव्यके अनुरोधसे अपने अपने धर्मका पालन करे। अतएव इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं कि धर्म ही संसारकी प्रतिष्ठाका कारण है। धर्मके इसी महत्त्वको लक्ष्यमें रखकर तैत्तिरीयारण्यकमें यह कहा गया है:—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

अब हम कुछ प्रमाण भी जिनमें 'धर्म' शब्द प्रस्तुत अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, उद्धृत करते हैं। महाभारतमें धर्मका निर्वचन इस प्रकार किया गया है:—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

धात्वर्थसे भी इसीकी पुष्टि होती है, क्योंकि 'धृ' धातु धारणके अर्थमें है।

यो ध्रियते दधाति वा स धर्मः।

जो धारण किया हुआ प्रत्येक पदार्थको धारण करता है, वह धर्म है। अग्निमें यदि उसका धर्म तेज न रहे फिर कोई उसे अग्नि नहीं कहता, ऐसे ही मनुष्य यदि अपने धर्मको त्याग दे तो फिर केवल आकृति और बनावट उसकी मनुष्यताकी रक्षा नहीं कर सकती। उपनिषदोंमें जहाँ 'धर्मञ्चर,' 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' इत्यादि वाक्य आते हैं, वहाँ भी इससे कर्तव्य या सदाचारका ही ग्रहण होता है। मनुने धर्मके धृत्यादि जो दस लक्षण बतलाये हैं और जिनको धारण करके एक नास्तिक भी धर्मात्मा बन

सकता है, उनमें मतवादका गन्ध तक नहीं है। गीतामें भी:—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

इत्यादि वाक्योंमें 'धर्म' शब्द कर्तव्यका ही सूचक है, क्योंकि मनुष्यके लिए प्रत्येक दशामें अपने कर्त्तव्यका पालन करना ही सर्वोपरि धर्म है, अपने कर्त्तव्यसे उदासीन होकर दूसरोंका अनुकरण करना चाहे वे अपनेसे श्रेष्ठ भी हों, अनधिकारचर्चा है। जब मनुष्यके आचार या कर्त्तव्यका नाम धर्म है तब यदि हमारे पूजनीय पूर्वजोंने उसको मनुष्यकी प्रत्येक दशासे (चाहे वह आत्मिक हो या सामाजिक या वैयक्तिक) सम्बद्ध किया तो इससे उनका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता था कि उन्होंने हमको मतवादके जालमें फँसानेके लिए धर्मकी टट्टी खड़ी की। उन्होंने तो हमारे मनुष्यत्वकी रक्षाके लिए ही प्रत्येक कार्यमें इसका आयोजन किया था।

अब प्रश्न यह होता है कि जब धर्म मतसे पृथक् है तो फिर मतवादमें या भ्रमात्मक विश्वासोंमें उसका पर्यवसान क्यों कर हुआ? इसका कारण चाहे कुछ हो पर इसमें सन्देह नहीं कि हमारे दौर्भाग्यसे इस समय हमारी धार्मिक अवस्था वह नहीं हैं जो उपनिषदों और दर्शनोंके समय थी। उस समय सैद्धान्तिक भेद भी हमारे धर्मको कुछ हानि नहीं पहुँचा सकता था, पर आजकल आंशिक भेदको भी हमारा कोमल धर्म सहन नहीं कर सकता। उस समय हिन्दू धर्म इतना उदार था कि वह बौद्ध और जैन जैसे निरीश्वरवादी मतोंको भी अपने क्रोड़में स्थान दे सकता था, पर आजकल का हिन्दूधर्म साकारवादी और निराकारवादियोंको भी मिलकर नहीं रहने देता। पहलेका हिन्दूधर्म सदाचारीको धर्मात्मा और ज्ञानीको मोक्षका अधिकारी (चाहे वह कोई हो) मानता था, पर आजकलका हिन्दूधर्म अपने लक्ष्यसे ही च्युत होकर या तो मत मतान्तरके शुष्क वादविवादमें या पुरानी लकीरको पीटनेमें अपनी शक्तिका दुरुपयोग कर रहा है। संसारके और समस्त विषयोंमें हम विचारशक्तिका उपयोग कर सकते हैं, पर केवल धर्म ही एक ऐसा सुरक्षित विषय है कि जिसमें आँखें बन्द करके दूसरोंके पीछे चलना चाहिए। यदि इसकी कोई सीमा नियत होती, तब भी गनीमत थी, पर अब इस दशामें जब कि इसकी अबाध सत्ता है, कोई भी विषय हमारे लिए ऐसा नहीं रह जाता, जिसमें हम स्वच्छन्द विचरण कर सकें। धर्मके नामसे अब तक हमारे समाजमें जैसे जैसे अनर्थ और अत्याचार हो रहे हैं, उनके कारण हमारे करोड़ों भाई बहन मनुष्य होते हुए पशु जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस बीसवीं सदीमें जब कि अन्य देशवासी राष्ट्र ही नहीं किन्तु राष्ट्रसंघ और साम्राज्यकी स्थापना कर रहे हैं, भारतवर्ष यदि समाज-संगठनके भी अयोग्य है तो उसका कारण भ्रमात्मक संस्कार ही हैं।

हम मानते हैं कि जैसा धर्मका दुरुपयोग आजकल भारतवर्षमें हो रहा है, और ऐसा कहीं देखनेमें न आवेगा। परन्तु अब प्रश्न यह है कि धर्मका प्रयोग अन्यथा किया जारहा है, क्या इसलिए हम धर्मको ही छोड़ दे? यदि कोई मनुष्य अपनी मूर्खतासे अग्निमें हाथ जला लेता

है तो क्या उसे यह उपदेश करना ठीक होगा कि वह अग्निसे कभी कोई काम न ले या कि उसे अग्निसे काम लेनेकी तरकीब सिखाना ठीक होगा। इसका उत्तर प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य यही देगा कि दूसरी बात ही होनी चाहिए।

यद्यपि आधुनिक शिक्षा और समयके प्रभावसे आजकल धार्मिक क्षेत्रमें भी असन्तोष और हलचल मची हुई है और प्रत्येक धर्मके अग्रणी और शिक्षित पुरुष यह अनुभव करने लगे हैं कि अब इस बीसवीं शताब्दीकी जनताको इस प्रकाशके युगमें केवल धर्मके नामसे रूढ़िका दास नहीं बनाया जा सकता और न इस बढ़ते हुए हेतुवादके प्रवाहको ही रोका जा सकता है। तथापि वे:—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञाना कर्मसंगिनाम्।

इस नीतिका अनुसरण करते हुए धर्मके विषयमें स्पष्टवादितासे काम नहीं ले सकते। इतना ही नहीं बहुतसे शिक्षित ऐसे भी मिलेंगे जो अपने समाजको प्रसन्न करनेके लिए या उसका विश्वास-भाजन बननेके लिए उसके भ्रमात्मक विश्वासों पर तर्क और विज्ञानकी कलई चढ़ाने लगते हैं। जिस देशमें नैतिक बलकी यह दुर्दशा हो और जहाँ मानके भूखे शिक्षित लोग अशिक्षितोंसे मानभिक्षाकी याचना करें, वहाँ यदि धर्मका ऐसा दुरुपयोग हो रहा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु प्रश्न यह है, कि जब तक धर्मके सूर्यमें अन्धविश्वासका यह ग्रहण लगा हुआ है क्या हम अपने उद्देश्य और लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हैं? हमारे देशके नेता राजनैतिक स्वतंत्रताके लिए तो फड़फड़ा रहे हैं, पर यह धार्मिक परतन्त्रता जो हमें खुली हवामें साँस भी नहीं लेने देती, उनकी दृष्टिमें जरा भी नहीं खटकती। क्या इसीलिए कि यह फाँसी हमने अपने आप लगाई है, इसकी मौत मीठी है?

हमारा वक्तव्य केवल यह है कि यदि धर्म हमारे स्वभाव या कर्त्तव्यका बोधक है, जैसा कि हम अपना अभिप्राय प्रकट कर चुके हैं, तब तो वह हमसे और हम उससे किसी दशामें भी पृथक् नहीं हो सकते। क्योंकि प्रत्येक पदार्थकी सत्ता उसके धर्म पर ही अवलम्बित होती है और ऐसे धर्मकी आवश्यकता न केवल समाजको है किन्तु प्रत्येक व्यक्तिको है। जहाँ राष्ट्र या समाज अपने उस स्वाभाविक धर्मका पालन करें, वहाँ कोई व्यक्ति भी उसकी उपेक्षा न करे। इस दशामें धर्मकी व्यापकता या अबाधसत्ता किसीको अवाञ्छनीय नहीं हो सकती और यदि यह हमारा भ्रम है और वास्तवमें धर्मका अभिधेय जैसा कि आजकल माना जा रहा है, मतमतान्तरके काल्पनिक सिद्धान्त और भ्रमात्मक विश्वास हैं, तो हम निःसंकोच अपने देशवासियोंसे यह प्रार्थना करेंगे कि जिस प्रकार पश्चिमवासियोंने धर्मकी सीमा नियत करके अपने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रोंसे उसका प्रतिबन्ध हटा दिया है, ऐसा ही हमको भी करना चाहिए अन्यथा ये भ्रमात्मक विश्वास अपने साथ हमको भी ले डूबेंगे।

आप डुबन्ते बामना ले डूबे जजमान।

—स्पष्टवादी।

सम्पादक जैनगजट और विचार-परिवर्तन ।

(लेखक—श्रीयुत, नाथूराम प्रेमी)

स्वनामधन्य हिन्दी जैनगजटके सम्पादक बरसोंसे एक बड़ा भारी कष्ट उठा रहे हैं। पुराने जैनपत्रोंके संग्रह-समुद्रको मन्थन करके वे अपने पाठक-परिवारके सम्मुख इस तत्त्वरत्नको रख रहे हैं कि इस समय उनके विचारोंसे विरुद्ध लिखनेवाले जितने लेखक हैं वे एक समय उन्हींके अनुयायी थे । समयके प्रभावसे अब उनकी बुद्धि बिगड़ गई है और वे (उनके माने हुए) जैनधर्म पर कुठाराघात कर रहे हैं। इत्यादि। हम जैनगजटके ग्राहकों और पाठकोंको इतना विवेकशून्य नहीं समझते हैं कि वे सम्पादक महाशयके उद्धार किये हुए इस वारुणीरत्नको ही अमृत समझकर पान कर जायँगे और मतवाले बनकर केवल इसी एक दलीलके जोर पर उनकी हाँमें हाँ मिलाने लगेंगे, इस कारण हमें सम्पादक महाशयके इस मन्थन-श्रम पर बड़ा तरस आता है और हम चाहते हैं कि वे अपनी शक्ति और समयका व्यय किसी अन्य उपयोगी कार्यके लिए करने लगें तो अच्छा हो।

मनुष्यके विचार सदा एकसे नहीं रहते। उनमें निरन्तर परिवर्तन हुआ करते हैं। जिस बातको आज एक मनुष्य अच्छा समझता है उसीको कल बुरा समझने लगता है। यह विचार-परिवर्तनशीलता मनुष्यजातिमें है, इसीलिए संसारमें उपदेशकों, गुरुओं और पुस्तकोंकी आवश्यकता है। यदि यह न होती, जन्मसे लेकर मरणतक मनुष्यके एकसे 'कूटस्थ नित्य' विचार रहते, उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता, तो सम्पादकमहाशयको रातदिन यह चिल्लाहट न मचानी पड़ती कि धर्म डूबा जा रहा है—उसकी रक्षाके लिए धर्मशिक्षाकी पतवारकी आवश्यकता है । हम सम्पादक महाशयकी अध्यात्म-जीवनीसे परिचित नहीं हैं, शायद वे जन्मसे ही मति-श्रुत-अवधिधारी हों और पूर्वोक्त नियमके अपवाद हों, इसी लिये जहाँके तहाँ, चलता-मलिनता-अगाढ़ता रहित, दूधके धोये जैसे रक्खे हों। परन्तु सभी तो ऐसे नहीं हो सकते हैं। उनकी बुद्धिका विकाश तो क्रमक्रमसे ही होता है। ऐसी दशामें उनके विचार-परिवर्तनको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखना, उन्हें रातदिन कोसना या उन्हें बुद्धिभ्रष्ट बतलाना कहाँकी बुद्धिमानी है !

स्वर्गीय पं० गोपालदासजी बरैया पहले आर्यसमाजी खयालोंके थे, पीछे उनके विचारोंमें परिवर्तन हो गया और वे कट्टर जैन बन गये। स्वामी विद्यानन्द या पात्रकेसरीके विषयमें प्रसिद्ध है कि वे पहले वेदानुयायी पण्डित थे, पीछे देवागमके प्रभावसे उनके विचारोंमें परिवर्तन हो गया और उन्होंने सुप्रसिद्ध तार्किक बनकर जैनधर्मके तर्कसाहित्यको चमका दिया। महावीर भगवानके जितने गणधर थे वे सब प्रायः वेदानुयायी ब्राह्मण थे और इस विचार-परिवर्तनकी महिमासे ही द्वादशांगके ज्ञाता हुए थे। इन सब उदाहरणोंके होते हुए भी यदि कोई विचारपरिवर्तनको बुरा समझे और इसके कारण बिगड़कर जमीन-आसमान एक करने लगे तो इसके सिवाय और क्या कहा जा सकता है कि उसे 'बुद्धिमान्द्य' हो गया है।

यदि बाबू सूरजभानजी, बाबू जुगलकिशोरजी आदिके और मेरे विचार आजसे दस बीस वर्ष पहले सम्पादक महाशयके ही जैसे थे और अब उनमें परिवर्तन हो गया है, तो इसमें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । यह तो स्वाभाविक ही है। मनुष्यका अध्ययन और अनुभव ज्यों

ज्यों बढ़ता है; त्यों त्यों वह अपनी भूलें समझता है और अपने विचारोंको अधिकाधिक परिष्कृत और स्वच्छ करता जाता है। इसीसे तो मालूम पड़ता है कि वह सत्यान्वेषी है, जिज्ञासु है और उसके हृदयमें किसी तरहका आग्रह या पक्षपात नहीं है। यहीं तो मनुष्यका मनुष्यत्व है। यही तो उसकी शोभा है।

यदि सम्यग्दृष्टित्वका अर्थ यह है कि उसका धारक आपके समान जीवनभर जहाँका तहाँ बना रहे, टससे मस नहीं होवे, जो बात पकड़ ले उसे मर जानेतक भी न छोड़े, जो कुछ आपने समझ लिया वही सर्वज्ञका वचन और जो दूसरे समझते हैं वह सब मिथ्यात्व, तो महाराज यह सम्यग्दर्शन आपको ही मुबारिक हो, हम तो इसे दूरसे ही नमस्कार करते हैं। यदि दुर्भाग्यसे संसारमें आपके इस अनोखे सम्यग्दर्शनकी ही पूजा होती रहती तो वह अब तक असभ्य अवस्थामें ही पड़ा रहता। न वह समता और अहिंसा आदि तत्त्वोंका स्वर्गीय संदेशा लानेवाले भगवान् महावीर, बुद्धदेव आदि महात्माओंको जन्म दे सकता और न अपनी छातीपरसे घोर अन्धकारकी घटाको दूर करनेमें समर्थ होता। बल्कि दूरतक विचार कर सोचा जाय तो आपके इस जैनधर्मका अभ्युदय भी नहीं होता।

और दूर क्यों जाते हैं, आपका यह तेरह पन्थ या शुद्धाम्नाय क्या है ? यदि इसके संचालक आप ही जैसे टससे मस न होनेवाले होते, जैनधर्मकी छाप लगे हुए सभी शास्त्रोंको सर्वज्ञवचन समझकर चुप हो जानेवाले होते, तो क्या इसकी जड़ जम सकती थी ? उस समय भी इनके विरुद्ध उछल कूद करनेवाले आप ही जैसे मठपतियों भट्टारकों और उनके शिष्यगणोंकी कमी नहीं थी। उन्होंने इनको कोसने और धर्मभ्रष्ट सिद्ध करनेमें भी कोई बात नहीं उठा रक्खी थी। हमने एक बीसपंथी पंडितका बनाया हुआ ग्रन्थ पढ़ा है, जिसमें भट्टारकोंको न माननेवाले तेरहपंथियोंको मुसलमान और म्लेच्छतुल्य बतलाया है ! परन्तु ये लोग चिल्लाते ही रहे और तेरहपन्थका प्रभाव देखते देखते देशव्यापी हो गया। यह सब आगरा और जयपुर आदिके विद्वानोंके विचारपरिवर्तनका ही तो फल था।

विचारोंका परिवर्तन उसी अवस्थामें बुरा कहा जा सकता है जब वह हृदय और बुद्धिकी ताड़नाके बिना, किसी स्वार्थके वश किया जाता है। परन्तु वास्तवमें विचार किया जाय तो उसे विचारोंका परिवर्तन कह ही नहीं सकते। वह तो एक तरह का ढोंग है, छल है, और वञ्चकता है। विचार तो उसके वही रहते हैं जो पहले थे; परन्तु अपना स्वार्थ साधनेके लिए, दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेके लिए, वह कहने लगता है कि अब मेरे विचार पलट गये हैं और अब मैं सत्य मार्ग पर आ गया हूँ। इस तरहके स्वार्थसाधु जिस तरह अपने विचारोंका परिवर्तन प्रकट करने लगते हैं, उसी तरह इन्हींके भाई-बन्धु कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनके विचार तो बदल जाते हैं—अपने समाजके विचारोंको वे बुरा समझने लगते हैं, परन्तु साहसके अभावसे और वर्तमान सम्मान-प्रतिष्ठा आदिके लोभसे वे उन्हें प्रकट नहीं करते हैं—हृदयमें ही छुपाये रहते हैं। उन्हें भय रहता है कि यदि हम अपने असली विचार प्रकट कर देंगे तो समाजमें हमारी इज्जत तीन कौड़ीकी हो जायगी और हमारे स्वार्थोंका घात होने लगेगा। इस इज्जत और आबरूके लिए कोई कोई तो यहाँ तक नीच हो जाते हैं कि अपने विचारोंको तो छुपाते ही हैं, साथ ही उन विचारोंको निर्भीक होकर प्रकट करनेवालोंके प्रति अन्याय और अत्याचारतक करने लगते हैं !

इस समय हमारे समाजकी जो अवस्था है उसके अनुसार मान-सम्मान, आदर-आतिथ्य,

आश्रय-प्रश्रय उन्हीं लोगोंको मिलता है जो गतानुगतिक विचारोंके माननेवाले और प्रकट करनेवाले होते हैं। इस मार्गमें जरा भी कष्ट नहीं है, अतएव इस पर चलनेवालोंकी भी कमी नहीं। परन्तु जो लोग गतानुगतिक नहीं हैं, प्रचलित विचारोंसे विरुद्ध विचार रखते हैं, उनका मार्ग बड़ा ही कण्टकाकीर्ण है। थोड़ेसे इने गिने विचारशीलोंको छोड़कर सभी उनका तिरस्कार करते हैं, उनसे घृणा करते हैं और उन्हें कष्ट देने तकसे भी बाज नहीं आते हैं। अतएव इस पर चलनेका साहस वे ही लोग करते हैं, जो सत्यके अनुयायी है, जिनके हृदय है और जो लोगोंके अज्ञान अन्धकारके कारण दुःखी हैं। उन्हें सब तरहके स्वार्थोंको लात मारनी पड़ती है और असह्य कष्टोंका स्वागत करना पड़ता है। ऐसे लोगोंकी संख्या हमारे ही समाजमें नहीं, सभी समाजोंमें कम है और रहेगी।

यह नहीं कहा जा सकता कि उन लोगोंके विचार हमेशा ठीक ही होते हैं—उनसे भूलें होती ही नहीं, परन्तु फिर भी उनके साहसका और सत्यप्रेमका मूल्य है। नितान्त पक्षपाती और अन्धविश्वासीको छोड़कर उनकी सत्यप्रियताकी सभी विवेकी प्रशंसा करेंगे। इसके सिवाय उनमें एक विशेषता और भी रहती है, अर्थात् अपनी भूलके मालूम होते ही वे तत्काल ही उसको सुधार लेते हैं और अपने विचारोंको बदल डालते हैं। उन्हें अपनी बातका आग्रह या हठ नहीं रहता है।

सम्पादक महाशयको चाहिए कि वे जिन जिन लोगोंके विचारपरिवर्तनोंके नमूने पुरानी फाइलोंमेंसे ढूँढ़ ढूँढ़ कर दिया करते हैं, लगे हाथ उनके विषयमें यह भी प्रकट कर दिया करें तो अच्छा हो कि अमुक बाबूके विचार पहले ऐसे थे, पर अब ऐसे हो गये हैं और इसका कारण उसका अमुक स्वार्थ है। अमुक सभाका प्रेसीडेण्ट होनेके लिए, अमुक पदवी पानेके लिए, अमुक धनीसे सहायता पानेके लिए, अथवा इसी तरहके अन्य किसी मतलबसे उसने यह पाप किया है। इसके बतलाये बिना न तो आपका परिश्रम ही सफल हो सकता है और न उस विचारपरिवर्तन करनेवालेको बुरा ही सिद्ध किया जा सकता है।

विचारपरिवर्तकों पर सबसे बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि उनके विचार आर्षग्रन्थों या प्राचीन शास्त्रोंसे विरुद्ध हैं। साधारण जनताके ऊपर सबसे बड़ा प्रभाव इसी बातका पड़ता है और यही सुनकर वह आपेसे बाहर हो जाया करती है। उसमें यह समझनेकी शक्ति नहीं कि संसारमें जो सब ग्रन्थ या पुस्तकें शास्त्र या ग्रन्थ नामसे प्रसिद्ध हैं वे सभी सर्वज्ञभाषित नहीं हैं। उनका प्रत्येक अक्षर और शब्द भगवानकी वाणी नहीं है। प्रायः छद्मस्थोंने ही—जिनमें अल्पज्ञानी भी थे—शास्त्रोंकी रचनायें की हैं। अतः उनसे भूलें भी हो सकती थीं। उनमेंसे बहुतोंने लोगोंकी कल्याणकामनासे जैसा वे जानते थे उसके अनुसार लिखा है, बहुतोंने सुन सुनाकर लिखा है और बहुतोंने कषायादिके वश भी लिखा है। जैनहितैषीमें ऐसे बहुतसे ग्रन्थोंकी समालोचनाएँ हो चुकी हैं जो अभीतक भगवानकी वाणी समझ कर माने पूजे जाते थे; परन्तु वास्तवमें जो जाली हैं और जिनके रचनेवालोंके उद्देश्य अच्छे नहीं थे। इसके सिवाय जैनाचार्योंके कथनोंमें परस्पर मतभेद भी पाया जाता है जिसका कुछ परिचय, शासनभेदादिसंबंधी लेखों द्वारा, समय समय पर हितैषीके पाठकोंको मिलता रहा है। ऐसी दशामें ग्रन्थों या शास्त्रोंकी दुहाई देकर यह हल्ला मचाना कि अमुक लेखक या वक्ता उनके विरुद्ध लिखता या बोलता है, इस लिए उसने जैनधर्म छोड़ दिया—वह भ्रष्ट हो गया—उससे बचना चाहिए—

उसकी लिखी हुई पुस्तक या पत्र नहीं पढ़ना चाहिए—कुछ अर्थ नहीं रखता। इस तरहका आन्दोलन—जिसका सारा दार मदार साधारण भोली भाली जनताकी अज्ञानता पर रहता है—अधिक टिकाऊ नहीं होता। कुछ समय तक अवश्य ही इसका कुछ फल दिखलाई देता है; परन्तु ज्यों ही लोग समझने-बूझने लगते हैं—यह आन्दोलनकी दीवाल अररा कर गिर पड़ती है।

यह याद रखना चाहिए कि संस्कृत, प्राकृत या पुरानी ढूँढारी आदि भाषाओंमें लिखे हुए सभी ग्रन्थ शास्त्र नहीं कहला सकते। केवल इसी हेतुसे कि वे अबसे पहलेके लिखे हुए हैं सभी आचार्यों, पण्डितों और भट्टारकोंके लेख मस्तक पर नहीं चढ़ाये जा सकते। किसी बड़े आचार्य या महात्माके नामसे भी अब अधिक समय तक लोग नहीं भुलाये जा सकते। अब तो भगवान् समन्तभद्रके नीचे लिखे हुए लक्षणोंसे युक्त शास्त्र ही शास्त्र गिने जायँगे और उन्हींके आगे विवेकियों और विचारशीलोंके मस्तक नत होंगे:—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥

अर्थात् जो आप्त या रागद्वेषरहित ज्ञानीका कहा हुआ हो, जिसका खण्डन नहीं हो सके, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंसे बाधित न हो, जिसमें तत्त्व या सत्यका उपदेश हो, जो मनुष्यमात्र और जीवमात्रका हितकारक हो और कुमार्गका मिटानेवाला हो वही सच्चा शास्त्र है।

अन्तमें सम्पादक महाशयसे फिर एक बार प्रार्थना है कि वे लोगोंके विचारपरिवर्तनोंको प्रकट करनेमें जो एड़ी-चोटीका पसीना एक कर रहे हैं, उसके करनेकी कृपा न करें और न शास्त्रों और ग्रन्थोंकी दुहाई देकर लोगोंको उत्तेजित करनेका प्रयत्न करें। इसका कुछ फल न होगा। संसारमें अन्धविश्वासों और गतानुगतिकताओंको पुनः प्रतिष्ठित करनेके प्रयत्न सफल होनेके दिन चले गये।

गूढ़ गवेषणायें।

(लेखक, श्रीमान् गड़बड़ानन्दजी शास्त्री।)

(१)

‘अस्माकूणां नैयायिकाणां कर्ण’ बहुत दिनोंसे यह वार्ता गूँज रही है कि ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी बाहरसे ‘बगुला’ (स्थितिपालक) और भीतरसे सौ-टंची सुधारक हैं। परन्तु हमने इस बातपर कभी विश्वास नहीं किया। बिना हेतु और प्रमाणके किसी बातको मान लेना शास्त्रिसम्प्रदायमें निषिद्ध है। उथली बुद्धिके बाबूसम्प्रदायकी बात दूसरी है। बेचारे करें भी क्या? हेतु और प्रमाणका शास्त्र सीखे हों तब न। परन्तु सावनवदी ७ के जैनमित्रको पढ़कर मैं चौंक पड़ा। उसमें ब्रह्मचारीजी महाराजने स्त्रीशिक्षाके प्रचारकी आवश्यकताको बड़े जोरोंके साथ प्रतिपादन किया है और उसकी पुष्टिमें माडर्न रिव्यूके सम्पादक श्रीयुत बाबू रामानन्द चटर्जीके लेखका हवाला दिया है। चटर्जी बाबू बड़े भारी सुधारक हैं। स्त्रियोंके लिए वे ऊँचीसे ऊँची शिक्षा देनेके पक्षपाती हैं। वे तो राज्यकी बड़ी बड़ी कौंसिलों तक में स्त्रियोंका जाना और उन्हें सम्मति देनेका अधिकार मिलना आवश्यक समझते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्मचारीजी भी अपने समाजकी स्त्रियोंको ऐसा ही बनाया चाहते हैं।

अब जरा सूक्ष्म शास्त्रीय बुद्धिसे इस बातपर विचार कीजिए। यह निश्चय है कि ब्रह्मचारीजी केवल पूजा-पाठ सूत्र-भक्तामर, सामायिक-आलोचना आदिकी शिक्षाको ही पर्याप्त नहीं समझते हैं। वे उन्हें व्याख्यान देनेके, पाठशालाओंमें पढ़ा सकनेके, सर्वसाधारणमें ऊँचे विचार फैला सकनेके और अपने गृहको स्वर्ग बना सकनेके योग्य बनाना चाहते हैं। ये बातें सुननेमें तो बड़ी

अच्छी मालूम होती हैं, परन्तु जरा गहरे पैठनेसे ज्ञान पड़ेगा कि ये कितनी भयंकर हैं। ज्यों ही वे पूजा-पाठसे आगे बढ़ेंगी, त्यों ही उनमें सद्-सद्विवेक बुद्धि जाग्रत होगी; उन्हें अपने व्यक्तित्वका ज्ञान होगा; वे समझने लगेंगी कि संसारमें पुरुष ही सब कुछ नहीं है हम भी कोई चीज हैं, हमारा भी आत्मा है, हमारे भी स्वतंत्र सुख-दुःख हैं, हमारे आत्माको भी स्वाधीन सुखकी प्यास है; केवल पुरुषोंके लिए ही हमारी सृष्टि नहीं हुई है; हम भी अपने आत्माकी उन्नति करनेकी अधिकारिणी हैं । हमसे हमारी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करानेका, या किसी कामसे रोकनेका उन्हें कोई अधिकार नहीं है । माना कि पातिव्रत, पतिसेवा, वैधव्य आदि व्रत अच्छे हैं, और कल्याणकारी हैं । हमें अपने कल्याणकी इच्छा होगी तो हम स्वयं उन्हें पाल लेंगी; परन्तु इन्हें जबर्दस्ती पलवानेका पुरुषोंको— उन नीच पुरुषोंको—क्या अधिकार है जिन्हें व्यभिचार करनेमें, एकाधिक पत्नियाँ रखनेमें, एकके मरते ही दूसरीको और फिर तीसरी चौथी पाँचवीं आदिको ब्याह लानेमें कोई संकोच नहीं होता है ? जैसे धूमके साथ अग्निकी व्याप्ति है, उसी प्रकार शिक्षाके साथ इस प्रकारके विचारोंके होनेकी व्याप्ति है । लड़कियोंको ज्यों ही थोड़ीसी ऊँची शिक्षा मिलेगी, वे अपने मातापिताके पसन्द किये हुए वरको पसन्द करनेसे इंकार करने लगेंगी । माता-पिता कहेंगे इस बूढ़ेके साथ तुम्हारी शादी होगी, इसने हमें दस हजार रुपये दिये हैं । वे कहने लगेंगी—यह बूढ़ा खूसट यदि हमारे सामने भी देखेगा तो हम इसकी झाड़ूसे पूजा करेंगी ! इसका परिणाम यह होगा कि समाजके स्तंभ स्वरूप बड़े बड़े धनी मानी अपने एकाधिक पत्नियोंको प्राप्त करनेके परम्परागत अधिकारसे वञ्चित होने लगेंगे, अन्धे काने, लूले लँगड़े, रोगी दुर्बल, मूर्ख दुराचारी ब्याहे न जायँगे,—पढ़ी लिखी लड़कियाँ उनके साथ क्यों ब्याह करने लगीं ? इसके बाद जाति-पाँतिका बन्धन भी उन्हें असह्य प्रतीत होगा । अपनी जातिमें अनुरूप वर न मिलेगा तो वे दूसरी जातियोंमेंसे ढूँढ़ने लगेंगी । यदि कोई दुर्भाग्यसे विधवा हो गई और उसने समझा कि मैं अपनी इन्द्रियोंसे नहीं जूझ सकूँगी तो दूसरा विवाह करनेके लिए तैयार हो जायगी । इस तरह विधवा-विवाह भी जारी हो जायगा ! यदि इतना ही होकर रह जाता तो भी गनीमत थी; स्त्रीशिक्षाका यह विष यहीं तक असर न करेगा, वह धीरे धीरे तलाक (डाइवोर्स) की रीतिको भी चलायगा और अन्तमें बहुतसी स्त्रियोंको यहाँ तक भी कहनेके लिए आमादा करेगा कि हम बच्चे जननेकी झंझटमें क्यों पड़ें ? कुमारी रहना क्या बुरा है ? परदा-सिस्टम, घरोंके पिंजरेमें कैद रहना, मर्दोंसे बात न करना, दिन भर दासियोंके समान काम करना, आदि बातें तो ऐसी हैं कि स्त्रीशिक्षाप्रचारके एक साधारण झोंकेसे ही उड़ जावेंगी । गरज यह कि ब्रह्मचारीजीने जिस स्त्रीशिक्षाके प्रचारका आन्दोलन उठाया है, उसके उक्त परिणाम अवश्यंभावी हैं और इससे शास्त्रीय बुद्धि कहती है कि ब्रह्मचारीजी कट्टर सुधारक हैं और उन सुधारकोंसे भी भयंकर हैं जो स्पष्ट शब्दोंमें अपने सुधार-विचारोंका प्रचार करते हैं । ये हजरत छुपे रुस्तम हैं, मिल कर मारनेवाले हैं, और पालिसीके धुरन्धर आचार्य है । इनसे सावधान रहनेकी जरूरत है । पं० खूबचन्दजी शास्त्रीने एक बार सत्यवादीमें बिलकुल सत्य लिखा था कि " जैनियोंमें आर्यसमाजके आदिब्रह्मा प्रकट हो गये!" शास्त्री लोगोंको ही ऐसी बातें इतने पहले सूझा करती हैं !

(२)

श्रीयुत् पं० पन्नालालजी गोधा यद्यपि मालवाके पंडित हैं, परन्तु फिर भी वे हमारे शास्त्री सम्प्रदायके अनुयायी हैं। यद्यपि अभी थोड़े दिन पहले उन्होंने एक लेखमें बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तारके स्वरमें स्वर मिला कर त्रिवर्णाचार आदि ग्रन्थोंको जाली बतलाने तकका साहस कर डाला था, फिर भी हमने उन्हें माफ कर दिया था। पर अब देखते हैं कि वे इस उन्नत सम्प्रदायके अनुयायी रहनेके योग्य नहीं हैं। उन्होंने बिना किसीसे पूछेताछे वायुयान पर बैठ कर पृथ्वी चलती है या स्थिर, इस बातका निर्णय करनेका बिगुल फूँक दिया। कहना नहीं होगा कि इस ढंगका प्रयत्न करना शास्त्रि-सम्प्रदायसे सर्वथा विरुद्ध है। शास्त्री लोग प्रत्येक बातका निर्णय तर्कशास्त्रसे किया करते हैं, एरोप्लेन, दूरबीन, खुर्दबीन आदि यंत्रोंसे नहीं। वे खूब जानते हैं कि यदि हमने इनमेंसे किसी एक यंत्रका भी सहारा लिया तो बाबू लोग हमें अन्यान्य यंत्रोंका सहारा लेनेके लिए भी लाचार करेंगे और उनके माननेसे यदि पृथ्वी चलती सिद्ध हो गई तो बड़ा गजब हो जायगा—हमें संसारमें खड़े होनेको भी कोई जगह न रह जायगी! जब कि हमारे प्राचीन आचार्योंने प्रत्येक विषयको तर्कशास्त्रसे सिद्ध किया है तब हम भी क्यों न उसी अमोघ शास्त्रका बल भरोसा रक्खें? यदि यंत्रादिकोंको ही प्रमाण मानना है, तो फिर पृथ्वीको चल क्यों नहीं मान लेते? क्या युरोपके विद्वानोंने इस विषयमें कोई कसर रख छोड़ी है? तरह तरहके यंत्र बनाकर और प्रत्यक्ष परीक्षायें करके उन्होंने तो इस विषयको बिलकुल ही हलकर डाला है। ८—१० वर्ष पहले जैनधर्मके एक सुप्रसिद्ध प्रचारकको लंदनकी भौगोलिक सोसायटीने, उनके एक पत्रके उत्तरमें, लिखा था कि सभ्य जगतमें अब कोई भी ऐसा मूर्ख नहीं है जिसे पृथ्वीके गोल और सचल होनेमें सन्देह हो! ऐसी दशामें शास्त्री लोगोंका इन यंत्रों और प्रत्यक्ष परीक्षाओंकी झंझटोंसे बिलकुल अलग रहनेमें ही कल्याण है। यदि कोई सामने आवे तो उसे शास्त्रार्थ करके चुप कर देना, बस इसीमें चतुराई है। साफ कह देना चाहिए कि हमें तुम्हारे यंत्रोंपर और परीक्षाओंपर बिलकुल विश्वास नहीं है। यदि हिम्मत हो तो शास्त्रार्थ कर लो! बस। और शास्त्रार्थ भी इन बातोंको लेकर कभी न करना चाहिए कि एक लाख योजनका ऊँचा जम्बूद्वीप है, गंगा सिन्धु आदि नदियोंकी सहायक नदियाँ अठारह अठारह हजार हैं, द्वीपके बाद समुद्र और समुद्रके बाद द्वीप हैं, आदि। क्योंकि इनके सिद्ध करनेका इस पंचमकालमें कोई उपाय ही नहीं रह गया है। हमें तो केवल उन्हींके सिद्धान्तोंका खण्डन करना चाहिए। इस झगड़ेमें अपने घरकी चर्चासे मतलब? जब दूसरोंका खण्डन हो गया तो अपना मण्डन स्वतः सिद्ध है! जान पड़ता है बेचारे गोधाजीको यह प्रायमरी भूगोलकी भी बात मालूम नहीं है कि पृथ्वीके साथ उसका वायुमण्डल भी घूमता है और उड़ता हुआ वायुयान भी पृथ्वीके आकर्षणके कारण उसके साथ ही रहता है, अतः उसपर चढ़कर न पृथ्वीकी स्थिरताकी ही परीक्षा हो सकती है और न चलताकी। ऐसी ऐसी बातें अखबारोंमें लिखना अपनी मूर्खताका प्रदर्शन करना है। इसमें पण्डितों और शास्त्रियोंकी हँसी होती है। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी बड़े उस्ताद हैं। वे सदैव एक ईंटसे दो पक्षी मारा करते हैं। गोधीजी जैसे लोगोंके लेखोंको छापकर इधर तो पुराणमतानुयायियोंके श्रद्धा भाजना बने रहते हैं और उधर पण्डितोंकी विद्याबुद्धिकी गहराई मापनेके लिए लोगोंके हाथोंमें गज भी थमा देते हैं। सावनवदी ७ के जैन-

मित्रमें आगरेके बाबू मंगलसेनजी बी० एस सी०, सी० टी० का एक ऐसा भी लेख उन्होंने छाप दिया है, जिसमें पण्डितोंकी दलीलोंको कुतर्क और जैनधर्मका गौरव घटानेवाली बतलाया है ! हम अलीगढ़की भूज्योतिषचक्रविवेचनी सभाको सावधान करे देते हैं कि वह भूगोल और खगोलसम्बन्धी प्रश्नोंके निर्णयमें शास्त्रार्थको छोड़कर और किसी मार्गका अवलम्बन भूलकर भी न करे, बल्कि हमारी रायमें तो उसे और गोधाजीको चाहिए कि वे वायुयानकी चिन्ताको छोड़कर कोई ऐसा प्रयत्न करें, जिससे विदेहक्षेत्रकी यात्रा सुगम हो जाय और वहाँ सीमंधरस्वामीसे इन सब प्रश्नोंका समाधान कर लिया जाय। हम तो इसीमें कल्याण देखते हैं।

(२)

बड़े बड़े धुरंधर विद्वानोंकी भी बुद्धिमें यह बात नहीं आती थी कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके श्रावक जो दिगम्बरियोंकी अपेक्षा धनी भी अधिक हैं और 'भगत' भी कम नहीं हैं—दिगम्बरियोंकी अपेक्षा मन्दिर बनवानेमें, और प्रतिष्ठायें करानेमें इतने पिछड़े हुए क्यों रहते हैं। वर्षोंके अध्ययन, मनन और अनुशीलनके बाद बड़ी मुश्किलसे मैं इसके कारणका पता लगा सका हूँ और आज उसे परोपकाराय प्रकाश कर देता हूँ। पर इस गवेषणाका सारा श्रेय मुझे ही मिलना चाहिए। क्यों कि मैं ही इसका प्रथम आविष्कारिक हूँ। बात यह है कि श्वेताम्बर समाजमें चलते फिरते सजीव मन्दिरोंकी संख्या बहुत बढ़ी हुई है और उनकी पूजा-प्रतिष्ठाके लिए उन्हें इतना धन खर्च करना पड़ता है कि जड़ मन्दिरोंके लिए उनके हाथ तंगीका अनुभव करने लगते हैं। इन सजीव मन्दिरोंको साधु, मुनि या मुनिराज आदि कहते हैं। इनका टोटल ५००-६०० से कम नहीं है। इनकी पूजा-अर्चाके लिए इतना खर्च किया जाता है कि यदि धर्मध्वंसी बाबू लोगोंके वशकी बात हो और वे उक्त खर्चको बन्द करके शिक्षाके काममें लगा सकें तो उससे एक स्वतंत्र यूनीवर्सिटी चलाई जा सकती है ! यदि किसीको इस खर्चका पूरा पूरा पता लगाना हो तो उसे उन सब नगरोंमें जाकर वहाँके श्रावकोंसे पूछना चाहिए जहाँ जहाँ किसी साधु-समुदायका चातुर्मास हुआ हो। एक एक साधु-संघके चातुर्मासके लिए दस दस हजार रुपये खर्च हो जाना तो बहुत ही मामूली बात है ! जिस समय साधुसंघका शुभागमन होता है उस समय बड़े ठाटबाटसे उनकी अगवानीका जुलूस निकाला जाता है। उसमें हजार दो हजार रुपये तो सहज ही स्वाहा हो जाते हैं। इसके बाद दूसरे खर्च शुरू होते हैं। एक प्रसिद्ध आचार्य महाराजका कारबार इतना बढ़ा हुआ है कि वे केवल पुस्तकों और डाँकखर्चके लिए ही अपने उपासकोंसे प्रतिमास पाँच सौ रुपयोंके लगभग अदा करते हैं ! अभी हाल ही एक लिक्खाड़ साधुने केवल एक पुस्तकका साहित्य संग्रह करनेके लिए पाँच हजार रुपये खर्च कराये हैं ! साधुओंको पदवियाँ भी चाहिए। जब उनके भक्त रायबहादुरी, सर नाइट आदिकी पदवियोंके लिए लाखों रुपये खर्च कर डालते हैं तब वे भी शास्त्रविशारद, न्यायविशारद आदि पाण्डित्यपूर्ण पदवियाँ प्राप्त करनेका प्रयत्न क्यों न करें ? एक आचार्य महाराजके विषयमें हम जानते हैं कि उनके कई शिष्य काशी और बंगालके बड़े बड़े पण्डितोंके यहाँ भटकते फिरे थे और उन्हें दक्षिणा दे देकर एक लम्बी चौड़ी पदवी प्राप्त करके लाये थे। इस काममें सिर्फ दस हजार रुपयेके लगभग खर्च हुए होंगे। उनकी देखा देखी कुछ और मुनि महाराजोंको भी यह शौक चर्राया था और उन्होंने भी इसी मार्गसे अपनी योग्यताके प्रमाणपत्र संग्रह किये थे। सुनते हैं इन निर्ग्रन्थनाथोंमेंसे अनेकोंके कई कोठीवालोंके यहाँ 'गुपचुप' खाते भी खुले हुए हैं और

उनमें लाखों रुपये जमा हैं ! अवश्य ही वे उन रुपयोंको कभी हाथसे स्पर्श नहीं करते हैं ! इन महात्माओंको ग्रन्थ छपाने और ग्रन्थ-संग्रह करनेका बड़ा शौक रहता है। इन दोनों मार्गोंसे रुपया संग्रह करनेमें सुभीता भी बहुत है। इससे जिनवाणी माताका उद्धार तो होता ही है, साथ ही इनके निर्ग्रन्थ व्रतका उद्यापन भी कम नहीं होता है। ग्रन्थ लिखनेमें भी ये बड़े सिद्धहस्त रहते हैं। शायद ही कोई वर्ष ऐसा जाता हो जिसमें इनकी सौपचास कृतियाँ प्रकाशित न होती हों और उन पर लेखकके और उनके गुरु महाराजोंके दिव्य फोटू न चमकते हों। इस मुद्रणकार्यका बोझा भी श्रावक ही उठाते हैं और इसके बदलेमें कभी कभी वे अपनी उदार मूर्तिको भी जनसाधारणके समक्ष उपस्थित करके कृतकृत्य हो लेते हैं। कहीं जैनधर्म इन अनाड़ी श्रावकोंके ही हाथमें पड़कर नष्ट भ्रष्ट न हो जावे—साधु-परम्परा बनी रहे, इस कारण प्रतिवर्ष दो चार नये रंगरूट भी तैयार किये जाते हैं और उनकी भरती या दीक्षाके उत्सवमें भी दस पाँच हजार रुपयोंका श्राद्ध किया जाता है। यह तो हुआ साधुओंका नैमित्तिक खर्च। अब रहा नित्य खर्च, सो वह कुछ बहुत बड़ा नहीं होता है। वस्त्रोंमें यदि दो तीन रुपये गजका मलमल और तीस तीस चालीस चालीस रुपयेके दो दो तीन तीन कम्बल मिल गये तो काफी हैं ! जो विशेष प्रतिष्ठित और प्रभावशाली आचार्य हैं, अवश्य ही उन्हें कोई कोई श्रावक सौ सौ रुपयेके भी कम्बल दे देते हैं ! भोजनके सम्बन्धमें तो साधु मात्र भाग्यवान् होते हैं। वे गृहस्थ थोड़े ही हैं जो लूखा सूखा भोजन करके गुजर करें। दिनमें सिर्फ दो बार आहार करते हैं—और बम्बई, अहमदाबाद, सूरत आदि शहरोंमें एक दो बार चा और दूध आदि भी ले लिया करते हैं। क्या करें, यहाँके लोगोंकी आदत ही पड़ गई है ! बढ़ियासे बढ़िया माल जब तक वे गुरुओंको न दे लेवें तब तक उन्हें चैन ही नही पड़ता ! तपस्वी ठहरे, तपसे शरीर क्षीण न होने पावे; इसके लिए साधु महाराज ओषधि-सेवन भी किया करते हैं। साधुओंको विदेशी वस्तुओंसे कोई द्वेष नहीं, इस लिए वे विलायती दवाइयोंको तो खुशीसे लेते ही हैं, साथ ही स्वदेशी वैद्योंका भी खयाल रखना पड़ता है, इस लिए उनकी भी बहुमूल्य औषधियों—सुवर्णमाक्षिक, चन्द्रोदय, बंगभस्म, मकरध्वज आदि—पर कृपा किया करते हैं। इसके लिए भी अनेक धनी श्रावक प्रतिवर्ष हजारों रुपया खर्च करते हैं और हृष्टपुष्ट साधुओंके अजस्र आशीर्वादोंकी वर्षासे भीगते रहते हैं। कुछ समय पहले एक स्वर्गवासी मुनिकी पेटी खोली गई तो उसमें कई शीशियाँ बहुमूल्य धातुपौष्टिक ओषधियोंसे भरी हुई मिली थीं। मालूम नहीं, भक्त श्रावकोंने उन शीशियोंको स्वर्ग भेजनेकी कोई व्यवस्था की या नहीं ! इन सब मोटी मोटी बातोंसे पाठक समझ लेंगे कि श्वेताम्बर श्रावक कितने उदार, कितने गुरुभक्त और कितने शासनप्रेमी हैं और उनके इन गुणोंसे जैनधर्मकी कैसी प्रभावना हो रही है !

(४)

श्वेताम्बर श्रावकोंकी उदारताका विस्तार तो सुनाया जा चुका अब उसके मुकाबिलेमें अपने दिगम्बरियोंकी संकीर्णताका संक्षेप और सुन लीजिए। गत भाद्रपदमें न्यायाचार्य पं० माणिक्यचन्द्रजी फलटण गये थे और वहाँके श्रावकोंसे नाम मात्रकी थोड़ीसी दक्षिणा ले आये थे। इस पर जातिप्रबोधक आदि मोंढ़े पत्रोंने कैसा अकाण्डताण्डव किया था, सो पाठक भूले न होंगे। क्षुल्लक मुन्नालालजी महाराज श्रावकोंसे—

विशेष कर श्राविकाओंसे कभी कभी सुमतिके अनुसार कुछ भेट आदि ले लिया करते थे, इस पर कलकत्तेमें बेचारेके पिच्छि कमण्डलु तक छीन लिये गये। अभी अभी कुछ दिनोंसे महामान्य ऐलक पन्नालालजीके विषयमें भी लोग तरह तरहकी बातें करने लगे हैं। बैठे ठाले लोग और कोई दोष नहीं मिलता तो यही पूछ-ताछ किया करते हैं कि क्योंजी, उनके आहारकी विधि धनियों और तर माल खिलानेवालोंके यहाँ ही क्यों मिल जाया करती है और गरीबों तथा साधारण लोगोंके यहाँ क्यों अन्तराय आ जाते हैं? और वे फर्स्ट और सेकिण्ड क्लासमें रेलवे सफर किस शास्त्रकी आज्ञासे किया करते हैं? गाँवों और कसबोंकी अपेक्षा वे शहरों पर ही सबसे अधिक कृपा क्यों रखते हैं? उनके केशलोचके उत्सव भी बहुतसे सुधारकोंकी आँखोंमें खटकने लगे हैं जिनमें मुश्किलसे दो चार हजार रुपये खर्च होते होंगे। दिगम्बरियोंकी इसी ओछाई और तुच्छताके कारण उनके यहाँ साधुसम्प्रदायका अभावसा हो गया है और उन्हें अपना रुपया अचल मन्दिरों और उनकी प्रतिष्ठाओंमें लगाना पड़ता है। जिन लोगोंको अब मन्दिर प्रतिष्ठायें इष्ट न हों, उन्हें चाहिए कि वे दिगम्बर सम्प्रदायमें साधुओंके उत्पन्न करने और उनके बढ़ानेका उद्योग करें तथा लोगोंको गुरुभक्तिका पाठ पढ़ावें। यदि किसी उपायसे साधुओंका बढ़ना संभव न हो तो कमसे कम इस पञ्चम कालके लिए शास्त्री और पण्डितोंको ही साधुओंके समान मानने और पूजनेका विधान शास्त्रविहित कर देना चाहिए। पर मैं भी एक शास्त्री और धुरन्धर पण्डित हूँ, अतः इस प्रस्तावके कारण किसीको मुझ पर स्वार्थसाधुताका दोष नहीं लगाना चाहिए। क्यों कि मैं स्वयं इस अधिकारसे वंचित रहनेके लिए तैयार हूँ। मुझे यही देखकर सन्तोष होगा कि मेरे शास्त्री भाई अच्छी तरहसे पुजे-धापे जा रहे हैं!

जरूरत।

जैनसिद्धान्तभवन आराके लिये एक ऐसे कनडी जाननेवाले विद्वानकी जरूरत है जिसकी दूसरी भाषा हिन्दी, अंग्रेजी अथवा संस्कृत हो और जो इन भाषाओंमेंसे किसी भाषामें कनडी भाषाके ग्रंथोंका आशय प्रगट कर सके। वेतन योग्यतानुसार ५०) रुपये मासिकतक दिया जायगा और साथमें रहनेको मकान भी फ्री मिलेगा। जो महाशय आना चाहें उन्हें, अपनी योग्यता आदिका परिचय देते हुए, 'मंत्री जैनसिद्धान्त-भवन, आरा' से अथवा हमसे पत्रव्यवहार करना चाहिये। —सम्पादक।

संशोधन।

हितैषीके गत अंक ४-५ में प्रकाशित गंधहस्ति-महाभाष्यवाले लेखमें असावधानीसे कुछ शब्द छपनेसे रह गये हैं। पाठक उन्हें निम्न प्रकारसे अपनी अपनी कापियोंमें बना लेवें:—

पृष्ठ १११ के प्रथम कालमकी १३ वीं पंक्ति में श्लोकवार्तिकके बाद 'राजवार्तिक' शब्द और दूसरे कालमके पाँचवें अनुसंधानमें 'भी' के बाद निम्न शब्दोंको बढ़ा लेना चाहियेः— 'ग्रंथका उल्लेख नहीं है इसलिये वहाँसे भी'

पृष्ठ ११३ की प्रथम पंक्तिमें 'भी' के स्थानमें 'श्री' बना लेना चाहिये और पृष्ठ ११४ के प्रथम कालममें ६ ठी पंक्तिके बाद निम्न पंक्ति छूट गई है उसे लिख कर ठीक कर लेना चाहिये—

'इस पद्यकी टीकामें 'अथ' शब्दका अर्थ यों बतलाया है:—'

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।

चौदहवाँ भाग । अंक ९

जैनहितैषी ।

जून १९२०
आषाढ़ २४४६

न हो पक्षपाती बतावे सुमार्ग, डरे ना किसीसे कहे सत्यवाणी ।
बने है विनोदी भले आशयोंसे, सभी जैनियोंका हितैषी 'हितैषी' ॥

सहानुभूति[1] ।

(अनु०—श्रीयुक्त ठा० कल्याणसिंह बी. ए. ।)

जब तुम अपनी आत्माको देखो तो कड़ी और तीव्र दृष्टिके साथ देखो; परन्तु जब दूसरोंको देखो तो अनुकम्पासे देखो । जैसे दलदल भूमिसे काई निकलती है उसी प्रकार साधारण मनुष्योंके मुँहसे गालियाँ और उलहने निकलते हैं । उन्हें तुम मत निकालो ।

—इला व्हीलर विलकाक्स ।

पीड़ित मनुष्यसे मैं यह नहीं पूछता कि तुम्हारी पीड़ा कैसी है, बल्कि मैं स्वयं पीड़ित बन जाता हूँ और पीड़ाका अनुभव करने लगता हूँ ।

—वाल्ट व्हाइटमेन ।

हमने जितना आत्म-दमन प्राप्त कर लिया है उतना ही हम दूसरोंसे सहानुभूति रख सकते हैं । जब तक हम अपने पर ही दया करते रहें और अपनेसे ही सहानुभूति रखते रहें तब तक दूसरोंका विचार नहीं कर सकते हैं । यदि हम स्वयं अपनी ही प्रशंसा, अपनी ही रक्षा, अपनी ही सम्मातिका विचार करें तो दूसरोंके साथ प्रेमका व्यवहार नहीं कर सकते । दूसरोंका विचार करना और अपना विचार भूलना इसीको सहानुभूति कहते हैं ।

दूसरोंके साथ सहानुभूति रखनेके लिये पहले हमें उनकी दशा समझनी चाहिये और उनकी दशा समझनेके लिये हमें उनके विषयमें पहलेहीसे बुरे विचार नहीं बाँध लेने चाहिये—जैसे वे हैं उनको उसी प्रकार देखना चाहिये । हमें दूसरोंकी आन्तरिक दशाके अन्दर प्रविष्ट होना चाहिये और उनके नेत्रोंसे देखकर तथा उनके अनुभवके अनुक्रमको समझकर उन जैसा हो जाना चाहिये । निस्सन्देह ऐसा व्यवहार हम ऐसे मनुष्यके साथ तो कर ही नहीं सकते जिसकी बुद्धि और अनुभव हमसे बढ़कर हैं और न ऐसेके साथ ऐसा व्यवहार कर सकते हैं जिससे

---

१ जेम्स एलेनकृत Byways of Blessedness (आनन्दकी पगडंडियाँ) नामक पुस्तकका एक अध्याय । यह पुस्तक हिन्दीग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालयकी ओरसे हाल ही प्रकाशित हुई है ।

हम अपने आपको उन्नत और उच्च समझते हैं। क्योंकि सहानुभूति और स्वार्थ एक स्थानपर स्थिर नहीं रह सकते। परन्तु हम ऐसे मनुष्योंके साथ सहानुभूति रख सकते हैं जो उन पापों और क्लेशोंमें फँसे हुए हैं जिनसे हमने सफलताके साथ अपने आपको मुक्त कर लिया है। जिस पुरुषकी महत्ता हमसे बढ़कर है उसको हम अपनी सहानुभूतिकी छायासे ढँक नहीं सकते हैं, परन्तु उसके साथ हम अपनेको इस प्रकार रख सकते हैं कि उसकी महत्तरा सहानुभूतिका सहारा ले सकें और उन पापों और दुःखोंसे मुक्त हो सकें जिनमें हम अब भी फँसे हुए हैं।

पक्षपात और दुष्कामनायें सहानुभूतिके मार्गकी बड़ी भारी रुकावटें हैं और अहंकार सहानुभूति ग्रहण करनेमें बाधा डालता है। तुम उसके साथ सहानुभूति नहीं रख सकते जिसके लिये तुम्हारे मनमें पूर्वहीसे घृणा है और उस मनुष्यकी सहानुभूति तुम अपने पर रखना नहीं चाहते जिसके लिये तुम्हारे मनमें पूर्वहीसे द्वेष है। जिस मनुष्यसे तुम घिन करते हो उसके जीवनको तुम समझ नहीं सकते और जिनके प्रति तुम अपनी पाशविक बुद्धिसे ईर्ष्या करते हो उसको भी नहीं समझ सकते, किन्तु जैसे तुमने उसके लिये अपने हृदयमें अपूर्ण और कच्चे विचार बाँध रक्खे हैं उन्हींके अनुसार समझोगे। अपनी अशुद्ध और कारणशून्य सम्मातिके द्वारा तुम केवल उसकी बुराईको देख सकोगे, भलाई नहीं।

यदि तुम्हें दूसरोंकी यथार्थता समझनी है तो उनके और अपने बीचमें रुचि या अरुचि, पक्षपात तथा स्वार्थिक वासनाओंको मत आने दो; उनके कार्योंका विरोध न करो और उनके मतों और विश्वासोंको दूषित न ठहराओ। थोड़े समयके लिये तुम अपने आपको पृथक् रखकर उनकी स्थितिको ग्रहण करो। केवल इसी प्रकार तुम उनके साथी होकर उनके जीवन और अनुभवको पूर्णतासे समझोगे और जब किसीको समझ लोगे तो फिर उसको निन्दित और दूषित नहीं ठहराओगे। मनुष्य एक दूसरेको दूषित और अपराधी बताकर इसी वास्ते दूरसे टालते हैं कि वे एक दूसरेको भलेप्रकार समझते नहीं। और जब तक वे अपने आप पर विजय न प्राप्त कर लें और शुद्ध न बन लें तब तक समझ भी कैसे सकते हैं?

वृद्धि, परिपक्वता, और विस्तरताको जीवन कहते हैं और एक प्रकारसे देखा जाय तो पापी और पुण्यात्मामें विशेष अन्तर नहीं है, केवल श्रेणी और क्रमका अन्तर है। पुण्यात्मा किसी समयमें पापी था और पापी भविष्यमें पुण्यात्मा होगा। पापी बच्चा है और पुण्यात्मा वृद्ध है। जो पापियोंको दुष्ट समझकर उनसे अपने आपको पृथक् रखता है वह उस पुरुषकी नाई है जो छोटे बच्चोंको निर्बोध, अनाज्ञाकारी और खिलौनोंसे खेलनेवाले समझकर उनसे दूर हटता है।

जीवन समान है, परन्तु देखनेमें इसके कई भेद हैं। पुष्प वृक्षसे कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। यह उसी वृक्षका एक अंग है बल्कि पत्तीका एक दूसरा भेद है। भाप पानीसे कोई पृथक् वस्तु नहीं है, वह पानीका रूपान्तर है। पुण्यात्मा परिपक्व और परिणत पापी है।

पापी वही है जिसकी बुद्धि अपरिपक्व है और जो अज्ञानताके कारण अशुद्ध कार्य-प्रणालीमें रुचि रखता है। पुण्यात्मा वह है जिसकी बुद्धि परिपक्व है और जिसकी कार्य-प्रणाली शुद्ध और सत्य है। एक पापी दूसरे पापीको दूषित बताता है, क्यों कि दूषित बताना कार्यकी अशुद्ध प्रणाली है। पुण्यात्मा पापीको दूषित नहीं ठहराता, क्यों कि उसको स्मरण रहता है

कि एक बार मैं स्वयं भी उसी दशामें था, बल्कि उसको अपना लघुभ्राता या मित्र समझ कर उसके साथ गंभीर सहानुभूति रखता है, क्यों कि सहानुभूति रखना कार्यकी शुद्ध और उज्ज्वल प्रणाली है।

परिपक्क महात्माको—जो सबसे सहानुभूति रखता है—दूसरोंसे सहानुभूति पानेकी आवश्यकता नहीं है। क्यों कि वह पाप और क्लेशको जीत चुका है और आनन्दमें मग्न रहता है। परन्तु जो क्लिष्ट हैं उनको सहानुभूतिकी आवश्यकता है और जो पाप करते हैं वे क्लेश पाते हैं। जब मनुष्य यह समझने लगता है कि प्रत्येक पापके लिये (चाहे वह मानसिक हो या कायिक) उसको अवश्य क्लेश उठाना पड़ेगा तब वह दूसरों पर दोष लगाना छोड़ देता है और पापसे उत्पन्न हुए उनके क्लेशोंको देख कर उनके साथ सहानुभूति रखना आरम्भ करता है। ऐसा वह तब समझने लगता है जब अपने आपको पवित्र और शुद्ध बना लेता है।

जब मनुष्य अपने मनके विकारोंको शुद्ध कर लेता है, स्वार्थिक इच्छाओंको बदल देता है और अहंकारको पैरके नीचे कुचल देता है तब वह सर्व प्रकारके मानुषिक अनुभवोंको, अर्थात् समस्त पाप, दुःख, शोक, विचार और उद्देशोंको सपूर्णतासे माप लेता है और धर्मनीतिको सुप्रकार समझ लेता है। सम्पूर्ण आत्मदमन और सम्पूर्ण ज्ञान सहानुभूति हैं। जो मनुष्य दूसरोंको अपने पवित्र हृदयकी स्वच्छ दृष्टिसे देखता है वह उनपर अवश्य करुणा करता है, उनको अपने ही देहका भाग समझता है, उनको पतित और पृथक् नहीं किन्तु अपनी ही आत्मा मानता है और उनके विषयमें यह समझता है कि "जैसे मैंने पहले पाप किया था, वैसा ही ये भी कर रहे हैं, जैसे मैंने क्लेश उठाया था, वैसा ये भी उठा रहे हैं, और जैसे मैं अन्तमें शान्तिको प्राप्त हुआ वैसे ही ये भी प्राप्त हो जावेंगे।"

यथार्थमें भला और धीमान् वह है जो प्रबल पक्षपाती नहीं है, जो सबसे सहानुभूति रखता है, जो दूसरोंमें दोष नहीं देखता, जो पापीके उस पापको पहिचान लेता है जिससे वह अज्ञानताके कारण प्रसन्न हो रहा है और यह नहीं जानता कि अन्तमें मुझे इस पापके हेतु दुःख और पीड़ा उठानी पड़ेगी।

जितनी दूर मनुष्यकी बुद्धि पहुँचती है उतनी ही दूर वह अपनी सहानुभूति विस्तृत कर सकता है; उससे अगाड़ी नहीं और मनुष्य जितना नम्र और दयावान् होता जाता है उतना ही अधिक वह बुद्धिमान होता जाता है। सहानुभूति संकुचित होनेसे हृदय संकुचित होता है और जी धुँधला तथा कटु होता है। सहानुभूतिको विस्तृत करना जीवनको प्रकाशित और हर्षित करना है और दूसरोंके लिये प्रकाश और आनन्दका मार्ग सुगमतर बनाना है।

दूसरेके साथ सहानुभूति रखना उसके शरीरको अपने शरीरमें धारण करना और उसके समान भाव करना है, क्योंकि स्वार्थशून्य प्रेम बहुत शीघ्र ऐक्य उत्पन्न करता है। वह मनुष्य-जिसकी सहानुभूति समस्त प्राणधारियोंके साथ है—उन सबमें तन्मय है और संसारके सर्वव्यापक प्रेम, नीति और बुद्धिको समझता है।

स्वर्ग, शांति और सत्य मनुष्यसे उतने ही दूर हैं जितने दूसरे मनुष्योंको वह अपनी सहानुभूतिसे दूर रखता है। जिस सीमापर उसकी सहानुभूति समाप्त होती है वहींसे अन्धकार, दुःख और हलचल आरम्भ होती है, क्योंकि दूसरोंको अपने प्रेमसे दूर रखना मानों स्वयंको प्रेमके आनन्दसे दूर रखना है और स्वार्थके अन्धेरे कारागारमें पड़े पड़े सुकड़ना है।

जब मनुष्यकी सहानुभूति असीम होती है तब ही उसको सत्यका अनन्त प्रकाश दृष्ट होता है। असीम प्रेममें ही असीम आनन्द मिलता है।

सहानुभूति आनन्द है। इसमें सर्वोत्तम और पवित्र आनन्द दृष्टिगत होता है। सहानुभूति स्वर्गीय है, क्योंकि इसके प्रकाशमें सब तरहके स्वार्थिक विचार नष्ट हो जाते हैं और सबके साथ एक भाव अर्थात् आध्यात्मिक समानताका दृढ संग रखनेसे पवित्र आनन्द मिलता है। जब मनुष्य सहानुभूति रखना छोड़ देता है तो उसका जीवन, दृष्टि और ज्ञान वृथा हो जाता है।

मनुष्य जबतक दूसरोंके प्रति स्वार्थिक विचार नहीं छोड़े तबतक उनके साथ सच्ची सहानुभूति नहीं रख सकता। जो सच्ची सहानुभूति रखता है वह दूसरोंको जैसे वे हैं वैसा देखनेका प्रयत्न करता है, उनके विशेष पाप, वासनाएँ, दुःख, विश्वास, पक्षपात इत्यादिको यथार्थतासे जाननेकी चेष्टा करता है। वह अन्तमें जान लेता है कि वे लोग अपनी आध्यात्मिक उन्नतिमें किस श्रेणी तक पहुँचे हुए हैं, उनका अनुभव कहाँतक है और वे अपनी दशाको अभी बदल सकते हैं या नहीं। वह जान लेता है कि उनका जैसा ज्ञान है उसीके अनुसार वे विचार और कार्य करते हैं। वह यह भी जान लेता है कि उनकी हीन बुद्धि और ज्ञान अच्छे उदाहरणोंके द्वारा सहायता और उन्नति पा सकते हैं, परन्तु वे तत्क्षण नहीं बदले जा सकते। विवेक और प्रेमके पुष्पोंको बढ़ने और विकसनेके लिये समयकी आवश्यकता है और ईर्ष्या तथा मूर्खताकी बाँझ टहनियाँ शीघ्र नहीं काटी जा सकतीं।

ऐसा मनुष्य उससे परिचित जितने भी मनुष्य हैं उनके प्रत्येकके आभ्यन्तरिक जगतका द्वार ढूँढ़ लेता है, उसको खोलता है, उसके अन्दर चला जाता है और उनके जीवनके पवित्र मन्दिरमें निवास करके उन सबके साथ एकमेक हो जाता है। फिर उसको धिक्कारने, क्रोध करने और द्वेष करनेको कोई भी स्थान नहीं दिखता और उसके हृदयमें अधिकतर अनुकम्पा, धैर्य तथा प्रेम रहने लगते हैं।

वह अपने आपको सर्वमय देखता है और समझता है कि सब मनुष्य मेरे दूसरे देह हैं और उनकी प्रकृतियाँ भी मुझ जैसी हैं, केवल उनमें न्यूनाधिकताका अन्तर है। अगर उसे दूसरोंके हृदयोंमें पाप-प्रवृत्तियाँ काम करती दिखती है तो वह अपने हृदयको टटोलता है और देखता है कि ऐसी ही प्रवृत्ति है तो मेरे मनमें भी, परन्तु उसने पापकी ओर झुकना छोड़ दिया है। यदि वह दूसरोंमें पुण्य प्रवृत्ति देखता है तो उसको अपने मनमें भी वैसी ही पुण्यप्रवृत्ति दिखती है जो अभी उतनी शक्ति और परिपक्वताको नहीं पहुँची है।

एकका पाप सबका पाप है और एकका पुण्य सबका पुण्य है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्योंसे पृथक् नहीं है। प्रकृतिका कोई अन्तर नहीं है, केवल स्थितिका या दशाका अन्तर है। यदि कोई मनुष्य अपनेको किसी दूसरे मनुष्यसे इस विचारसे पृथक् समझे कि वह मुझसे अधिक पवित्र है तो उसका ऐसा विचारना उसका अज्ञान है। वह पृथक् नहीं है। मनुष्यत्व सब एक है। सहानुभूतिके पवित्र मन्दिरमें पुण्यात्मा और पापी मिलते हैं और एक होते हैं।

जीसिस क्राइस्टके विषयमें कहा जाता है कि उसने अखिल संसारके पाप अपने ऊपर लिये—अर्थात् उसने अपनेको पापियोंसे पृथक् नहीं गिना बल्कि अपने आपको उन जैसा ही जाना। प्राणीमात्रके साथ उसका ऐसा समभाव उसके जीवनमें स्पष्टतासे सबको दृष्टिगत हुआ। उसने उन पापियोंको—जिनको लोगोंने उनके भयंकर पापोंके कारण दूर फैंक दिया था—अपनी छातीसे लगाया और उनके साथ घनिष्ठ सहानुभूति दिखाई।

सहानुभूतिकी सबसे अधिक आवश्यकता किसको है? पुण्यप्रतापी, ज्ञानी, या महात्माको इसकी आवश्यकता नहीं है। ज्ञानरहित और अपरिपक्व पापी मनुष्यको ही इसकी आवश्य-

कता है । जो जितना अधिक पापी है वह उतना ही अधिक दुःखी है, इसलिये उसको सहानुभूतिकी भी उतनी ही अधिक आवश्यकता है । महात्मा क्राइस्टने कहा है—"मैं पुण्यात्माओंको नहीं बल्कि पापियोंको पश्चात्ताप कराने आया हूँ ।" पुण्यात्माओंको तुम्हारी सहानुभूतिकी आवश्यकता नहीं, केवल पापियोंको है । जो दूषित कर्म्मोंसे बहुत समय तक दुःख और क्लेश उठानेके लिये पाप संचय कर रहा है उसीको सहानुभूतिकी आवश्यकता है ।

एक प्रकारका पाप कर्म्म करनेवाला दूसरे प्रकारके पाप करनेवालेको बुरा, अपराधी और अधम बताता है । वह यह नहीं सोचता कि मेरे और उसके पाप यद्यपि भिन्न प्रकारके हैं, परन्तु अन्तमें वे हैं पाप । वह यह नहीं देखता कि सर्व प्रकारके पाप एक ही हैं, केवल उनके रूपोंमें अन्तर है । मनुष्य स्वयं जितना पापी है उतना ही दूसरोंको पापी ठहराता है । जब उसको सद्‌ज्ञान होता है और वह अपने पापसे मुँह फेरता है तथा उससे बचनेका यत्न करने लगता है, तब दूसरोंको भी पापी बतानेसे रुकने लग जाता है और उनके साथ सहानुभूति जताने लगता है । परन्तु यह एक अटल सांसारिक नियम है कि इन्द्रियोंके वशीभूत पापी मनुष्य आपसमें एक दूसरेको दूषित समझते है और घृणा करते हैं । वह मनुष्य—जिसको सब बुरा और दोषी बताते हैं और जिससे घृणा करते हैं—यदि उन लोगोंके धिक्कारनेको अच्छा समझे और विचार करे कि मेरे अपराधोंके कारण वे मुझे बुरा बताते हैं तो उसकी उन्नति होने लगती है और वह स्वयं दूसरोंकी बुराई करना छोड़ देता है ।

जो वास्तवमें सच्चा और भला मनुष्य है वह दूसरोंकी निन्दा नहीं करता । ऐसा मनुष्य स्वार्थता और अन्धे उद्वेगको दूर रख कर प्रेम और शान्तिके साथ रहता है और सर्व प्रकारके पापोंको और उनसे जो जो दुःख और क्लेश समुपस्थित होते हैं उनको जानता है । वह निद्रासे जाग कर, ज्ञानका प्रकाश प्राप्त कर और स्वार्थताको छोड़कर सबको जैसे वे हैं वैसे देखता है और उन सबसे पवित्र सहानुभूति रखता है । ऐसे मनुष्यको यदि लोग दोष लगाते हैं, उसकी बुराई करते हैं या उससे घृणा करते हैं, तो वह बुराईके बदले उनके साथ सहानुभूति प्रकट करता है और विचार करता है कि ये मनुष्य अपनी अज्ञानताके कारण मुझसे घृणा करते हैं, इन्हें अपने बुरे कर्म्मोंका फल भोगना पड़ेगा ।

आत्मदमन और ज्ञानवृद्धिके द्वारा जो तुमसे घृणा करें उनसे स्नेह करना सीखो । उनके बुराई करनेकी ओर दृष्टि न डालो, प्रत्युत अपने मनको टटोलो; कदाचित् तुम्हारे मनमें भी कोई बुरी बात होगी । यदि तुम अपने दोषों और अपराधोंको समझ लोगे तो दूसरोंकी निन्दा करना छोड़कर अपने आपको धिक्कारने लगोगे । साधारण प्रकारसे जिसको सहानुभूति कहते हैं वह सहानुभूति नहीं है, किन्तु वह एक प्रकारका शारीरिक स्नेह है । जो हमसे स्नेह करे उससे हम भी स्नेह करें, यह एक मानुषिक स्वभाव और प्रकृति है । परन्तु जो हमसे स्नेह नहीं करें उनसे हम स्नेह करें, यह पवित्र सहानुभूति है ।

सहानुभूतिकी आवश्यकता दुःख और क्लेशके कारण है । क्योंकि ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसको दुःख न हुआ हो । दुःखहीसे सहानुभूति उत्पन्न हुई है । एक वर्ष या एक ही जीवनमें मानुषिक हृदय दुःख पाकर पवित्र और स्वच्छ नहीं बन सकता, किन्तु बारंबार जन्म लेकर और दुःख पाकर ही मनुष्य अपने अनुभवोंकी सुनहरी फसलको काटता है और प्रेम और ज्ञानकी परिपक्व और अमूल्य फलियाँ प्राप्त करता है । इस प्रकार जन्मजन्मान्तरके पश्चात् वह समझने लगता है और सहानुभूति रखने

लगता है। नियमोंका उल्लंघन ही पाप है। मनुष्य अज्ञानतासे नियमोंका उल्लंघन करते हैं। जो पाप है वही क्लेश है। एक पापके बार बार करनेसे उसका फल अर्थात् क्लेश बारंबार भोगना पड़ता है और बारंबार कष्ट भोगनेसे उस नियमका ज्ञान हो जाता है और जब ज्ञान हो जाता है तो सहानुभूतिके पवित्र और सुन्दर कुसुम खिल उठते हैं।

सहानुभूतिका अंश दया है। संसारमें दुःखित और क्लिष्टोंका दुःख दूर करनेके लिये और उनको धैर्य दिलानेके लिये दयाकी बड़ी आवश्यकता है। "दया अशक्तोंके लिये संसारको कोमल बनाती है, और शक्तिमानोंके लिये संसारको उन्नत बनाती है।"

क्रूरता, अकृपा, दोषारोष और क्रोधको हटानेसे दया बढ़ती है। जो मनुष्य किसी पापीको पापका फल पाते देखकर अपने हृदयको कठोर करता है और कहता है कि "यह अपने उचित पापोंका फल पा रहा है" वह दया नहीं कर सकता है। मनुष्य जब जब प्राणियोंपर कठोरता करता है और उन पर आवश्यक सहानुभूति प्रकट नहीं करता है, तब तब ही वह अपनेको संकीर्ण बनाता, अपने आनन्दको न्यून करता और क्लेश भोगनेके बीज बोता है।

सहानुभूतिका दूसरा अंश यह है कि अपनी अपेक्षा दूसरोंकी अधिकतर सफलता देखकर हर्ष मनाना और समझना कि उनकी सफलता मेरी ही है। निस्सन्देह वह मनुष्य धन्य है जो ईर्ष्या, द्वेष और कुढ़नसे मुक्त है और जो उन लोगोंके शुभ समाचार सुनकर--जो उसको अपना वैरी समझते हैं--हर्षित होता है।

अपनेसे न्यूनतर और हीनतर प्राणियोंकी रक्षा करना भी सहानुभूतिका एक अंश है। बेजबान जानवरोंकी रक्षाके लिये बड़ी गहरी सहानुभूतिकी आवश्यकता है। शक्तिकी शोभा रक्षा करना है, न कि नाश करना। जीवन छोटे जीवोंकी रक्षासे सफल होता है उनके नाशसे नहीं।

जीवन सब एक है। छोटेसे छोटा प्राणी महत्से महत् प्राणीसे केवल शक्ति और बुद्धिकी न्यूनाधिकतामें भिन्न है, नहीं तो सब प्राणी एक हैं। जब हम दया और रक्षा करते हैं तो हमारा ऐश्वर्य और हर्ष बढ़ता है और प्रकट होता है। इसके विपरीत जब हम अविवेकता और कठोरतासे प्राणियोंको दुःख और क्लेश पहुँचाते हैं तो हमारा ऐश्वर्य आच्छादित होता और हर्ष बुझ जाता है। एक प्राणीका दूसरा प्राणी चाहे आहार करे, और एक उद्वेग चाहे दूसरे उद्वेगको नष्ट करे; परन्तु मनुष्यकी सात्विक प्रकृति केवल दया, प्रेम, सहानुभूति और स्वार्थशून्य पवित्र कर्मोंसे ही वृद्धिङ्गत, सुरक्षित और परिपक्व होती है।

दूसरोंके प्रति सहानुभूति रखनेसे हम अपने लिये दूसरोंकी सहानुभूति बढ़ाते हैं। किसीके साथ की हुई सहानुभूति नष्ट नहीं होती। कमीनेसे कमीना प्राणी भी सहानुभूतिके स्वर्गीय स्पर्शसे भला मानेगा, क्यों कि सहानुभूति एक ऐसी विश्वव्यापक भाषा है जिसको सब प्राणी समझते हैं। अमेरिकाके डारटमूर नगरमें एक अत्यंत अत्याचारी अपराधी मनुष्य था जिसको कितने ही अपराधोंके कारण चालीस वर्षसे भी ऊपर तक कई नगरोंमें कैद रहना पड़ा था। उसको सब लोग बहुत भयानक, कठोर और अन्यायकारी समझते थे और कारागारोंके पहरेदार इत्यादि उसके सुधारकी कोई आशा नहीं रखते थे। एक दिन जिस कोठरीमें वह रक्खा जाता था वहाँ एक गरीब भूखा और अस्वस्थ चूहा आ निकला। उसकी असहाय और दुर्बल दशाको देखकर उस पापीके भी हृदयमें दयाकी बिजलीका संचार हो गया और वह अपनी ओर

उस चूहेकी एक ही प्रकारकी दशा समझकर उसपर सहानुभूति प्रकट करने लगा । उसने उस चूहेको अपने एक बूटमें वासस्थान दे दिया और अपने भोजन और जलमेंसे वह उसको खाने पीनेके लिये देने लगा । जिस अत्यंत कठोर और दूषित हृदयमें किसी भी मनुष्यके लिये दया नहीं थी, उसी हृदयमें एक चूहेके हेतु सहानुभूतिका स्वर्गीय दीपक जलने लगा । अपनेसे शक्तिहीनोंकी ओर उसकी दया और प्रेम बढ़ने लगा और अपनेसे अधिक शक्तिमानोंसे उसकी घृणा कम होने लगी । वह पहरेदारोंकी पूर्ण आज्ञा मानने लगा । वे लोग इस बातको अद्भुत समझने लगे कि इतना कठोर मनुष्य इतना नम्र कैसे बन गया । उसकी आकृति भी बदल गई । नेत्रों और होठों आदिकी भयंकरता धीरे धीरे कोमलता और प्रेममें परिणत हो गई । अब वह दूषित और पापी कैदी नहीं रहा, उसका प्रायश्चित्त हो गया और उसका मन पुण्यमें रत हो गया । अन्तमें यह समस्त वृत्तान्त अधिकारियों तक पहुँच गया । उन्होंने उसको स्वतन्त्र कर दिया । जब वह जाने लगा तो उस चूहेको भी साथ ले गया ।

इस प्रकार दूसरोंपर सहानुभूति प्रकट करनेसे इसका भंडार स्वयं हमारे हृदयमें बढ़ता है और हमारा जीवन सफल होता है । सहानुभूतिके दानसे आनन्दका पुरस्कार मिलता है और सहानुभूतिका दान न देनेसे हमारा अनन्द नष्ट होता है । मनुष्य जितनी अधिक सहानुभूति रखता है उतना ही वह आदर्श जीवन अर्थात् सत्यानन्दके समीप पहुँचता है। जब उसका हृदय इतना कोमल हो जाता है कि उसमें कोई भी कठोर, कटु या निर्दय विचार उत्पन्न नहीं होता और उसके माधुर्यको न्यून नहीं करता तब वह मनुष्य सचमुच सत्य आनन्दमें मग्न हो जाता है।

आचार्यप्रवर अमृतचन्द्र ।

(लेखक—श्रीयुत नाथूराम प्रेमी ।)

आध्यात्मिक विद्वानोंमें भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके बाद यदि किसीका नाम लिया जा सकता है तो वे श्रीअमृतचन्द्रसूरि हैं । दुःखकी बात है कि इतने बड़े सुप्रसिद्ध आचार्यके विषयमें हम सिवाय इसके कुछ भी नहीं जानते हैं कि उनके बनाये हुए तत्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, समयसार टीका, पंचास्तिकाय टीका और प्रवचनसार टीका, ये पाँच ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं । उनकी गुरुपरम्परा, और समयादिसे हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं । इस छोटेसे लेखमें हम उन्हींके विषयमें कुछ बातें सूचनिकारूपमें उपस्थित करना चाहते हैं:—

१—पण्डितप्रवर आशाधर अपने अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकामें (पृष्ठ १६० में) लिखते हैं:—

" एतदनुसारेणैव ठक्कुरोपीदमपाठीत्—
लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ "

यह श्लोक पुरुषार्थसिद्ध्युपायका है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं किया जा सकता, अतएव पं० आशाधर अमृतचन्द्रसूरिको ही ठक्कुर नामसे अभिहित करते हैं । इससे मालूम होता है कि या तो वे गृहस्थावस्थामें ठक्कुर उपनामसे पुकारे जाते होंगे, या फिर मुनि अवस्थामें ही यह उनका दूसरा नाम होगा ।

अनगार धर्मामृतमें अमृतचन्द्रके और भी अनेक श्लोकादि 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत किये गये हैं, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्वोक्त श्लोकको आशाधरजीने भ्रमसे ठक्कुर नामक किसी दूसरे विद्वानका समझकर उद्धृत

कर दिया है। पुरुषार्थ सि० से तो वे बहुत ही परिचित जान पड़ते हैं।

२—महोपाध्याय मेघविजयगणि नामक श्वेताम्बराचार्यका बनाया हुआ एक स्वोपज्ञसंस्कृतटीकायुक्त प्राकृत ग्रन्थ है। उसकी सातवीं गाथाकी टीकामें लिखा है—"श्रावकाचारे अमृतचन्द्रोप्याह—

संघो कोवि न तारइ कट्ठो मूलो तहेव निप्पिच्छो।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा हु झायव्वो ॥ १ ॥"

इससे मालूम होता है कि अमृतचन्द्रका बनाया हुआ कोई श्रावकाचार भी है और वह प्राकृतमें है।

उक्त गाथा तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके 'ढाढसी गाथा' नामक ग्रन्थमें भी है और उसका २० वाँ नम्बर है। ढाढसी गाथायें किसकी बनाई हुई हैं यह अबतक मालूम नहीं हुआ है। आश्चर्य नहीं जो उसके कर्त्ता अमृतचन्द्र ही हों।

३—यदि उक्त 'संघो कोवि' आदि गाथा अमृतचन्द्रकी ही है तो इससे उनके समय-निर्णयमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। इसमें काष्ठासंघ और निःपिच्छिकका उल्लेख है। यदि देवसेनका बतलाया हुआ समय ठीक है तो वि० सं० ९५३ में निःपिच्छिकों (माथुरसंघ) की उत्पत्ति हुई है और इसलिए अमृतचन्द्र इसके पीछेके ग्रन्थकर्त्ता सिद्ध होते हैं।

४—युक्तिप्रबोधमें नीचे लिखी गाथा भी अमृतचन्द्रके नामसे दी हैः—

"यदुवाच अमृतचन्द्रः—(सातवीं गाथाकी टीका)
सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परित्ति नाऊण।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं नियमा मुणेयव्वं ॥ १ ॥"

यह गाथा प्राभृतत्रयमें तो है नहीं, इसलिए मालूम होता है कि यह भी अमृतचन्द्रके किसी प्राकृत ग्रन्थसे ली गई है।

५—युक्तिप्रबोध (पत्र १५) में एक जगह 'श्रावकाचारे अमृतचन्द्राचार्योक्तिरपि दिगम्बरनये' लिखकर 'या मूर्च्छानामेयं' आदि पुरुषार्थसि० की आर्यायें दी हैं। इससे मालूम होता है कि मेघविजयजी पु० सि० को श्रावकाचार कहते हैं। और 'संघो कोवि न तारइ' को भी श्रावकाचारकी गाथा लिखी है। यह चिन्त्य है।

६—राजवार्तिक सूत्र २२ की टीका (पृष्ठ २८४) में नीचे लिखी गाथा 'उक्तं च' रूपमें दी गई हैः—

रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिद्दिट्ठा ॥

इसी आशयका श्लोक पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

इसी तरह प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्तिमें ये दो गाथायें हैंः—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मांसपेसीसु।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि पासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥
(पृष्ठ ३१३)

इन गाथाओंकी टीका अमृतचद्रसूरिने नहीं की है, इससे मालूम होता है कि ये मूल प्रवचनसारकी नहीं हैं। इनकी बिलकुल छाया पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें देखिएः—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६६ ॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचित पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥६७॥

इनसे मालूम होता है कि या तो अमृतचन्द्रसूरिने स्वयं कोई श्रावकाचार प्राकृतमें बनाया है और उसीका अनुवाद संस्कृतमें भी किया है और या अन्य किसीके प्राचीन ग्रन्थकी छाया लेकर पुरुषार्थसि० को रचा है। मेघविजयजीके उल्लेखोंसे तो यही मालूम होता है कि प्राकृतमें भी उनका कोई ग्रन्थ है।

यदि राजवार्तिकोक्त गाथा अमृतचन्द्रकी हो तो वे अकलंकदेवजीसे भी पहलेके ठहरते हैं ।

७–राजवार्तिक पृष्ठ ३६१ में 'उक्तं च' रूपसे नीचे लिखा श्लोक दिया है:—

"दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ।"

यह श्लोक अमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वार्थसारके मोक्षतत्त्वप्रकरणका ७ वाँ श्लोक है। इससे भी मालूम होता है कि वे अकलंकभट्टसे पहलेके ग्रन्थकर्त्ता हैं। मालूम नहीं राजवार्तिकके संशोधक पं० गजाधरलालजीने इस श्लोकको प्रक्षिप्त कैसे समझ लिया है और यह निर्णय कैसे कर लिया है कि अमृतचन्द्र अकलंकदेवसे पीछे हुए हैं।

८–इसी तरह तत्त्वार्थसारके मोक्षतत्त्व प्रकरणकी भी ३२ कारिकायें राजवार्तिककारने ग्रन्थान्तमें उद्धृत की हैं। उनसे भी मालूम होता है कि राजवार्तिकसे तत्त्वार्थसारके कर्त्ता पहले हुए हैं। इन कारिकाओंको भी प्रक्षिप्त मान लेनेका कोई कारण नहीं है।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्यके अन्तमें भी—जो स्वयं उमास्वातिका बनाया हुआ कहा जाता है—तत्त्वार्थसारके पूर्वोक्त (मोक्षतत्त्ववर्णनके नं० २० नं० से ५४ तककी) कारिकायें दो चार शब्दोंके हेर फेरसे दी गई हैं। कई श्वेता० टीकाकारोंने इनकी टीका भी लिखी है। फिर भी जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य स्वयं उमास्वातिका है, तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त कारिकायें अमृतचन्द्रकी नहीं हैं। ५–८–२०।

लायब्रेरी ।

(ले०—श्रीयुक्त नाथूराम प्रेमी ।)

चन्दननगरमें 'नृत्यगोपालस्मृतिमन्दिर' नामकी एक लायब्रेरी खुली है। उसके खोलनेके समय बंगालके सुप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० हरिप्रसाद शास्त्री एम० ए० ने एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया थी। हमारे पाठक लायब्रेरियोंके इतिहाससे परिचित हो जावें और उनके महत्त्वको समझने लगें, इसलिए हम उसके सारभागका अनुवाद यहाँ प्रकाशित करते हैं—

" यह सभी जानते हैं कि जितने प्रकारके दान हैं उनमें विद्यादान सबसे बड़ा है। इसी लिए आज कल अनेक लोग स्कूल आदि स्थापित करके विद्यादान किया करते हैं। सुसभ्य जातियोंको छोड़कर दूसरे लोग इस दानके माहात्म्यको नहीं समझ सकते। जो सुसभ्य नहीं हैं वे अन्नदान, भूमिदान, जलदान आदिसे ही सन्तुष्ट रहते हैं। वे नहीं समझते कि विद्यादानसे अन्य सब दान अपने आप ही हो जाते हैं। विद्यादानमें लायब्रेरी-दान और भी श्रेष्ठ है। क्यों कि लायब्रेरियाँ विद्याकी मूल हैं। विद्याकी यदि वृक्षके साथ तुलना की जाय तो लायब्रेरी उसकी जड़ है। विद्याकी यदि नदीके साथ तुलना की जाय तो लायब्रेरी उसका उद्गमस्रोत—अनन्त जलराशिका आधार—है। इसलिए जो लोग लायब्रेरी-दान करते हैं वे श्रेष्ठसे श्रेष्ठ दान करते हैं। स्कूलोंमें जो विद्यादान होता है वह लड़कोंके लिए; परन्तु लायब्रेरीका दान बालक-बूढ़े सबके लिए होता है। स्कूलोंका जो विद्यादान होता है उसे लड़के नियमित वर्षों तक ही ग्रहण कर सकते हैं; परन्तु लायब्रेरीमें जो विद्यादान होता है उसे मनुष्य जब तक जीता है—बारह मास तीन सौ साठ दिन—लिया

करता है। स्कूलोंमें जो विद्यादान होता है, उसकी सीमा है, बालविद्याका ही दान हुआ करता है; परन्तु यह दान असीम, अनन्त है— इसकी सीमा भी नहीं है और अन्त भी नहीं है। पृथिवीमें जो कुछ ज्ञान है, प्रायः सभी पुस्तकोंमें लिपिबद्ध है। इसलिए लायब्रेरीमें जब सभी तरहकी पुस्तकें रहती हैं तब जितने तरहकी विद्यायें हैं, जितने तरहका ज्ञान है सभीका उसके द्वारा दान होता है। अत एव लायब्रेरी खोलना बड़े ही पुण्यका कार्य है।

"लायब्रेरियोंका इतिहास बहुत लम्बा है। मनुष्य जबसे सभ्य हुआ है, जबसे उसने अपने मनके भाव बाहर अंकित करने सीखे हैं, तभीसे लायब्रेरियोंकी उत्पत्ति हुई है। 'अंकित करना' कहनेका कारण यह है कि लिखनेके लिए वर्णमालाकी आवश्यकता होती है। परन्तु वर्णमालाकी उत्पत्तिके पहले भी मनुष्य मनके भाव प्रकट करता था और वे वर्णमालाके द्वारा नहीं किन्तु चित्र आंकित करके, जीव-जन्तु और वृक्षपत्र आदि अंकित करके। उस समय छापेखाने नहीं थे, कागज नहीं था, तालपत्र और भोजपत्रोंका भी व्यवहार नहीं था। उस समय मनके भाव प्रकट करनेके लिए चित्र अंकित करना पड़ते थे पत्थरोंपर और मिट्टीके ईंटोंपर— और वे भी पकाई हुई नहीं किन्तु धूपमें सुखाई हुई ईंटें। पत्थरोंपर लिखी हुई एक लायब्रेरी मिसर देशमें जमीनके बहुत नीचे पाई गई है। उस समय मिसरके पिरामिडों (समाधिस्तूपों) का बनाना शुरू हुआ था या नहीं, इसमें सन्देह है। जिन लोगोंने बड़े बड़े पिरामिड बनाये थे, उन लोगोंसे तो पहलेकी यह अवश्य ही है। उसके पत्थरोंपर केवल चित्र बने हुए हैं। इस लायबेरीमें जितनी पुस्तकें थीं, दीवालपर उन सबकी एक सूची दी हुई है। इसलिए वे सचमुच ही लायब्रेरीकी पुस्तकें हैं इसमें सन्देह करनेको जरा भी जगह नहीं है।

"ये सब लायब्रेरियाँ मन्दिरोंमें ही होती थीं। मन्दिरोंके पुरोहित ही पढ़ते पढ़ाते और यत्नपूर्वक उन्हें रखते थे। मिसरकी यह लायब्रेरी ईसाके जन्मसे ४–५ हजार वर्ष पहले बनी थी। उसके बाद मिसरमें बराबर लायब्रेरियाँ बनती रही हैं। उस समय ये पत्थरोंकी पुस्तकें कितनी बनी थीं, इसका कुछ ठिकाना नहीं है।

"सन् १८५० में लेयार्ड साहबने निनिवा नामक नगरमें खुदाई आरम्भ की थी। ३० फुट खोदनेके बाद उन्हें एक बड़ा भारी कमरा मिला। उस कमरेका सारा मध्यभाग एक फुट ऊँची पत्थरकी लादियोंसे (पत्थरके चौकोर टुकड़ोंसे) सजाया हुआ था और लादियोंमें आदिसे अन्ततक तिकौने अक्षर लिखे हुए थे। पण्डितोंका अनुमान है कि यह असुरराज (असीरियाके राजा) सार्डे नापोलासकी लायब्रेरी थी। इसमें लगभग २०,००० पृथक् पृथक् ग्रन्थ थे जिनमें कितने ही कोष, अनेक महाकाव्य, इतिहास और ज्योतिषके ग्रन्थ थे। अर्थात् एक बड़े राजाकी लायब्रेरीमें जो कुछ रहना चाहिए था वह सभी था। निनिवामें इतनी बड़ी लायब्रेरीका पता लगने पर यूरोपके लोगोंको बड़ा कुतूहल हुआ और इस शोधके काममें उनका उत्साह बढ़ गया। अब वे मेसपटमें जहाँ कहीं कोई बड़ासा टीला दिखा वहीं खोदने लगे। फल यह हुआ कि इस खुदाईमें उन्हें न जाने कितने मकान, कितनी मूर्तियाँ और कितने ग्रन्थालय मिले ! यह सब देख सुनकर और पढ़ कर सबका यह विश्वास हो गया है कि ईसाके जन्मके ४००० वर्ष पहले मेसपटमें सुमेर और आकाद नामकी दो जातियोंका निवास था। सुमेर जातिके लोग दाढ़ीकी हजामत बनवाते थे, पर आकाद नहीं बनवाते थे। सुमेर सबसे पहले सभ्य हुए थे। वे पत्थरकी मूर्तियाँ

गढ़ते थे, पत्थरके मकान तैयार करते थे, दूर दूर तक वाणिज्य करते थे और लिखना पढ़ना भी जानते थे। इन्हें मार कर आकाद लोग वहाँके राजा हुए। सुमेरोंकी बहुत कुछ सभ्यता आकादोंने ले ली थी, इस लिए उन्हें सुमेरोंकी भाषा सीखनेके लिए कोषकी आवश्यकता हुई। आखिर उन्होंने सुमेर और आकाद दोनों ही भाषाओंका कोश बनाया। वह कोष भी उक्त लायब्रेरीमें प्राप्त हुआ है। एक महाकाव्य भी इन सब लायब्रेरियोंमें मिला है। उसका नाम है—'ईस्तर और ईसदुबाल'। इस काव्यका अँगरेजी अनुवाद हो गया है और उसे मैंने पढ़ा है। बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि जितने प्राचीन महाकाव्य हैं वे सभी बहुत लम्बे हैं—रामायण, महाभारत, इलियड, ओडेसी आदि सभी; परन्तु ईस्तर और ईसदुबाल इस समयके महाकाव्योंके—रघुवंश, मेघनादवध आदिके—समान हैं और सर्गबद्ध है। इसमें भी बीज—बिन्दु—पताका सब हैं और वर्णन भी बहुत सुन्दर है। इसमें स्वर्ग, नरक, समुद्र, पर्वत, युद्धविग्रह, किले आदि सभी बातोंका वर्णन है। एक अद्भुत वस्तु है।

"यवन या ग्रीस देशमें अनेक बड़ी बड़ी लायब्रेरियाँ थीं। बादशाह सिकन्दरके गुरु अरस्तू (अरिस्टाइल) की एक विशाल लायब्रेरी थी। वे उसे अपने एक छात्रको दे गये थे। एथेन्समें यूक्लिडकी एक लायब्रेरी थी। किन्तु सिकन्दरिया (अलेकजेण्ड्रिया) की लायब्रेरी पृथिवीकी सभी लायब्रेरियोंसे बढ़ गई थी। महावीर सिकन्दरके सेनापति टालेमीने मिसर देश विजय किया था। इसी टालेमीने सिकन्दरियाकी लायब्रेरी स्थापित की थी। उस समय टेपिरास नामक एक झाड़की छालपर लिखना आरंभ हो गया था। वर्णमालाका भी प्रचार हो गया था। टालेमी और उसके अनुचर सभी देशोंकी पुस्तकें संग्रह करते थे। मिसरकी पुस्तकें भी वे संग्रह करते थे और हिब्रू लोगोंकी भी करते थे। वे बड़े बड़े पण्डितोंको तलाश करके उन्हें लायब्रेरीके अध्यक्ष बनाते थे। किसी-किसीका मत है कि वहाँ ७ लाख पुस्तकें थी! बहुतोंका खयाल है कि जब खलीफा उमरने अलेकजेण्ड्रिया पर अधिकार किया, तभी उक्त लायब्रेरी जला दी गई थी और बहुतोंका कथन है कि खलीफाके बहुत पहले अनेक गड़बड़ोंके कारण वह नष्ट हो गई थी। एक उदाहरण लीजिए। इस लायब्रेरीके दो भाग थे। एक समुद्रके बहुत निकट था और वही बड़ा था। जूलियस सीजरने जब अलेकजेण्ड्रियाकी नौकाओंके बेड़ेमें आग लगा दी, तब उसी आगसे उक्त बड़ा भाग जल गया। सीजरके बाद उसका परम मित्र एण्टोनी इस हानिको पूर्ण करनेके लिए बहुत ही चिन्तित हुआ। उसने यह किया कि पार्गामस नामक स्थानमें जो एक विशाल लायब्रेरी थी उसीको लाकर क्लिओपेट्रा (मिसरकी रानी) को दान कर दी। तब क्लिओपेट्राने इस बड़ी लायब्रेरीमें पार्गामसकी पुस्तकें रख दीं।

"रोममें भी बड़ी बड़ी लायब्रेरियाँ थीं। ये सब लायब्रेरियाँ सर्वसाधारणके हाथमें रहती थीं, सब ही लोग उनमें जाकर पढ़ सकते थे। इस प्रकारकी पब्लिक लायब्रेरी या सर्वसाधारणका पाठागार सबसे पहले आगस्टसने खोला था। ईस्वी सन् ४ में रोमनगरमें इस प्रकारकी २९ पब्लिक लायब्रेरियाँ थीं। इनके सिवाय प्रायः सभी बड़े बड़े नगरोंमें लायब्रेरियाँ थीं। जब रोमकी राजधानी कस्तुस्तुनियामें चली गई, तब वहाँ भी खूब बड़ी बड़ी लायब्रेरियाँ बनाई गईं। वहाँकी एक लायब्रेरीमें एक लाखसे भी अधिक पुस्तकें थीं। रोम साम्राज्यके नष्ट होने पर पोपोंने भी बड़ी बड़ी लायब्रेरियाँ बनाई थीं। जहाँ बड़े बड़े मठ

या विहार थे, वहाँ बिशप रहते थे और उनमें बड़ी बड़ी लायब्रेरियाँ रहती थीं ! बड़े बड़े राजा भी उस समय लायब्रेरी रखते थे । पहले पहले लोग लायब्रेरियोंमें बैठ कर पढ़ते थे, पीछे पुस्तकें घर ले जा कर पढ़नेकी भी व्यवस्था कर दी गई थी ।

"यह तो हुई प्राचीन अन्धयुगकी बात। वर्तमान समयमें तो लायब्रेरियोंकी गिनती ही नहीं है। सभी नगरोंमें बड़ी बड़ी पब्लिक लायब्रेरियाँ हैं। यूनीवर्सिटियोंमें लायब्रेरियाँ हैं और राजमहलोंमें भी। इनमें जो एक सबसे बड़ी लायब्रेरी है उसका हाल आप सब लोगोंको अवश्य जान लेना चाहिए। यह लायब्रेरी अमेरिकाके वाशिंगटन नगरमें खुली है। उसमें एक करोड़ पुस्तकें रखनेकी व्यवस्था की गई है और आवश्यकता होने पर उसमें और भी स्थान बढ़ाया जा सकता है! लायब्रेरीके अध्यक्ष कोई भी पुस्तक नहीं छोड़ते हैं; कोई भी पुस्तकका पता लगा कि वे उसका संग्रह किये बिना नहीं रहते । इस समय यूरोपमें लायब्रेरियन होनेके लिए एक कठिन परीक्षा देनी पड़ती है—आलमारियोंमें पुस्तकें किस तरह सजाना और किस तरह लायब्रेरीके सूचीपत्र बनाना इन सब बातोंको सिखानेवाली वहाँ एक जुदा साइन्स ही बन गई है। वहाँ केवल लायब्रेरियनोंके ही उपकारके लिए अनेक मासिकपत्र निकलते हैं और अनेक सोसायटियाँ हैं।

"अब अपने देशकी लायब्रेरियोंकी बात सुनिए। जब हमारे ब्राह्मणगण वेदमंत्रोंको कण्ठ रखते थे तब—उस प्राचीन कालमें—लायब्रेरियोंकी जरूरत नहीं थी । ब्राह्मण लोग अपने पाँच वर्षके बच्चेको घरसे ले जाकर गुरुगृहोंमें रख आते थे। उस समय वे वेदोंको मुखस्थ किया करते थे। ९—१८—२७ या ३६ वर्ष केवल वेद कण्ठस्थ करना पड़ते थे । इस लिए जब ब्राह्मण गुरुकुलोंसे लौटते थे तब एक एक लायब्रेरी बनकर लौटते थे । वेद लिखे तो जा ही नहीं सकते थे, क्योंकि जो लिखता उसके लिए घोर नरक निश्चित था ! प्रसिद्ध मुसलमान इतिहासज्ञ अलबेरूनी लिख गये हैं कि ईसवी सन् ९५० में सबसे पहले काश्मीर देशमें वेद लिपिबद्ध हुए थे । इस समय वेदोंकी हस्तप्रतियाँ बहुत कम उपलब्ध होती हैं । मोक्षमूलरने जितनी प्रतियों परसे ऋग्वेदका संस्करण प्रकाशित किया था, उनमेंसे कोई भी १६ वीं शताब्दिसे पहलेका नहीं है । हम लोगोंने उनसे भी कई पुरानी प्रतियाँ पाई हैं उनमें एक ईसवी सन् १३४२ की लिखी हुई है । शुरूसे अब तक वेद कण्ठस्थ ही चले आते हैं । यही हाल बौद्धोंका भी रहा है । ईसवी सन् ४०० में चीनका प्रसिद्ध यात्री फाहियान यहाँ पुस्तक संग्रह करनेके लिए आया था । परन्तु उसे कहीं भी ग्रन्थ नहीं मिले । वह एक तरहसे हताश हो गया था, किन्तु उससे एक आदमीने कहा—" यहाँ वैसे पुस्तकें नहीं मिलेंगी । बूढ़े बूढ़े भिक्षुकोंके पास जाओ और उनके मुखसे ग्रन्थ सुन सुनकर लिख ले जाओ ।" फाहियानने आखिर ऐसा ही किया और वह बौद्धधर्मकी समस्त पुस्तकें लिख ले गया ।

" वेद और धर्मग्रन्थोंके सम्बन्धमें यहाँ यही हाल था, परन्तु अन्यान्य विषयोंके ग्रन्थ बराबर लिखे जाते थे। लायब्रेरियाँ भी थीं। प्रायः प्रत्येक ब्राह्मणके यहाँ एक एक छोटी मोटी लायब्रेरी रहती थी। जिसके जितनी बड़ी लायब्रेरी होती थी, वह उतना ही बड़ा पण्डित समझा जाता था—क्यों कि " ग्रन्थी भवति पण्डितः । "

" बौद्धोंके प्रत्येक विहार या मठमें लायब्रेरी रहती थी । जैनोंके उपाश्रयों और मन्दिरोंमें शास्त्रभाण्डार होते थे। राजाओंके यहाँ भी पुस्तकालय रहते थे। मुसलमानोंकी विजयके समय

बौद्धोंके अनेक बड़े बड़े पुस्तकालय नष्ट हो गये। यह बात मुसलमानोंके ही इतिहाससे सुव्यक्त होती है कि तदन्तपुरी-विहारके पुस्तकालयको बख्तियार खिलजीने जला दिया था। इसी तरह नालन्द और विक्रमशीलके पुस्तकालय भी नष्ट हो गये। बंगालके प्रधान गौरव जगद्दल विहारकी भी यही दशा हुई और जान पड़ता है, भोज महाराजके पुस्तकालयकी भी यही गति हुई। सौभाग्यसे उस समय अनेक बौद्धभिक्षु पुस्तकें लेकर नेपाल और तिब्बतको भाग गये थे। इसके सिवाय इसके पहले भी भूटानके लोग जगद्दल विहारसे १० हजार ग्रन्थ अनुवाद करके ले गये थे। इसीसे हमें इस समय पता लगता है कि बंगाल एक समय बौद्ध देश था।

"बंगालके सेनवंशीय राजा बल्लालसेनकी भी एक लायब्रेरी थी। उस समयके भी ब्राह्मणोंके यहाँ पुस्तकालय थे, क्योंकि उनमें अनेक ग्रन्थोंके कोटेशन (उद्धरण) पाये जाते हैं। यदि ग्रन्थ न होते तो इस प्रकारके कोटेशन कैसे दिये जाते? वे सब पुस्तकालय कहाँ गये? हमारा देश बड़ा बुरा है। हमारे यहाँ पुस्तकें नहीं रहतीं—अग्नि है, वृष्टि है, जल है, नदियोंके पूर हैं और सबसे बड़े शत्रु चूहे और दीमक हैं—और एक शत्रु हैं पण्डितोंके मूर्ख पुत्र। इन सबके द्वारा अनेक प्राचीन पुस्तकालय नष्ट हो गये। पर इस समय भी जो जो हैं, उनका कुछ वर्णन सुन लीजिए।

"नेपालमें मुसलमानोंका उपद्रव नहीं हुआ। वहाँके निवार राजे बहुत काल तक पुस्तकसंग्रह करते रहे हैं। उनके पुस्तकालयमें १४००—१५०० वर्षके पुराने ग्रन्थ हैं। उस देशमें थोड़ेसे प्रयत्नसे पुस्तकें बहुत समय तक टिकती हैं। जब गोरखा राजाओंने नेपालपर अधिकार किया तब निवार राजाओंके पुस्तकालयकी लूट हो गई। किन्तु अबसे कोई ५०—६० वर्ष पहले राणा जंगबहादुरके समयसे फिर पुस्तकालय बनाया जा रहा है। उसमें लगभग १६ हजार पुस्तकें हैं और लगभग २००० पुस्तकें ताड़पत्रों पर लिखी हुई हैं। वे प्रायः बंगालविहारके भागे हुए भिक्षुओं द्वारा ही वहाँ गई थीं। यह पुस्तकालय बड़ी सावधानीसे रक्खा जाता है। उसके लिए महाराजा वीर शमशेरजंग राणाने एक टावर बनवा दिया है। उसका एक विशाल कमरा और उसके चारों ओरकी दालानें पोथियोंसे ठसाठस भरी हुई हैं। उसमें अँगरेजी पुस्तकोंका भी संग्रह है। १६००० ग्रन्थ संस्कृतके हैं। भूटान देशके लगभग १०००० और चीन देशके ३—४ हजार ग्रन्थ हैं। चित्र भी बहुत हैं और वे तरह तरहके हैं;—विशेषतः तन्त्र-साहित्यके। यह पुस्तकालय महाराजका अक्षय यश है। इनके सिवाय नेपालमें और भी अनेक लोगोंके यहाँ अनेक ग्रन्थ हैं, जिनका पता पाना दुष्कर है।

"महाराजा रणजीतसिंहके पुरोहित मधुसूदनने पुस्तकोंका बड़ा संग्रह किया था। उनके पुत्रोंके उत्तराधिकारियोंने उन पुस्तकोंका क्या किया, कुछ पता नहीं।

"राजपूतानेके प्रायः सभी राजाओंके किलोंमें एक एक 'पोथीखाना' है। उनमेंसे अनेक पुस्तकालयोंमें २००० से लेकर ६००० तक पुस्तकें हैं। जब अलाउद्दीन खिलजीने देश पर अधिकार किया तब गुजरातके जैन लोग अपने ग्रन्थोंको लेकर जैसलमेर भाग गये। वे सब ग्रन्थ वहाँ अब भी बचे हुए हैं। मैसूर और त्रावणकोरमें भी बहुत ग्रन्थ हैं। वहाँके राजाओंके भी बड़े बड़े पुस्तकालय हैं। तंजौरकी लायब्रेरी बहुत पुरानी है। छत्रपति शिवाजीके पिता

साहूजीने जब उक्त देश पर अधिकार जमाया और तंजौरको राजधानी बनाया तब इस लायब्रेरीकी खूब उन्नति हुई । इसमें १८००० से अधिक ग्रन्थ हैं ।

" लगभग ३०० वर्ष पहले एक बड़े भारी संन्यासी गोदावरी-तीरसे काशीवास करनेके लिए आये थे और उन्होंने वरुणाके तीर पर एक लायब्रेरी स्थापित की थी । उसमें चुने हुए लगभग ३००० ग्रन्थ थे । उसकी एक सूची इस समय भी उपलब्ध है । संन्यासीका नाम था—सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वती ।

" मुसलमान बादशाहोंमें अनेक बादशाह लायब्रेरी रखते थे । उनके अमीर उमरावोंकी भी लायब्रेरियाँ थीं । वे केवल अरबी और फारसीके ही नहीं, भारतीय ग्रन्थ भी संग्रह करके रखते थे । मुसलमानोंको लायब्रेरीमें बैठकर पुस्तकें पढ़नेका बड़ा शौक था । हुमायूँने लायब्रेरीके जीनेसे गिरकर ही प्राणत्याग किया था ।

" अँगरेजी शिक्षाके प्रभावसे इस समय तो सर्वत्र ही लायब्रेरियाँ खुल रही हैं । बंगालमें सबसे पुरानी लायब्रेरी रायल एशियाटिक सोसाइटीकी है । लार्ड वेल्सलीने फोर्ट विलियम कालेजमें बड़े ठाठसे एक लायब्रेरी खोली थी । पीछेसे इस लायब्रेरीकी सब पुस्तकें एशियाटिक सोसाइटीको दे दी गईं । "

प्राचीन ग्रन्थोंका संग्रह और उनकी रक्षा ।

(लेखक—श्रीयुत **नाथूराम प्रेमी** ।)

मालूम नहीं हमारे जैनी भाइयोंको—जो रात दिन धर्म धर्म चिल्लाया करते हैं—यह बात कब सूझेगी कि धर्मकी रक्षा और उसके स्वरूपज्ञानके साधनभूत ग्रन्थोंकी रक्षा करनेकी भी जरूरत है । लोग थोड़ा बहुत प्रयत्न सभी प्रकारकी संस्थाओंके लिए कर रहे हैं, पर इस सबसे मुख्य कार्यकी ओर किसीका भी ध्यान नहीं जाता है कि देशके किसी मुख्यस्थानमें एक विशाल सरस्वती-मन्दिर स्थापित किया जाय और उसमें जितने ग्रन्थ मिल सकें, उन सबका एक बड़ा भारी संग्रह किया जाय ।

यह कोई भी नहीं सोचता है कि अन्य संस्थायें तो अभी नहीं दस पाँच वर्ष पीछे भी खोली जावेंगी तो हर्ज नहीं; पर इस संस्थाकी तो सबसे पहले एक दिनका भी विलम्ब किये बिना—जरूरत है । जितने दिन जा रहे हैं, उतने ही ग्रन्थ नष्ट हो रहे हैं और उनके बचनेकी संभावना नष्ट हो रही है । यदि जान-बूझकर हमारे इस प्रमादसे जैनसाहित्यका एक भी पत्र—एक भी वाक्य—नष्ट होता है जो फिर किसी तरह भी प्राप्त नहीं हो सकता है, तो हम एक बड़ा भारी अपराध कर रहे हैं—जैनधर्मको विकलाङ्ग करनेका पाप सिरपर लाद रहे हैं । और यह बिलकुल स्पष्ट है कि हमारी इस लापरवाहीसे प्रतिदिन और प्रतिक्षण जगह जगह अनेक अनमोल और दुर्लभ ग्रन्थ किसी न किसी तरहसे नष्ट हो रहे हैं । कहीं वे चूहे और दीमकोंका भक्ष्य बन रहे हैं, कहीं लोगोंकी अज्ञानतासे वे

घास-फूसकी तरह पड़े हुए हैं और कहीं स्वार्थी लोगोंने उन्हें छुपा रक्खा है।

अब भी समय है। हमें विश्वास है कि यदि अब भी इस विषयमें काफी उद्योग किया जायगा तो अकेले दिगम्बर सम्प्रदायके ही इस समय अधिक नहीं तो जुदा जुदा दस हजार ग्रन्थोंका संग्रह किया जा सकता है और हमारा विशाल साहित्य अनेक अंशोंमें प्रकाशमें आ सकता है।

बम्बईकी गवर्नमेण्टने अबसे लगभग ३०-३५ वर्ष पहले इस विषयमें थोड़ासा प्रयत्न किया था जिसके फलसे डेक्कन कालेजकी लायब्रेरीके लिए लगभग ६ हजार श्वेताम्बरी और डेढ़ दो हजार दिगम्बरी ग्रंथोंका संग्रह हो गया था—जो बड़ा ही मूल्यवान् संग्रह समझा जाता है और जो इस समय डा० भाण्डारकर ओरियण्टल रिचर्स इन्टिटयूटकी शोभा बढ़ा रहा है। कहा जाता है कि जैनग्रन्थोंका इतना अच्छा और महत्त्वपूर्ण संग्रह देशके किसी भी पुस्तकालयमें नहीं है।

अवश्य ही यदि बम्बईसरकारका उक्त प्रयत्न अभीतक जारी रहता तो यह संग्रह इससे भी कई गुणा बढ़ा हो जाता। परन्तु दुर्भाग्यकी बात है कि आगे उसने इस कार्यको बन्द कर दिया।

इससमय हमारे ईडर, नागौर, श्रवणबेलगोला, मूडबिद्री, आमेर (जयपुर), कारंजा, सोनागिर, ग्वालियर, डूँगरपुर, प्रतापगढ़ आदि प्राचीन भाण्डारोंमें जो कुछ संग्रह है वह तो सभीको मालूम है; परन्तु इसके सिवाय छोटे छोटे ग्रामों और नगरोंमें भी—जो किसी समय अच्छे स्थान थे और अब समयके फेरसे ऊजड़ हो गये हैं—हजारों ग्रन्थ पड़े हुए हैं। भट्टारकोंके शिष्य पाँडे और पण्डित पहले प्रायः सभी मध्यम श्रेणीके कस्बों और गाँवोंमें रहा करते थे और उन सबके पास एक एक छोटा मोटा पुस्तकालय होता था। ऐसे पुस्तकालय—अवश्य ही जीर्णशीर्ण अवस्थामें—तलाश करनेसे अब भी सैकड़ोंकी संख्यामें मिल सकते हैं। इनके सिवाय अनेक गृहस्थोंके घरोंमें भी—जिनके पूर्वजोंमें कोई विद्याव्यसनी थे— दस दस बीस बीस ग्रन्थोंके संग्रह मिलना कोई बड़ी बात नहीं है।

अजैन लोगोंके गृहपुस्तकालयोंमें और राजा महाराजाओंकी लायब्रेरियोंमें भी तलाश करनेसे हजारोंकी संख्यामें जैनग्रंथ मिल सकते हैं। जिस तरह जैनपुस्तकालयोंमें सैकड़ों अजैन ग्रन्थ मिलते हैं उसी तरह अजैन पुस्तकालयोंमें जैनग्रन्थ भी रहते हैं। जो सच्चे विद्याव्यसनी होते हैं, उनकी जिज्ञासा केवल अपने ही ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे नहीं मिट सकती है—वे अपने पास सभी प्रकारके ग्रन्थ रखते हैं।

ग्रन्थोंके सिवाय जैनसाहित्य और इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले और भी अनेक साधन जैनग्रंथोंकी खोज और उनका संग्रह करते समय मिल सकते हैं। खेद है कि इस विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायकी ओरसे कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया है। प्रसिद्ध प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुषोंके और पुराण-पुरुषोंके चित्र, चिट्ठी पत्रियाँ—जो साधु और विद्वान् एक दूसरोंको लिखा करते थे और जिनसे तत्कालीन अनेक घटनाओंका ज्ञान हो सकता है—विद्वानोंकी लिखी हुई तरह तरहकी याददाश्तें, तीर्थों और मन्दिरोंसम्बन्धी दस्तावेजें, आज्ञापत्र, दानपत्र आदि चीजें भी, बहुलताके साथ पुराने संग्रहोंमें मिल सकती हैं। इनका संग्रह करना बहुत ही आवश्यक है।

देशभाषाओंके ग्रन्थोंके संग्रह करनेकी भी बहुत आवश्यकता है। भाषाविज्ञान और इतिहासकी दृष्टिसे उनका भी कम महत्त्व नहीं है। उनका भी एक एक पत्र और पत्रका टुकड़ा संग्रह करनेसे न चूकना चाहिए।

यद्यपि यह काम बड़े खर्चका है परन्तु जो समाज केवल मन्दिरों और मूर्तियोंकी प्रतिष्ठामें प्रतिवर्ष कई लाख रुपये खर्च करता है उसके लिए तो यह, यदि वह चाहे तो, जरा भी कठिन नहीं है ।

यह संग्रह दो तरहसे किया जाना चाहिए। एक तो जो ग्रन्थादि खरीदनेसे मिल सकें उन्हें खरीदकर और दूसरे जो इस तरह न मिल सकते हों उनकी प्रतिलिपि या कापी कराके। यदि तीन चार अच्छे विद्वान् और अनुभवी आदमी इस कार्यके लिए नियत कर दिये जायँ और वे जगह जगह जाकर ग्रन्थोंकी खोज करें तो ऐसे हजारों ग्रन्थ खरीद किये जा सकते हैं और हजारों ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करानेका प्रबन्ध कर सकते हैं। बाँकीपुरकी सुप्रसिद्ध खुदाबख्श लायब्रेरीके लिए इसी तरह ग्रन्थोंका संग्रह किया गया था। उसके कर्मचारी ईराण, तूरान, और तुर्कस्तान आदि तक ग्रन्थोंकी खोजके लिए घूमे थे। इसी लिए आज उर्दू, अरबी और फारसी साहित्यका इतना अच्छा संग्रह कहीं भी नहीं है।

बहुतसे भाण्डार ऐसे हैं जो ऐसे लोगोंके हाथोंमें हैं जिन्हें साक्षात् ज्ञानावरणीय कर्म कहना चाहिए। इन लोगोंको राह पर लानेके लिए भी अब प्रयत्न करनेका समय आ गया है। पहले तो चार छह अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित पुरुषोंका डेप्युटेशन भेजकर उन्हें समझाना चाहिए और उनके भाण्डारोंको खुलवाना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि उनकी बिना इच्छाके ग्रन्थ लिये जायँ; परन्तु वे इस बातके लिए अवश्य मजबूर किये जाने चाहिए कि ग्रन्थोंकी सूची बना लेने दें और जो ग्रन्थ अन्यत्र अलभ्य हों उनकी कापी करा लेने दें।

जो लोग बहुत हठी दुराग्रही और स्वार्थसाधु हैं, वे सरकारी और राजाओंकी सहायतासे ठीक किये जा सकते हैं। प्राचीन ग्रन्थ पब्लिककी सम्पत्ति हैं। उन्हें कोई अधिकार नहीं है कि वे उनके ज्ञानसे सर्वसाधारणको वंचित रक्खें। डा० बुल्हर आदि पाश्चात्य विद्वानोंने इसी न्यायसूत्रपर राजपूतानेके अनेक प्राचीन पुस्तकालयोंका निरीक्षण किया था और उनकी सूची बनाई थी। इस काममें उन्हें कहते हैं कि ब्रिटिश सरकारसे और देशी रियासतोंसे काफी सहायता मिली थी। यदि हमारे भाई भी इस कामको अच्छे और प्रभावशाली ढंगसे उठायँगे तो उन्हें भी इस प्रकारकी सहायता मिल सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पाठकोंको स्मरण होगा कि लगभग २० वर्ष पहले मूडबिद्रीके जयधवलादि सिद्धान्तग्रन्थोंकी द्वितीय प्रति करानेके लिए दिगम्बरजैनसमाजने कोई १०-१२ हजार रुपयेका चन्दा किया था। चार पाँच वर्ष हुए कि उक्त कापी करानेका कार्य समाप्त हो गया; परन्तु उन ग्रन्थोंका दर्शन सर्वसाधारणके लिए अब भी दुर्लभ है। विद्वान् लोग तरसते हैं कि देखें उनमें क्या लिखा हुआ है; परन्तु वे ग्रन्थ वहाँके स्वार्थी मठाधीशके धन कमानेके साधन बने हुए हैं और हमसे कुछ भी नहीं बन पड़ता है। एक दिन आयगा कि जिस तरह हम अपने सैकड़ों ग्रन्थरत्न नष्ट कर चुके हैं उसी तरह ये सिद्धान्त भी लुप्त हो जायँगे—क्योंकि संसार भरमें इनकी कोई दूसरी प्रति नहीं है और इनके साथके कई सिद्धान्त ग्रन्थ—जो लगभग १०० वर्ष पहले मौजूद थे—उक्त मठाधीशोंकी कृपासे, नष्ट हो भी चुके हैं।

यदि हम लोगोंमें अपने प्राचीन ग्रन्थोंपर जरा भी भक्ति हो और ग्रन्थोंकी रक्षा करना हम अपने धर्मका अंग समझें तो इन ग्रन्थोंकी एक नहीं पचास प्रतियाँ छह महीनेके भीतर ही कराई जा सकती हैं और वे जुदा जुदा पचास

स्थानोंके मन्दिरोंमें विराजमान कराई जा सकती हैं। हमको चाहिए कि हम वहाँके भट्टारकको मजबूर करें कि वे सिद्धान्तग्रन्थोंकी—प्रतिलिपियाँ कर लेने दें और यदि वे न मानें तो इसके लिए सरकारसे सहायता माँगी जावे। हमारा विश्वास है कि सरकार हमें इस काममें बिना किसी विलम्बके सहायता देवेगी।

एक फोटोग्राफरको कुछ महीनोंके लिए रख लेनेसे यह काम बहुत आसानीसे हो जाता है। बिलकुल मूल प्रतिके समान चाहे जितनी प्रतियाँ कराई जा सकती हैं और उक्त सिद्धान्त ग्रन्थ सदाके लिए अमर किये जा सकते हैं।

पूनेके भाण्डारकर इन्स्टिटयूटमें बारहवीं शताब्दिकी लिखी हुई एक आवश्यकसूत्रकी टीका है। ताड़पत्र पर इससे पहलेकी लिखी हुई कोई भी प्रति अब तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई है। इस प्रतिकी तीन चार प्रतियाँ फोटो लेकर ही कराई गई हैं। हमनें उन्हें देखा बड़ी ही अच्छी हैं और खर्च भी ऐसा बहुत अधिक नहीं पड़ा है। अलभ्य ग्रन्थोंकी कापी करानेका यह बहुत ही अच्छा सुगम उपाय है।

सुना है अबकी बार कानपुरमें दिगम्बर-जैनमहासभाका जल्सा बड़े ठाठ और उत्साहसे होनेवाला है। जल्सेके समय एक जैनसाहित्यकी प्रदर्शिनी खोलनेका भी प्रबन्ध किया जा रहा है। क्या हम आशा करें कि महासभामें इस विषय पर कुछ विचार किया जायगा? यद्यपि इस बातकी संभावना बहुत ही कम है कि उसे तीर्थक्षेत्रोंकी मुकद्दमेंबाजी, पण्डितों और बाबुओंके झगड़ों, धर्मके डूब जानेके भयोंसे बचनेके उपायों और ऐसे ही दूसरे अनेक कामोंकी चिन्ताओंके मारे इस कामकी ओर ध्यान देनेका अवकाश मिलेगा; फिर भी इस आशासे यह चर्चा उठाना आवश्यक समझा है कि इतने दिनोंके बाद महासभामें कुछ लोग तो अवश्य ऐसे उपस्थित होंगे जो और नहीं तो इस कार्यकी आवश्यकताका अनुभव करते हैं और जिन्हें बातूनी जमाखर्चके बदले कुछ ठोंस काम करनेकी इच्छा उत्पन्न हो गई है।

अन्तमें इस सम्बन्धमें हम अपने पाठकोंका ध्यान इस ओर आकर्षित करना आवश्यक समझते हैं कि श्रीमान् ऐलक पन्नालालजीने झालरापाटनमें एक ‘ सरस्वतीभण्डार ’ स्थापित करनेका प्रारंभ किया है और उसके लिए वे कई वर्षोंसे चन्दा कर रहे हैं। कहते हैं कि यह चन्दा पचास हजारके लगभग हो गया है और शीघ्र ही एक लाख हो जायगा। यह बड़ी खुशीकी बात है। यह भी सुना है कि त्यागीजी इस संस्थाका ट्रस्डीड करानेवाले हैं। इस विषयमें हमारा नम्र निवेदन यह है कि झालरापाटन स्थान ऐसी विशाल संस्थाके योग्य नहीं है। यह संस्था बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, और काशी जैसे स्थानोंमें ही शोभा देगी और वहीं इसका यथेष्ट उपयोग हो सकेगा। इस लिए ऐलकजीसे प्रार्थना करना चाहिए कि वे सर्वसम्मतिसे उसे झालरापाटनसे हटा दें और उसे तमाम दिगम्बर समाजकी संस्था बना दें। यदि इस संस्थाको सुव्यस्थित पद्धतिसे चलाया जायगा, अच्छे योग्य पुरुष इसके कार्य-सम्पादनके लिए रक्खे जावेंगे और उसमें जिस रीतिसे मैं पहले लिख चुका हूँ उस रीतिसे ग्रन्थसंग्रह किया जावेगा तो जैनसमाजकी एक बड़ी भारी जरूरत रफा हो जायगी।

हम अपने सहयोगियोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे भी इस चर्चाको उठा लेनेकी कृपा करें और दिगम्बरजैनसमाजके माथेसे इस कलंकके टीकेको मिटानेका प्रयत्न करें कि इतने बड़े धनी समाजमें उसका कोई निजका अच्छा पुस्तकालय नहीं है। —बम्बई ५-८-२०

विद्यावती-वियोग ।

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसस्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गजमुज्जहार ॥
—भर्तृहरि ।

पाठक यह जान कर अवश्य दुखी होंगे कि हितैषीके सुयोग्य सम्पादक सज्जनोत्तम बाबू जुगलकिशोरजीकी एकमात्र शिशुकन्या विद्यावतीका गत ता० २८ जूनको एकाएक देहान्त हो गया । विद्यावती अभी लगभग ढाई वर्षकी ही थी । ७ दिसम्बर सन् १९१७ को उसका जन्म हुआ था और जन्मसे प्रायः सवा तीन महीने बाद ही, १६ मार्च सन् १९१८ को उसकी माताका देहान्त हो गया था, इससे उसका पालन-पोषण एक धाय रख कर कराया गया था । लड़की इतनी गुणवती और होनहार थी कि उसके बाल्यसुलभ क्रीड़ा कौतुकोंमें बाबू साहब अपनी सहधर्मिणीके वियोगजन्य कष्टको भूल गये थे । मोहवश उन्होंने उससे बड़ी बड़ी आशायें बाँध रक्खी थीं और उन दुर्बल आशातन्तुओंके आधार पर वे अपने कठोर भविष्यको गढ़ रहे थे; परन्तु मनुष्य सोचता कुछ है और हो कुछ और ही जाता है । दुर्भाग्यके एक ही झकोरेसे वे आशातन्तु टूट गये—विद्यावतीका प्राण-पखेरू उड़ गया और भविष्यकी कठोरता भीषणरूपमें स्पष्ट हो गई !

विद्यावतीकी मृत्युके सम्बन्धमें बाबू साहबका जो पत्र आया है, उसे पढ़ कर हृदय भर आता है । वे लिखते हैं—"विद्यावतीकी यादसे छाती भर भर आती है । उसकी इस दो ढाई वर्षकी छोटी अवस्थामें, बड़े आदमियों जैसी समझकी बातें, सबके साथ 'जी' की बोली, दयापरणति, उसका सन्तोष, उसका धैर्य और उसकी अनेक दिव्य चेष्टायें अपनी अपनी स्मृतिद्वारा हृदयको बहुत ही व्यथित करती हैं । वह कभी साधारण बच्चोंकी तरह व्यर्थकी जिद् करती अथवा रोती-रड़ाती हुई नहीं देखी गई । ऐसी बीमारीकी हालतमें भी कभी उसके कूलहने या कराहने तककी आवाज नहीं सुनी गई, बल्कि जब तक वह बोलती रही और उससे पूछा गया कि तेरा जी कैसा है तो उसने बड़े धैर्य और गाम्भीर्यके साथ यही उत्तर दिया कि 'चोखा है ।' वितर्क करने पर भी इसी आन्यका उत्तर पाकर आश्चर्य होता था ! स्वस्थावस्थामें जब कभी कोई उसकी बातको ठीक नहीं समझता था या समझनेमें कुछ गलती करता था तो वह बराबर उसे पुनः पुनः कहकर या कुछ अते-पतेकी बातें बतलाकर समझानेकी चेष्टा किया करती थी और जब तक वह यथार्थ बातको समझ लेनेका इजहार नहीं कर देता था तब तक बराबर 'नहीं' शब्दके द्वारा उसकी गलत बातोंका निषेध करती रहती थी । परन्तु ज्यों ही उसके मुँहसे ठीक बात निकलती थी तो वह 'हाँ' शब्दको कुछ ऐसे लहजेमें लम्बा खींच कर कहती थी, जिससे ऐसा मालूम होता था कि उसे उस व्यक्तिकी समझ पर अब पूरा संतोष हुआ है । वह हमेशा सच

बोलती थी और अपने अपराधको खुशीसे स्वीकार कर लेती थी । विद्यावतीके ऊपर मैंने बहुतसी आशायें बाँध रक्खी थीं और अनेक विचारोंको कार्यमें परिणत करनेका उसे एक आधार समझ रक्खा था ! मेरी हमेशा यह कोशिश रहती थी कि उसकी स्वाभाविक इच्छाओंका विघात न होने पावे और अपनी तरफसे कोई ऐसा कार्य न किया जाय, जिससे उसकी शक्तियोंके विकाशमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित हो या उसके आत्मा पर कोई बुरा संस्कार पड़े । मैं उसे एक आदर्श कन्या और स्त्रीसमाजका उद्धार करनेवाली एक आदर्श स्त्रीके रूपमें देखना चाहता था । परन्तु मेरा इतना भाग्य कहाँ कि वह दिव्यमूर्ति मेरी आँखोंके सामने रह कर मुझे कुछ शान्ति, तृप्ति तथा धैर्य प्रदान करती और इस तरह मेरे भी दिलके कुछ अरमानोंको निकलनेका अवसर [illegible] अब सब बातें कोरी ख्वाबखयाल [illegible]ल हो गई हैं, अथवा कहानी मात्र [illegible]। अब विद्यावतीकी सूरत दुर्लभ हो [illegible]ह ऐसी जगह नहीं गई जहाँसे जल्दी [illegible]यगी ! उसे मैंने अपनी आँखोंके सामने [illegible] भस्म होते देखा है !! मुझे नहीं मालूम था कि वह इतनी थोड़ी आयु लेकर आई है ! ”

सूझ नहीं पड़ता कि बाबू साहबको किस तरह समझाया जाय और किस तरह धैर्य बँधाया जाय । सच मुच यह दुःख दुःसह है और इसे सहन करनेके लिए बड़ी शक्ति चाहिए । हमारी एकान्त कामना है कि जिनेन्द्रदेवका शासन उन्हें वह शक्ति प्रदान करे ।

—नाथूराम प्रेमी ।

विविध-प्रसङ्ग ।

१—वैद्यजीका तर्क ।

जैनमित्रके गत २९ अप्रेलके अंकमें किसी अज्ञातनामा वैद्यजीने, घूँघट निकालकर, जैनहितैषी और सत्योदयसे स्त्रीपुरुषोंकी समानता पर कुछ प्रश्न किये हैं । यद्यपि इन प्रश्नोंका जैनहितैषीसे कोई खास सम्बन्ध नहीं, हितैषीने कभी स्त्रीपुरुषोंके सर्वथा समान होनेका प्रतिपादन नहीं किया और इस लिये वह उनका उत्तर देना अपने लिये कोई जरूरी नहीं समझता—उन सब प्रश्नोंका उत्तर उन्हें किसी वैद्य, हकीम या डाक्टर आदिकी सेवा करनेसे ही प्राप्त होगा—तो भी जैनहितैषी संक्षेपमें इतना जरूर कहना चाहता है कि “ स्त्री पुरुष अनेक अंशोंमें परस्पर समान हैं और अनेक अंशोंमें समान नहीं हैं । अर्थात्, वे समान भी हैं और असमान भी । दोनों एक नहीं हैं—स्त्री स्त्री है और पुरुष पुरुष है । रही रीतिरिवाजों पर उनके अधिकार—की बात, सो रीतिरिवाज सदा एक अवस्थामें नहीं रहा करते—उनमें देशकालानुसार बराबर परिवर्तन हुआ करता है, परिवर्तन पाया जाता है और इस लिये उनके आधार पर किसी विषयका कोई अटल सिद्धान्त नहीं बन जाता । ” परंतु इन प्रश्नोंके अनन्तर ही वैद्यजीने कुछ पंक्तियाँ दी हैं, जिनसे आपके नये तर्कशास्त्रका परिचय मिलता है । वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

“ यदि उक्त प्रश्नोंके महानुभाव सयुक्तिक उत्तर देकर सिद्ध करें कि पुरुष और स्त्री समान हैं तो उनकी बातें सच हैं नहीं तो लोगोंको धोखा देनेके लिये जाल हैं—बिलकुल झूंठ हैं । ”

पाठको, देखा, कैसा बढ़िया युक्तिवाद है ! शायद आपको किसी भी न्यायशास्त्रमें इससे

अच्छा युक्तिवाद देखनेको न मिला होगा! बात यह है कि यदि हम स्त्रीपुरुषोंकी समानता सिद्ध कर दें तो वैद्यजी हमारी उलटी सीधी सभी बातोंको सच माननेके लिये तय्यार हैं, और यदि सिद्ध न कर सकें या करना न चाहें तो फिर हमारी बातें चाहे कितनी भी अच्छी, सत्यतापूर्ण और शास्त्रसम्मत क्यों न हों परंतु वैद्यजी उन्हें बिलकुल झूठ और जाल समझेंगे! है कोई वीर महानुभाव जो वैद्यजीके हृदयका यह काँटा निकाल देवे, उनकी विकलता दूर कर-देवे और उन्हें लटकंतमें लटकनेसे बचा लेवे? हमारी तो शक्तिसे यह काम बाहर मालूम होता है। हम यदि अनेक अवयवोंसे स्त्रीपुरुषोंकी समानता सिद्ध भी कर देवें तो वैद्यजी यही कहेंगे कि हम सर्वथा समानता चाहते हैं यद्यपि उनके उपर्युक्त प्रतिज्ञावाक्यमें 'सर्वथा' शब्द नहीं है। इस पर हमारा यह कहना होगा कि यदि संपूर्ण अवयवोंकी सर्वथा समानता पर ही कोई समानाधिकार निर्भर है और स्त्रीपुरुषोंके संपूर्ण अवयवोंमें सर्वथा समानता नहीं है तो फिर उनका कोई भी अधिकार समान न होना चाहिये। उन्हें खाने पीने, उठने बैठने, सोने जागने, रोने धोने, सोचने विचारने, देखने सुनने, दुख सुखका अनुभव करने, जीने मरने और आत्मरक्षा आदिके जो समान अधिकार मिले हुए हैं वे सब रद्द होने चाहियें। नहीं हालूम इस पर वैद्यजी क्या उत्तर देंगे। इस लिये हमसे उनका समाधान नहीं हो सकेगा। अस्तु।

यहाँ किसीको यह कहनेका साहस न करना चाहिये कि वैद्यजीने, न्यायशास्त्रमें मति न होते हुए, व्यर्थ ही उसमें हाथ डालकर अपनी और उसकी मिट्टी खराब की है, नहीं तो वैद्यजी रुष्ट हो जायँगे और उनकी बातोंको भी बिलकुल झूठ समझने लगेंगे!

२–ब्राह्मणविधवाकी उदारता।

नीलकटरा, देहलीके पंडित दीनानाथजी जैतली (सारस्वत) की विधवाने अपनी सारी संपत्ति, जो प्रायः एक लाख रुपयेकी मालियतकी है, एक सनातनधर्म-कन्यापाठशाला, एक पुस्तकालय और एक प्याऊ स्थापित करनेके लिये लिख दी है। महामहोपाध्याय पं० बांकेराय नवल गोस्वामी, लाला रामामोहन, मि० ताराचंद वकील आदि कई सज्जन उसके ट्रस्टी नियत हुए हैं। हम उक्त विधवाबाईकी इस उदारता और समयोपयोगी दानशीलताकी हृदयसे सराहना करते हुए अपनी उन जैनविधवाओंका ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं जिन्हें रथयात्रा, मेले ठेले, मंदिरप्रतिष्ठा और उत्सवादिके सिवाय दूसरा कोई पुण्यकर्म ही मालूम नहीं होता। उन्हें एक ब्राह्मणविधवाके इस समयोपयोगी दानसे कुछ सबक सीखना चाहिये और अपने समाजकी वर्त्तमान[illegible]न-ताओंको मालूम करके उनके पूरा कर[illegible] [illegible]न करना चाहिये। समयोपयोगी का[illegible] आ किया हुआ धन ही अधिक फलदाय[illegible]न विशेष पुण्यजनक होता है। [illegible]हीं

३–सेठजीका वेश्यानृत्यसे प्रे[illegible]रह[illegible]

भारतवर्षीय दिगम्बर जैनमहासभाके सभापति, सरकारसे 'रायबहादुर' 'सर' और 'नाइट' की उपाधियाँ प्राप्त, इन्दौरके धनकुबेर सेठ हुकमचंदजी वेश्यानृत्यके बड़े ही प्रेमी मालूम होते हैं। यद्यपि आपने अपने अनेक व्याख्यानोंमें, वेश्यानृत्यका जोरके साथ निषेध किया है और पालीताणामें दि० जैन प्रान्तिक सभा बम्बईके सभापतिकी हैसियतसे ये शब्द कहे थे:—

"इस (वेश्यानृत्य) के द्वारा हमारा धन ही नष्ट नहीं होता, बल्कि हमारी संतान भी इससे नष्ट होती है। सुकुमार संतानके हृदय पर जैसी शिक्षाका प्रभाव [illegible] जाता है वह [illegible] [illegible] लिये

स्थिर हो जाता है। महफिलोंमें अपनी संतानको साथ बिठाकर वेश्यानृत्य दिखलाना मानों उनको वेश्याव्यसनकी शिक्षा देना है। इस लिये सज्जनो ' इन कुरीतियोंको दूर कर जातिको निर्मल बनाइये। यहाँ यह कहना ठीक होगा कि कुरीतियों या उन्नतिके उपायोंके सबसे ज्यादा प्रचार करनेवाले जातिके मुखिया ही हैं। क्योंकि जातीय मुखियोंकी देखादेखी ही अन्य सामान्य लोगोंकी वैसी ही प्रवृत्ति होती है। यदि जातीय मुखिया अपने अपने घरोंसे इन कुरीतियोंको निकाल दें तो जातिसे कुरीतियाँ दूर होनेमें कुछ भी देरी नहीं है। अतएव जातिकी उन्नति और अधोदशाका श्रेय या अश्रेय जातीय मुखियों पर ही है। इस लिये जातीय मुखियोंको इन कुरीतियोंके दूर करनेके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। "

परंतु इतने पर भी आपने, उक्त कथनसे कुछ ही वर्ष बाद, अपने पुत्रके विवाहमें बडे जोर शोरके साथ वेश्याओंका नृत्य कराया था और उसकी सामाको यहाँ तक बढाया था कि नृत्यकी एक स्पेशल महफिल अपने अन्तःपुरमें भी लगवाई थी और इस तरह अपने कुटुंब परिवार, रिश्ते नाते, गलीमहोल्ला और नगरकी स्त्रियोंको भी खास तौरसे रंडीका नाच दिखलाया था। इसपर समाजके तथा दूसरे अनेक पत्रोंमें सेठजीपर बहुत कुछ फटकारें पडी थीं और यह आशा की गई थी कि आगामीको सेठजी फिर वेश्यानृत्यका नाम नहीं लेंगे, बल्कि ' दिगम्बर जैन ' का तो यहाँतक कहना है कि तब सेठजीने इन्दौरमें एक सभामें खास प्रतिज्ञा ली थी कि मैं अबसे वेश्यानृत्य नहीं कराऊँगा। परंतु जान पड़ता है सेठजी पर उस फटकार-वर्षाका कुछ भी असर नहीं हुआ। और यदि सचमुच ही उस वक्त आपने; अपनी उस कृति पर पश्चात्ताप करके, उक्त प्रकारकी कोई प्रतिज्ञा ली थी तो वह वेश्यानृत्यके प्रेमोद्रेकमें विस्मरण अथवा उसके भक्तिरसमें निमग्न हो गई मालूम होती है। इसी लिये हालमें आपने अपनी पुत्रीके विवाहमें भी, जोकि अजमेरके रायबहादुरसेठ टीकमचंदजी सोनीके पुत्रके साथ हुआ है, बड़ी धूमधामके साथ फिर वेश्यानृत्य कराया है! और बड़े तमाशेकी बात यह हुई कि आपको अपना यह नृत्य उस वक्त बंद करना पड़ा जब कि बारात आई; क्योंकि ऐसी हालतमें सेठ टीकमचंदजी शामिल नहीं होते थे, उनके वेश्यानृत्यके न देखने तककी प्रतिज्ञा थी और उन्होंने स्वयं अपनी ओरसे इस विवाहमें कतई वेश्यानृत्य नहीं कराया; जैसा कि ' जैनमित्र ' और ' दिगम्बर जैन ' के हालके समाचारोंसे प्रकट है *।

इन सब बातोंसे पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि सेठ हुकमचंदजी वेश्यानृत्यके अथवा प्रकारान्तरसे वेश्याके कितने बड़े प्रेमी और भक्त हैं। उनका नैतिक बल, इस विषयमें सेठ टीकमचंदजीके नैतिक बलके सामने, निःसन्देह, पराजित हुआ है। उन्हें इस बातका जरा भी खयाल नहीं आया कि संसारमें मेरा क्या पदस्थ है, जैनसमाज मुझे किस गौरवकी दृष्टिसे देखता है, देश तथा समाजमें वेश्यानृत्यके सम्बंधमें कैसी हवा बह रही है, मैं स्वयं उसके विरुद्ध भरी सभाओंमें क्या कुछ कह चुका हूँ और वेश्यानृत्यके करानेवाले आजकल किस हीन दृष्टिसे देखे जाते हैं। हमें सेठजीकी इस नीची प्रवृत्ति और परिणतिपर बहुत खेद होता है। जान पड़ता है आपके सलाहकार भी अच्छे नहीं हैं। उन्हें, अपनी अदूरदृष्टिके कारण इस बातका जरा भी ध्यान नहीं है कि सेठजीका गौरव वास्तवमें किन बातोंसे बढ़ता और किन बातोंसे घटता है। अच्छा होता यदि सेठजी इस विवाहके अवसर पर कुछ भी दान न करते परंतु वेश्यानृत्य न

* देखो ' जैनमित्र ' अंक ३१ और ' दिगम्बर जैन ' अंक २।

कराते। वेश्यानृत्य कराकर और उसके द्वारा अपनी तथा दूसरोंकी संतानको व्यभिचार व पाप-प्रचारका उपदेश दिलाकर तथा अन्य प्रकारसे भी उसके नष्ट भ्रष्ट हो जानेका बीज बोकर, आपने अपनी घरू संस्थाओं आदिको जो कुछ दान दिया है उसका क्या अर्थ है, यह कुछ समझमें नहीं आता। एक ओर तो पापप्रचारको खूब उत्तेजन देना और पापियोंको सहायता देकर उन्हें गलेसे लगाना, दूसरी ओर दानके नामसे कुछ धार्मिक कामोंकी भी पीठ ठोकना, यह किस नीति पर अवलम्बित है? क्या सेठजी इसके द्वारा अपने ही आचरण पर पर्दा डालना चाहते हैं या उसके विरुद्ध उठनेवाली आवाजको दबानेकी फिकरमें हैं; अथवा पबलिकको यह समझानेकी रखते हैं कि इस तरह पर हमने अपने दुष्कर्मका प्रायश्चित्त किया है। कुछ भी हो; हमें इस विषयमें आपकी समझ ठीक मालूम नहीं होती और न आपका वह दान धार्मिक-भावोंसे प्रेरित होकर दिया हुआ जान पड़ता है। जो वेश्यायें स्वभावतः ही—अपनी वृत्तिके अनुसार—संसारमें अनेक प्रकारके अंमगलोंको मनानेवाली हैं उन्हें विवाह जैसे मांगलिक कार्योंमें बुलाकर नचाना कभी भी आजकलके सुदूरदर्शी विद्वानों तथा धार्मिक पुरुषोंकी दृष्टिमें अच्छा नहीं समझा जा सकता। किसी कविने ठीक कहा है:—

ब्याह समय सौभाग्यका, रांड नचावें भूर।
मंगलमें असगुन करें, पड़ो बुद्धिपे धूर॥

हम सेठजीसे, उन्हींके (ऊपर उद्धृत किये हुए) शब्दोंकी याद दिलाकर, पूछते हैं कि आपने वेश्यानृत्यमें जो धन खर्च किया है वह क्या किसी सुकृतमें व्यय हुआ है? अथवा उसे वैसे ही व्यर्थ नष्ट हुआ समझना चाहिये? अपनी और दूसरोंकी संतानको वेश्यानृत्य दिखलाकर क्या आपने उन्हें नष्ट करनेका प्रयत्न नहीं किया और उन्हें वेश्या-व्यसनकी शिक्षा नहीं दी? अपनी उस सुकुमार कन्याको, जिसके विवाहमें वेश्या नचाई गई है, आपने इसके द्वारा क्या सिखलाया है? यह जाननेकी हमारी बड़ी उत्कंठा है। इसके सिवाय हम इतना और पूछना चाहते हैं कि क्या आप जातिके मुखिया नहीं हैं? यदि हैं तो जातिके मुखियोंको लक्ष्य करके आपने जो कुछ अपने व्याख्यानमें कहा था उसका पालन क्या इसी तरह किया जाता है? क्या इसे हम 'परोपदेशकुशलता' अथवा 'खुदरा फजीहत दीगरांरा नसीहत' न समझें? क्या यह समझें कि आपके विचार अब बदल गये हैं और आप इस समय वेश्यानृत्यको ही जैनजातिके उत्थानका प्रधान साधन समझते हैं; इसीसे आप वेश्यानृत्यके प्रचारमें लगे हुए हैं और स्वयं अगुआ बनकर दूसरोंके सामने उसका उदाहरण रखते हैं। आशा है सेठजी इन सब बातोंका उत्तर देकर हमें संतुष्ट करनेकी अवश्य कृपा करेंगे और यदि उन्हें अब भी अपनी भूल मालूम पड़े तो उसे प्रकाश्य रूपसे सर्व साधारण पर प्रकट करनेकी उदारता दिखलाएँगे। साथ ही आगेको वेश्यानृत्य न करानेकी ही नहीं, बल्कि उसके प्रचारको रोकनेकी दृढ प्रतिज्ञा धारण करेंगे। अन्यथा हमें इस बातका बड़ा भय है कि सेठजीके इस वेश्यानृत्यप्रेमसे इन्दौरमें आपकी कहीं स्थायी नृत्यशाला कायम न हो जाय।

४—विलायत न जाना अपराध।

महात्मा गाँधीजी, नवजीवनमें, अपनी विलायत यात्राके विचारका स्पष्टीकरण करते हुए, लिखते हैं कि, "किसी भी प्रसंगसे विलायत न जाना, ऐसी मेरी मान्यता कभी नहीं हुई। मैं

अनेक ऐसे प्रसंगोंकी कल्पना कर सकता हूँ जब कि विलायत न जाना अपराध गिना जायगा।" दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि विलायतयात्रासे यदि किसी भारी लाभकी संभावना हो तो उसके लिये जरूर प्रस्तुत होना चाहिए। अन्यथा, केवल सैर-सपाटेके लिये नहीं। इसीसे महात्माजीने खिलाफत मामलेमें विलायत जाना स्वीकार किया था और अपने भेजे या न भेजे जानेका अन्तिम निर्णय मुसलमान भाईयोंके ऊपर छोड़ा था।

५—अछूत तथा नीच जातियोंका सौभाग्य।

सहयोगी 'भविष्य' आदि पत्रोंसे मालूम होता है कि आजकल अछूत तथा नीच जातियोंके उत्थानका अनेक स्थानोंपर अच्छा प्रयत्न जारी है, जिसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैः—

१ थैया सम्प्रदायके धर्मगुरु श्रीनारायण-गुरु स्वामीने, जिनके शिष्योंकी संख्या १७ लाख है; मंदिरोंमें परिया और दूसरी अछूत जातिवालोंको घुसनेकी आज्ञा दे दी है। परिया जाति मद्रास प्रांतमें एक बहुत नीची कौम समझी जाती है।

२ कालीकटके जमोरिन कालिजमें अभीतक सिर्फ ऊँची जातिके लड़के ही दाखिल हो सकते थे परंतु अब अछूत लड़के भी दाखिल हो सकेंगे।

३ कोचीनकी 'कांग्रेस' नामकी सभाने प्रस्ताव पास किया है कि अछूत जातियोंको वर्त्तमान दशाके अनुसार उचित अधिकार दिये जाने चाहियें।

४ मैसूर राज्यमें अछूत जातियोंके उद्धारके लिये कई वर्षसे प्रयत्न जारी है। वहाँ उन्हें आरंभिक शिक्षा मुफ्त दी जाती है। इस वर्ष राजसभामें उच्च शिक्षाको भी मुफ्त किये जानेका प्रस्ताव हुआ है।

५ नागपुरमें ३०–३१ मईको कोल्हापुर महाराजके सभापतित्वमें 'आल् इंडिया कांग्रेस आफ् डिप्रेस क्लास' (नीच समझी जानेवाली जातियोंकी सभा) का जो जल्सा हुआ है उसमें अछूत जातियोंके साथ किये जानेवाले सामाजिक और राजनैतिक अन्यायोंकी बड़ी निन्दा की गई और उसे देशके लिये घातक बतलाया गया।

६ मि० बी० बोसने कहा है कि नई कौंसिलोंका सबसे पहला कार्य यह होना चाहिये कि वह उन संपूर्ण अन्यायोंको दूर करनेका उद्योग करे जो नीचोंके साथ किये जाते हैं।

७ कोचीनके दीवानने कुछ छोटी जातियोंके मंदिरमें जानेके अधिकारको स्वीकार कर लिया है।

ये सब बातें अछूत तथा नीच जातियोंके सौभाग्योदयको सूचित करती हैं। इन जातियों पर पिछले जमानेमें बहुत कुछ अन्याय और अत्याचार हुए हैं। जान पड़ता है अब इनके भी कुछ दिन फिरे हैं और इनके सौभाग्यका सितारा भी चमकेगा। महात्मा गाँधी जैसे देश-नेता भी इनके उद्धारमें लगे हुए हैं। इस विषयमें उनके विचारोंको हमने अन्यत्र प्रगट किया है।

६—विना नामके लेख-पत्र।

'नवजीवन'में एक विना नामके लेखको उद्भृत करके उस पर टीका करते हुए, महात्मा गाँधी लिखते हैं कि—

"मैं अनेक बार लिख गया हूँ कि जवाबदारी (जिम्मेदारी) वाले लेख किसीको भी विना नामके नहीं लिखने चाहियें। विना नामके लेखपत्र लिखनेकी हमारी आदत दूसरे देशोंकी अपेक्षा मुझे बढ़ी हुई मालूम होती है। हमें अपने विचारोंको प्रकट करते हुए क्यों डरना चाहिये? शरमाना चाहिये? सच्चे विचारोंको प्रकट कर-

नेमें डर किसका ? और शरम किसकी ? बिना नामके लेख-पत्र लिखनेवालोंको अब भी मेरी यह शिक्षा है कि तुम इस आदतको छोड़ दो। जिन विचारोंकी, जिस भाषाकी जवाबदारी उठानेके लिये हम तय्यार नहीं हैं उन विचारोंको बतलाने अथवा वैसी भाषा प्रयोग करनेका हमें अधिकार नहीं है।"

बिना नामके लेखों तथा पत्रोंमें अक्सर भाषा कटुक हो जाती है और नम्रता जाती रहती है, इसलिये महात्मा गाँधीजी आगे सूचित करते हैं कि इस तरह पर विवेक छोड़कर लिखनेका हमें कभी अधिकार नहीं है। जिन्हें किसी विषय पर टीका टिप्पण करनेका विचार हो उन्हें विवेक न छोड़कर हिम्मतके साथ अपना नाम देते हुए उसे कार्यमें परिणत करना चाहिये।

आशा है हमारी जैनसमाजके लेखक भी महात्माजीकी इस शिक्षाको ध्यानमें रक्खेंगे।

७—दुअन्नीका मूल्य।

हालमें 'अखिल भारतवर्षीय एकादश वैद्य सम्मेलन'का जो जल्सा इन्दोरमें हुआ था उसमें एक दिन प्रयागमें विद्यापीठ महाविद्यालय खोलनेके लिये चंदेकी अपील की गई थी। इस अपीलका परिचय देते हुए सहयोगी वैद्य, अपने ४ थे नम्बरकी संख्यामें लिखता है कि चंदेमें "पंजाबके एक साधुने एक दुअन्नी दी थी, जो नीलाम की गई। अन्तमें वह दुअन्नी १०२५)रु. में बम्बईके डा० पोपट प्रभुरामने खरीद ली।" जिस साधुकी एक दुअन्नीकी इतनी कदर की गई और इतना मूल्य दिया गया वह कैसा प्रतिष्ठित, प्रभावशाली और लोकप्रिय होगा, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। परंतु खेद है सहयोगीने उसका नाम नहीं दिया और इस तरह अपने पाठकोंको उसका नाम जाननेके लिये उत्कंठित ही रक्खा।

८—अंत्यजोंके उद्धारसम्बंधमें महात्मा गाँधीके विचार।

अंत्यजों को, अस्पृश्य मानना पाप है।

काठियावाड़की किसी प्रसिद्ध, धर्मपरायण और विदुषी बहनने, एक पत्रके द्वारा, महात्मा गाँधीजीसे दो बातें पूछी थीं, जिनमेंसे एक बात अंत्यजोंके सम्बंधकी थी और उसका प्रश्न इस प्रकारसे किया गया था—

"मैं एक दूसरी जरूरी बात पूछती हूँ। यह दुर्भागी हिन्दुस्तान उग्रभागी कब होगा, यह बात आप तो जानते होंगे पर क्या दूसरोंको भी बतलाओगे ? बहुतसी कौमोंकी अपेक्षा आप अंत्यज कौमको अधिक उत्तेजन देते हो, इसका विशेष रहस्य क्या है ? हिन्दुस्थानमें बहुतसी कौमें (जातियाँ) दुर्बल स्थितिमें हैं उनमेंसे अंत्यजोंकी कौमके ऊपर आपकी अधिक लगन (तवज्जह) है ऐसा मालूम होता है। मेरी यह मानता ठीक नहीं होगी, क्योंकि आपने 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' के सिद्धान्तको मानकर सत्याग्रह पकड़ा है।"

महात्मा गाँधीजीने, अपने ३० मईके 'नवजीवन' में, उक्त बहनकी दोनों बातोंका उत्तर देते हुए अंत्यजोंके उद्धार विषयमें अपने विचार इस प्रकारसे प्रकट किये हैं:—

"अब मैं अंत्यजोंके विषयका उत्तर देता हूँ। हिन्दुस्तानके मंदभाग्यका प्रश्न इसमें समाया हुआ है। अंत्यजोंका प्रश्न करके यह बहन शंका उठाती है कि क्या अंत्यजोंको अंत्यजतामेंसे निकाल कर हम हिन्दुस्तानको उग्रभागी बना सकेंगे ? मैं समझता हूँ जरूर ऐसा परिणाम निकाला जा सकता है; क्यों कि जिस शक्तिके द्वारा हम एक महा पापसे मुक्ति प्राप्त करेंगे उसी शक्तिके द्वारा दूसरे पापोंमेंसे भी अपनेको निकाल सकेंगे। और मेरी यह दृढ मान्यता है कि जब-

तक हम कुछ पापकर्मोंमें पड़े हुए हैं तबतक हिन्दुस्तान मंदभागी ही रहेगा । मैं अंत्यजोंकी सेवा करके संपूर्ण कौम (जातिसमूह) की सेवा करता हूँ, ऐसी मेरी मान्यता है । जिस प्रकार अंत्यज दुखी हैं उस प्रकार दूसरे भी हैं परंतु अन्त्यजोंके ऊपर हम तो धर्मके नामसे डाका डाल रहे हैं । अतः इस अधर्ममेंसे निकल जाना और दूसरोंको निकल जानेकी सूचना करना, यह एक चुस्त हिन्दूके तौर पर मैं अपना विशेष कर्तव्य मानता हूँ । अंत्यजोंके दुःखका मुकाबला प्रजाके दूसरे किसी भी विभागके दुःखके साथ हम नहीं कर सकते । अंत्यज अस्पृश्य है, ऐसा धर्म हम कैसे मानते हैं, यह मेरी बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती । और जब मैं इसका विचार करता हूँ तब मेरा हृदय काँपता है । यह अस्पृश्यता हिन्दूधर्मका अंग कभी नहीं हो सकती, ऐसा मेरा आत्मा साक्षी देता है । इतने वर्षोंतक अज्ञानतावश उन्हें (अंत्यजोंको) अस्पृश्य गिनकर हिन्दू संसारने पापका एक बडा भारी पुंज जमा किया है, जिसको दूर करनेके लिये संपूर्ण जीवन अर्पण करना यह मुझे जरा भी अधिक मालूम नही पड़ता और मैं केवल इसी एक कार्यके अंदर अपनेको नहीं रोक सकता, इतनी बातका मुझे दुःख रहा करता है। इसमें अंत्यजोंके साथ जीमन (भोजन)-व्यवहार तथा बेटीव्यवहार रखनेका सवाल जरा भी उत्पन्न नहीं होता, केवल छूने और नहीं छूनेका ही प्रश्न है। अंत्यज मुसलमान हो जाय तो मैं छूऊँ, ईसाई हो जाय तो मैं उसे सलाम करूँ, जिस ईसाई अथवा मुसलमानको वह छूवे उसके छूनेमें पाप न मानूँ परंतु उस अंत्यजको छूनेमें मुझे संकोच होता है ! यह विचार मुझे तो अन्यायसे भरा हुआ, विवेकरहित और अधार्मिक ही मालूम होता है। इसीसे अंत्यजको छूकर मैं अपनेको पवित्र हुआ मानता हूँ और अनेक रीतिसे मर्यादामें रहनवाले हिन्दू-संसारको इस दोषसे निकल जानेकी विनती ही किया करता हूँ। इस बहानसे भी, जिसने सरल भावसे ऊपरका पत्र लिखा है, मेरी विनती है कि वह अपनी उत्तम शक्तिको और अपने परिचितोंके प्रयत्नको पूरी तौरसे लगाकर हिन्दू संसारको इस अस्पृश्यताके पापबोझमेंसे छुड़ानेमें भागीदार बने।"

९–समयोपयोगी कार्य।

सहयोगी भारतमित्रसे मालूम हुआ कि हालमें खंडेलवाल महासभाका जो अधिवेशन दिल्लीके रईस ला० रघुमलजीके सभापतित्वमें हुआ है उसमें १५४ परिवारों (कुटुम्बों) को जो प्राय: १३२ वर्षसे जातिच्युत थे, जातिमें शामिल कर लिया गया है, बोर्डिंग हाउसोंके लिये सभास्थानपर ही एक लाख पंद्रह हजारका चंदा हुआ जिसमें एक लाख रुपया सभापतिसाहबने दिया है, और एक स्त्री श्रीमती नारायणी बाईको, स्त्रीशिक्षापर एक सुन्दर निबन्ध पढ़नेके उपलक्षमें १५०) रुपये पुरस्कारस्वरूप दिये गये। इन सब समयोपयोगी कार्योंको मालूम करके हमें बहुत प्रसन्नता हुई। आशा है हमारे जैनसमाजकी भी भिन्नभिन्न सभाएँ इससे कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगी और खासकर अपने चिरकालसे बिछुड़े हुए (जातिच्युत किये हुए) भाईयोंको फिरसे गले लगाने और उन्हें अपनी जातिमें शामिल करनेकी उदारता दिखलाएँगी।

१०—आँखें बंद कर लो, देखो मत !

कलकत्तेकी दिगम्बर जैनसभाको 'सत्योदय' और 'जातिप्रबोधक' से बड़ा भय मालूम होता है। उसकी श्रद्धा-कुटी इन पत्रोंके वाग्वाणोंसे छिन्न भिन्न हुई जाती है; नहीं नहीं, बल्कि इनके हुंकार मात्रसे उड़ी जाती है! उसे अपने समीपमें स्थित जैनधर्म इतना लचर और पोच दिखलाई देता है कि वह इन पत्रोंकी कुटिल दृष्टिके सामने ठहर नहीं सकता! साथ ही, उसे यह भी अनुभव हुआ जान पड़ता है कि दूसरे जैनी भाईयोंकी श्रद्धा-कुटियोंकी हालत भी उसी जैसी है—वे भी फूँक मारते ही उड़ जानेवाली हैं। और इस लिये उसने अपनी, जैनधर्मकी, और अपने दूसरे जातिभाईयोंकी रक्षाके लिये एक बहुत बड़ा रामबाण उपाय खोज निकाला है, और वह आँखें बंद कर लेना है! इसीसे वह दूसरोंको भी यही उपदेश देती है अथवा आदेश करती है कि 'आँखें बंद कर लो देखो मत'—अर्थात्, इन पत्रोंको मत पढ़ो! उसके खयालसे इसीमें सारा रक्षातत्त्व छिपा हुआ है। परंतु हमारी समझमें यह तो वही बात हुई कि जैसे किसी बिलावको सामनेसे आता हुआ देख-एक कबूतर उसके तेजको न सह सकनेके कारण किंकर्तव्यविमूढसा होकर अपनी आँखें बंद करके बैठ जाता है और समझता है कि इस तरह मेरी रक्षा हो जायगी—मैं उसे नहीं देखता तो मानों वह भी मुझे नहीं देखता—परंतु पाठक समझ सकते हैं कि क्या इस तरह पर उस कबूतरकी रक्षा हो जाती है? कभी नहीं। आँखें खुली रहनेकी हालतमें यदि वह उड़-उड़ाकर अपनी कुछ रक्षा कर भी सकता तो अब उससे भी वंचित हो जाता है और अपनेको अनायास ही दूसरोंके हाथोंमें समर्पण कर देता है। ठीक ऐसी ही दशा, इस समय, कलकत्ता जैनसभाके समासदों और उनके अनुयायियोंकी जान पड़ती है, वे भी किंकर्तव्यविमूढ मालूम होते हैं और इसी कबूतर जैसी नीतिका अनुसरण किये हुए हैं। परंतु वीरपुरुषोंकी ऐसी नीति नहीं हुआ करती, वे आक्रमणकारीके मुकाबलेमें खम ठोककर आते हैं। आँखें बंद कर लेना या पीठ देकर बैठ रहना, यह कायरों तथा कापुरुषोंका चिह्न है। और इस लिये, जो लोग ऐसा आचरण करते हैं वे संसारमें अपनी निर्बलता और अकर्मण्यताको सर्वसाधारणके सामने उच्च स्वरसे उद्घोषित करते हैं। जान पड़ता है कलकत्तेकी उक्त सभाको जैनधर्म पर विश्वास नहीं है अथवा उसने जैनधर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं समझा और न उसके रहस्यका ही उसे कुछ बोध है। वह कुछ अस्थिर रूढ़ियोंके समूहको ही जैनधर्मका शरीर कल्पित किये हुए है और इसीसे जैनधर्म उसे इतना लचर तथा पोच दिखलाई देता है कि उसके चलायमान हो जानेकी उसके हृदयमें हर वक्त आशंका बनी रहती है! नहीं तो, मूल जैनधर्मकी दीवारें ऐसी वज्रकी बनी हुई हैं और इतने मजबूत तथा सुदृढ पायेके ऊपर खड़ी हैं कि उन्हें जरा भी कोई हिला नहीं सकता। परंतु खेद है कि सभाको इसका कुछ भी अनुभव नहीं है। यदि सभा जैनधर्मके वास्तविक स्वरूपको जानने, उसके रहस्यको समझनेकी कोशिश करे और साथ ही समय पर अपनी आत्मशक्तियोंका यथार्थ प्रयोग करना सीखे तो उसके लिये भयका कोई स्थान न रहे और न फिर, व्यर्थकी घबराहटसे उत्पन्न हुए, इस प्रकारके निष्फल तथा हानिकर प्रयत्नों द्वारा उसे विद्वत्समाजमें हँसीका ही पात्र बनना पड़े।

---

१ इस विषयका जो प्रस्ताव उक्त सभाने पास किया है उसे हमने अपने विचारोंके साथ अन्यत्र प्रकाशित किया है।

११—सेठीजी जाति-च्युत किये गये ।

गत अंकमें यह समाचार प्रकाशित किया जा चुका है कि बम्बईमें खंडेलवालजातीय श्रीयुक्त पं० अर्जुनलालजी सेठी बी. ए. ने अपनी मँझली कन्याका विवाह एक हूमड़ जातीय जैन युवकके साथ कर दिया है । जहाँ तक हम जानते हैं जैनधर्म इस प्रकारके विवाहोंका निषेध नहीं करता । जब जैन पुराणोंके अनुसार चक्रवर्ती जैन राजा म्लेच्छ देशकी कन्याओं तकसे विवाह करते थे, और द्विज जातियोंमें—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यवर्णोंमें—परस्पर विवाहसम्बन्ध होनेके सैकड़ों उदाहरण जैनकथासाहित्यमें भरे हुए हैं, तब यह एक ही वैश्यवर्णकी और एक ही दिगम्बर जैनधर्मको माननेवाली दो जातियोंका सम्बन्ध तो किसी प्रकार भी ऐसा नहीं हो सकता कि इसका विरोध किया जाय । परन्तु न जाने क्या सोचकर बम्बईकी खण्डेलवाल जैनपंचायतने सेठीजीको जातिच्युत करनेकी आज्ञा जारी कर दी है ! इस आज्ञाको सुनकर बड़ा भारी आश्चर्य इस कारण हुआ कि यहाँकी पंचायतके अग्रणी-प्रधाननेता—पं० धन्नालालजी काशलीवाल हैं और वे जैनधर्मके धुरन्धर पण्डित हैं । वे उन लोगोंमेंसे हैं जो जैनशास्त्रोंको अक्षर अक्षर मानते हैं । हम नहीं समझते कि उन्होंने इस जैनधर्मसे सर्वथा अनुकूल विवाहको क्यों अवैध समझा और उसका विरोध करनेकी क्यों आवश्यकता समझी ।

इस बम्बई पंचायतसे तो शोलापुरकी हूमड़ पंचायत ही विचारशील निकली । सुनते हैं, उसने अभी तक इस विवाहके विरुद्ध कोई भी प्रयत्न नहीं किया है और न वह करना ही चाहती है । इसके पहले शोलापुरमें दसा और बीसा हूमड़ोंमें भी परस्पर एक दो सम्बन्ध हो गये हैं और वे थोड़ेसे ही विरोध आदिके बाद एक तरहसे जायज समझ लिये गये हैं ।

खण्डेलवाल पंचायती अपने रीति-रवाजोंको और जातिनियमोंको अपनी इच्छानुसार जारी रखनेके लिए स्वतन्त्र है । उसमें हस्तक्षेप करनेका किसी दूसरेको अधिकार नहीं हो सकता; फिर भी उसे ऐसे मामलोंमें अब विशेष सोच-समझसे काम लेना चाहिए । समय बदल रहा है, लोगोंके दृष्टिकोण बदल गये हैं और सामाजिक अत्याचारोंसे लोग इतने पीड़ित हो रहे हैं कि यदि उनकी न्याय्य आकांक्षाओंके प्रति सहानुभूति प्रकट न की जायगी तो वह समय दूर नहीं है जब पंचायतियोंकी अबाधित सत्ताके जूँएको लोग अपने कन्धोंसे उतार कर फेंक देंगे और उससे जो थोड़ा बहुत लाभ होता था उससे भी वंचित हो जायँगे । हमारी छोटीसी समझमें यह ढंग अच्छा नहीं है । इनसे स्वेच्छाचार घटेगा नहीं—जैसी कि आशा की जाती है, उलटा बढ़ेगा ।

१२—एक कदम और आगे ।

सत्यवादीके भूतपूर्व सम्पादक पं० उदयलालजी काशलीवाल भी खण्डेलवाल जातिके हैं । उनकी उमर इस समय लगभग ३६ वर्षकी है । कई वर्षसे वे प्रयत्न कर रहे थे कि किसी खण्डेलवाल जातिकी कन्याके साथ शादी कर लेवें । इस कार्यके लिए उन्होंने ४—५ हजार रुपये तकका प्रबन्ध कर लिया था । वे अपने एक धनी मित्रके साथ नागोर आदि प्रान्तोंमें कन्याकी शोधमें घूमे भी; परन्तु जब उनका कार्य सिद्ध नहीं हुआ और वे इस ओरसे निराश हो गये—उन्हें अपनी चरित्ररक्षाका और कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा तब उन्होंने एक सच्चरित्र बालविधवाको जो जातिकी ब्राह्मणी है, बुला लिया

और अब वे उसके साथ बहुत जल्दी विवाह करनेवाले हैं। इस बातकी खबर पाकर खण्डेलवाल पंचायती चौंक पड़ी और उसने पण्डित उदयलालजीको जन्मभरके लिए जातिसे खारिज कर दिया और साथ ही यह आज्ञा भी जारी कर दी कि उनका मन्दिरसम्बन्ध भी बन्द किया जाता है, अर्थात् वे अब जैनमन्दिरमें दर्शनादि भी न कर सकेंगे !

जब पण्डितजीने विधवाको बुला लिया है और वे उसके साथ विवाह करनेकी तैयारीमें हैं तब यह आशा तो कोई भी समझदार नहीं कर सकता था कि वे जातिच्युत न किये जावेंगे। वह दिन अभी इतने निकट नहीं मालूम होता जब कुरीतियोंके कीचड़में फँसी हुई ये पंचायतियाँ एक आपद्धर्मके रूपमें भी विधवाविवाहके प्रति स्वेच्छापूर्वक सहानुभूति प्रकट करने लगेंगी। उनमें अभी इतनी समझ ही कहाँ है? इतना हृदय ही कहाँ है? अतः पण्डितजीको जातिच्युत करना पंचायतका एक बहुत ही मामूली काम हुआ है, इसके विषयमें हम कुछ भी नहीं कहा चाहते; परन्तु उसने जो उन्हें मन्दिर भी बन्द कर दिया है यह खंडेलवाल जातिके इतिहासमें बिलकुल नई बात है—इस विषयमें वह एक कदम और भी आगे बढ़ गई है।

यह मन्दिर बन्द करनेका दण्ड परवार और गोलापूरब आदि दो एक बुन्देलखण्डकी जातियोंमें प्रचलित है। इसे सुनकर हमारे कई खंडेलवाल मित्र बड़ा आश्चर्य करते थे और इस प्रथाके विषयमें उक्त जातियोंका परिहास भी किया करते थे; परन्तु हम समझते हैं अब उन्हें वह आश्चर्य न होगा और न परिहास करनेका ही साहस होगा। क्यों कि इस दण्डविधिको अब स्वयं उनकी खण्डेलवाल सभाने जायज करार दिया है। परवार भाइयोंको इस समाचारसे अवश्य ही सन्तोष होगा कि उनकी जातिके एक अद्वितीय रिवाजका दिगम्बर सम्प्रदायकी एक बहुत ही प्रतिष्ठित जाति अनुकरण कर रही है!

किसीका देवदर्शन बन्द कर देना, उसकी आत्मोन्नतिके एक प्रचलित मार्गमें रुकावट डालदेना, और फलतः उसे जैनधर्मके आश्रयसे दूर फेंकनेकी कोशिश करना कहाँ तक उचित और शास्त्रविहित है तथा इसका कौनसा अच्छा परिणाम होगा इसका उत्तर तो जैनधर्मके धुरन्धर विद्वान् ही दे सकेंगे; परन्तु हमारी समझमें बम्बईकी खंडेलवाल पंचायतने इस आज्ञाके जारी करनेमें कुछ जल्दी अवश्य की है। जिस मन्दिरसे पंडित उदयलालजी बन्द किये गये हैं, उसमें दक्षिणके सेतवाल, चतुर्थ और पंचम आदि जातिके लोग बराबर दर्शन करनेके लिए आते हैं और उनमें कई सौ वर्षोंसे विधवा-विवाहकी प्रथा जोरोंके साथ जारी है और सेतवाल जातिका तो यह हाल है कि उसमें तलाक तकका रिवाज जारी है, अर्थात् उनमें बहुतसी स्त्रियाँ अपने पतियोंके जीतेजी भी—उनसे न बनने पर—दूसरोंके यहाँ चली जाती हैं! क्या पंचायतीने इस बात पर विचार करनेका कष्ट उठाया है? क्या वह पंडितजीकी विधवाविवाहकी तैयारीको उक्त जातियोंके विधवाविवाह और तलाक (छोड़छुट्टी) के रिवाजसे भी बुरा समझती है? अथवा उसको यह सच्चा ज्ञान हो गया है कि जो रिवाज पुराने हो जाते हैं और जिनको जातिके एकसे अधिक सभ्य स्वीकार कर लेते हैं, वे जायज हो जाते हैं—उनमें दोषकल्पना नहीं हो सकती?

१२ जैनहितैषी भी जैनपत्र नहीं है!

कलकत्तेकी दिगम्बर जैनसभाने आखिर अपनी भूल सुधार ली। पहले उसने 'जातिप्रबोधक' और 'सत्योदय' को ही अजैन पत्र ठहराया

था; परन्तु अब उसने फिर दूसरी आज्ञा जारी की है कि नहीं, जैनहितैषी भी क्यों जैन बना रहे ? उसको भी जैन बनाये रखनेमें लाभ नहीं है। जैनी भाइयोंको चाहिए कि इसे भी अजैन समझें और इसके ग्राहक न बननेकी और न पढ़नेकी प्रतिज्ञा कर लें ! सभाको उसकी इस उदारता और गुणज्ञताके लिए अनेक धन्यवाद !*

१४ महात्मा तिलकका स्वर्गवास।

पूनेके सुप्रसिद्ध देशभक्त महात्मा तिलकका ता० ३१ जुलाईकी रातको बम्बईमें स्वर्गवास हो गया। राजनीतिके क्षेत्रमें काम करनेवालोंमें आज तक उनके समान सम्मान और प्रतिष्ठा किसीको भी प्राप्त नहीं हुई। उस दिन उनके अन्तिम संस्कारके समय जनताकी जैसी भीड़ हुई थी वैसी आज तक किसी भी नेता, महात्मा और धर्माचार्यके लिए तो क्या किसी राजा महाराजाके लिए भी नहीं हुई थी ! एक समाचारपत्रके कथनानुसार उस समय ५–६ लाख मनुष्य उपस्थित थे ! वह दृश्य अपूर्व था। उससे पता लगता था कि इस समय देशमें देशप्रेमकी महिमा कितनी बढ़ गई है। महात्मा तिलक प्रतिभा, साहस, धैर्य, निर्भयता, कष्टसहिष्णुता, राजनीतिज्ञता और एकनिष्ठता आदि सभी गुणोंमें अद्वितीय थे। ज्योतिष और पुरातत्त्वके भी वे धुरन्धर पण्डित थे। उनके देहावसानसे देशकी जो महती हानि हुई है वह जल्दी मिटनेवाली नहीं। उनके कट्टरसे कट्टर विरोधियोंको भी उनकी इस असमयमृत्युसे शोक हुआ है। सभीकी यह राय है कि देशका एक महान् रत्न लुप्त हो गया। देश कंगाल हो गया। महात्मा गाँधीके शब्दोंमें लोकमान्य तिलक मरकर भी हमें जीनेका मंत्र सिखा गये हैं। साथही देशके हृदयमें वे अमर हो गये हैं। *

---

* पिछले चार नोट प्रकाशकके लिखे हुए हैं।

त्रुवल्लुव नायनार त्रुकुरल।

(लेखक—स्वर्गीय बाबू दयाचन्दजी गोयलीय)

(अंक ४–५ से आगे)

५—गृहस्थाश्रम।

४१—गृहस्थसे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी तीनों अवस्थाओंके लिये सहायता मिलती है।

४२—अनाथों, दरिद्रों और असहाय मृतक (?) मनुष्योंके लिये गृहस्थ अवलम्ब है।

४३—पितरोंका श्राद्ध (?) करना, देवताओंका यज्ञ करना अतिथियोंका सत्कार करना, सम्बंधियोंकी सहायता करना और आत्म-रक्षा करना ये पाँच गृहस्थके कर्त्तव्य हैं।

४४—उसका वंश कभी नहीं नाश होता जो धर्मानुकूल आजीविका प्राप्त करता ह और सुपात्रोंको दान देकर भोजन करता है।

४५—जिस घरमें धर्म और प्रेमका बाहुल्य है अर्थात् जहाँ पति और पत्नीमें गाढ़ प्रेम है, वही घर सुखी है और उसका प्रत्येक कार्य उत्तम रीतिसे सिद्ध होता है।

४६—जो मनुष्य गृहस्थाश्रमके धर्मका समीचीन रूपसे पालन करता है उसके लिये वानप्रस्थ या संन्यासाश्रममें जानेकी क्या आवश्यकता है ?

४७—जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें शास्त्रानुकूल धर्माचरण करता है वह वानप्रस्थोंसे भी बढ़कर है।

४८—जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहता हुआ इस बातका ध्यान रखता है कि तपस्वी लोग निर्विघ्नतासे अपनी तपस्या कर रहे हैं, अर्थात् उन्हें कोई कष्ट नहीं है और जो स्वयं धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करता है वह तपस्वियोंसे बढ़कर है।

४९-वास्तवमें गृहस्थ जीवन ही धर्म जीवन है। अन्य आश्रम भी यदि वे निर्दोष हैं तो उत्तम हो सकते हैं।

५०-जो गृहस्थ गृहस्थाश्रमके नियमोंका पूर्ण रूपसे पालन करता है वह इस लोकमें, मनुष्योंमें देवताओंके सदृश है।

६-गृहिणी-सुख।

५१-वही स्त्री गृहिणी होनेके योग्य है, जिसमें गृहिणीके समस्त गुण हों और जो अपने पतिकी आयके अनुसार व्यय करती हो। (गुरुभक्ति, अतिथिसत्कार, निर्धन और निराश्रित जनोंके प्रति दया-अनुकम्पाका व्यवहार तथा आवश्यकतानुसार सामग्रीका संचय करना और पाक विधिमें चातुर्य इत्यादि गुण गृहिणीमें होने चाहिए।)

५२-जिस घरकी गृहिणीमें उपर्युक्त गुण न हों तो चाहे जितनी धन सम्पदा होने पर भी उस घरमें प्रकाश नहीं हो सकता।

५३-जिस घरमें गृहिणीमें उपर्युक्त गुण हैं उसमें फिर किस बातकी कमी है? अर्थात् किसी बातकी कमी नहीं। परंतु जिस घरमें गृहिणीमें उक्त गुण नहीं हैं उसमें क्या धरा है? अर्थात् उसमें कुछ भी नहीं है।

५४-जिस मनुष्यके घरमें पतिव्रता विदुषी स्त्री है उसके लिये उससे बढ़कर फिर संसारमें और कौन वस्तु है?

५५-जो स्त्री नित्य प्रातःकाल उठकर पतिके चरणारविन्दोंको नमस्कार करती है और पतिको छोड़कर अन्य किसी देवी देवताके आगे सिर नहीं झुकाती है, वह यदि यह कहे कि वर्षा हो तो तत्काल वर्षा होने लगेगी। (पातिव्रत धर्मकी ऐसी ही महिमा है।)

५६-जो स्त्री अपने धर्म और शीलकी रक्षा करती है, पतिभक्तिमें लीन रहती है, और अपने घरकी प्रतिष्ठाको सुरक्षित रखती है वही स्त्री वास्तवमें सच्ची गृहिणी है। ऐसे पति-पत्नीमें जो प्रेम होता है वह अक्षय और स्थायी होता है।

५७-स्त्रीको अपने धर्म और शीलकी रक्षा आप करनी चाहिए। उसके लिये किसी प्रकारके परदेकी या रोककी आवश्यकता नहीं है। (लोगोंका यह विचार कि स्त्रियोंको परदेमें रखनेसे और उन्हें घरसे बाहर न निकलने देनेसे उनके धर्मकी रक्षा होगी, भ्रम है। जिन स्त्रियोंको अपने शीलकी रक्षाका विचार होता है, वे खुले मुँह बाजारमें फिरकर भी अपने शीलकी रक्षा कर सकती हैं, परन्तु जिन्हें इस बातका ध्यान नहीं है उन्हें चाहे सात तालोंके अंदर बंद करके रख दिया जाय, फिर भी वे सुरक्षित नहीं रह सकतीं।

५८-जो स्त्री अपने पतिकी शुद्ध अन्तःकरणसे भक्ति करती है अर्थात् जो स्त्री सच्ची पतिव्रता है उसकी देवता तक भी पूजा करते हैं।

५९-जिस पुरुषकी स्त्री अपने धर्म और कुलकी प्रतिष्ठाको सुरक्षित नहीं रख सकती है वह अपने शत्रुओं और द्वेषियोंके सामने सिंहके समान निर्भय होकर खड़ा नहीं हो सकता है।

६०-घरकी प्रतिष्ठा पतिव्रता विदुषी गृहिणीसे है और उसकी शोभा गुणी और सदाचारी सन्तानसे है।

७-सन्तान।

६१-चतुर और सद्गुणी सन्तानसे बढ़कर संसारमें कोई सुख नहीं है।

६२-जिस मनुष्यके ऐसी सुंदर, सुशील और सद्गुणी सन्तान है कि जिसमें किसीको कोई दोष दिखलाई नहीं देता, उसको सात जन्म तक भी कोई दुख नहीं हो सकता।

६३—विद्वानोंका कथन है कि सन्तान माता पिताका धन है, कारण कि जो धन संतान पैदा करती और उससे जो सत्कार्य माता-पिताके लिये करती है उनका फल माता पिताको पहुँचता है।

६४—बच्चोंके नन्हें नन्हें हाथोंसे स्पर्श किया हुआ और इधर उधर फैलाया हुआ भोजन अमृतसे भी बढ़कर स्वादिष्ट होता है।

६५—बच्चोंके स्पर्श करनेसे शरीरको सुख मिलता है और उनकी तोतली बोलीके सुननेसे कानोंको

६६—जिन्होंने अपने बच्चोंकी तोतली और मीठी बोलीको नहीं सुना है केवल वे ही लोग यह कहा करते हैं कि वीणा और बाँसुरीका स्वर मधुर होता है।

६७—पुत्रके प्रति पिताका यही कर्तव्य है कि वह उसको विद्वानोंकी सभामें उच्च आसन पर बैठनेके योग्य बना दे।

६८—पुत्रको पितासे अधिक उन्नति करते हुए देखकर सम्पूर्ण संसारको आनंद होता है।

६९—माताको पुत्रकी उत्पत्तिसे बड़ा आनन्द होता है, परंतु उसका आनन्द उस समय और भी अधिक बढ़ जाता है, जब वह संसारमें उसके गुणों और विद्याकी प्रशंसा सुनता है।

७०—पुत्रसे पिताको क्या लाभ है? अर्थात् पुत्रको पिताके लिये क्या करना उचित है? इसका उत्तर यह है कि पुत्रको ऐसा सुशील और सदाचारी होना चाहिए कि लोग उसे देखकर स्वतः यह कहने लगें कि तपस्या करनेसे उक्त मनुष्यको ऐसे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई है।

८—प्रेम।

७१—क्या कोई वस्तु ऐसी है जो प्रेमको प्रकट हानेस रोक सके? प्रेमीकी आँखोंके छोटे छोटे आँसू ही उसके प्रेमको प्रकट कर देते हैं।

७२—जिन मनुष्योंमें प्रेम नहीं है वे स्वार्थी हैं और अपने लिये जीते हैं, परंतु जिनमें प्रेम है वे दूसरोंके लिये अपने प्राण तक न्योछावर करनेको तैयार रहते हैं।

७३—विद्वानोंका कथन है कि आत्माने इस कारण स्थूल शरीरको धारण किया है कि जिससे जीवधारियोंमें प्रेमका संचार हो।

७४—प्रेमसे जीवमात्रके प्रति मनमें दयाका भाव होता है और दयालुतासे मनुष्यकी इतनी इज्जत होती है कि सब लोग उसको अपना मित्र कहते हैं।

७५—प्रेमके शांतिमय जीवनसे मनुष्यको इस लोक और परलोकमें दोनों जगह सुख मिलता है।

दूसरा सर्ग।

३९—राजाके सद्गुण।*

३८१—जिस राजाके पास सैन्य, मनुष्य, द्रव्य, मंत्री और दुर्ग (किला) ये छहों चीजें हैं वह राजाओंमें सिंहके समान है।

३८२—साहस, उदारता, बुद्धिमत्ता और उत्साह ये चार गुण ऐसे हैं कि राजामें सदैव पाये जाने चाहिये।

३८३—राजामें निरन्तर कार्यतत्परता, विद्या और दृढता ये तीन गुण भी रहने चाहिये।

३८४—यदि राजा धर्मसे च्युत नहीं होता है, प्रजाको पापकर्म करनेसे रोकता है और अपनेमें साहस रखता है तो उसका गौरव सुरक्षित रहता है।

३८५—राजा वह है जो द्रव्योपार्जन करता है, उसका संचय करता है, उसकी रक्षा करता है और फिर उसे धर्मकार्योंमें व्यय करता है।

३८६—जिस राज्यमें प्रजा आसानीसे राजाके पास पहुँच सकती है और जहाँ पर राजा

* इनके पहलेके ३०५ पद्योंके अनुवादकी कापी खो गई है।

कठोर वचनोंका प्रयोग नहीं करता उस राज्यकी सम्पूर्ण संसार प्रशंसा करता है।

३८७—जो राजा मीठी वाणीसे उदारताके साथ प्रजाकी सहायता करता है और अपने बल पराक्रमसे उसकी रक्षा करता है, उसकी सेवा करनेके लिए सम्पूर्ण जगत् तैयार रहता है।

३८८—जो न्यायसे शासन करता है और प्रजाके दुःखोंको दूर करके उनकी सहायता करता है उसे प्रजा उसके कामोंके करण देवताके समान समझती है यद्यपि वह जन्मसे मनुष्य होता है।

३८९—योग्य और उत्तम राजा वह है जो ऐसे कड़वे बचनोंको भी समझकर सहन कर लेता है जिन्हें कान सहन नहीं कर सकते। ऐसे राजाकी छत्रछायामें सम्पूर्ण संसार सुखचैनसे रहता है, अर्थात् वह सम्पूर्ण जगत पर शासन करता है।

३९०—दान, दया, उत्तम शासन और प्रजाके आनन्दकी चिन्ता ये चार बातें राजाके प्रकाशको प्रकट करती हैं।

४०—विद्या।

३९१—इस प्रकार विद्या प्राप्त करो कि जिससे तुम्हें पूर्ण और निर्दोष ज्ञानकी प्राप्ति हो और फिर ठीक प्राप्य ज्ञानके अनुकूल आचरण करो।

३९२—जिस प्रकार दोनों आँखें मनुष्यको मार्ग प्रदर्शित करती हैं उसी प्रकार संख्याज्ञान और (गणित) शब्दज्ञान (व्याकरण) ये दो विद्यायें इस संसारके समस्त प्राणियोंके लिए मार्गप्रदर्शक हैं।

३९३—कहा है कि जिन मनुष्योंने विद्यालाभ कर लिया है, वे ही वास्तवमें नेत्रधारी हैं। मूर्खजन नेत्रहीन अर्थात् हियेके अन्धे हैं।

३९४—ज्ञानवान् पुरुषोंका यह गुण है कि वे बड़ी उत्सुकतासे उस समयकी प्रतीक्षा करते हैं जब उन्हें फिरसे विद्वानोंकी संगतिका आनन्द प्राप्त हो।

३९५—जिस प्रकार भिक्षुक धनिकोंके सामने उनके नीचे खड़े रहते हैं उसी प्रकार मूर्खजन ज्ञानी पुरुषोंसे नीचे खड़े रहते हैं।

३९६—रेतीले मैदानको जितना अधिक गहरा खोदते हैं पानीके सोते उतने ही अधिक निकल आते हैं, उसी प्रकार जितनी अधिक तुम विद्या प्राप्त करोगे उतने ही अधिक ज्ञानके सोते तुम्हारे अन्दरसे निकलेंगे।

३९७—जब विद्यावानोंके लिए प्रत्येक देश स्वदेशके समान और प्रत्येक गृह स्वगृहके समान हो जाता है तब समझमें नहीं आता कि बहुतसे मनुष्य बिना कुछ सीखे अपना जीवन कैसे व्यर्थ खो देते हैं। (क्रमशः)

श्रीवर्द्धमानाय नमः ।

भाग १४ ।

अंक १०-११ ।

जैनहितैषी ।

श्रावण, भाद्रपद १९७७ । जुलाई, अगस्त १९२० ।

विषय-सूची ।

२-१०-१९२० ।

सम्पादक, बाबू जुगलकिशोर मुख्तार ।

मुम्बई वैभव प्रेस.

प्रार्थनायें ।

१ जैनहितैषी किसी स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर निजी लाभके लिए नहीं निकाला जाता है । इसके लिए जो समय, शक्ति और धनका व्यय किया जाता है वह केवल निष्पक्ष और ऊँचे विचारोंके प्रचारके लिए । अतः इसकी उन्नतिमे हमारे प्रत्येक पाठकको सहायता देनी चाहिए ।

२ जिन महाशयोंको इसका कोई लेख अच्छा मालूम हो उन्हें चाहिए कि उस लेखको वे जितने मित्रोंको पढ़कर सुना सकें अवश्य सुना दिया करे ।

३ यदि कोई लेख अच्छा न मालूम हो अथवा विरुद्ध मालूम हो तो केवल उसीके कारण लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव धारण न करनेके लिए सविनय निवेदन है ।

४ लेख भेजनेके लिए सभी सम्प्रदायके लेखकोंको आमंत्रण है । —सम्पादक ।

नियमावली ।

१ जैनहितैषीका वार्षिक मूल्य २) दो रुपया पेशगी है ।

२ ग्राहक वर्षके आरंभसे किये जाते हैं और बीचमें ७ वें अंकसे । आधे वर्षका मूल्य १।)

३ प्रत्येक अंकका मूल्य तीन आने ।

४ लेख, बदलेके पत्र, समालोचनार्थ पुस्तकें आदि "**बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा (सहारनपुर)**" के पास भेजना चाहिए । सिर्फ प्रबन्ध और मूल्य आदि सम्बन्धी पत्रव्यवहार इस पतेसे किया जाय:—

मैनेजर, जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई ।

विचारशील जैनियोंके पढ़नेके लिए ।

नीचे लिखी आलोचनात्मक पुस्तकें विचारशीलोंको अवश्य पढ़नी चाहिए । साधारण बुद्धिके गतनुगतिक लोग इन्हें न मँगावें ।

१ **ग्रंथपरीक्षा प्रथम भाग** । इसमें कुन्दकुन्द-श्रावकाचार, उमास्वातिश्रावकाचार और जिनसेन-त्रिवर्णचार इन तीन ग्रन्थोंकी समालोचना है । अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध किया है कि ये असली जैनग्रन्थ नहीं है—भेषियोंके बनाये हुए हैं । मूल्य ।≠)

२ **ग्रन्थपरीक्षा द्वितीय भाग** । यह भद्रबाहुसंहिता नामक ग्रन्थकी विस्तृत समालोचना है । इसमें बतलाया है कि यह परमपूज्य भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ ग्रन्थ नहीं है, किन्तु ग्वालियरके किसी धूर्त भट्टारकने १६–१७ वीं शताब्दिमें इस जाली ग्रन्थको उनके नामसे बनाया है और इसमें जैनधर्मसे विरुद्ध सैकड़ो बातें लिखी गई हैं । इन दोनों पुस्तकोंके लेखक श्रीयुक्त बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं । मू० ।)

३ **दर्शनसार** । आचार्य देवसेनका मूल प्राकृत ग्रन्थ, संस्कृतच्छाया, हिन्दी अनुवाद और विस्तत विवेचन। जैन इतिहासका एक महत्त्वका ग्रन्थ है । इसमें श्वेताम्बर, यापनीय, काष्ठासंघ, माथुरसंघ, द्राविड़संघ, आजीवक (अज्ञानमत) और वैनेयिक आदि अनेक मतोंकी उत्पत्ति और उनका स्वरूप बतलाया गया है । बड़ी खोज और परिश्रमसे इसकी रचना हुई है ।

पार्श्वपुराण भाषा ।

कविवर भूधरदासजीका यह अपूर्व ग्रन्थ दूसरीबार छपाया गया है । इसकी कविता बड़ी ही मनोहारिणी है । जैनियोंके कथाग्रन्थोंमें इससे अच्छी सुन्दर कविता आपको और कहीं न मिलेगी । विद्यार्थियोंके लिए भी बहुत उपयोगी है । शास्त्रसभाओंमें बाँचनेके योग्य है । बहुत सुन्दरतासे छपा है । मू० सिर्फ १)रु.

नियमसार ।

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यका यह बिलकुल ही अप्रसिद्ध ग्रन्थ है । लोग इसका नाम भी नहीं जानते थे । बड़ी मुश्किलसे प्राप्त करके यह छपाया गया है । नाटक समयसार आदिके समान ही इसका प्रचार होना चाहिए । मूल प्राकृत, संस्कृतच्छाया, आचार्य पद्मप्रभ मलधारि देवकी संस्कृत टीका और श्रीयुत शीतलप्रसादजी ब्रह्मचारीकृत सरल भाषाटीकासहित यह छपाया गया है । अध्यात्मप्रेमियोंको अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए । मूल्य दो रुपया

मैनेजर, जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग बम्बई ।

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।

चौदहवाँ भाग । अंक १०-११

जैनहितैषी ।

जुलाई, अगस्त १९१८ श्रावण, भाद्र २४४४

न हो पक्षपाती बतावे सुमार्ग, डरे ना किसीसे कहे सत्यवाणी ।
बने है विनोदी भले आशयोंसे, सभी जैनियोंका हितैषी 'हितैषी' ॥

जैनसमाजकी दशा और उसके सुधारके उपाय ।

(ले०—सरस्वती सहोदर ।)

आम्नाय-आग्रह पंथ-हठ औ रूढ़िमें सब सन रहे ।
स्याद्वादके झंडे तले यों पक्षपाती बन रहे ॥
सं-ज्ञान-श्रद्धा, मानते हैं धर्मके बहिरंगमें ।
आचरण हैं बस रूढ़ियों पर, ढोंगियोंके ढंगमें ॥१॥

जैनसमाजकी वर्तमान अवस्था बड़ी शोचनीय हो रही है। गतानुगतिक आदतोंसे समाजको घुनसा लग गया है। जिधर देखो उधर पक्षपातका साम्राज्य नजर आ रहा है। विचार-स्वातंत्र्यकी ओटमें भी पक्षपातकी बुरी गंध फैल रही है। इसी पक्षपात और अनेकतासे वास्तविक जैनधर्म और जैनसमाजकी जड़ दृढ़ होनेकी अपेक्षा निर्बल होती जा रही है।

वर्तमानमें "आठ कनोजिया नौ चूल्हेकी" कहावत बराबर घटित होती है। जैनधर्मके भीतर बहुत समयसे दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदाय पक्षपातसे चले आ रहे हैं। बादमें दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायके गृहत्यागी आचार्योंके अलग अलग संघ, गण, गच्छ, पट्ट, आदि निर्माण हुए। प्रत्येक संघको माननेवाले श्रावकोंने पक्षभेदसे अपनेको भिन्न भिन्न आम्नायके माननेवालोंका स्वरूप दिया। इसी तरह जरा जरासी विचारविभिन्नता पर जैनजनता एक दूसरेसे अलग होती गई। वर्तमानमें जैनसमाजमें दिगम्बर, श्वेताम्बर यह दो संप्रदाय मुख्य गिने जाते हैं। श्वेताम्बरोंमें स्थानकवासी और मन्दिरमार्गी दो भेद हैं। इनके अतिरिक्त तेरहपंथी बाईसटोला आदि और भी कई उपभेद हैं। दिगम्बरोंमें भी बीसपंथी, तेरापंथी और तारनपंथी इत्यादि भेद हैं। बीसपंथी भट्टारकोंकी आम्नायके कहलाते हैं। इनमें भी बलात्कार, सेनगण आदि कई भेद-भाव हैं, जिनके माननेवालोंमें परस्पर इतना वैमनस्य है कि वे लोग दूसरे गणके भट्टारकोंके पास या उस गण-गच्छवालोंके मंदिरोंमें जाना

पातक समझते हैं । तेरापंथी पंडित, आम्नायके समझे जाते हैं । पं० टोडरमलजी, पं० जयचंदजी आदिके समयसे इस पंथकी उत्पत्ति बतलाई जाती है । इस पंथमें और बीसपंथमें केवल आचारोंकी थोड़ीसी भिन्नता है । बीसपंथी वस्त्रधारी भट्टारकोंको अपना गुरु मानते हैं और उन्हींकी आज्ञा प्रमाण मानते हैं । दूसरे, बीसपंथी लोग रात्रिमें पूजनाभिषेक करते हैं, और पूजनकी सामग्रीमें सचित्त फूल, फल, चढ़ाते हैं तथा पंचामृत—दूध, दही, घृत, शक्कर, और केशरमिश्रित जल—से अभिषेक करते हैं। इसके अतिरिक्त नवग्रहपूजन, पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि देवी देवताओंकी आराधना करते हैं । तेरापंथी इन सब बातोंका निषेध करते हुए दिनको ही पूजनादिक कर लेते हैं। पूजनकी सामग्री अचित्त लेते हैं। पंचामृतकी जगह केवल जल, सुगंध (केशरमिश्रित जल) का अभिषेक करते हैं। पहले दिगम्बर मुनियोंको अपने गुरु और साधु मानते थे, परन्तु वर्तमानमें ऐसे मुनियोंका अभाव है; इसलिये ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी गणोंको ही अपने गुरु समझते हैं । पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि देवी देवताओंकी स्थापना तेरापंथी अपने मंदिरोंमें नहीं करते । प्रायः यही बीसपंथी और तेरापंथी आम्नायमें भेद है । बीसपंथके माननेवाले दक्षिण महाराष्ट्र और गुजरातप्रांतमें अधिक हैं। तेरापंथके अनुयायी राजपूताना संयुक्त प्रांत, बुंदेलखंड आदि उत्तरी भागोंमें विशेष हैं। तारनपंथके अनुयायी परवार गोलालारे आदि जातियोंके कुछ लोग हैं। तारनपंथी मूर्तिको नहीं मानते, वे शास्त्रकी आराधना करते हैं। तारनपंथी अपने मंदिरोंमें मूर्तियोंके स्थानमें शास्त्र रखकर पूजा करते हैं। उनके मंतव्य, मूर्तिके विरोधमें, प्रायः श्वेताम्बरसम्प्रदायके स्थानकवासियोंके समान हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्वेताम्बर संप्रदायमें भी स्थानकवासी, बीसपंथी आदि भेद हैं । स्थानकवासी, मूर्तिपूजाका विरोधी पंथ है। इसके अनुयायी अपने साधुओंको ही पूजते हैं। श्वेताम्बर संप्रदायके लोग मूर्तियोंमें आँखें जड़वाकर आभूषण इत्यादिसे विभूषित कर पूजन करते हैं । दूसरे उनके सिद्धांतमें स्त्रीमुक्ति, शूद्रमुक्ति, केवलि-भुक्ति और वस्त्रसहित मुक्ति मानी है। दिगम्बर संप्रदाय इन बातोंके विरोधमें हैं।

इन बातोंका तात्पर्य यही है कि जैन समाजमें बाहरी क्रियाकाण्ड—आचरणकी मतभिन्नता पर अनेक आम्नाय और पंथ हो गये हैं। वास्तवमें देखा जाय तो यही ज्ञात होता है कि क्या दिगंबर और क्या श्वेताम्बर दोनों संप्रदायके मूल और तात्विक सिद्धांत प्रायः एक ही हैं । किन्तु अज्ञानताके कारण जैन जनता आंतरिक बातों तक प्रवेश नहीं कर पाती, इसलिये केवल वंशपरंपराकी मान्यता कायम रखनेके लिये अपने अपने पूर्वजोंके बाहरी क्रियाकाण्डके पंथाभिमानमें खूब सन रही है। आम्नाय और पंथके हठमें जैनसमाज इतना उन्मत्त हो रहा है कि वह धर्मके नाम पर लाखों रुपया अपने ही भाई बन्धुओंसे लड़ने-झगड़नेमें बर्बाद कर चुका, तो भी उसको अकल नहीं आई। आवे कैसे ? उसे तो अपने अपने मत-पंथोंका वर्चस्व कायम रखना है न। इसी मतपंथकी चढ़ा ऊपरीसे नित्य प्रति तीर्थों, और मंदिरोंके लड़ाई झगड़े खड़े होते हैं और उनसे सामाजिक उन्नतिमें बाधा पहुँचती है। जैनधर्मके अंतर्गत ऐसा कोई संप्रदाय, आम्नाय, मत-पंथ इत्यादि नहीं है जो स्याद्वादको नहीं मानता हो। तथापि स्याद्वाद धर्मके अनुयायी पंथहठ और क्रियाकाण्डमें इतने एकांती बन रहे हैं कि उन्हें जैनधर्मके मूल सिद्धांतों पर

सोचने, विचार करने और अनुभव करनेकी जरा भी इच्छा नहीं होती । 'स्याद्वाद' शब्द केवल कहने मात्रके लिये रह गया है। स्याद्वादके द्वारा वे अपने संप्रदाय और पंथके विरोधको दूरकर एक नहीं हो सकते प्रत्युत, स्याद्वादका दुरुपयोग कर धर्मके असली सिद्धांतोंसे सदैव अलग रहनेकी कोशिस किया करते हैं। जैन जनताने अपने अपने पंथों और संप्रदायके क्रियाकाण्डोंको जानकर उसकी हठ कर लेना ही सम्यक् ज्ञान तथा श्रद्धान मान लिया है और क्रियाकाण्डकी ओटमें मिथ्यारूढियों पर चलना ही चारित्र समझ रक्खा है। इन्हीं बातोंसे जैनसमाजकी बड़ी अधोगति हो रही है। सब जैन अपने अपने सांप्रदायिक ग्रंथोंके क्रियाकाण्डके अनुसार ही अपना अपना आचरण रखते आ रहे हों, यह बात भी नहीं है। ग्रंथोंकी बातें तो सिर्फ अन्य पंथोंसे विरोध करनेके ही लिये हैं। आचरण तो यही है कि सिर्फ अपने स्वार्थसाधनके भीतर जो जो बातें गर्भित हों उन्हींका वर्ताव किया जाय, बाकी श्रद्धा और झगड़नेके लिये अलग रख दी जायँ। इसी पंथाचारकी ओटमें जैनसमाजने अपनी परंपराकी सामाजिक रूढ़ियोंको भी धर्माचरणका स्वरूप देकर उन पर मुहर लगा दी है।

यह तो हुई साम्प्रदायिक पंथभेदोंकी बीमारीकी बात; अब विशेष रूपसे जैनसमाजके नये भेद प्रभेदोंको देखिये। जबसे भारतवर्षमें पश्चिमी सभ्यता और शिक्षाका जोर शोरसे प्रचार हुआ, तबसे जैनसमाजपर भी इन बातोंका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही गया। धार्मिक उन्नति, सामाजिक सुधार और संगठन तथा शिक्षाप्रचारके लिये जैनसमाजमें भिन्न भिन्न सभा-सुसाइटियाँ, शिक्षा प्रदान करनेवाली संस्थाएँ, और जैनसाहित्यप्रकाशक संस्थाओंका आविर्भाव होता गया। दिगम्बर समाजमें सबसे पहले भा० दि० जैन महासभा, और दो एक विद्यालयोंकी स्थापना हुई। बादमें प्रांतिक सभाओंका जन्म हुआ। दो एक पत्र भी निकलने लगे। पहले पहले शिक्षाप्रचारका ही उक्त सभाओं और पत्रोंमें खूब आंदोलन होता रहा। साथमें जैनग्रन्थ भी छपने प्रारम्भ हो गये। तीर्थोंकी रक्षा और प्रबन्धके लिये कमेटी बन गई। जगह जगह बोर्डिंग और पाठशालाएँ भी खुलने लगीं। इसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी उक्त प्रकारकी सभासुसाइटियाँ और भिन्नभिन्न संस्थाएँ खुलने लगीं। इन संस्थाओंके प्रारम्भमें, जबतक उनके कार्यकर्त्ता योग्य रहे तबतक समाजका उक्त संस्थाओंसे गाढ़ प्रेम रहा। किन्तु समयकी गतिसे जैसे जैसे शिक्षाका थोड़ा बहुत प्रचार होता गया, सभा सुसाइटियोंकी भरमार होती गई और वह भी यहाँ तक कि समाजको उनका अजीर्णसा हो गया, उनके कार्यकी ओर ध्यान देते हुए जनताको फलकी आशा कम होने लगी, दूसरे चंदा देते देते लोग ऊब गये। बादमें कई संस्थाओंकी कलई खुलना प्रारंभ हुआ। इससे लिखे पढ़े लोगोंका प्रेम सामाजिक संस्थाओंसे कम होने लगा। इसी अर्सेसे जैनपत्रोंमें विवादग्रस्त और आक्षेपक लेख निकलना शुरू हो गये। दलबन्दियाँ प्रारम्भ हो गई। अर्थात् धीरे धीरे लिखे-पढ़े लोग भी परस्पर बिछुड़ते गये। इसका फल यह हुआ कि कुछ समय पहले छापेका प्रचारक और छापेका विरोधी ऐसे दो दल उत्पन्न हुए। इनके अनंतर संस्कृतज्ञोंका पंडितदल और अंग्रेजीके मर्मज्ञोंका बाबूदल बना। ये दोनों दल वर्तमानमें जारी हैं। इस तरह इन सभा सुसाइटियों और अन्यान्य संस्थाओंकी भरमारसे तथा दलबन्दियोंसे और भी अधिक भेदभाव बढ़ गया है। इससे धर्मकी उन्नति और प्रचार होना तो दूर रहा

केवल आपसहीमें शक्ति नष्ट हुई और हो रही है। सभा सुसाइटियोंकी मनमानी कार्यवाही और वर्षमें तीन दिनके बातूनी प्रस्तावोंसे न तो समाजका सुधार हुआ और न समाजका उचित संगठन ही हुआ। इसके विपरीत समाज पूर्वकी अपेक्षा और भी छिन्न भिन्न हो गया।

इसका कारण यही है कि जैनसमाजमें अन्धश्रद्धा और रूढ़ियोंकी गुलामीका बड़ा जोर शोर है। जैनसमाजकी सभा, संस्थाएँ भी इन्हीं रोगोंसे आक्रान्त हैं। एक तो जैनसमाजमें अन्य जातियोंकी अपेक्षा शिक्षाकी बहुत ही कमी है। जो थोड़ी बहुत शिक्षा आजकल जैनछात्रोंको दी जाती है वह भी उक्त रोगके संक्रमणसे खाली नहीं। पिछले दश वर्षोंमें (सन् १९१० से आजतक) भारतके राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक आकाशमंडलमें बड़ाभारी परिवर्तन हो चुका है जिसके होनेकी कल्पना भविष्यतमें सौ पचास वर्षोंतक नहीं थी। इसका कारण यूरोपीय महा समर है। यद्यपि यह महासमर स्थगित हो गया तथापि अंतर्राष्ट्रीय विप्लवकी अग्नि जहाँ तहाँ भड़क रही है और संभव है कि थोड़े ही समयमें संसारमें महाप्रलयका युद्ध फिर आरंभ हो जाय। इन्हीं बातोंसे संसारके सभी देशोंमें जनताकी राष्ट्रीय, सामाजिक गति बड़ी तीव्रतासे बदल रही है। ऐसी अवस्थामें भी हमारे जैनसमाजकी सभा, सुसाइटियाँ और भिन्नभिन्न संस्थाएँ भारतके उसी वातावरणमें लीन हो रही हैं जो आजसे लगभग २०-२५ वर्ष पूर्व था। यह बात प्रत्येक व्यक्तिको अपने हृदय-पटपर लिख रखना चाहिये कि प्रत्येक समाजका देशसे अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है और देशकी गतिके अनुसार ही उसे अपनी गति, अपना अस्तित्व कायम रखनेके लिये, बदलनी पड़ती है। और यह बात हमारे जैनसमाजमें तथा उसकी सभा संस्थाओंमें नहीं है। इसी लिये अनेक आन्दोलनोंके होते हुए भी समाजका सुधार नहीं होता। बल्कि समाजकी शक्ति दिन पर दिन क्षीण ही होती जा रही है। जैसे जैसे समाजमें धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन, उन्नति और सुधारके लिये, वर्तमान समयतक होता आया है वैसे ही हमारा धार्मिक और सामाजिक पतन होता जा रहा है। इसका कारण यही है कि हम लोग जैनसमाजके रोगकी वास्तविक परीक्षा न करके आँख बंद किये केवल बाहरी उपचार करते आये हैं जो समाजको पथ्यरूप होना तो दूर रहा उलटा अपथ्य हो रहा है।

जैनधर्म और समाजकी उन्नति और सच्चे सुधारके लिये निम्न लिखित उपाय काममें लाना होगा तभी वास्तवमें उन्नति होगी, ऐसी लेखककी दृढ भावना है—

(१) सबसे पहले जैनसमाजके अंतर्गत भेद भावों (आम्नाय, मत, पंथ और संप्रदाय इत्यादि) को मिटानेके लिये जैनधर्मके वास्तविक मूल सिद्धांत अध्यात्मका खूब जोर शोरसे प्रचार करना चाहिये, ताकि जैन जनताकी नस नसमें आध्यात्मिक भाव जागृत हो उठें। आध्यात्मिक भावोंकी जागृति होने पर स्वयं ही बाहरी भेदभाव नष्ट होने लगेंगे और अभेदभावकी वृद्धि होने लगेगी। दूसरे आध्यात्मिक भावोंकी जागृति हो जानेपर जैनसमाज मिथ्या रूढ़ियोंकी गुलाम न बनी रहेगी, बल्कि देश, काल, भावकी परिस्थितियों और आवश्यकताओंके मार्ग पर चलने लगेगी। उसके सब बनावटी ढोंग और असमयानुकूल दानकी प्रवृत्ति मिट जायगी।

(२) आध्यात्मिकताके साथ ही साथ जैनसमाजमें नीतिपथका विचार और प्रवृत्ति बढ़ानेकी योजना करनी चाहिये। नीतिपथके वर्तमानमें तीन भेद हैं—व्यक्तिगत, सामाजिक, और राष्ट्रीय (राजनैतिक)। जैनधर्मके ग्रन्थोंमें वर्णित क्रियाकाण्ड जिसे हम मोक्षमार्गका बाह्य चारित्र मानते हैं उसकी रचना यद्यपि नीतिके सिद्धांतों पर अवलम्बित है, तथापि हमें वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार सर्वव्यापी, सुगम, और उपयोगी बनानेके लिये उसमें कई प्रकारके परिवर्तन करने होंगे और यह बात पूर्वाचार्योंके शासनभेदसे भी भली

भाँति सिद्ध होती है कि चारित्र मार्गके नियमोंमें समयानुकूल परिवर्तन प्राचीन परंपरासे होते आ रहे हैं। किन्तु चारित्रकी मूल नींव—नीति—नष्ट नहीं हुई और न इसे कभी नष्ट ही होने देना चाहिये। नीतिकी उत्कृष्टता ही व्यक्ति, समाज, देश और धर्मको उज्ज्वल करती है। जिस व्यक्तिमें जितना अधिक नैतिक बल होगा उतना ही वह व्यक्ति पूज्य और मोक्षमार्गका अनुगामी बनता जायगा। समाज और देशकी नीति जितनी उदार, पक्षपातरहित, सत्यमार्ग पर अवलंबित होगी उतना ही उस समाज और देशका मुख उज्ज्वल होता रहेगा। कोई भी देश और समाज कितना ही धनवान् और शिक्षित क्यों न हो, यदि वह आध्यात्मिकताके भाव और नीतिपथसे गिरा हुआ हो तो उसकी उन्नति नहीं बल्कि अधोगति ही समझिये। उसी प्रकार धर्मको उत्कृष्टताकी कसोटीपर जाँचनेके लिये प्रत्येक धर्मकी नीति जाँच कर ही तुलना होती है। जिस धर्ममें नीति जितने अधिक परिमाणमें होती है, वह धर्म उतना ही अधिक उत्कृष्ट गिना जाता है। अहिंसा, सत्य आदि पंच अणुव्रत और महाव्रत आदि जैनधर्मकी नीतिके मूल सिद्धांत हैं, परन्तु इस समय जैनियोंमें कोई भी ऐसा गृहस्थ या त्यागी नहीं निकला जो अपने धर्मकी नीतिको समयानुकूल वर्तावमें लाकर धर्मका मुख उज्ज्वल करता। परन्तु, धन्य है कर्मवीर महात्मा गाँधीको—जिन्होंने अजैन होते हुए भी अहिंसा और सत्यके सिद्धांतको अपनाकर, उसे समयानुकूल स्वरूप देकर, अपने देशके उद्धारमें लगाते हुए संसार भरको चकित कर दिया है। इसी समयानुकूल परिस्थितिके अनुसार हमें अब अपने धर्मनीतिके प्रायः सभी नियम उपनियम बदलने होंगे और उन्हें समाज और देशकी वर्तमान गतिके अनुकूल व्यापक स्वरूप देना होगा, ताकि हमारी धार्मिक और लौकिक उन्नति उन्हीं व्यापक नियमों पर चलनेसे एक ही साथ होती रहे।

जैनसमाजके शिक्षित।

(खासकर, बाबूलोग।)

(ले०—श्रीयुत बाबू सूरजभानजी वकील।)

प्रत्येक जातिकी उन्नति उसके पढ़े लिखे विद्वानों और समझदारों पर ही निर्भर होती है। वे ही संसारकी गतिको, जातिकी वास्तविक दशाको, और उसे उन्नति शिखर पर चढ़ानेके समयोचित उपायोंको जान सकते हैं और वे ही उन उपायोंका जातिमें प्रचार तथा प्रसार कर सकते हैं। हमारी इस जैनजातिमें भी विद्वानोंकी कमी नहीं है। भारतवर्षकी ३० करोड़ प्रजामें यद्यपि जैनियोंकी संख्या केवल बारह लाख ही रह गई है—अर्थात् भारतके २५० मनुष्योंमें केवल एक ही जैनी है, और यह १२ लाखकी संख्या भी तब ही है जब कि संपूर्ण दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासियोंको इकट्ठा गिन लिया जाता है। यदि प्रत्येक सम्प्रदायवाले केवल अपनी ही सम्प्रदायके लोगोंको जैनी मानें और दूसरोंको मिथ्याती जानें, जैसा कि आजकल हो रहा है, तब तो उनकी गणनाके अनुसार जैनी केवल ४ लाख ही रह जाते हैं अर्थात् भारतके ७०० मनुष्योंमें केवल एक ही जैनी गिननेमें आता है। आजका हमारा यह लेख भी दिगम्बर सम्प्रदायके ही विषयमें होनेके कारण हम भी इस लेखमें दिगम्बर जैनियोंको ही जैनी मानते हैं और उनकी संख्या ज्यादासे ज्यादा ५ लाख अनुमान करके भारतके ६०० मनुष्योंमें एक जैनीकी गणना करते हैं। इस प्रकार, इस समय, यद्यपि जैनियोंकी संख्या बहुत ही थोड़ी बल्कि न होनेके ही समान रह गई है तो भी अपनी इस थोड़ीसी संख्याकी अपेक्षा इस जातिमें विद्वानोंकी कमी किसी

प्रकार भी नहीं है। क्योंकि जब भारतके ६०० मनुष्योंमें केवल एक ही जैनी है तब भारतके ६०० विद्वानोंमें यदि एक भी जैन विद्वान् हो तो जातिमें विद्वानोंकी कमी नहीं कही जा सकती। परन्तु जातिमें तो इससे कई गुणें विद्वान् पाये जाते हैं। उदाहरणके लिये यदि इस समय भारतके विद्वानोंकी संख्या ६० हजार भी मान ली जावे तो जैनियोंमें १०० विद्वानोंका होना ही काफी हो जाता है। परन्तु देखते यह हैं कि जैनियोंमें इस समय कमसे कम १०० विद्वान् तो संस्कृतविद्याकी उच्च उपाधियोंसे विभूषित हैं और २०० विद्वान् अंग्रेजीकी बी० ए० और एम० ए० आदिकी उपाधियाँ-प्राप्त हैं। इस प्रकार कमसे कम ३०० विद्वान् मौजूद हैं, जिससे हमको बड़े अभिमानके साथ यह कहनेका साहस होता है कि अन्य जातियोंकी अपेक्षा जैनजातिमें तिगुणे विद्वान् हैं। परन्तु ऐसा होने पर क्या अन्य जातियोंकी अपेक्षा इस जैनजातिकी उन्नति भी तिगुनी हो रही है? उत्तरमें शोकके साथ कहना पड़ता है कि 'नहीं;' यह जाति तो अन्य जातियोंकी बराबरी भी नहीं कर रही है बल्कि उनसे बहुत नीचे गिरी हुई है और ज्यादा ज्यादा गिरती चली जाती है। दृष्टान्तरूपसे विचार कीजिये कि मनुष्य-गणनाके अनुसार भारतकी अन्य जातियाँ तो संख्यामें बढ़ती चली जा रही हैं, जिससे पिछले ३० वर्षके अंदर ही भारतके लोग २८ करोड़से ३३ करोड़ हो गये और अबकी मनुष्यगणनामें आशा है कि वे ३५ करोड़ हो जावेंगे; परन्तु जैनजातिश्नन ही पिछले ३० वर्षोंमें घटते घटते १५ लाखसे १२ लाख रह गई है और भय है कि कहीं अबकी मनुष्यगणनामें वह १०–११ लाख ही न रह जावे! इससे अधिक अवनति और अधोगति और क्या हो सकती है? इस ही प्रकार भारतकी अन्य सब ही जातियोंने स्थान स्थानपर अपने अपने हाईस्कूल, बोर्डिंग और कालिज बना लिये हैं और बनाती चली जा रही हैं, जिनमें अपनी अपनी जातियोंके बालक इकट्ठे रह कर विद्याध्ययन करते हैं, अपना धर्म कर्म सीखते हैं और अपनी जातिके प्रेमका पूर्ण संस्कार प्राप्त करते हैं; परन्तु हमारी अधिकांश जाति अभी तक अपने बालकोंके लिये अपने स्कूल, बोर्डिंग और कालिज बनाना पाप ही समझ रही है। उसके धर्माधिकारी और मोक्ष-पथप्रदर्शक विद्वान् भी चिल्ला चिल्ला कर और पुकार पुकार कर जातिको ऐसे कामोंसे रोक रहे हैं और ऐसे कामोंमें रुपया देनेको कुदान बता रहे हैं। इस कारण इस जातिके बालक बहुत करके अन्य जातियोंके ही स्कूल कालिजोंमें पढ़ते हैं, उन्हींके बोर्डिंगोंमें रह कर उन्हींकी बातें सीखते हैं और उन्हींके संस्कार प्राप्त करते हैं–यहाँ तक कि, ईसाइयोंके स्कूलों और कालि-जोंमें पढ़नेकी हालतमें तो वे उनके धर्मग्रन्थोंको भी कंठस्थ करते हैं, नित्य प्रति उनकी नमाज या प्रार्थनामें शामिल होते हैं और उनके धर्मो-पदेशोंको सुननेके लिये भी बाध्य किये जाते हैं। इससे अधिक गिरी हुई दशा जातिकी और क्या हो सकती है!

भ्रातृभाव, परस्परकी प्रीति और ऐक्यमें भी यह जाति अन्य जातियोंसे बहुत नीचे गिर-गई है। एक समय था जब यह जाति संख्यामें अल्प होते हुए भी अपने वात्सल्य और ऐक्यके कारण सब कुछ शक्ति और गौरव प्राप्त किये हुए थी और अन्य बड़ी बड़ी जातियोंसे किसी बातमें भी कम नहीं समझी जाती थी; परन्तु अब तो इसने अपने इस अमूल्य रत्नको भी खो दिया है और आम्नायभेद, पंथभेद, सम्प्र-दायभेद, जातिभेद, आदि अनेक भेदोंके द्वारा ईर्षा और द्वेषका अटल राज्य ही स्थापित कर दिया है। यह गिरते गिरते यहाँतक गिर गई है:

कि गाँव गाँव और नगर नगरमें अनेक गोठें तथा धड़े खड़े होकर धर्मकार्योंमें भी लड़ाई दंगे होने लग गये हैं, कहीं कहीं मंदिरोंतकको भी ताले लग जाते हैं, कहीं कहीं अनंत चौदसके दिन दो दो उत्सव निकलने लगते हैं और कहीं अन्य प्रकारसे ही कहींके जैनीभाई अपनी फूट दिखाकर जैनधर्मकी प्रभावना करते हैं !

व्यर्थव्यय और कुरीतियोंने तो मानो इस जातिमें अपना अड्डा ही बना लिया है और यहाँ तक काबू पाया है कि चाहे कोई कितना ही कमावे, अपने बाल बच्चोंके खाने पहनने और पालन-पोषणमें चाहे जितनी कमी करके कौड़ी कौड़ी बचावे तो भी जातिकी रीति-रस्मोंका पूरा नहीं पड़ सकता यहाँतक कि, घरकी सब पूँजी लगा देने और जितना कर्ज मिल सकता हो वह सब लेकर लुटा देने पर भी बिरादरीके स्त्रीपुरुषोंके मुखसे यही सुननेमें आता है कि 'कुछ नहीं किया,' अपने बाप-दादाओंका नाम भी खो दिया। कुरीतियोंके विषयमें तो इससे अधिक और क्या कहा जाय कि आठ आठ दस दस वर्षके बच्चोंतकके ब्याह इस जातिमें होते हैं, पचास पचास साठ साठ बरसके बुड्ढोंको उनकी पोतियोंके बराबर दस दस बरसकी नन्हीं नन्हीं बच्चियाँ इस जातिमें बेची जाती हैं और ये बुड्ढे उनको गोद खिलानेके स्थानमें अपनी जोरू बनाते हैं, विवाह रचाकर दोनों तरफकी बिरादरीके सामने उनसे फेरे फिरवाते हैं और बिरादरीके लोग लड्डू कचौरी खाकर बिलकुल मुँह सियेसे रह जाते हैं—चूँ तक भी नहीं करने पाते। इसी प्रकार बिरादरीके किसी भाईके मर जाने पर नुक्ता कराने और हलवा पूरी खानेमें भी ये लोग कुछ नहीं शरमाते, बल्कि जो न खिलावे उसीको उलटा शरमाते हैं और यदि बस चल जाय तो जातिसे ही बाहर कर दिखाते हैं। ऐसी ऐसी बातोंके कारण यदि जातिका नीचातिनीच दशाको पहुँच जाना मान लिया जाय तो इसमें कुछ भी आश्चर्य न होगा।

जब धर्मकी तरफ खयाल करते हैं तो उसकी भी ऐसी ही दशा पाते हैं। अव्वल तो इस जैन-जातिमें मिथ्यातका ही इतना भारी प्रचार है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। हिन्दू मुसलमानोंके देवी देवताओं समाधियों और कबरोंको खुल्लमखुल्ला पूजनेवाले, हिन्दू मुसलमानोंके यंत्रों मंत्रों तथा गंडे तावीजोंको माननेवाले और हिन्दू ब्राह्मणोंसे उनके अनेक अनुष्ठान करानेवाले जैनियोंकी इस समय कोई कमी नहीं है; बल्किसे सबसे बढ़िया बात यह हो रही है कि विवाहसंस्कार तक कई प्रान्तोंमें बहुत करके हिन्दूधर्मकी ही विवाहपद्धतिके ही अनुसार होता है, जिसमें उन्हींके सब देवताओंका पूजन किया जाता है और उन्हींके धर्मकी सब क्रियायें होती हैं। इस प्रकार जब कि दोनों ही पक्षोंकी बिरादरीके सामने और और अनेक नगरोंके भाइयोंके सन्मुख ही विवाह जैसे महान् संस्कारमें मिथ्यात्वका सेवन होता है तब इस जातिमें मिथ्यात्वके प्रचारकी हद ही क्या रह जाती है? यह ठीक है कि अनेक स्थानों पर जैनपद्धतिके अनुसार भी विवाह होने लग गये हैं परन्तु जब उनमेंसे किसी किसी स्थानसे यह बात भी सुननेमें आती है कि एक पक्षकी तरफसे जैनपद्धतिके अनुसार विवाह होनेका महान् आग्रह होने पर भी दूसरे पक्षके जैनियोंने इस बातको नहीं माना और लाचार वह विवाह हिन्दू विवाहपद्धतिके अनुसार ही हुआ तो क्या ऐसी दशामें यह कहना अनुचित हो जाता है कि जैनजातिमें मिथ्यात्वका पूरा पूरा साम्राज्य हो गया है?

जातिके सन्मान और पूछ-प्रतीतिके विषयमें भी जब कुछ गौर किया जाता है तो ऐसी ही गिरी हुई हालत नजर आती है। व्यापारी जाति

होनेके कारण यद्यपि इस जातिके लोग अन्य पुरुषोंकी अपेक्षा सरकारको कई गुणा ज्यादा टैक्स देते हैं, और अनेक प्रकारके सरकारी चंदों तथा कर्जोंमें भी भर भर थैलियाँ रुपयोंकी देकर सरकारका खजाना भरते रहते हैं। परन्तु फिर भी सरकारमें इस जातिका सम्मान, राज्य-प्रबन्धमें इस जातिकी सम्मतिका वजन और इसकी पुकार तथा चिल्लाहट पर सरकारका ध्यान इतना भी नहीं है जितना कि बहुत ही कम टैक्स देनेवालों या बिल्कुल ही न देनेवालोंसे सम्बंध रखता है। कारण इसका यही है कि इस जातिके लोगोंके हृदयमें स्वयं अपनी प्रतिष्ठा नहीं है, वे जैसे बने तैसे रुपया कमाते रहने और उस रुपयेको जातिकी रीति-रस्मोंमें आँख मीच कर लुटाते रहनेकी अपने आपको केवल एक मशीन समझते हैं। इसी कारण जड़ पदार्थके समान ज्ञानशून्य रहकर न तो वे संसारकी गतिका ही कुछ अनुभव प्राप्त करते हैं और न राज्यकी नीति--रीतिको ही समझनेकी कोई कोशिश करते हैं।

रही व्यापार और कमाईकी बात, सो इसका भी उनको कुछ विशेष ज्ञान नहीं है और न इस व्यापारविद्याको वे सीखना ही चाहते हैं। वे तो बहुत करके बचपनमें औंचे-ढौंचे विकट-पहाड़े याद कर लेना ही जानते हैं; फल जिसका यह हो रहा है कि यूरुपके व्यापारी बड़े बड़े कालिजोंमें व्यापारकी उच्च शिक्षा प्राप्त करके और पोलिटिकल इकानोमीकी पूर्ण शिक्षा पाकर हिन्दुस्तानमें आते हैं और सोना, चाँदी, रूई, अनाज आदि सब ही वस्तुओंका बाजार अपने हाथमें कर लेते हैं और हिन्दुस्तानके मूर्ख व्यापारी सोचते ही रह जाते हैं कि क्यों एक-दम अमुक वस्तुका भाव घट गया और अमुकका बढ़ गया। वास्तवमें ये लोग तो आपसमें सट्टा लगाकर या दलाली करके अथवा विदेशी व्यापारियोंको थोड़ा थोड़ा माल बेचकर ही अपनेको महान् व्यापारी समझने लग जाते हैं। रहे ग्रामोंके दूकानदार, सो वे तो अपने ग्राममें प्रति सप्ताह पीठ (हाट) भरने पर एक दिन अर्थात् महीनेमें चार दिन ही कुछ कमा पाते हैं और बाकीके २६ दिन हाथ पर हाथ धर कर प्रायः खाली ही बैठे रहते हैं या ताश-गंजफा खेल कर और चिलम तम्बाकू पीकर अपने दिन बिताते हैं।

इस प्रकार जिधर भी दृष्टि डाली जाती है उधर इस जातिकी प्रत्येक विषयमें ही अत्यंत हीन दशा दिखाई देती है। नतीजा इसका यही निकलता है कि यद्यपि इस जातिमें भारतकी अन्य जातियोंकी अपेक्षा तिगुणे विद्वान् हैं परन्तु वे अपना कुछ भी कर्तव्य पालन नहीं कर रहे हैं। शास्त्री, आचार्य, विशारद और तीर्थ आदि उपाधिधारी संस्कृतके विद्वानोंको तो व्याकरणके सूत्रोंको घोकने, शृंगारादि रसोंसे भरे हुए काव्योंका मनन करके संस्कृत भाषाकी जानकारी प्राप्त करने और नयप्रमाणके भेद प्रभेदों तथा लक्षणोंको याद करनेमें ही अपना बहुत समय बिताना पड़ता है; साथ ही धर्म-ग्रन्थोंको भी बहुत करके कंठस्थ ही कर लेना होता है। उन्हें न तो जातिकी दशाका ही कुछ अनुभव होता है और न संसारकी गतिका। जैन-शास्त्रोंको घोक कर वे यह कहना तो जरूर सीख जाते हैं कि प्रत्येक कार्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार होता है, परन्तु उनको इस बातकी जरा भी खबर नहीं कि अब क्या समय बीत रहा है, कैसी हवा चल रही है, कैसा राज्य है, किन लोगोंसे हमको वास्ता पड़ रहा है, क्या हमारी योग्यता है और क्या दशा है; बल्कि वे तो रूढ़िके दास बनकर सीधा मार्ग यह ग्रहण कर लेते हैं कि जो कुछ भी प्रचलित है—चाहे वह लाभदायक हो या हानिकारक, समयके अनुकूल हो या प्रतिकूल—उसहीका पोषण करना और उसके

विरुद्ध जो कोई कुछ कहे उसको नास्तिक धर्म-ज्ञानशून्य आदि कहकर उसके पीछे पड़ जाना।

ऐसा करनेमें न तो उनको कोई हेतु ढूँढ़ना पड़ता है और न किसी प्रकारके अनुभव प्राप्त करनेकी ही जरूरत होती है। क्योंकि इधर अपने अनुकूल आवाज निकालते हुए देखकर साधारण जनता तो इनकी वाहवाही करने लग जाती है, और उधर ये पंडित लोग भी जाति भरको अपना साथी देखकर अपनी महाविजय समझ बैठते हैं। इन्हें इस बातका जरा भी खयाल नहीं आता कि हमारा तो यह कर्तव्य था कि हम नासमझ लोगोंको लोकमूढ़ताओं और रूढियोंके पंजेसे निकालकर समयानुकूल सत्यपथपर ले जावें, सो न करके हम तो उलटा उन्हींके पथपर चलने लग गये हैं और उन्हींकी बोली बोलते हैं; इस कारण हमारी तो बहुत ही भारी हार तथा पतित दशा हो गई है।

अब रहे बी० ए० और एम० ए० आदि पदवीधारी हमारे बाबूलोग, जो संख्यामें हमारे संस्कृत विद्वानोंसे दुगने तथा तिगने हैं। इनसे जातिकी उन्नति होनेकी बहुत ज्यादा आशा थी; क्योंकि इन्होंने प्राचीन संस्कृत भाषाके स्थानमें वह प्रचलित अंग्रेजी भाषा सीखी है जो इस समय भारतकी राज्यभाषा हो रही है, जिसके द्वारा इस समय संसार भरका व्यापार चल रहा है और जगत भरको प्रत्येक विषयकी उच्च शिक्षा प्राप्त हो रही है। इसके सिवाय हमारे संस्कृतके पंडित तो इस समय अपनी विद्याके द्वारा ज्यादासे ज्यादा १००-१२५ रुपये महीनेका ही रोजगार प्राप्त कर सकते हैं और वह भी प्रायः जैनपाठशालाओंके अध्यापक बनकर, परन्तु हमारे अंग्रेजीके विद्वान् तो अपनी विद्याके द्वारा राज्यमें ही हजारों रुपये महीनेका रोजगार पा लेते हैं और वकील, डाक्टर, इंजीनियर तथा न्यायाधीश आदि बनकर संसारके अनेकानेक महान् कार्योंको सम्पादन करते हैं और इस कारण वे धनमें, पदमें, मानमें, अधिकारमें और संसारके अनुभव आदि सब ही बातोंमें अपने संस्कृत विद्वानोंसे कई गुना बढ़िया रहते हैं, अतः सच पूछिये तो जातिकी उन्नतिका भार इन्हीं बाबू लोगोंपर है न कि प्राचीन विद्याके जानकर बेचारे संस्कृतके विद्वानोंपर! परन्तु शोक है कि इन बाबूलोगोंने अपने कर्तव्यका कुछ भी पालन नहीं किया, बल्कि यों कहिये कि इन्होंने उसकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। हमारे संस्कृतके विद्वान् यद्यपि जातिकी उन्नतिका कोई विशेष कार्य नहीं कर रहे हैं तो भी जातिकी पाठशालाओंसे अध्यापक बनकर अपनी विद्याका लाभ अपनी जातिको जरूर पहुँचा रहे हैं, परन्तु हमारे बाबू लोग बिलकुल ही मौन हैं। वे न तो जातिके प्रति अपना कुछ कर्तव्य समझते हैं, और न उसके लिये अपनी कुछ शक्तिका व्यय ही करते हैं। ऐसी हालतमें यदि यह कहा जाय कि इनमें और जातिके अन्य साधारण अनपढ़ लोगोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है, तो कुछ भी अनुचित न होगा।

बल्कि हमारी रायमें, एक प्रकारसे, इन बाबू लोगोंके कारण जातिकी उन्नतिमें बड़ी भारी बाधा पहुँच रही है। ये लोग यों तो सबहीको मूर्ख ठहराकर बड़ी बड़ी ऊँची बातें बनाया करते हैं, सब ही रीतिरिवाजोंको दूषित बताया करते हैं, परन्तु जब इनके यहाँ कोई ऐसा कारण आन पड़ता है, जिसमें बिरादरीके सम्मलित होनेकी जरूरत होती है तो बुरीसे बुरी और फिजूलसे फिजूल रीतियोंको भी ये उस ही तरह पूरा करने लग जाते हैं जिस तरह कि मूर्ख स्त्रियाँ किया करती हैं; यहाँतक कि जिन छोटी मोटी रीतियोंको बिरादरीके लोग भी उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं और कोई उनको करे या न करे अथवा जिस प्रकार चाहे करे इसकी कुछ भी परवाह

नहीं करते हैं ऐसी फिजूल रीतियोंको भी ये बाबू लोग ज्योंकी त्यों ही करके दिखाते हैं। उनके ऐसा करनेसे रूढ़ीके दासोंकी बड़ीभारी मजबूती हो जाती है और सबहीके हृदयमें यह बात जम जाती है कि रूढ़ियाँ तो ऐसी अटल और पालन करने योग्य होती हैं कि बड़ी बड़ी बातें बनानेवाले बाबूलोग भी उन पर चलना अपना परमधर्म समझते हैं। फल इसका यह होता है कि अगर जातिका कोई साधारण मनुष्य किसी कुरीति या दुखदाई रूढ़िको तोड़ना या किसी-प्रकारकी लोकमूढ़तासे निकलना चाहता है तो भी लोग उसके विरोधी हो जाते हैं और उदाहरणके तौर पर कहने लग जाते हैं कि जब ऐसे ऐसे बाबूलोग भी इन रीतियोंका पालन करते हैं तो इनको छोड़नेका तुम्हारा साहस तो महामूर्खता और पागलपनके सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार इन बाबूलोगोंके उदाहरणसे जातिमेंसे कोई भी कुरीति दूर होने नहीं पाती, बल्कि कुरीतियाँ ज्यादा ज्यादा मजबूत होती जाती हैं।

परन्तु ये बाबूलोग ऐसा करते क्यों हैं? कारण इसका यह है कि बी० ए० और एम० ए० की उपाधि प्राप्त करने और फिर उसके पीछे विकालत इंजीनियरी या डाक्टरी आदि पास करनेतकके लिये इन बाबू लोगोंको पाँच सात वर्षकी उमरसे लेकर २३--२४ वर्षकी उमरतक बराबर विद्याध्ययनमें लगा रहना पड़ता है, जिसमें अनुमान दस बारह वर्ष तो उनको अपने मा-बापोंसे अलग किसी बोर्डिंगमें ही रहना होता है जहाँ इनका रातदिनका समागम हिन्दू मुसलमानोंकी अनेक जातिके बालकोंसे रहता है। इसलिये इनकी खान-पानकी छूत-छात बहुत ढीली पड़ जाती है--यहाँतक कि इनमेंसे बहुतसे तो चूढ़े-चमारों और हिन्दू-मुसलमान आदि चाहे जिस जातिके लोगोंका बनाया हुआ सोडावाटर और पानीका बरफ आदि भी पीने लग जाते हैं, कोई कोई बाजारोंमें बिकते हुए बिस्कुट भी खाने लगते हैं और इस बातकी जरा भी परवाह नहीं करते हैं कि इन सोडावाटर, बर्फ, बिस्कुट आदिके बनानेमें पानी चमड़ेकी मशकका वर्ता गया था या काँसे पीतलके कलशोंका और इनके बनानेमें क्या क्या मसाला डाला गया था। इस प्रकारकी अन्य भी अनेक ढीलें इनके खान-पानमें हो जाती हैं, जैसा कि कभी बगैर नहाये या बगैर कपड़े उतारे ही रोटी खा लेना, रोटी खाते समय कोई एक आध कपड़ा पहने रहना, रोटी खाते हुए यदि किसी अन्य जातिके हिन्दूका हाथ उसके किसी कपड़े या शरीरसे छू जाय तो खाना नहीं छोड़ना, बाजारकी कचौरी पूरी या मिठाई आदिक खाने लगना, मेज पर रखकर भी खा लेना, अन्य जातिके हिन्दू मुसलमान बालकोंके पास बैठे हुए भी खा लेना, बूट पहने हुए पान चबाना या इलायची आदिक खा लेना और सूतकी बनी हुई दरी तथा फर्श पर बूट पहने ही फिरते रहना, इत्यादि।

विद्याध्ययनके इस बहुत बड़े लम्बे चौड़े कालमें इस प्रकारकी ढीलोंका इन्हें इतना अधिक अभ्यास हो जाता है कि अपने कारबारी जीवनमें इन ढीलोंको छोड़कर फिरसे प्राचीन बंधनोंका ग्रहण करना इनके लिये प्रायः असम्भव हो जाता है। इनकी आजीविका भी बहुत करके ऐसी ही होता है जिसमें इन्हें अपने जैसे अंग्रेजी लिखे पढ़ोंकी ही अधिक संगति रहती है और अनेक अंग्रेजी दफ्तरोंमें नित्य उन्हीं सूतके बने हुए दरीफर्शोंपर बैठकर दफ्तरका काम करना होता है जिन पर भंगी ही झाड़ू देता है। इस वास्ते अपनी इस चिराभ्यस्त परिणतिको छोड़कर नवीन प्रकारके कठिन बंधनोंमें पड़ना उन्हें और भी

मुश्किल हो जाता है, अतः वे कारोबारी होकर भी छूतछातके विषयमें अनेक प्रकारसे ढीले ही रहते हैं, परन्तु यह संकोच उनके हृदयमें जरूर रहता है कि ऐसा करनेसे हम अपने जाति भाइयोंसे ताके अवश्य जाते हैं, साथ ही वे यह भी जानते हैं कि जातिका पृथक् पृथक् व्यक्ति तो हमारे प्रभावसे सामने कुछ बोल नहीं सकता और यदि कुछ आक्षेप करता भी है तो उसकी कुछ चलती नहीं, परन्तु मरने जीने या विवाह शादी आदिके अवसरोंपर जब बिरादरीके सब लोग इकट्ठे होते हैं उस समय जातिके प्रत्येक मनुष्यमें ही समूहका बल आजाया करता है, इस कारण उस समय छोटेसे छोटा आदमी भी जातिके बड़े बड़े सर्दारोंपर आक्षेप करनेका साहस कर बैठता है और उसका वह आक्षेप बहुत कुछ कार्यकारी भी हो जाता है। ऐसा विचार कर ये बाबूलोग नित्य तो चाहे जैसी स्वच्छन्दतासे रहते हैं परन्तु बिरादरीके इकट्ठा होनेके अवसरपर बिल्कुल उन्हींका अनुकरण करने लग जाते हैं और छूतछात आदि सबही प्रकारके बंधनोंको पूरा पूरा पालके दिखाते हैं; बल्कि कभी कभी तो वे उस समय सर्वसाधारणसे भी आगे बढ़ जाते हैं और छूतछात आदि बंधनोंका खूब ही बढ़िया स्वांग बनाकर लोगोंके प्रशंसापात्र बनते हैं। ऐसा करनेके लिये उनको अपनी विचारबुद्धिके अतिरिक्त जातिके ऐसे लोगोंका उदाहरण भी मिल जाता है जो मदिरापान और वेश्यागमन आदि अनेक महा कुकर्मोंसे दूषित होने पर भी जाति-बिरादरीके जीवनमें पूरी पूरी छूतछात दिखानेसे जातिके प्रशंसाभाजन ही बने रहते हैं, साथ ही ऐसे धनवानोंका दृष्टान्त भी बहुत असर करता है जो नित्य स्वच्छन्दताके साथ जीवन व्यतीत करते हुए भी बिरादरीसंबंधी रीतिरिवाजोंको प्रचलित रीतिके अनुसार कर देनेसे ही जातिके सर्दार बने रहा करते हैं।

७-८ वर्षकी उमरसे लेकर २३-२४ वर्षकी उमर तक बराबर अंग्रेजी भाषाका ही अभ्यास करते करते और इस अभ्यासमें निपुण होनेके वास्ते अपने साथके विद्यार्थियों तथा पाठकोंके साथ भी हरवक्त अंग्रेजीमें ही बात चीत करते करते और कारबारी होने पर अपने पदका सब काम भी अंग्रेजीमें ही करते रहनेसे इनको इस भाषाका इतना अधिक अभ्यास हो जाता है कि ये लोग परस्पर सदा अंग्रेजीमें ही बातचीत करते हैं और यदि देशभाषा भी बोलते हैं तो उसमें भी आधे शब्द अंग्रेजीके बोल जाते हैं, यहाँ तक कि, अनपढ़ नौकरों चाकरोंसे बातचीत करते हुए भी इनकी जबानसे कोई न कोई शब्द अंग्रेज़ीका निकले बिदून नहीं रहता। ये लोग अपने घरका हिसाब किताब तथा अन्य प्रकारकी कोई याददाश्त भी अंग्रेजीमें ही लिखते हैं और जहाँ तक हो सकता है पत्र-व्यवहार भी अंग्रेजीमें ही किया करते हैं। ऐसी दशामें इनको उन लोगोंसे मिलना जुलना और बातचीत करना बहुत ही मुश्किल तथा अरुचिकर होता है जो अंग्रेजी नहीं समझ सकते हैं। यही कारण है कि देशभाषामें लिखी हुई पुस्तकोंका पढ़ना भी उनको अच्छा नहीं लगता, वे अपने प्यारे धर्मसे जानकारी प्राप्त करनेके वास्ते भी अंग्रेजी पुस्तकोंकी ही इच्छा रखते हैं, जिनके न मिलनेके कारण उनको जन्मभर धर्मसे अनजान ही रहना होता है। इसके सिवाय विद्याध्ययनके बहुत बड़े लम्बे समयमें रातदिन अंग्रेजी साहित्यका ही अध्ययन करते करते उनको उनही विषयोंकी चर्चाका व्यसन हो जाता है जिनकी मुख्यता और बहुलता अंग्रेजी साहित्यमें पाई जाती है, और जिनकी चर्चा अंग्रेजी समाचारपत्रोंमें हुआ करती है। इस लिये गप-शपके समय भी ये बाबू लोग ऐसी ही बातोंकी चर्चा करके अपना दिल-

बहलाया करते हैं। यदि कोई अंग्रेजी पढ़ा साथी नहीं मिलता, तो किसी अंग्रेजी समाचारपत्र या पुस्तकको ही अपना साथी बनाकर उसीसे अपना दिल बहलाते रहते हैं; परन्तु ऐसे पुरुषसे बातचीत करके दिलबहलाना पसन्द नहीं करते जो अंग्रेजी पढ़ा नहीं होता और जो उनके रुचिकर विषयोंमें अच्छी तरह बातचीत नहीं कर सकता। यही कारण है कि इन बाबू लोगोंको अपनी अनपढ़ स्त्रीके साथ बातचीत करके दो घड़ी दिल बहलाना भी बहुत दूभर होता है; बल्कि अपनी स्त्रीके पास बैठने पर तो इनको ऐसा कोई विषय ही नहीं मिलता जिसमें इन दोनोंकी बातचीत होकर दिल बहलावा हो सके।

ऐसी हालतमें वे अपनी जातिकी दशा और रीति रस्मोंसे बिल्कुल अनजान ही रहते हैं, न उसका कुछ सुधार कर सकते हैं और न सुधार करनेकी कुछ इच्छा ही रखते हैं। वे अपने लिये सबसे सहज सुखका मार्ग यही समझते हैं कि नित्य तो जो चाहा सो किया परन्तु जब कभी बिरादारीके साथ मिल कर कोई कार्य करना पड़ा तो जातिकी पुरानी चाल ढालके अनुसार ही कर दिया। इसीसे इन बाबू लोगोंके रीति-रिवाज सम्बन्धी सब कार्य प्रायः उनकी स्त्रीके ही अधिकारमें रहते हैं, ये लोग उस समय उसीके इशारे पर काठकी पुतलीकी तरह नाचा करते हैं और अपनी बुद्धिको जरा भी काममें नहीं लाते; परंतु कारज पूरा होने पर फिर अपनी उसी चाल ढाल पर आ जाते हैं। यदि किसी नगर या ग्राममें या किसी जातिमें इन बाबू लोगोंकी कुछ जबरदस्ती चल सकती है तो वहाँ ये लोग अपनी स्त्रीको भी धता बताकर और जातिके लोगोंके बुड़बुड़ानेकी भी कुछ परवाह न करके रीतिरिवाजोंको बिल्कुल अंधाधुंध ढंगसे तोड़ने लग जाते हैं, किसी रीतिको किसी प्रकार और किसीका किसी प्रकार करके अपनी खूब ही हँसी कराते हैं और अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। सारांश यह कि, जातिके रीतिरिवाजोंसे अच्छी तरह वाकिफ होकर और अपनी स्त्रीको अच्छी तरह समझानेके पश्चात् उससे सम्मति मिलाकर सुधार करना तो इन लोगोंके लिये बहुत ही मुश्किल हो रहा है। यही वजह है कि इन लोगों द्वारा कुछ भी सुधार नहीं होता बल्कि कुरीतियोंकी बहुत कुछ पुष्टि ही होती रहती है।

बाबू लोगोंके विषयमें एक बात यह भी जाननेके योग्य है कि, बड़े बड़े धनाढ्योंके बालक तो प्रायः विद्याप्राप्तिका कष्ट उठाना ही पसन्द नहीं करके बल्कि उनमें कोई कोई तो ऐसे लाड़ले भी होते हैं जो अपनी दूकानके बहीखातोंका लिखना पढ़ना मात्र भी नहीं सीखते हैं, और बड़े होकर अपना सब काम मुनीमों तथा कारिंदोंके ही भरोसे पर छोड़नेके लिये लाचार होते हैं। रहे गरीब लोग सो वे अंग्रेजी पढ़नेका भारी खर्चा नहीं उठा सकते हैं। अतः अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा प्रायः मध्यम स्थितिके मनुष्योंके बालक ही पाते हैं और वे सब सरकारी नौकरी पाने या वकील आदि होनेके वास्ते ही पढ़ते हैं। ये अंग्रेजी पढ़नेवाले बालक सरकारी हाकिमोंको बहुत कुछ अधिकारप्राप्त और बड़े बड़े धनाढ्यों तथा ध्वजाधारियोंसे भी सर्व प्रकार सेवित और पूजित देखकर अपने वास्ते भी बड़ी ऊँची ऊँची आकांक्षाएँ बाँध लेते हैं और शेखचिल्लीवाले बड़े बड़े मंसूबे घड़ने लग जाते हैं कि पढ़लिखकर हम भी ऐसा ऐसा वैभव प्राप्त करेंगे और ऐसे ऐसे अधिकार पावेंगे। इसी प्रकार इनके कुटुम्ब तथा ग्रामके लोग भी इनके विषयमें ऐसा ही विचार करके इनके विद्यार्थी-जीवनमें ही इनकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा करने लग जाते हैं, जिससे इनके दिमाग और भी ज्यादा ऊँचे चढ़ जाते हैं।

वे विद्यार्थी अवस्थामें ही बड़ी शान शौकतके साथ रहने लग जाते हैं और अपने माता पिताको बड़ी बड़ी आशायें दिलाकर उनसे बहुत ज्यादा खर्च लेते हैं। परन्तु जब परीक्षा पास करके ये लोग कालिजसे निकलते हैं तब तुरन्त ही उस ऊँचे पदको नहीं प्राप्त कर पाते हैं जिसकी आकांक्षा अपनी बालबुद्धिके कारण बाँधे बैठे थे। प्रारम्भमें इनको बहुत ही छोटा पद और बहुत ही थोड़े वेतनकी नौकरी मिलती है जिसमें वह किसी प्रकार भी अपनी इस ऊँची हैसियतसे नहीं रह सकते जो उन्होंने विद्यार्थी अवस्थामें बना रक्खी थी। इसके सिवाय उनके मां-बाप जो उन पर पूरी पूरी आशा बाँधे बैठे थे और इस ही कारण जिस तरह भी हो सकता था उनको पूरा पूरा खर्च देते थे साथ ही, उनकी स्त्री और बालबच्चोंको भी ऊँची हैसियतमें पाल रहे थे वे भी अब उनका रोजगार लग जाने पर तुरन्त ही उनकी स्त्री और बालबच्चोंका सारा बोझ उन पर डाल देते हैं और अपने वास्ते भी सब कुछ सहायता चाहने लग जाते हैं। बल्कि, बेटेका रोजगार लग जाने पर जो ऊँची हैसियत बनानेकी आकांक्षा बाँध रक्खी थी उसके पूरा होनेकी इच्छा करने लगते हैं और यदि विद्यार्थी अवस्थामें उसको अपनी हैसियतसे ज्यादा खर्च देते रहनेके कारण कुछ कर्ज भी जिम्मे हो गया हो तो उसके बेबाक करदेनेका भी तकाजा करने लग जाते हैं। इस प्रकार नौकरी लगते ही बाबूसाहब पर एकदम इतने भारी बोझ पड़ जाते हैं कि वह अपनी प्रारम्भिक छोटी नौकरीमें उनको किसी प्रकार भी नहीं झेल सकता, बल्कि शुरू शुरूमें तो वह स्वयं अकेला अपना भी खर्च नहीं चला सकता है जिसको वह बहुत ही ऊँचे दर्जेका रखना चाहता है। इसलिये वह बहुत ही ज्यादा सटपटाता है और रातदिन इसी सोचमें पड़कर परम स्वार्थी बन जाता है और अपने मातापितासे भी आँख चुराने लगता है और अपने बालबच्चोंको भी भारस्वरूप ही समझने लग जाता है। यही कारण है कि विद्यार्थी अवस्थामें जो थोड़ा बहुत जोश जातिप्रेम तथा देशसेवाका पैदा भी होता है वह कालिजसे निकलकर कारबारी होनेपर बिलकुल ही जाता रहता है, सर्व प्रकारके सद्विचार लुप्त होकर उन्हें आटे-दालका भाव मालूम होने लग जाता है और यह कहावत उनपर बिलकुल चरितार्थ हो जाती है कि "भूल गये राग रंग भूल गये जकड़ी, तीन चीज याद रहीं नून तेल लकड़ी।"

होते होते जब हमारे ये बाबू लोग बहुत ऊँचे पद पर पहुँच जाते हैं, वेतन भी इनका बहुत ज्यादा बढ़ जाता है और घरबारका सब प्रबन्ध भी ठीक बैठ जाता है, तब यदि फिर इनको जाति तथा देशकी सेवाका खयाल आता है या सरकारके द्वारा प्रतिष्ठा पानेके पश्चात् जातिमें भी भी प्रतिष्ठा पानेका कुछ शौक उभरता है तो उस समय ये लोग जातीय सभाओंमें भी शामिल होते हैं और बहुत कुछ सेवा करनेका जोश दिखलाते हैं। परन्तु जब देखते हैं कि वहाँ तो अनपढ़ और नासमझ धनाढ्य ही पूजे जाते हैं और बड़े बड़े पंडितों तथा विद्वानोंके ऊपर भी वे ही प्रधान बना दिये जाते हैं; बल्कि पंडित और विद्वान् लोग स्वयं भी उन्हींकी हाँमें हाँ मिलाते हैं तब बहुत घबराते हैं और अपनी दाल गलती न देखकर सभाओंमें सम्मिलित होनेकी अरुचि ही पैदा कर लेते हैं। इसके सिवाय वहाँ इनकी चालढाल और वेशभूषाके ऊपर भी लोग कानाफूसी किया करते हैं। पंडित लोग तो इस मौकेको गनीमत समझकर और शेखीमें आकर उनकी अनेक क्रियाओंमें त्रुटि निकालने

लग जाते हैं; धर्मात्माओंका रूप बनाकर उनको धर्मका उपदेश देने लगते हैं और अनेक प्रकारकी आखड़ी तथा नियम लेनेके लिये बाध्य किया करते हैं, जिससे वे लज्जित होकर ज्यों त्यों अपना पिंड छुड़ाते हैं। फिर जब वे सभामें बैठते हैं और किसी प्रस्तावपर अपनी सम्मति देते हैं तो जातिका पूरा पूरा अनुभव न होने और सभाकी परिस्थितिको भी ठीक ठीक न जाननेके कारण उनकी वह सम्मति बिल्कुल ऐसी ही बेतुकी हुआ करती है जैसी कि उस अनाड़ी अंग्रेज हाकिमकी जो किसी हिन्दुस्तानी सभामें आने और सभाकी तरफसे फूलोंका हार गलेमें पड़ जाने पर सम्मति प्रकाश किया करता है। ऐसी हालतमें सभाके लोग बाबूसाहबकी उस सम्मति पर कुछ भी ध्यान नहीं देते बल्कि उनको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखने लग जाते हैं। बाबूसाहब इससे अपना बड़ा भारी अपमान समझकर यही सोचने लग जाते हैं कि इन मूर्खोंकी सभामें सम्मलित होकर तो हमने बहुत ही ज्यादा भूल की जिसे फिर नहीं करेंगे, अर्थात् अबसे फिर कभी सभामें नही आवेंगे।

इस प्रकार हमारे इन बाबू लोगोंके हाथोंसे भी जातिका कुछ उपकार या सुधार नहीं हो रहा है। बाबू लोग जातिके वास्ते कुछ भी काम नहीं कर रहे हैं और बिल्कुल ही उपेक्षित हुए बैठे हैं; मानो इनके जिम्मे जातिका कुछ कर्तव्य ही नहीं है। ये लोग जातिके वास्ते कुछ करके तो क्या दिखाते इनको यह भी खबर नही है कि इस समय जातिमें क्या हो रहा है, और क्या हालत बीत रही है। क्यों कि देशभाषामें छपनेवाले जातिके समाचारपत्रोंको तो यह लोग पढ़ना पसंद नहीं करते और अँग्रेजीमें जो एक मासिकपत्र निकलता है वह अव्वल तो कई कई महीनेकी डुबकी मारता रहता है और दूसरे जब कभी दर्शन देता है तो जातीय समाचार तो उसमें नाममात्रको ही रहते हैं, बहुत करके लेख या शास्त्रोंके अनुवादका सिलसिला ही जारी रहता है। इन समाचारपत्रोंके अतिरिक्त जातिके लोगोंसे मिलकर अपनी जातिकी दशाके विषयमें बात चीत करते रहना भी इनको बहुधा पसंद नहीं हुआ। इसलिये जातिकी दशा और उसके समाचारोंसे तो ये लोग बिल्कुल ही अनजान रहते हैं। हाँ, अँग्रेजी भाषा और उसमें वर्णित विषयोंका इनको एक प्रकारका व्यसन सा हो जानेके कारण ये लोग बहुत बहुत मूल्य देकर भी अँग्रेजी समाचारपत्रोंको मँगाते हैं और उनके द्वारा बेजरूरत भी दुनिया भरकी व्यर्थकी राजनैतिक बातोंको पढ़कर अपना दिल बहलाते रहते हैं और आपसमें भी इस ही प्रकारकी चर्चा किया करते हैं कि जापानने रूसका अमुक देश ले लिया है, चीन यह कहता है और अमरीकामें सभापति चुननेके वास्ते यह सलाह हो रही है। इत्यादि।

तात्पर्य इस सारे कथनका यह है कि न तो हमारे पंडित लोग ही जातिका उद्धार कर सके हैं और न हमारे बाबू लोग ही जातिके उन्नतिमें लगे हुए हैं, इसी कारण यह जाति अन्य सब जातियोंसे बहुत पीछे पड़ी हुई है और नीचेको ही गिरती चली जाती है। बल्कि अपनी मनुष्यगणना कमती होते रहनेसे तो शीघ्र ही समाप्त हो जानेकी भी सूचना दे रही है। इस कारण इसकी रक्षाका तो बहुत ही जल्द कोई उपाय होना चाहिये और ऐसे विद्वान् पैदा करने चाहियें जो इस जातिको उन्नति-शिखर पर चढ़ावें और अन्य सब जातियोंसे आगे निकाल कर ले जावें। यह कार्य ऐसे ही विद्वानोंसे चल सकता है जो संस्कृत और अंग्रेजीके पूरे पंडित हों, अपने धर्मके पूरे शास्त्र

हों, जातिसे पूर्ण प्रेम रखते हों, जातिमें पूरी तरह घुसते हों, उसकी सब रीति रस्मों और चाल ढालको अच्छी तरह जानते हों, अपनी देश भाषा और देशी भाइयोंसे पूरा अनुराग रखते हों, अपने देश और जातिकी घरेलू बातोंकी चर्चामें ही अपना दिल बहलाते हों और जातिकी उन्नति करना अपना परम कर्तव्य समझते हों। कोरे पंडितों अथवा कोरे बाबुओंसे काम नहीं चलेगा। परन्तु यह तब ही हो सकता है जब कि जातिके बालक अपने ही स्कूल और कालिजोंमें पढ़ें और अपने ही बोर्डिंगोंमें रहें जहाँ उनको उपर्युक्त सभी बातें बड़ी कोशिशके साथ सिखाई जावें और उनके हृदयमें जातिप्रेम और जात्युन्नतिका जोश खूब मजबूतीके साथ कूटकूट कर भर दिया जाय। यहाँ हमें शोक और महाशोकके साथ लिखने पड़ता है कि हमारे पंडित लोग जातिसे अंग्रेजी पढ़नेके प्रचारको तो बंद नहीं करते हैं और न बन्द कर ही सकते हैं—इस कारण जातिके बालक अंग्रेजी पढ़ पढ़ कर बाबू तो धड़ाधड़ बनते जारहे हैं, दिन प्रतिदिन उनकी संख्या बढ़ती ही जाती है और वह आगेको और भी ज्यादा बढ़ेगी; परंतु फिर भी हमारे बहुतसे विलक्षण पंडित जातिकी तरफसे ऐसे स्कूल तथा कालिजोंके खड़ा करने और बोर्डिंगोंके खोलनेको महापाप बताते हैं जहाँ जैनधर्मकी भी शिक्षा होती रहे और अंग्रेजीकी भी, जहाँ रहकर जातिके बालकोंका धर्म कर्म सब ठीक ठीक बनता रहे, उन पर अपनी जाति और धर्मके प्रेमका संस्कार पड़ता रहे—और संगति भी अपनोंहीकी मिलती रहे। अतः जब तक इन पंडित महाशयोंकी यह अद्भुत नीति चलती रहेगी तब तक जातिके बालक ऐसे ही स्कूलोंमें पढ़ते रहेंगे और ऐसे ही बोर्डिंगोंमें रहते रहेंगे जहाँ जैनधर्म और जैनजातिके प्रेमकी तो कुछ भी चर्चा न हो; बल्कि जैनी ६०० में एक होनेके कारण अन्य मतियोंकी ही बहुलतासे उन्हींके धर्मकर्मकी चर्चा हुआ करती हो और उन्हींका प्रभाव पड़ता हो और ऐसे ही बाबू लोग बनते रहेंगे जैसा कि पंडित लोग इनको समझते हैं और फिर होते होते इन बाबू लोगोंकी बहुतायतसे सम्भव है कि इनका असर जाति पर भी पड़ने लग जाय और सारी जाति ही इन जैसी हो जाय।

अन्तमें हम इतना कह देना जरूरी समझते हैं कि पंडितों, बाबू लोगों, धनाढ्यों तथा सर्व साधारण आदिके विषयमें जो कुछ भी हमने इस लेखमें लिखा है उससे हमारा यह मतलब नहीं है कि वह सब पर ही लागू होता है अथवा सब ऐसे ही हैं; नहीं, यह हमारा अभिप्राय हर्गिज नहीं है और न एसा हो सकता है बल्कि वास्तवमें तो पंडितोंमें भी अनेक प्रकारके लोग हैं, और बाबुओंमें भी, और इसी तरह दूसरोंमें भी; और ऐसा ही सदा हुआ भी करता है। यहाँ तक कि बहुतसे लोग ऐसे भी होंगे जिनपर हमारे लेखका एक अक्षर भी लागू न होता हो। हमारा अभिप्राय तो इस लेखमें जातिकी बहुत ही मोटी बाहरी दशाके दिग्दर्शन करानेका है, जिससे जातिके हितैषियों और शुभचिन्तकोंको इसकी अंतरंग दशाके जाननेकी उत्सुकता हो और वे इसके सुधारका कुछ उपाय करें।

हिन्दीके स्थानकवासी जैन लेखक।

(लेखक—बाबू मोतीलालजी जैन, एम. ए.)

१—मगन मुनि।

आप श्वेतांबर स्थानकवासी संप्रदायके साधु हैं। आपका जन्म भरतपुर रियासतके अन्तर्गत डीग नामक नगरमें हुआ था। विक्रम संवत् १९१८ में आपने पूज्य मुनिवर धर्मदासकी संप्रदाय (गच्छ) में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेनेके पश्चात् आप ५-६ वर्ष तक मालवा प्रान्तके इन्दौर इत्यादि स्थानोंमें देशाटन करते रहे। पुनः आपने कोटा, बूँदी, बजरङ्गगढ़, लश्कर इत्यादि अनेक स्थानोंमें भ्रमण किया और जनताको जैनधर्मका उपदेश दिया। आज कल आप जयपुर राज्यके अंतर्गत मँड़ावर नगरमें ही अधिकतर रहते हैं और उसीके आसपासके ग्रामोंमें देशाटन करते हैं। कालू मुनि, शोभाचन्द मुनि, माधव मुनि और हंसरत्न मुनि आपके चार शिष्य हैं।

आपको हिन्दी कवितासे बहुत प्रेम रहा है। आपकी समस्त रचना हिन्दी-पद्यमें है। आपकी रचना विविध छंदोंमें है, परन्तु आपने अधिकतर झूलना छंदका ही प्रयोग किया है। काव्यकी दृष्टिसे आपकी रचना साधारण है, परन्तु कहीं कहीं आपकी रचनामें चमत्कार भी पाया जाता है। आपकी भाषामें कतिपय प्राकृत शब्दोंका प्रयोग हुआ है। आपने कुल मिला कर चार ग्रंथ लिखे हैं।

१ मेघमुनिचरित। यह एक खण्ड काव्य है। विविध छन्दोंमें लिखा गया है। बड़ा रोचक है। आपकी रचनाओंमें यही ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ है। इस ग्रन्थकी भाषा कुछ प्राचीन अवश्य है, परन्तु है प्रसादगुणसंपन्न। इसकी रचना ज्ञातृधर्मकथाङ्गके प्रथम अध्यायके आधार पर हुई है। इसमें जो नखशिखवर्णन है वह औपपतिकोपाङ्गके आधार पर लिखा गया है। इस ग्रन्थका निर्माण संवत् १९२९ में हुआ था। तत्पश्चात् मुनि महाराजके शिष्य माधव मुनिने इस ग्रंथके छन्दोंमें यत्र तत्र कुछ हेर फेर किया। इस कारण इसमें कहीं कहीं गुजराती शब्दोंका भी समावेश हो गया है। यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ और इसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है, जो माधव मुनिके पास सुरक्षित है। उन्हींकी कृपासे मुझे इस ग्रंथके देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस ग्रंथमें जो कथा वर्णन की गई है वह संक्षेपमें इस प्रकार है। कथाके साथ कविताके नमूने भी दिये जाते हैं:—

मगधाधिपति राजा श्रेणिककी धारिणी नामक रानी थी। उस रानीके उदरसे मेघकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। गर्भिणी रानीके मनमें जो दोहद उत्पन्न हुआ था उसका वर्णन कविने इस प्रकार किया है:—

" बिना काल वारिद होवें, घन बरसै अति जोर।
तड़ तड़ात तड़के तड़ित गाज रहा चहुँ ओर॥

वारिद पंच बरणके न्यारे हैं।
घनघटा उठी उमगी आवें मनो इंदर बान समारे हैं॥

मारेगा दुस्मन सूखाकूँ, वो सूर रूप अवधारे हैं।
इम विविध भाँति अँबरकी सोभा हो मुझ मन अनुसारे हैं॥

विहग विविध क्रीड़ा करैं, निज तिय सँग लवलीन।
हों षट रितु फल फूल युत, सब तरु रम्य नवीन॥

सर्ज अर्जुन सहकार कलंबू हैं।
पुंगीफल श्रीफल नारंगी केला दाड़िम अरु जंबू हैं॥

चारोली पिस्ता खरजूरी बादाम सेब पुनि निंबू हैं।
इत्यादि वृक्ष भूमें राजें, मनो विहग-बसन ये तंबू हैं॥

पड़े जल-धार त्रिविध बयार चले।
चपला चमके घन गरज करे शुचि धाय भूमि प्रताप टले।
इस विधि पूरण पावस ऋतु हो, तब मुझ चिन्तितकी आस फले।
नृप साथ तामे गज पर बैठूँ शिर छत्र होय, अरु चमर ढले॥

मेघकुमार जब विवाहके योग्य हुए तब उनको

" अद्भुत अलबेली अष्ट राज-कन्या विधियुत परणाई।
समवयवाली भोली विशालनयनी मनमोहनगोरी।
शशिबदनी, नासा शुकसमान, जस अधर अरुण छबि न्यारी॥

दाड़िम-कणदंती सोहे वो सुर नरको मन मोहे।
ग्रीवा कम्बू सम भुज मृणाल सरसी शुचि नरम कलाई॥
कंज कोमल कज पल्लव पर महँदी बुंद अमंद लसे है।
अति उत्तम शोभन रिदैय, कठिन कुच कनक कुंभ सरसे हैं॥

त्रिवली सह क्षामोदर है, नाभी पियूषको सर है।
कटि केहर लखि सरमाय मदनके सदन सुमन सुख-दाई॥ "

विवाहके पश्चात् एक बार मेघकुमार वीर भगवान्‌के समव-सरणमें गये। यहाँ पर कविने वीर भगवानका शिख-नख विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। यथा—

खगपति गरुड़ तनी परें, लम्बी अरु ऋजु जान।
ऊँची घ्राण जिनेशकी, कहि मुनि मगन बखान॥१॥

उपचित परम उदार, जैसे होवें बिम्बफल।
ता समान सुखकार, अधर लसें जिनराजके॥ २॥

रक्त हस्त-तल अरु सुकुमार, उन्नत पुष्ट सुंदराकार।
अति प्रशस्त लक्षणयुत जान, छिद्ररहित जिनके जुग पाण॥ ३॥

तरुण सूर्यकी किरण कर, ज्यों जाग्रत कज होय।
त्यों गंभीर द पखरती, नाभि आकृती जोय॥ ४॥

नाभि आकृती जोय, किधों सर सरितामाँहीं।
भ्रमर दक्षिणावरत तरंगें अधिक तहाँ हीं॥ ५॥
ता समान जिनराजकी नाभी अति परधान।
जिन आगम अनुसारथी कहें मुनि मगन बखान ६

जब मेघकुमारने श्री महावीरका धर्मोपदेश सुना तब उनके चित्तमें वैराग्य उत्पन्न हो गया। घर आकर मातासे कहने लगेः—

श्री जिन भाषियो मा अथिर यह संसार।
जिन उदय रविको अथिर, तिम अथिर नर अवतार।
नियम ना पुनि धनीसे होय दरिद नो आगार॥१॥
नलिनदलगत जल तरल जिम तड़ितको झबकार।
जलद बुदबुद सुर-धनुष सम चपल आयु विचार॥२॥
जिम कुशाके अग्रपर जल-बिन्दु थिति निरधार।
तरल चल दल बाण संध्या सरिसै आयु निहार॥ ३॥
चैतन्य चिड़ियाकी करै जब काल बाज सिकार।
तबै अवरें चिड़िया सम सजन रह जात पुकार॥४॥"

इसी प्रकार बहुतसी बातें कहके मेघकुमारने मुनिव्रत धारण करनेकी मातासे अनुमति माँगी। माताने बहुत कुछ समझाबुझाकर मेघकुमारको वैराग्य लेनेसे रोकना चाहा, परन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुआ। अंतमें माताने मेघकुमारकी पत्नियोंको बुलवाया। वे—

प्रियतमको पाड़न प्रेम-पाशमें पदमनि बन बन आई।
जिन पहिरयो अनुपम वेश अंग आभूषण नूतन धारे।
मृदु कृष्ण अभ्रराजी समान सूच्छम केश समारे॥

वेणी काली घुँघराली, चोटी जडावनी डाली।
शिर शीस फूलमणिरतन-जटित, मुतियनसे माँग भराई॥ १॥

कल दल सम कोमल करतल पर महँदी अमंद राजै है।
लचकती लंक पर हेममेखला अति अद्भुत छाजै है॥
नूपुर पग माँहि विराजैं, जिन लख सुर-परियाँ लाजैं।
पग धरत धरणि पर अचक पचक बिछुअनकी झनक सुनाई॥ २॥

अपनी स्त्रियोंके देखने पर और माताके पुनः समझाने पर भी मेघकुमार अपने संकल्पसे विच-लित न हुए और उन्होंने माता-पितासे बलात्कार

१ तब। २ कारी अर्थात् करनेवाली। ३ हृदय।

१ से। २ का। ३ सदृश। ४ अन्य। ५ की।

आज्ञा लेकर श्रीमहावीरसे मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। परन्तु वे मुनिव्रतकी परीषहसे एक दिनमें ही घबड़ा उठे और पुनः गृहस्थ जीवनमें प्रवेश करनेको उद्यत हो गये। इसी इरादेसे महावीर स्वामीके पास पहुँचे। स्वामीने उनके मनकी बात जान ली और उन्हें उनके पूर्व भवोंका वृत्तान्त सुनाया। महावीरस्वामी बोले—

" सुनहु मुनि मेघ तव पुव्वभव वारता,
देहु उपयोग विभ्रम विसारी।
पेख इहे भव थकी तीसरे भव विषें,
हतो गजराज तूं बन बिहारी॥
एकदा ग्रीष्मऋतु माँहि तिहँ बन विषें,
लगी दावाग्नि अटवी अजारी।
विस्तरी धूम दिशि विदिश वायू बलें,
भये भयभीत सब विपिनचारी॥
करत आक्रंद निज जीव जीवा विवों,
इत उतें भ्रमण लागे तिवारी।
भूमि भवकंत आतप पड़े आकरी,
लगें लू लपट तन दहनहारी॥
देवबश एक सर नजर तुझ आवियो,
ता विषें पंक बहु, अल्प वारी।
सर विषें पैठियो नीर पीवा भनीं,
दंड सम सुंड जलहित पसारी॥
नीर ना कर चढ्यो, कीच माँहीं गढ्यो,
लौट हू सक्यौ ना तूं पिछारी।
नीर अरु तीर दोऊनको ना रह्यो,
कर्मगति अजब ना टरे टारी॥
एतेलें तिहाँ तव शत्रु गज आवियों,
पूर्वलो वैर चित माँ चितारी।
विवश लख तोय कर कोप पायें हन्यौ,
होय प्रतिकूल रद-सूल मारी॥
मारता मारता और हू कीचमें,
घोंचियो अस्थि नस तोरि डारी।
तीव्रतर वेदना अनुभवी ता समै,
सात दिन रात तक तें करारी॥"

महावीर स्वामीने मेघमुनिको धर्मोपदेश देकर मुनिव्रतमें पुनः दृढ किया।

सुन बैन वीर प्रभुके मुनि मेघ चैन पायो।
जिनराजके चरणमें एकाग्र मन लगायो॥
पुनि मेघने दुबारा चारित्र लेन चायो।
उद्वान सूत्र फिरसे श्री वीरने सुनायो॥
दीक्षा प्रदान करके मुनि-मार्ग भी बतायो।
आज्ञानुसार मेघे मुनि-मार्गको निभायो॥"

तदुपरान्त मेघमुनिने सिद्धांत पढ़े और घोर तप किया।

२ श्रीप्रदेशीचरित्र। इस ग्रंथकी रचना संवत् १९५८ में हुई थी। यह राजप्रश्नीय सूत्रके आधार पर लिखा गया है। इसका अपर नाम 'नास्तिकमतनिराकरण' है। इसमें एक कथाके बहाने नास्तिकमतका खण्डन किया गया है। इसमें युक्तियों सहित बतलाया गया है कि जीव और काया पृथक् पृथक् पदार्थ हैं। अन्तमें क्षमा और तपका महात्म्य दिखाया गया है। यह ग्रंथ छोटासा है; कुल ८१ छंदोंमें है। प्रकाशित हो चुका है। रचना बहुत साधारण है। उदाहरणः—

" तप दावानल कर्मकूँ, क्षणमें डारे जार।
लब्धादिक बहु ऊपजे, पावे केवल सार॥

३ भावनाविलास—इसमें द्वादश भावनाओंका स्वरूप वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ।

४ चौथे ग्रंथमें मुनिजीके फुटकर छंदोंका संग्रह है। प्रायः सभी छंद अप्रकाशित हैं। दो चार छंद प्रकाशित हो चुके हैं। उदाहरणः—

" समकत पान सुधारके चूना चारित लाय।
करणीका कत्था करो बीड़ा लेय बनाय॥

१ पूर्व। २ इस। ३ से। ४ जिलानेके लिए अर्थात् रक्षा करनेके लिए। ५ पानी। ६ पानी पीनेके लिए। ७ इतनेहीमें। ८ आगया।

१ समय।

बीड़ी लेय बनाय सुपारी तपस्या कीजे।
प्रभू नामकी डार इलायची मुखमें दीजे ॥
कहे मगन ऋषि राय पापकी काटो स्याई।
संक्यो पीक निकाल ज्ञान मुख लाली छाई ॥

२—दलपतराय।

आप दिल्लीके रहनेवाले श्वेताम्बर स्थानकवासी श्रावक थे। जौहरीका काम करते थे। सुना जाता है कि आपने अपनी पढ़ाईमें और पण्डितोंके आदर-सत्कारमें तीन लाख रुपया खर्च किया था। आप संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, उर्दू फारसी इत्यादि भाषाओंके ज्ञाता थे। आपने इनमेंसे पहली तीन भाषाओंमें रचना की है। आपकी हिन्दी रचना गुजरातीमिश्रित है। वह गद्य और पद्य दोनोंमें है और काव्यकी दृष्टिसे बहुत साधारण है। आपके बनाये हुए तीन हिन्दी ग्रंथोंका हमको पता है, इनमेंसे पहले दो हमने स्वयं देखे हैं। आपके बनाये हुए कदाचित् और भी ग्रंथ होंगे।

१—**नवतत्त्वप्रकरण**। यह ग्रंथ गद्य-पद्यमय है। बड़े महत्त्वका है। श्वेताम्बरोंके बत्तीस सूत्रोंका सार इसमें बड़ी खूबीके साथ भरा है। यह ग्रंथ गागरमें सागर भरनेकी उक्तिको चरितार्थ करता है। समस्त ग्रंथमें खानापूरी की हुई है और अनेक चित्र दिये हैं, जो दर्शनीय है और लेखकके पाण्डित्य और बुद्धि-विकाशका परिचय देते हैं। इस ग्रंथमें इबारत बहुत कम है। इसके लिखनेमें गोमट्टसार और लीलावती इत्यादि ग्रंथोंसे भी सहायता ली गई है। इसकी रचना संवत् १८१२ में हुई थी। इसकी जो प्रति हमने देखी है वह बहुत अशुद्ध लिखी हुई थी। प्रशस्ति देखिए—

कीरत कूँ नाहीं किया, कर विचार उपगार।
अपने समरणको कियो, नवतत संग्रह सार ॥
कहाँ बुध मेरी जु हो, आँरभ परिग्रह लीन।
गुरुमुखतें नहिं लह्यो, आगम अरथ अहीन ॥
जो कोई जिन वयनसों, अल्प भिन्नता + +[१]।
बहुश्रुति सोधौ करि मयो, मोहि नहीं पषपात ॥
सकल जिनेश्वर देवकूं, भक्ता तिनको दास।
दलपतराय सुसंघ सूं, करै सुनो अरदास ॥
मैं पापी अति मूढ़मति, विकल विषेमें लीन।
तारो मोहूँ करि मया, बाँचौ ग्रंथ प्रवीन ॥
जहाँ लिख्यो आगम विरुध, देषो वहाँ निसंक।
कहु अज्ञान मुझ मूढकूं, तातें हों निकलंक ॥
संवत अट्ठारैसे, बारा अधिके जान।
वैसाष शुद्ध दसमको, ग्रंथ समापत ठान ॥

इसी नामका एक ग्रथ आपने संस्कृतमें और एक प्राकृतमें लिखा है, परन्तु वे चित्रबद्ध नहीं हैं। दोनों ग्रथ पद्यमें हैं। आपने प्राकृतमें एक 'शकुनावली' नामक ग्रंथ भी लिखा है।

२—**सम्यक्त्वषट्पंचासिका**। यह एक बहुत छोटा ग्रंथ है। विषय नामसे ही स्पष्ट है। इसकी भी मुझे एक बहुत अशुद्ध प्रति देखनेको मिली। नमूना देखिए—

उपशम जेह कषाय नों, तेहनो सम अवधान।
मुक्ति पंथनी चाहना, संवेग...प्रधान ॥
होय उदास विषय विषै, जाना जो निर्वेद[१]।
परदुष देषी दुष दया, ये छै चौथो भेद[२] ॥

३—**द्रव्य-गुण-पर्याय**। यह ग्रंथ अलवर में भज्जूलाल साधुके भाण्डारमें मौजूद है। हमारे देखनेमें नहीं आया।

आपके लिखे हुए फारसीके कुछ शेर भी एक सज्जनने देखे हैं।

३—मुनि तिलोकरिख।

आप श्वेताम्बर स्थानकवासी संप्रदायके साधु थे। आपकी भाषा गुजराती और प्राकृत मिश्रित

---

१ शंका।

१ दया। २ विनय।

है। रचना कविताकी दृष्टिसे साधारण है। आपके लिखे हुए हमने दो ग्रंथ देखे हैं।

१ **श्रीप्रतिक्रमणसत्यबोध**।—यह ग्रंथ संवत् १९४७ में निर्णयसागर प्रेसमें छपा था। ४०० पृष्ठका बड़ा ग्रंथ है। इस ग्रंथका मूल विषय प्रतिक्रमणसूत्र और उसका अर्थ थोड़े ही पृष्ठोंमें आगया है। ग्रंथके अधिकांशमें चौबीसों तीर्थंकरोंके स्तवन द्वादश भावनासे और जिन देवोंकी अनेक प्रकारकी वंदनायें दी हैं। विविध छंदोंका प्रयोग हुआ है। नमूना देखिए:—

जिनसासन स्वामी, अंतरजामी, शिवगतगामी, सुखकारी,
जगमें जसवंता, श्रीभगवंता, सुगुणअनंता, उपगारी।
सिद्धार्थकुलआया, जगत सुहाया, शुभपलआया, गुणधारी;
धनत्रिसलानंदन कुलध्वजस्यंदन जिनचरननकी बलिहारी॥
समकित क्रिया बिना जगतमें, नहिकोई तारणहारी जी,
तिलोक रिखजी कहे इम सर्दहो, जे सुगुणां नरनारी जी॥

२ **श्रीश्रेणिकचरित्र**। इसकी मैंने एक नितान्त अशुद्ध हस्तलिखित प्रति देखी है। इसका विषय नामसे ही स्पष्ट है। यह ग्रंथ मुनिजीने जिला पूना (दक्षिण) में रह कर संवत् १९३९ में लिखा था। इसमें ६३ पृष्ठ हैं। उदाहरण:—

राजे राज प्रजा सुखी, इक दिन सभा मँझार।
खे[1] मारग थीं[2] आवियो, कोइक विद्याधार॥

भूपतिसे विनती करे, गिरि वैताढ्य मँझार।
दक्षिण श्रेणि केरल पुरी, मृगाङ्क नरपतिसार॥

विलासवती तस कन्यका, रूप कला नहिं पार।
जोबन वय देखी करी, भूपति करे विचार॥

(३) आपका तीसरा ग्रंथ पाँच पदकी वंदना है, जो गद्यमें है।

---

१ प्रकाश। २ से।

जैनधर्मका अध्ययन।

“ प्रो० वेबर, बुल्हर, जेकोबी, हर्नेल, भाण्डारकर, ल्यूमन, राइस, गेरीनाट आदि विद्वानोंने यद्यपि बड़े ही परिश्रमसे जैनधर्मके सम्बन्धमें अनेक महत्त्वकी खोजें प्रकाशित की हैं, तो भी हम देखते हैं कि भारतीय विद्वानोंने अभी तक इस धर्मके अध्ययनकी ओर जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया है। जिस समय प्राच्य विद्याओं, और कलाओंके संशोधनका प्रारंभकाल था, उस समय जैन साधुओंकी उदासीनताके कारण, अथवा हस्तलिखित पुस्तकोंमें छुपे हुए अपने धर्मका पवित्र ज्ञान जैनेतरोंको देना वे पसन्द नहीं करते थे इस कारण, संभव है कि भारतीयोंको इस धर्मके अध्ययनका सुभीता न मिला हो और उसके बाद बौद्धधर्मके अध्ययनके बढ़ते हुए अनुरागके कारण, कितने ही अंशोंमें उनकी इस महत्त्वपूर्ण धर्मकी ओर उपेक्षा हो गई हो—क्योंकि शुरू शुरूमें-विद्वानोंके मस्तिष्क पर बौद्धधर्मकी इतनी प्रबल सत्ता स्थापित हो गई थी कि वे जैनधर्मको बौद्धधर्मकी एक शाखा ही समझने लगे थे; परन्तु अब तो वह बात नहीं रही है, उनकी दृष्टिमर्यादाको आच्छादित करनेवाले परदे हट रहे हैं और इससे जैनधर्म पूर्वीय धर्मोंमें अपना स्वतंत्र स्थान प्राप्त करता जा रहा है। इधर जैनसमाज भी आलस्य छोड़कर जाग रहा है। उसकी ओरसे अनेक समाचारपत्र और सामयिक पत्रादि प्रकाशित होने लगे हैं। साधुओंको भी जान पड़ता है अपने उत्तरदायित्वका भान हो रहा है। जैनधनिकोंके आश्रयसे अनेक संस्थायें दिनों दिन अधिकाधिक जैनग्रन्थ प्रकाशित कर रही हैं। जैनधर्म और जैनसाहित्यसम्बन्धी

अनेक लघुग्रन्थ, सारग्रन्थ, स्थूलवर्णनात्मक ग्रन्थ, रहस्योद्घाटकग्रन्थ (Keys), शब्दकोष, आदि भारतीय विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो रहे हैं। और इनके सिवाय देशी भाषाओंमें भी प्रतिवर्ष बहुतसा जैनसाहित्य प्रकट हो रहा है।

यह सब होनेपर भी अभी बहुत कुछ करना है। जैनधर्म एक ऐसी चीज है कि वह केवल जैनोंको ही नहीं किन्तु प्राच्य संशोधनविद्याके प्रत्येक विद्यार्थीको—विशेषकरके उन लोगोंको जो कि पूर्वदेशीय धर्मोंका तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करना चाहते हैं—अपनेमें तन्मय करके रख सकता है।

इस समय अर्वाचीन संशोधनपद्धतिके अनुसार और गुणदोषविवेचक दृष्टिसे, जैनधर्मका अध्ययन होनेकी बहुत ही आवश्यकता है। इस विषयके निष्णात विद्वान् स्पष्ट शब्दोंमें यह बात स्वीकार करते हैं कि इस तरह तुलनात्मक पद्धतिसे जैनधर्मका अध्ययन होनेसे प्राचीन भारतके इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी अनेक बातें प्रकाशित होंगी जो अभीतक सर्वथा अज्ञात हैं और उनसे ऐतिहासिक कालके अनेक परिचयहीन खाली स्थान भर जायँगे। इस तरह इतिहासप्रेमियों और भारतीय धर्मों तथा तत्त्वज्ञानके जिज्ञासुओंके लिए जैनसाहित्य एक सर्वथा नवीन और बिना जुता हुआ विस्तृत क्षेत्र है। परन्तु इस समय जैनधर्मके निष्पक्ष और समदर्शी अध्ययन करनेवालोंको बहुतसी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। सबसे पहली और मुख्य कठिनाई यह है कि उत्तमतापूर्वक सम्पादिक किये हुए मूल और प्रामाणिक जैनग्रन्थोंका एक तरहसे अभाव हो रहा है। यह तो सभी जानते हैं कि जैनोंके पवित्र ग्रन्थोंकी प्रधान भाषा अर्धमागधी नामकी प्राकृत है। इस भाषाको इस समय बड़े बड़े जैनसाधु और विद्वान् भी नहीं समझते हैं। क्योंकि जब कभी उन्हें उन ग्रन्थोंके समझनेका काम पड़ता है वे मूलके साथ दी हुई संस्कृतछाया अथवा टीका परसे ही अपना मतलब निकालते देखे जाते हैं। इस पद्धतिका विशेष अनुसरण होनेके कारण मूल भाषा प्राकृतके अध्ययनकी उपेक्षा हो गई है और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसमें अनेक भूलें और असंगतियाँ घुस गई हैं। बहुतसी हस्तलिखित प्रतियाँ तो शुद्ध पाठान्तरोंकी दृष्टिसे निराशाजनक ही दिखलाई देती हैं। इससे जैनसाहित्यका जिन्हें व्यासंग है उन्हें सबसे पहले तो जुदा जुदा पुस्तकालयोंमें संगृहीत सारी प्रतियाँ एकत्र करके, उन्हें बारीकीके साथ परस्पर मिलान करनेका काम अपने हाथमें लेना चाहिए और इसके बाद पाली टेक्स्ट सुसाइटीके छपाये हुए बौद्धग्रन्थोंकी तरह पवित्र जैनग्रन्थोंकी भी विश्वासपात्र आवृत्तियाँ तैयार करनी चाहिए। अवश्य ही, यह कार्य बहुत ही कष्टकर और श्रमसाध्य है, परन्तु जब तक यह कार्य नहीं होगा तब तक इस विषयमें हमें एक पैर आगे बढ़नेकी भी आशा न रखनी चाहिए।

यह कार्य ऐसा नहीं है कि इसे कोई एकाद व्यक्ति कर डालेगा। इसमें अनेक सभा सुसाइटियों और संस्थाओंकी सहकारिताकी आवश्यकता होगी। वर्तमानमें इस दिशामें जो कितने ही प्रयत्न हो रहे हैं उनसे तो उलटी निराशा ही होती है। प्रायः सभी संस्थायें उत्तराध्ययन और कल्पसूत्र जैसे अतिशय लोकप्रिय ग्रन्थ ही छपाती हैं। परन्तु उनके समान ही अन्य महत्त्वके ग्रन्थ सर्वथा उपेक्षापात्र बन रहे हैं। इस कार्यके लिए सबसे उत्तम मार्ग तो यह है कि जितनी ग्रन्थप्रकाशक संस्थायें हैं, वे सब अपने सम्मिलित उद्योगसे प्रामाणिक पद्धतिके अनुसार यह मूल ग्रन्थ प्रकाशित करनेका काम उठा लें।

मैं समझता हूँ कि आराके 'जैनपब्लिशिंग हाउस' जैसी संस्थाके लिए इस प्रकारका सहकारी कार्य उठाना कुछ कठिन नहीं पड़ेगा। इसके सिवाय, इस समय जो ग्रन्थ छपते हैं वे सब प्रायः पोथी साइजमें पत्राकार छपते हैं और इससे उनके जुदा जुदा पत्रोंके कारण, अध्ययन करते समय विद्यार्थियोंको बहुत ही अड़चन पड़ती है। और फिर कितने ही सम्पादक तो अपना कर्तव्य यहाँतक भूल जाते हैं कि ग्रन्थमें जो अवतरण या 'उक्तं च श्लोक' आदि होते हैं उनको जुदा दिखलानेके लिए कोई प्रयत्न नहीं करते—उन्हें भी मूलके ही रूपमें 'रनिंग' छपा देते हैं।

जिस समय यह कार्य अर्वाचीन पद्धतिके अनुसार योग्य रीतिसे सम्पादित किया जायगा—अर्थात् जब मूल ग्रन्थोंमें, प्रकरणों और सूत्रोंके जुदा जुदा स्पष्ट विभाग रक्खे जायँगे, उनके अवतरण और उद्धरण स्पष्ट दिखलाये जायँगे, अनुसन्धानोंका अन्वेषण किया जायगा, अनुक्रमणिकायें और सूचियाँ भी साथ ही दी जायँगी, उसी समय समझा जायगा कि अर्वाचीन विवेचकपद्धतिकी सहायतासे इस साहित्यके अध्ययन करनेका समय आ गया है। हमें नवीन साहित्यमेंसे प्राचीन साहित्य सावधानीके साथ जुदा करना होगा, विविधग्रन्थोंका भरसक समयनिर्णय करना होगा, और उसकी शुद्धता या निर्दोषताकी छानवीन करनी होगी। ऐसा करते समय जो विषय स्वभावतः विवादास्पद हैं उनके सम्बन्धमें ऊहापोह करनेकी स्वतंत्रता रहनी चाहिए और उन पर प्रामाणिक मतभेद प्रकट करनेकी भी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। इस समय प्राच्यविद्याविषयक विवेचनके दो जुदा जुदा सम्प्रदाय दिखलाई देते हैं। एक पक्ष तो मूलग्रन्थोंको जितना बन सकता है उतना पुराना सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है और दूसरा पक्ष उन्हें 'येन केन प्रकारेण' ईसाके बादके किसी एक कालविभागमें—अर्थात् अर्वाचीन समयमें खींच लानेमें प्रयत्नशील दिखाई देता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनके मस्तिष्क पुराणप्रियताके विचारोंसे अतिशय संकुचित हो रहे हैं और इस कारण प्राचीन ग्रन्थोंमें एक भी भूल या दोष दिखलाया जाता है तो वे बहुत ही चिढ़ जाते हैं। उनके विश्वासके अनुसार मूलग्रन्थके किसी भी लिखित अर्थ या विचारके सम्बन्धमें किसी तरहकी स्वतंत्र चर्चा की ही नहीं जा सकती। परन्तु अब इस प्रकारके विचार अधिक समय तक टिक नहीं सकते। तो भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराणप्रियता भी बड़ी उपयोगी चीज है। उसके द्वारा हमें पुरातन परंपराओंका परिचय मिलता है और अनेक समय अन्य साधनोंके अभावमें वही हमारे लिए मार्गदर्शिका होती है। यह ठीक है कि परम्पराओंकी भी गंभीरतासे परीक्षा होनी चाहिए; परन्तु उनका सर्वथा त्याग कर देना भी किसी तरह न्याय्य नहीं हो सकता और इस विषयमें साधुओंको ही विशेष सहायता करनी होगी। उन्हें भी अपने सदाके मौनको त्याग करके, उनके पास जो परम्परागत बातोंका बड़ा भारी संग्रह है उसे उपासकोंके समक्ष उपस्थित करना चाहिए। अब उन्हें यह भय रखनेकी आवश्यकता नहीं है कि ऐसा करनेसे उनका धर्म किसी जोखिममें पड़ जायगा। क्योंकि अब यह सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है कि छुपा रखनेसे कभी किसी सत्यकी वृद्धि नहीं होती।

यह सब व्यवस्था करने और जैनधर्मको अध्ययनकी सुदृढ़नीव पर खड़ा करनेके लिए एक उत्साही और शक्तिशाली विद्वन्मण्डलको आगे बढ़ना चाहिए और अपने दृढ़तायुक्त कार्यके द्वारा जगतको बतला देना चाहिए कि आज तक जिन जिन ज्ञानशालाओंका पता

लगा है, उन्हींके समान यह भी एक शाखा है और महत्त्वकी दृष्टिसे यह अन्य सब शाखाओंसे जरा भी कम नहीं है। सौभाग्यसे पवित्र आगमग्रन्थोंकी भाषामें प्रवीणता प्राप्त करनेकी एक कठिनाई तो अब बाम्बे यूनीवर्सिटीने दूर कर दी है-उसने अपने अभ्यासक्रममें अर्ध-मागधीको भी स्थान दे दिया है। अब जैन विद्यार्थियोंका यह कर्तव्य है कि वे अन्तःकरणपूर्वक इस भाषाका अध्ययन करना स्वीकार करें और जैन धनिकोंको चाहिए कि वे इस कार्यमें विशेष उत्तेजन देवें और उन्हें हर तरह सहायता पहुँचावें। मैंने सुना है कि एक जैनसंस्था जैनधर्मके विद्यार्थियोंको जो जो सहायतायें अपेक्षित हों वे देनेके लिए तैयार है, इसलिए हमें आशा है कि इस विषयके उत्साही विद्यार्थी आगे आवेंगे और इस महान् कार्यके प्रथम फल थोड़े ही समयमें जनताके सामने उपस्थित करनेमें न चूकेंगे। "*

१-इसमें जो कुछ लिखा गया है वह श्वेताम्बर सम्प्रदायके सूत्रग्रन्थोंको लक्ष्य करके लिखा गया है जो कि अर्ध मागधी भाषामें हैं और जिन्होंने श्वेताम्बर साहित्यके एक बहुत बड़े भागको रोक रक्खा है। यद्यपि इस समय दिगम्बर सम्प्रदायका जितना साहित्य उपलब्ध और परिचित है, उसका अधिकांश संस्कृतमें है और इस कारण हमारे समाजके बड़े बड़े विद्वानोंतकका यह खयाल हो गया है कि हमारी प्रधान धार्मिक भाषा संस्कृत है। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। बहुत कुछ नष्ट होजाने पर भी-अब भी हमारा खयाल है कि हमारे सम्प्रदायके जीवनभूत प्रधान धर्मग्रन्थ प्राकृतमें ही हैं और वही हमारा सबसे प्राचीन साहित्य है। भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके नाटक समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, षट्पाहुड़, आचार्य बट्टकेरका मूलाचार, शिवायनकी भगवती आराधना, यतिवृषभकी त्रिलोकप्रज्ञप्ति, स्वामिकुमारकी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दिकी जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, गोम्मटसार, त्रिलोकसार, द्रव्यसंग्रह, परमात्मप्रकाश आदि प्रधान प्राकृतग्रन्थ इस समय भी सर्वत्र विख्यात हैं। आचार्य पूज्यपाद, भट्टाकलंकदेव, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदिके महान् ग्रन्थोंमें जब हम जगह जगह प्राकृतके उद्धरण और 'उक्तंच' श्लोक आदि देखते हैं, तब अनुमान होता है कि उनके समयमें भी प्रधान माननीय ग्रन्थ प्रायः प्राकृतके ही थे। इस समय बीसों संस्कृत ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं जो प्राकृत परसेही संस्कृतमें अनुवाद किये गये हैं और मूडविद्रीके सुप्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ-जो हम लोगोंके आलस्यसे कईसौ वर्षसे एक ही जगह कैद हो रहे हैं-तथा दिन पर दिन नष्ट होते जा रहे हैं-प्रायः प्राकृतमें ही हैं। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें जो उनका संक्षिप्त परिचय मिलता है, उससे तो मालूम होता है कि वे सब ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायके सर्वस्व हैं और उनकी श्लोकसंख्या कई लाख है! हमारा अनुमान है कि श्वेताम्बरसाहित्यमें जो स्थान आगम या सूत्रग्रन्थोंका है वही दिगम्बरसाहित्यमें उक्त सिद्धान्तग्रन्थोंका है। हमारे एक मित्रने नागौरका पुस्तकभण्डार देखा है। वे कहते हैं कि इस भण्डारमें भी ऐसे सैकड़ों प्राकृत भाषाके ग्रन्थ हैं जो अन्य दिगम्बर सम्प्रदायके पुस्तकालयोंमें नहीं मिलते। ऐसी दशामें कोई कारण नहीं मालूम होता कि हम लोग भी प्रो० राजवाड़ेके कथनानुसार जैनधर्मके अध्ययन करनेवालोंके लिए अपने प्राकृतग्रन्थोंको नई संशोधन पद्धतिके अनुसार प्रकाशित करनेका प्रयत्न न करें। हमें यह भी चाहिए कि अपने

* यह लेख बड़ौदा-कालेजके गत फरवरीके मेगजीनमें 'दि स्टेडी आफ जैनिज्म' नामसे अँगरेजीमें प्रकाशित हुआ था। यह उक्त कालेजके पाली भाषाके प्रोफेसर श्रीयुक्त सी० बी० राजवाड़े एम० ए०, बी० एस सी० का लिखा हुआ है। हम अपने दिगम्बर समाजका ध्यान इस ओर आकर्षित करनेके लिए इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करते हैं।

धार्मिक विद्यालयोंमें संस्कृतके साथ साथ प्राकृतके अध्ययनका भी खास प्रयत्न करें और कुछ विद्यार्थियोंको प्राकृतका विशेषज्ञ बनावें जिनके द्वारा आगे प्राकृतग्रन्थोंके सम्पादनका कार्य कराया जा सके। यह तो कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है कि हमें सबसे पहले अपने बचे खुचे साहित्यके संग्रह करनेका, उसे सबके लिए सुलभ कर देनेका और सिद्धान्त ग्रन्थोंके प्राण बचानेका उद्योग करना चाहिए।

२–प्राचीन ग्रन्थोंका सम्पादन किस ढंगसे होना चाहिए, इस विषयमें प्रो० राजवाड़ेने जो कुछ लिखा है उस पर हमारे समाजके ग्रन्थ-प्रकाशकों और सम्पादकोंको खास तौरसे ध्यान देना चाहिए। जिस समय हम यूरोपीय और सुशिक्षित भारतीय विद्वानोंके द्वारा सम्पादित प्राचीन ग्रन्थ देखते हैं उस समय सचमुच ही यह खयाल होता है कि हम लोग अपने पाण्डित्यकी चाहे जितनी डींग मारें, परन्तु अभी तक हमको यह ग्रंथसम्पादनका कार्य आता ही नहीं है। हमारे ग्रन्थ इतने अशुद्ध और अप्रामाणिक पद्धतिसे छपते हैं कि किसी विषयका निर्णय करते समय उन पर विश्वास करनेको जी ही नहीं चाहता। न तो महीनों परिश्रम किये बिना उनसे यह पता लग सकता है कि अमुक ग्रन्थमें उक्तंच श्लोक आदि कितने हैं, कहाँ कहाँ पर आये हैं और किन किन ग्रन्थोंके हैं और न कोई श्लोक ही ढूँढ़नेसे सहज ही उसमें मिल सकता है। पाठान्तर तो बहुत ही कम दिये जाते हैं। जिन ग्रन्थोंकी प्रयत्न करनेसे अनेक प्रतियाँ मिल सकती हैं, उनके भी पाठान्तर नहीं दिये जाते हैं। कोई कोई सम्पादक महाशय तो यहाँ तक कृपा करते हैं कि ग्रन्थमें जहाँ कहीं ठीक समझमें नहीं आता है वहाँ अपनी बुद्धिके अनुसार मूल पाठको भी ठीक (!) कर देते हैं और यह भी लिखनेका कष्ट नहीं उठाते कि यहाँ पर मूलमें तो ऐसा है, परन्तु हमारी समझमें ऐसा होना चाहिए। अब हमें चाहिए कि इस ढंगको बदलें और ग्रन्थप्रकाशनके कार्यको बहुत सावधानीके साथ नई पद्धतिके अनुसार करें।

३–प्रो० राजवाड़ेने अपने लेखमें जो ग्रन्थ-प्रकाशिनी संस्थाओंका उल्लेख किया है, वह भी प्रधानतः श्वेताम्बर सम्प्रदायकी संस्थाओंको लक्ष्य करके किया है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कई बड़ी बड़ी ग्रन्थप्रकाशिनी संस्थायें हैं और उनके द्वारा प्रतिवर्ष सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं। दिगम्बर समाजका दुर्भाग्य है कि उसमें एक तो ऐसी संस्थायें ही बहुत कम हैं और जो एक दो हैं भी, वे मुश्किलसे सालभरमें दस पाँच छोटे मोटे ग्रन्थ प्रकाशित करती हैं। दुनिया कहींसे चलकर कहीं पहुँच गई, परन्तु हम लोगोंके मस्तकमें इस समय भी कुछ न कुछ अंशमें यह गतानुगतिकताका भूत डेरा जमाये हुए है कि धर्मग्रन्थ छपानेमें पाप है। यही कारण है कि छपे जैनग्रन्थोंका घर घर प्रचार हो जानेपर भी अभी तक हमारी महासभा या प्रान्तिक सभायें प्रकाश्यरूपसे स्वयं अपने द्वारा ग्रन्थप्रकाशनका कार्य करानेमें डरती हैं। महासभाका मुखपत्र जैनगजट तो छपे हुए जैनग्रन्थोंके विज्ञापन प्रकाश करनेमें भी पाप समझता है! हमारी समझमें अब ये मूर्खताके ढंग बदल दिये जाने चाहिये और दिगम्बर साहित्यके प्रकाशित करनेके लिए एक अच्छी संस्था स्थापित की जानी चाहिए। इसके बिना हमारा साहित्य दिन पर दिन नष्ट होता जा रहा है और इसका पाप हमारे ही सिर चढ़ रहा है!

४–बाम्बे यूनीवर्सिटीने अपने कोर्समें जो मागधीको स्थान दिया है, उससे भी हमें लाभ उठाना चाहिए। हमारी ओरसे भी मागधी पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको सहायता देनेका प्रबन्ध होना चाहिए।

—नाथूराम प्रेमी।

नयचक्र और श्रीदेवसेनसूरि* ।

[लेखक—श्रीयुत नाथूराम प्रेमी ।]

नयचक्र ।

आचार्य विद्यानन्दने अपने श्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्रटीका) के नयविवरण नामक प्रकरणके अन्तमें लिखा है:—

संक्षेपेण नयास्ताबद्व्याख्याताः सूत्रसूचिताः ।
तद्विशेषाः प्रपञ्चेन संचिन्त्या नयचक्रतः ॥

अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रमें जिन नयोंका उल्लेख है, उनका हमने संक्षेपमें व्याख्यान कर दिया। यदि उनका विस्तारसे और विशेषपूर्वक स्वरूप जाननेकी इच्छा हो तो 'नयचक्र' से जानना।

इस उल्लेखसे मालूम होता है कि विद्यानन्द स्वामीसे पहले 'नयचक्र' नामका कोई ग्रन्थ था जिसमें नयोंका स्वरूप खूब विस्तारके साथ दिया गया है। परन्तु वह नयचक्र यही देवसेनसूरिका नयचक्र था, ऐसा नहीं जान पड़ता। क्योंकि यह बिलकुल ही छोटा है। इसमें कुल ८७ गाथायें हैं और माइल्ल धवलके बृहत् नयचक्रमें भी नयसम्बन्धी गाथाओंकी संख्या इससे अधिक नहीं है। इन दोनों ही ग्रन्थोंमें नयोंका स्वरूप बहुत संक्षेपमें लिखा गया है। इनसे अधिक तो स्वामी विद्यानन्दने ही नयविवरणमें लिख दिया है। नयविवरणकी श्लोकसंख्या ११८ है और उनमें नयोंका स्वरूप बहुत ही उत्तम रीतिसे नयचक्रकी भी अपेक्षा स्पष्टतासे—लिखा है। ऐसी दशामें यह संभव नहीं कि श्लोकवार्तिकके कर्ता अपने पाठकोंसे देवसेनसूरिके नयचक्रपरसे विस्तारपूर्वक नयोंका स्वरूप जाननेकी सिफारिश करते। इसके सिवाय जैसा आगे चलकर बतलाया जायगा, देवसेनसूरि विद्यानन्द स्वामीके पीछेके ग्रन्थकर्ता हैं। अतः श्लोकवार्तिकमें जिस नयचक्रका उल्लेख है, वह कोई दूसरा ही नयचक्र होगा।

श्वेताम्बरसंप्रदायमें 'मल्लवादि' नामके एक बडे भारी तार्किक हो गये हैं। आचार्यहरिभद्रने अपने 'अनेकांत-जयपताका' नामक ग्रंथमें वादिमुख्य मल्लवादिकृत 'सम्मति-टीका'के कई अवतरण दिये हैं और श्रद्धेय मुनि जिनविजयजीने अनेकानेक प्रमाणोंसे हरिभद्रसूरिका समय वि० सं० ७५७ से ८२७ तक सिद्ध किया है। अतः आचार्य मल्लवादि विक्रमकी आठवीं शताब्दिके पहलेके विद्वान् हैं, यह निश्चय है। और विद्यानन्दस्वामी विक्रमकी ९ वीं शताब्दिमें हुए हैं' यह भी प्रायः निश्चित हो चुका है।

उक्त मल्लवादिका भी एक 'नयचक्र' नामका ग्रंथ है जिसका पूरा नाम 'द्वादशार-नयचक्र' है। जिसतरह चक्रमें आरे होते हैं, उसी तरह इसमें बारह आरे अर्थात् अध्याय हैं। यह ग्रंथ बहुत बड़ा है। इसपर आचार्य यशोभद्रजीकी बनाई हुई एक टीका है जिसकी श्लोकसंख्या १८००० है। यह अनेक श्वेताम्बर पुस्तकालयोंमें उपलब्ध है। संभव है कि विद्यानन्दस्वामीने इसी नयचक्रको लक्ष्य करके पूर्वोक्त सूचना की हो। जिस तरह हरिवंशपुराण और आदिपुराणके कर्ता दिगंबर जैनाचार्योंने सिद्धसेनसूरिकी प्रशंसा की है—जो कि श्वेताम्बराचार्य समझे जाते हैं—उसी तरह विद्यानन्दस्वामीने भी श्वेतांबराचार्य

---

* माणिकचन्दजैनग्रन्थमालाके १६ वें ग्रन्थ 'नयचक्र-संग्रह' की भूमिकाके लिए यह लेख लिखा गया था और वहींसे यहाँ उद्धृत किया जाता है।

१ अहमदाबादमें सेठ मनसुखभाई भगूभाईके द्वारा छप चुका है। २ यह आचार्य सिद्धसेनसूरिके 'सम्मतितर्क' नामक ग्रंथकी टीका है। ३ देखो, जैनसाहित्यसंशोधक अंक १। ४ देखो जैनहितैषी वर्ष ९ अंक ९।

मल्लवादिके ग्रंथको पढ़नेकी सिफारिश की हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । जिस तरह सिद्धसेनसूरि तार्किक थे उसी तरह मल्लवादि भी थे और दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायके तार्किक सिद्धांतोंमें विशेष महत्त्वका मतभेद भी नहीं है । तब नयसंबंधी एक श्वेतांबर तर्कग्रन्थका उल्लेख एक दिगम्बराचार्य द्वारा किया जाना हमें तो असंभव नहीं मालूम होता । अनेक श्वेतांबर ग्रन्थकर्ताओंने भी इसी तरह दिगंबर ग्रन्थकारोंकी प्रशंसा की है और उनके ग्रन्थोंके हवाले दिये हैं ।

यह भी संभव है कि देवसेनके अतिरिक्त अन्य किसी दिगम्बराचार्यका भी कोई नयचक्र हो और विद्यानन्दस्वामीने उसका उल्लेख किया हो । माइल्लधवलके बृहत् नयचक्रके अंतकी एक गाथा—जो केवल बम्बईवाली प्रतिमें है, मोरेनाकी प्रतिमें नहीं है—यदि ठीक हो तो उससे इस बातकी पुष्टि होती है । वह गाथा इस प्रकार है:—

दुसमीरणेण पोयं पेरियसंतं जहा ति (चि) रं नहं ।
सिरिदेवसेन मुणिणा तह णयचक्कं पुणो रइयं ॥

इसका अभिप्राय यह है कि दुःषमकालरूपी आँधीसे पोत (जहाज) के समान जो नयचक्र चिरकालसे नष्ट हो गया था उसे देवसेन मुनिने फिरसे रचा । इससे मालूम होता है कि देवसेनके नयचक्रसे पहले भी कोई नयचक्र था जो नष्ट हो गया था और बहुत संभव है कि देवसेनने यह उसीका संक्षिप्त उद्धार किया हो ।

उपलब्ध ग्रंथोंमें नयचक्र नामके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—१ आलापपद्धति, २ लघुनयचक्र, और ३ बृहत् नयचक्र । इनमेंसे पहला ग्रन्थ आलापपद्धति संस्कृतमें है और शेष दो प्राकृतमें ।

१ आलापपद्धति । इसके कर्ता भी देवसेन ही हैं । डा० भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिटयूट पूनामें इस ग्रन्थकी एक प्रति है, उसके अन्तमें प्रतिलेखकने लिखा है—" इति सुखबोधार्थमालापपद्धतिः श्रीदेवसेनविरचिता समाप्ता । इति श्रीनयचक्र सम्पूर्णम् ॥ " उक्त पुस्तकालयकी* सूचीमें भी यह नयचक्र नामसे ही दर्ज है । बासोदाके भंडारकी सूचीमें भी—जो बम्बईके दिगम्बर जैनमन्दिरके सरस्वतीभण्डारमें मौजूद है—इसे नयचक्र संस्कृत गद्यके नामसे दर्ज किया है । पं० शिवजीलालकृत दर्शनसार-वचनिकामें देवसेनके संस्कृत नयचक्रका जो उल्लेख है, वह भी जान पड़ता है, इसी आलापपद्धतिको लक्ष्य करके किया गया है । यद्यपि आलापपद्धतिमें नयचक्रका ही गद्यरूप सारांश है और वह नयचक्रके ऊपर ही की गई है, इस लिए कुछ लोगों द्वारा दिया गया उसका यह ' नयचक्र ' नाम एक सीमातक क्षम्य भी हो सकता है; परन्तु वास्तवमें इसका नाम ' आलापपद्धति ' ही है—नयचक्र नहीं ।

आलापपद्धतिके प्रारंभमें ही लिखा है— " आलापपद्धतिर्वचनरचनानुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते ।" इससे मालूम होता है कि आलापपद्धति नयचक्रपर ही प्रश्नोत्तररूप संस्कृतमें लिखी गई है । आलाप अर्थात् बोलचालकी पद्धतिपर अथवा वचनरचनाके ढंगपर यह ' सुखबोधार्थ ' या सरलतासे समझमें आनेके लिए बनाई गई है । इसकी प्रत्येक प्रतिमें इसे ' देवसेनकृता ' लिखा भी मिलता है, इससे यह निश्चय हो जाता है कि यह नयचक्रके कर्त्ता देवसेनकी ही रची हुई है—अन्य किसीकी नहीं ।

२ लघु नयचक्र । श्रीदेवसेनसूरिका वास्तविक नयचक्र यही है । इसके साथ जो ' लघु '

---

* सन् १८८४–८६ की रिपोर्टके ५१९ वें नम्बरका ग्रन्थ देखो ।

विशेषण लगाया गया है वह इसके दूसरे ग्रन्थको बड़ा देखकर लगा दिया गया है; परंतु वास्तवमें उसका नाम 'द्रव्यस्वभावप्रकाश' है और उसके कर्ता 'माइल्ल धवल' हैं जैसा कि आगे सिद्ध किया गया है। इसलिये इसका नयचक्रके ही नामसे उल्लेख किया जाना चाहिए।

श्वेतांबराचार्य यशोविजयजी उपाध्यायने अपने 'द्रव्यगुणपर्यय रासा' (गुजराती) में देवसेनके नयचक्रका कई जगह उल्लेख किया है और उक्त रासेके आधारसे ही लिखे हुए 'द्रव्यानुयोगतर्कणा' नामक संस्कृत ग्रन्थमें भी उक्त उल्लेखोंका अनुवाद किया है। एक उल्लेख इस प्रकार है:—

" नयश्चोपनयाश्चैते तथा मूलनयावपि।
इत्थमेव समादिष्टा नयचक्रेऽपि तत्कृता ॥ ८ ॥

एते नया उक्तलक्षणाश्च पुनरुपनयास्तथैव द्वौ मूलनयावपि निश्चयेनेत्थममुना प्रकारेणैव नयचक्रेऽपि दिगम्बरदेवसेनकृते शास्त्रे नयचक्रेपि तत्कृता तस्य नयचक्रस्य कृता उत्पादकेन समादिष्टं कथितं। एतावता दिगम्बरमतानुगतनयचक्र ग्रन्थपाठपठितनयोपनयमूलनयादिकं सर्वमपि सर्वज्ञप्रणीतसदागमोक्तयुक्तियोजनासमानतंत्रत्वमेवास्ते न किमपि विसंवादितयास्तीति *।"

उक्त 'तर्कणा' में जो नयोंका स्वरूप दिया है, वह बिलकुल 'नयचक्र' का अनुवाद है और इसे स्वयं ग्रन्थकर्त्ता भोजसागरने स्वीकार किया है। इससे निश्चय हो जाता है कि उपाध्याय यशोविजयजी और तर्कणाके कर्ता भोजसागर इसी नयचक्रको देवसेनका रचा हुआ समझते थे।

दर्शनसारकी वचनिकाके कर्ता पं० शिवजीलालजीने देवसेनसूरिके बनाये जिन सब ग्रन्थोंके नाम दिये हैं उनमें प्राकृत नयचक्र भी है। अर्थात् उनके मतसे भी यह देवसेनकी ही कृति है।

यह नयचक्र (लघु) बृहत् नयचक्र (द्रव्यस्वभावप्रकाश) मेंसे छाँटकर जुदा निकाला हुआ नहीं है। यह बात इस ग्रंथको आदिसे अंततक अच्छी तरह बाँच लेनेसे ही ध्यानमें आ जाती है। यह संपूर्ण ग्रन्थ है और स्वतंत्र है। यह इसकी रचना-पद्धतिसे ही मालूम हो जाता है। नयोंको छोड़कर इसमें अन्य विषयोंका विचार भी नहीं किया गया है। इसके अंतकी नं० ८६ और ८७ की गाथाओंसे (पृष्ठ १९-२०) यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसका नाम नयचक्र ही है—उसके साथ कोई 'लघु' आदि विशेषण नहीं है।

२ बृहत् नयचक्र। इसका वास्तविक नाम 'दव्वसहावपयास' (द्रव्यस्वभाव-प्रकाश) यह 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' है। ग्रंथकर्ताने स्वयं इस नामको ग्रंथके प्रारंभमें और अंतमें कई जगह व्यक्त किया है। नयचक्र तो इसका नाम हो ही नहीं सकता है, क्योंकि नयोंके अतिरिक्त द्रव्य, गुण, पर्याय, दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि अन्य अनेक विषयोंका इसमें वर्णन किया गया है। यह एक संग्रहग्रन्थ है। जिस तरह इसमें भगवत्कुंदकुंदाचार्यकृत पंचास्तिकाय प्रवचनसार आदिकी गाथाओंको और उनके अभिप्रायोंको संग्रह किया गया है, उसीतरह लग भग पूरे नयचक्रको भी इसमें शामिल कर लिया गया है; यहाँतक कि मंगलाचरणकी और अंतकी नयचक्रकी प्रशंसासूचक गाथायें भी नहीं छोड़ी हैं। जान पड़ता है कि नयचक्रकी उक्त प्रशंसासूचक गाथाओंके कारण ही लोगोंको भ्रम हो गया है और वे इसे 'बृहत् नयचक्र' कहने लगे हैं।

---

* देखो रायचंद्रशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित 'द्रव्यानुयोगतर्कणा' अध्याय ८ श्लोक ८ पृष्ठ ११५।

इसके प्रारंभकी उत्थानिकामें लिखा है:—
"श्रीकुंदकुंदाचार्यकृतशास्त्राणां सारार्थं परिगृह्य स्वपरोपकाराय द्रव्यस्वभावप्रकाशकं नयचक्रं मोक्षमार्गं कुर्वन् गाथाकर्ता '...इष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्व्वन्नाह-।" यहाँ द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्रका विशेषण है। संग्रहकर्ताका इससे यह अभिप्राय भी हो सकता है कि यह नयचक्रयुक्त द्रव्यस्वभावप्रकाशक ग्रंथ है।

अब हमें यह देखना चाहिए कि इस 'द्रव्यस्वभावप्रकाश' के कर्ता कौन हैं।

दव्वसहावपयासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं।
तं गाहाबंधेण य रइयं माइल्लधवलेण ॥
दुसमीर-पोयमि (नि) वाय पा (या) ता (णं) सिरिदेवसेणजोईणं।
तेसिं पायपसाए उवलद्धं समणतच्चेण ॥

पहली गाथाका अर्थ यह है कि 'दव्वसहावपयास' नामका एक ग्रन्थ था जो दोहाछंदोंमें बनाया हुआ था। उसीको माइल्ल धवलने गाथाओंमें रचा।

दूसरी गाथा बहुत कुछ अस्पष्ट है; फिर भी उसका अभिप्राय लगभग यह है कि श्रीदेवसेन योगीके चरणोंके प्रसादसे यह ग्रंथ बनाया गया।

यह गाथा बम्बईकी प्रतिमें नहीं है, मोरेनाकी प्रतिमें है। बम्बईकी प्रतिमें इसके बदले 'दुसमीरणेण पोयं पेरियसंतं' आदि गाथा है— जो ऊपर एक जगह उद्धृत की जा चुकी है और जिसमें यह बतलाया गया है कि देवसेनमुनिने पुराने नष्ट हुए नयचक्रको फिरसे बनाया।

मोरेनावाली प्रतिकी गाथा यदि ठीक है तो उससे केवल यही मालूम होता है कि माइल्ल धवलका देवसेनसूरिसे कुछ निकटका गुरुशिष्य संबंध होगा। बम्बईवाली प्रतिकी गाथा माइल्ल धवलसे कोई संबंध नहीं रखती है—वह नयचक्र और देवसेनसूरिकी प्रशंसावाचक अन्य तीन चार गाथाओंके समान एक जुदी ही प्रशस्ति-गाथा है।

नीचे लिखी गाथामें कहा है कि दोहा छंदमें रचे हुए 'द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश'को सुनकर सुहंकर या शुभंकर नामके कोई सज्जन—जो संभवतः माइल्ल धवलके मित्र होंगे—हँसकर बोले कि दोहाओंमें यह अच्छा नहीं लगता; इसे गाथाबद्ध कर दो:—

सुणिऊण दोहरत्थं सिग्घं हसिऊण सुहंकरो भणइ।
एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं भणह ॥

इससे भी यही मालूम होता है कि 'दव्वसहावपयास' पहले दोहाबद्ध था और उसे माइल्ल धवलने गाथाबद्ध किया है। माइल्ल धवल 'गाथाकर्ता' ही हैं, इसका खुलासा इस ग्रन्थकी उत्थानिकासे भी हो जाता है जहाँ[1] लिखा है कि गाथाकर्ता (ग्रन्थकर्ता नहीं) इष्टदेवताको नमस्कार करते हुए कहते हैं।

नीचे लिखी गाथाओंसे भी यह प्रकट होता है कि इस ग्रन्थके कर्ता देवसेनसूरि नहीं किंतु माइल्ल धवल हैं:—

दारियदुण्णयदणुयं परअप्पपरिक्खतिक्खखरधारं।
सव्वण्हुविण्हुचिण्हं सुदंसणं णमह णयचक्कं ॥
सुयकेवलीहिं कहियं सुअसमुद्दअमुदमयमाणं।
बहुभंगभंगुराविय विराजियं णमह णयचक्कं ॥
सियसद्दसुणयदुण्णयदणुदेहविदारणेक्कवरवीरं।
तं देवसेणदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमह ॥

इनमेंसे पहली दो गाथाओंमें नयचक्रकी प्रशंसा करके कहा है कि ऐसे विशेषणों युक्त नयचक्रको नमस्कार करो और तीसरी गाथामें कहा है कि दुर्नयरूपी राक्षसको विदारण करनेवाले श्रेष्ठ वीर गुरु देवसेनको जो नयचक्रके

---

१ बम्बईवाली प्राचीन प्रतिमें यहाँ 'गाथाकर्ता' ही पाठ है, जब कि मोरेनाकीमें 'ग्रन्थकर्ता' है। वास्तवमें गाथाकर्ता ही होना चाहिए। यही पाठ छपना भी चाहिए था।

कर्ता हैं—नमस्कार करो । यदि इस ग्रंथके कर्ता स्वयं देवसेन होते तो वे अपने लिये गुरु आदि शब्दोंका प्रयोग न करते और न यही कहते कि तुम उन देवसेनको और उनके नयचक्रको नमस्कार करो ।

इन सब बातोंसे सिद्ध है कि छोटे नयचक्रके कर्ता ही देवसेन हैं और माइल्लधवल उन्हींको लक्ष्य करके उक्त प्रशंसा करते हैं । माइल्लधवलने देवसेनसूरिके पूरे नयचक्रको अपने इस ग्रन्थमें अन्तर्गर्भित कर लिया है, ऐसी दशामें उनका इतना गुणगान करना आवश्यक भी हो गया है।

माइल्लधवलने इसके सिवाय और भी कोई ग्रंथ बनाये हैं या नहीं और ये कब कहाँ हुए हैं, इसका हम कोई पता नहीं लगा सके। आश्चर्य नहीं जो वे देवसेनके ही शिष्योंमें हों, जैसा कि मोरेनाकी प्रतिकी अंतिम गाथासे और देवसेनके लिए श्रेष्ठ गुरु शब्दका प्रयोग देखनेसे ज्ञान पड़ता है ।

देवसेनसूरि ।

नयचक्रके संबंधमें इतनी आलोचना करके अब हम संक्षेपमें इसके कर्ता देवसेनसूरिका परिचय देना चाहते हैं । इनका बनाया हुआ एक 'भावसंग्रह' नामका ग्रन्थ है । उसमें वे अपने विषयमें इस प्रकार कहते हैं:—

सिरिविमलसेणगणहरसिस्सो
णामेण देवसेणुत्ति ।
अबुहजणबोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥

इससे मालूम होता है कि इनके गुरुका नाम श्रीविमलसेन गणधर (गणी) था । दर्शनसार नामक ग्रन्थके अंतमें वे अपना परिचय देते हुए लिखते हैं:—

पुव्वायरियकयाई गाहाई संचिऊण एयत्थ ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९ ॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवए ।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५०॥

अर्थात् पूर्वाचार्योंकी रची हुई गाथाओंको एक जगह संचित करके श्रीदेवसेन गणिने धारानगरीमें निवास करते हुए पार्श्वनाथके मंदिरमें माघ सुदी दशवीं विक्रम संवत् ९९० को यह दर्शनसार नामक ग्रन्थ रचा । इससे निश्चय हो जाता है कि उनका अस्तित्वकाल विक्रमकी दशवीं शताब्दि है । अपने अन्य किसी ग्रन्थमें उन्होंने ग्रंथ-रचनाका समय नहीं दिया है ।

यद्यपि इनके किसी ग्रन्थमें इस विषयका उल्लेख नहीं है कि वे किस संघके आचार्य थे; परन्तु दर्शनसारके पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे मूलसंघके आचार्य थे । दर्शनसारमें उन्होंने काष्ठासंघ, द्रविडसंघ, माथुरसंघ और यापनीयसंघ आदि सभी दिगम्बर-संघोंकी उत्पत्ति बतलाई है और उन्हें मिथ्याती कहा है; परन्तु मूलसंघके विषयमें कुछ नहीं कहा है । अर्थात् उनके विश्वासके अनुसार यही मूलसे चला आया हुआ असली संघ है ।

दर्शनसारकी ४३ वीं गाथामें लिखा है कि यदि आचार्य पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द)

१—श्रीविमलसेनगणधरशिष्यः नाम्ना देवसेन इति । अबुधजनबोधनार्थं तेनेदं विरचितं सूत्रं ॥

१—पूर्वाचार्यकृता गाथाः संचयित्वा एकत्र । श्रीदेवसेनगणिना धारायां संवसता ॥ ४९ ॥
२—रचितो दर्शनसारो हारो भव्यानां नवशते नवतौ । श्रीपार्श्वनाथगेहे सुविशुद्धे माघशुद्धदशम्याम् ॥५०॥
३—दर्शनसारकी अन्य गाथाओंमें जहाँ जहाँ संवत्का उल्लेख किया है, वहाँ वहाँ 'विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स' पद देकर विक्रम संवत् ही प्रकट किया है । इसके सिवाय धारा (मालवा) में प्रायः विक्रम संवत् ही प्रचलित रहा है ।
४ जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण । ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥

सीमन्धर स्वामीद्वारा प्राप्त दिव्यज्ञानके द्वारा बोध न देते तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते? इससे यह भी निश्चय हो जाता है कि वे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें थे।

भावसंग्रह (प्राकृत)[1] में जगह जगह दर्शनसारकी अनेक गाथायें उद्धृत की गई हैं और उनका उपयोग उन्होंने स्वनिर्मित गाथाओंकी भाँति किया है। इससे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि दर्शनसार और भावसंग्रह दोनोंके कर्त्ता एक ही देवसेन हैं।

इनके सिवाय आराधनासार[2] और तत्त्वसार[3] नामके ग्रंथ भी इन्हीं देवसेनके बनाये हुए हैं।

पं० शिवजीलालने इनके 'धर्मसंग्रह' नामके एक और ग्रंथका उल्लेख किया है; परंतु वह अभीतक हमारे देखनेमें नहीं आया है।

स्वप्न-सर्वस्व।

(ले०-भगवन्त गणपति गोइलीय।)

(१)

क्यों आये थे निठुर इस तरह मुझे जलाने?
मुझ दुखिनीके लिए सदयता यों दिखलाने।
शान्तिप्रदा वह नींद लगी थी कुछ कुछ आने।
और कष्टसे उठा शान्तिसुखमें पहुँचाने।
सच कहती हूँ उससमय, मुझे न कुछ भी ध्यान था।
कहाँ पड़ी हूँ? कौन हूँ? तनिक न इसका भान था॥

(२)

वर्षा थी हो रही रात थी खूब अँधेरी;
टपटप थी चू रही कोठरी सारी मेरी।
इस कथरीपर फटी खोरको मैं सिमटाए-
सोती थी, यह एक हाथ उपधान बनाए।
देख रही थी स्वप्नमें, भोजन मुझको मिल गया।
यद्यपि भूख मिटी नहीं, तौ भी था मन खिल गया।

(३)

आहा बासी भात! रोटियाँ जिनपर घी था;
चौलाईका साग! मिष्ट सुस्वाद सभी था।
ज्योंकी त्यों थी भूख खूब था यद्यपि खाया;
पानी पीकर एक ओरको पैर बढ़ाया।
देखा, ओहो सामने, चले श्वसुरजी जा रहे।
उनके पीछे जेठजी धीरे धीरे आ रहे॥

(४)

जेठानी भी एक हाथ सासूका पकड़े-
और एकसे प्रिय कृष्णाके करको जकड़े-
उनके पीछे चली आ रही हैं इतराती;—
मुसका करके किसी विषय पर कुछ बतराती।
सबकी नजरें थीं पड़ीं, चढ़ीं सभीकी भृकुटियाँ।
हा कपाल! हैं बन गईं, मुझसे क्या क्या कुत्रुटियाँ॥

(५)

याद तुम्हारी आजाने पर जी मसोस कर-
मैं थी रोने लगी भाग्यको कोसकोस कर;-
वे सुख, वे आनन्द और वे प्यारी बातें—
वे गहने, वे वस्त्र और वे रसमय घातें—
क्या हो गई पता नहीं, कहाँ गया सुख साज सब?
एक तुम्हारे ही बिना नरक हुआ जग आज सब॥

(६)

ऐसा कह कह जभी प्रभो! मैं विलप रही थी;
इस अभाग्य पर फूट फूट रो-कलप रही थी।
परम दीप्ति-संयुक्त निकट तुम मेरे आए;
झपक गए दृग तुम्हें भली विधि देख न पाए।
तुमने ठोढ़ी पकड़कर कहा—"प्रिये क्यों रो रही?
मैं हूँ तेरे सामने, बिकल भला क्यों हो रही?"

(७)

चौंक उठी फिर वदन तुम्हारा तनिक निहारा;
इतनेमें बह चली तीव्र लोचन-जल-धारा।
जितना जितना यत्न रोकनेका करती थी;
उतना उतना तीव्रवेगसे वह झरती थी;
पिघल गया था हृदय या वर्षाका नव-ढंग था!
घनों दृगोंकी होड़का अथवा विकट प्रसंग था!

(८)

तुमने भरकर अंक कहा—अब रो न प्रिये तू;
तुझे तजूँगा नहीं बिकल अब हो न प्रिये तू।

---

१ भावसंग्रह 'माणिकचंद-ग्रंथमाला'में शीघ्र ही छपनेवाला है। प्रेसमें दिया जा चुका है।

२ माणिकचंद ग्रंथमालाका छट्ठा ग्रंथ—श्रीरत्ननन्दि-आचार्यकृत टीकासहित छपा है।

३ मा० ग्रं० मालाके १३ वें अंकमें वह छप चुका है।

सदा रखूँगा साथ धैर्य अब खो न प्रिये तू;
आगेको यों कष्ट बीज अब बो न प्रिये तू।
तुमसे इसके बादमें, हाय न कुछ बोला गया;
दुखोद्रेकसे तनिक भी हृदय न फिर खोला गया।

(९)

तबतक मैं चेतना-हीन हो गई प्रेमधन!
रही चेतना-रहित न जाने मैं कितने क्षण।
पर सचेत हो उठी शीघ्र ही जब घबरा कर-
और गिर पड़ी पुनः भींतसे मैं टकरा कर।
आँखें मेरी खुल गई, सपना सपना हो गया।
प्रलय हुआ पलमात्रमें, सरवस अपना खो गया॥

(१०)

पूर्व दिशा थी लोहित चिड़ियाँ चहक रही थीं;
कलियाँ खुल खुल डुल डुल कर सब महक रहीं थीं।
तरुओं पर मृदु ललित लताएँ लहक रही थीं;
प्रातः पवनें खेल खेलमें बहक रही थीं।
यों वे मेरे घावपर, नमक सभी थी डालतीं,
अथवा 'हा-हा' स्वप्न पर, थीं दुष्टाएँ घालतीं॥

(११)

क्या करती कुछ जोर नहीं था, बस रो आया;
मर जाऊँ अविलम्ब यही मनमें हो आया।
कहा प्राणसे—प्राण! कहाँ लों कष्ट सहोगे?
तन-पंजरके संग कहाँलों और रहोगे?
करती हूँ मैं प्रार्थना-तनका मोह विसार दो।
और दुःख-दावाग्निसे कृपया अब निस्तार दो॥

(१२)

पर सुन लो अब जन्म न तुम नारीका लेना;
लेना तो मत भूल पैर भारतमें देना।
देना ही जो पड़े कभी तो जैन न होना;—
क्या जानें जो पड़े पुनः ऐसा ही रोना।
कर दे तुमको जैन ही, वह अदृष्ट यदि अदय हो।
जन्म उधर लेना जिधर, विजयित नय हो हृदय हो॥

(१३)

हे अदृष्ट तुम घोर नरकके दुख दिखलाओ;
पर, नारीको, हाय! कभी विधवा न बनाओ।
और बनाओ ही तो इतनी दया दिखाओ;—
उसकी आँखें और हृदय यों गढ़ो गढ़ाओ।—
जो कि देखते हुए भी, देखे वह कुछ भी नहीं।
और जानते हुए भी, जाने वह कुछ भी नहीं॥

दुष्प्राप्य और अलभ्य जैनग्रंथ।

२१ सत्यशासन-परीक्षा।

जैनसिद्धान्तभवन आराकी सूचीपरसे मालूम हुआ कि 'सत्यशासनपरीक्षा' नामका भी कोई जैनग्रंथ है। नामपरसे यह ग्रंथ अश्रुतपूर्व मालूम होता था और ऐसा खयाल होता था कि शायद विद्यानंदस्वामीका बनाया हुआ हो। अतः देखनेकी उत्कंठा उत्पन्न हुई और भवनके मंत्री साहबको उसके भेजनेके लिये लिखा गया। परंतु भवनमें ग्रंथकी एक ही प्रति होने आदिके कारण मंत्रीसाहबने उसके न भेजनेके लिये मजबूरी जाहिर की और यह लिखा कि लेखकका प्रबंध करके उसकी कापी करा दी जावेगी। भवनमें एक विद्वान् क्लर्कके आजाने पर हालमें; उक्त ग्रंथका जो परिचय मँगाया गया उससे मालूम हुआ कि यह विद्यानंद स्वामीका बनाया हुआ एक न्यायका ग्रंथ है। इसका मंगलाचरण इस प्रकार है:—

विद्यानन्दाधिपः स्वामिर्विद्व-द्देवो जिनेश्वरः।
यो लोकैकहितस्तस्मै नमस्तात्स्वात्मलब्धये॥ १॥

ग्रंथके अन्तमें प्रशस्ति आदि कुछ नहीं है, बल्कि वह अपूर्ण और अधूरा मालूम होता है। उसका अन्तिम भाग इस प्रकार है:—

"न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं यथा स्थूणादिषु वंशादिरितिप्रतीयते यतो भिन्नदेशस्वाधारवृतित्वे सत्येकत्वं तस्य सिद्ध्यत् स्वाधारान्तरालेऽस्तित्वं साधयेदिति तदेवमनेकबाधकसद्भावात् भाट्टप्राभाकरैरिष्टम्।"

ग्रंथके शुरूमें परीक्षाके लिये जिन मतोंका नामोल्लेख किया गया है उनका सूचक वाक्य इस प्रकार है:—

"इह हि पुरुषाद्वैत-शब्दाद्वैत-विज्ञानाद्वैत-चित्राद्वैत-शासनानि चार्वाक-बौद्ध-सेश्वर-निरीश्वर-सांख्य-नैय्यायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्राभाकरशासनानि तत्त्वोपप्लुतशासनमनेकान्तशासनं चेति अनेकशासनानि प्रवर्तन्ते।"

इस वाक्यमें जिनशासनोंका उल्लेख है ग्रंथमें उनका क्रमशः 'भाट्ट प्राभाकर' तक कथन किया गया है, और ऐसा ही ऊपर उद्धृत किये हुए अन्तिम भागसे भी प्रकट है। और इसलिये तत्त्वोप्लुतादि शासनोंकी परीक्षाका भाग उक्त प्रतिमें नहीं है। संभव है कि भाट्ट प्राभाकर शासनोंकी परीक्षाका भी कुछ भाग रह गया हो। अतः दूसरे शास्त्रभंडारोंमें इस ग्रंथरत्नकी पूरी प्रतिकी खोज होनेकी बहुत बड़ी जरूरत है, जिससे इस पूरे ग्रंथका उद्धार हो सके। यदि दूसरे भंडारोंमें भी इस ग्रंथका इतना ही भाग उपलब्ध हो तो यह समझना होगा कि विद्यानंद स्वामी इसे पूरा नहीं कर सके हैं और यह उनका अन्तिम ग्रंथ है। परन्तु भवनमें इस ग्रंथकी प्रति देवनागरी लिपिमें है और सूचीमें उसकी लिपिका संवत् १९६० दिया है। इससे मालूम होता है कि यह प्रति किसी दूसरी प्रतिपरसे अभी कुछ ही वर्ष हुए कराई गई है। बहुत संभव है कि मीलानके लिये वह मूल्य प्रति भी अभी मिल सके। अतः इसके लिये जरूर प्रयत्न होना चाहिये। इस ग्रंथमें बहुत जगह 'उक्तं च भट्टाकलंकदेवैः' 'उक्तं च स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः' ऐसे वाक्य पाये जाते हैं। विद्यानंदस्वामीका ग्रन्थ होनेसे यह निःसन्देह एक महत्त्वका ग्रंथ है और इसका शीघ्र उद्धार होना चाहिये।

२२ तत्त्वानुशासन (द्वितीय)।

एक 'तत्त्वानुशासन' नामका ग्रंथ 'माणिकचंद्र-दिगम्बर-जैनग्रन्थमाला'में प्रकाशित हो चुका है, जिसे उक्त ग्रंथमालामें श्रीनागसेन आचार्यका बनाया हुआ प्रकट किया है। वह श्रीनागसेन आचार्यका बनाया हुआ है या कि नहीं, इस विषयका विचार हमने एक अलग नोटद्वारा उपस्थित किया है। परंतु यहाँ हम सिर्फ इतना बतलाना चाहते हैं कि उक्त तत्त्वानुशासनसे भिन्न एक और तत्त्वानुशासनका भी पता चलता है। 'दिगम्बरजैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी सूचीमें समन्तभद्रके ग्रंथोंमें 'तत्त्वानुशासन' का भी एक नाम है। श्वेताम्बर कान्फरेंसद्वारा प्रकाशित 'जैनग्रन्थावली' में भी तत्त्वानुशासनको समन्तभद्रका बनाया हुआ लिखा है और साथ ही यह भी प्रकट किया है कि उसका उल्लेख सूरतके उन सेठ भगवानदास कल्याणदासजीकी प्राइवेट रिपोर्टमें है जो कि पिटर्सन साहबकी नौकरीमें थे। और भी कुछ विद्वानोंने समंतभद्रका परिचय देते हुए उनके ग्रंथोंमें 'तत्त्वानुशासन' का भी नाम प्रगट किया है। परन्तु अनेक प्रसिद्ध भंडारोंकी सूचियाँ देखने पर भी अभीतक हमको यह मालूम नहीं हुआ कि स्वामी समन्तभद्रका बनाया हुआ तत्त्वानुशासन ग्रंथ किस जगह मौजूद है और यह भी अभीतक पूरी तौरसे निश्चय नहीं हुआ कि उक्त आचार्य महोदयने वास्तवमें तत्त्वानुशासन नामका कोई ग्रंथ बनाया है या कि नहीं। परन्तु खोज करनेसे इतना पता जरूर चला है कि तत्त्वानुशासन नामका कोई दूसरा ग्रंथ भी बना है, जिसका एक पद्य नियमसारकी टीकामें पद्मप्रभमलधारिदेवने 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने' इस वाक्यके साथ, उद्धृत किया है। वह पद्य इस प्रकार हैः—

" उत्सर्ज्यकायकर्माणि भावं च भवकारणं।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥ "

यह पद्य मणिकचंद्रग्रन्थमालाद्वारा प्रकाशित उक्त तत्त्वानुशासनमें नहीं है। और इस लिये यह किसी दूसरे ही तत्त्वानुशासनका पद्य है, ऐसा कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। पद्यपरसे ग्रंथ कुछ कम महत्त्वका मालूम नहीं होता। संभव है कि जिस तत्त्वानुशासनका उक्त पद्य है वह स्वामी समंतभद्राचार्यका ही बनाया हुआ हो। यदि ऐसा हो और वह ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो उसे जैनियोंका महाभाग्य समझना चाहिये; क्योंकि स्वामी समंतभद्रके ग्रंथ प्रायः बड़े ही महत्त्वशाली और अद्वितीय होते हैं। हमारे खयालसे, समंतभद्रके दूसरे मूल ग्रंथोंकी तरह यह ग्रंथ भी आकारमें छोटा होगा। और किसी गुटके आदिमें तलाश करनेसे मिलेगा। जिनवाणीके भक्तोंको चाहिये कि वे अपने अपने यहाँके शास्त्रभंडारोंमें इस ग्रंथरत्नकी जरूर तलाश करें और कुछ परोपकारी भाइयोंको समन्तभद्रके तत्वानुशासन पर पारितोषिक भी निकालना चाहिये।

एक तत्वानुशासन नागचंद्र मुनिका भी बनाया हुआ कहा जाता है और जैनग्रन्थावलीमें उसकी श्लोकसंख्या पाँच हजार दी है। मालूम नहीं यह कहाँके भंडारमें मौजूद है, इसकी भी तलाश होनी चाहिये। (क्रमशः)

तत्त्वानुशासनके कर्ता।

माणिकचंद-दिगम्बर-जैनग्रंथमालामें जो 'तत्त्वानुशासन' नामका ग्रंथ प्रकाशित हुआ है उसमें उसके कर्ताका नाम 'नागसेन' मुनि दिया है। और ग्रंथके परिचयमें वीरचंद्रदेव, शुभचंद्रदेव तथा महेंद्रदेवको नागसेनके विद्यागुरु और विजयदेवको दीक्षागुरु प्रकट किया है। यह सब जिस आधारपर प्रकट किया गया है वह ग्रंथकी प्रशस्तिके निम्नलिखित दो पद्य हैं:—

श्रीवीरचंद्रशुभदेवमहेंद्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरवो विजयामरश्च।
दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेन मुनिरुद्यचरित्रकीर्तिः ॥ २५६ ॥

तेन प्रवृद्धधिषणेन गुरूपदेश-
मासाद्य सिद्धिसुखसंपदुपायभूतं।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
श्रीनागसेनविदुषा व्यरचि स्फुटार्थं ॥ २५७ ॥

बम्बईके मंदिरकी जिस एक मात्र प्रतिपरसे यह ग्रंथ छपाया गया है संभव है कि उसमें ये दोनों पद्य इसी प्रकारसे दिये हों। परंतु जयपुरसे हमने एक प्राचीन शुद्ध प्रति मँगाकर उसपरसे इस ग्रंथका जो मीलान किया तो मालूम हुआ कि उसमें प्रशस्तिके दूसरे पद्यके अन्तिम चरणमें 'नागसेन' के स्थानमें 'रामसेन' पाठ दिया है। आराके जैनसिद्धान्तभवनका यही तत्त्वानुशासन, जिसे सूचीमें गलतीसे 'श्रीरामेश्वर' का बनाया हुआ लिखा है और जिसके कारण हमें बहुत कुछ लिखा पढ़ी करनेका कष्ट उठाना पड़ा, इस समय कलकत्तेमें है। कुमार देवेंद्रप्रसादजीने उस परसे जो एक नकल उतरवाकर हमारे पास भेजी है उसमें भी, इस चरणमें, नागसेनकी जगह 'रामसेन' ही पाठ दिया है। इस पाठके अनुसार दोनों पद्योंका अर्थ यह होता है कि—'श्रीवीरचंद्र, शुभदेव, महेंद्रदेव और विजयदेव ये चारों जिसके शास्त्रगुरु अर्थात् विद्यागुरु थे और फिर पुण्यमूर्ति तथा उद्यचरित्रकीर्ति ऐसे श्रीनागसेन नामके मुनि जिसके दीक्षागुरु हुए उस प्रवृद्धबुद्धि श्रीरामसेन नामके विद्वानने गुरूपदेशको पाकर, यह सिद्धसुखसंपदाका उपायभूत और स्फुट अर्थको लिए हुए तत्त्वानुशासन नाम-

का ग्रंथ जगतके हितके लिये रचा है । ' जहाँ-तक हम समझते हैं यह अर्थ दोनों पद्योंकी शब्दरचना परसे बहुत कुछ सीधा, सुसंगत और प्राकृतिक मालूम होता है । विपरीत इसके, छपे हुए पाठको ज्योंका त्यों रखनेकी हालतमें, ' नागसेनकी पुनरावृत्ति बहुत खटकती है । ' सः ' आदि शब्दोंको ऊपरसे लगाकर पहले पद्यका अर्थ करना होता है और विजयदेवको खींच-खाँचकर नागसेन मुनिका दीक्षागुरु बनाना पड़ता है । इस लिये हमारी रायमें जयपुरादिकी प्रतियोंका उपर्युक्त पाठ बहुत कुछ ठीक मालूम होता है और उसके अनुसार यह ग्रंथ ' श्रीनागसेनमुनिका बनाया हुआ न होकर उनके दीक्षित शिष्य श्रीरामसेन विद्वान्का बनाया हुआ जान पड़ता है । पं० आशाधरजी भी अपने अनगारधर्मामृतके ९ वें अध्यायमें, इस ग्रंथका एक पद्य ' रामसेन ' के नामसे उद्धृत करते हैं । वह उद्धरण इस प्रकार है—

" तथा श्रीमद्रामसेन पूज्यैरप्यवाचि

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्याय संपत्त्यापामात्मा प्रकाशते ॥ ८१ ॥

इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि यह ग्रंथ नागसेनका नहीं, किंतु ' रामसेन ' का बनाया हुआ है । ' नाग ' और ' राम ' ये दोनों शब्द लिखनेमें बहुत कुछ मिलते जुलतेसे मालूम होते हैं । हस्तलिखित ग्रंथोंके पत्र वर्षा आदिके कारण अक्सर चिपट जाया करते हैं और उनको छुड़ानेमें किसी किसी अक्षरका कुछ भाग उड़कर उसकी आकृति भी बदल जाया करती है । ऐसी हालतमें यदि किसी लेखकने ' राम ' के स्थानमें ' नाम ' पढ़कर वैसा लिख दिया हो तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है । और यह भी संभव है कि पहले पद्यमें जो नागसेन लिखा था उसीके खयाल तथा संस्कारसे दूसरे पद्यमें भी नागसेन लिखा गया हो और इस तरह पर लेखकसे भूल हुई हो । तत्त्वानुशासनकी इस छपी हुई प्रतिमें वैसे भी पचासों अशुद्धियाँ पाई जाती हैं । यदि बम्बईके मंदिरकी वह प्रति बिलकुल इसीके मुताबिक है तो कहना होगा कि वह प्रति बहुत कुछ अशुद्ध है और उसमें ऐसी भूलका हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है । विद्वानोंको चाहिये कि वे दूसरे स्थानोंकी और भी प्रतियोंसे इस बातको अच्छी तरह जाँच लेवें और उसे सर्वसाधारण पर प्रकट कर देवें, जिससे एक विद्वान्की कृति व्यर्थ ही दूसरे विद्वानकी कृति न समझ ली जाय । यदि वे भी इस ग्रंथको श्रीरामसेनका ही बनाया हुआ निश्चित करें तो उन्हें साथमें यह भी खोज करनी चाहिये कि ये रामसेन नामके विद्वान विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे कितने पहले हुए हैं, इनका विशेष परिचय क्या है, और इनका उल्लेख और किस किस ग्रंथमें पाया जाता है । पं० आशाधरजीने इनके लिये बहुवचनान्त 'पूज्य' शब्दका प्रयोग किया है जिससे ये कोई बड़े आचार्य मालूम होते हैं । तत्त्वानुशासन नामकी कृति भी अच्छे महत्त्वको लिये हुए है । संभव है कि ये वही रामसेन आचार्य हों जिनको ' दर्शनसार ' में माथुरसंघका उत्पादक लिखा है और जिनका समय वि० सं० ९५३ दिया है । विद्वानोंको इस विषयकी खोज करनी चाहिये ।

शास्त्रीय-चर्चा ।

१—क्या मुनि कंदमूल खा सकते हैं ?

ऊपरका प्रश्न हमारे बहुतसे पाठकोंको एकदम खटकेगा और वे उत्तरमें सहसा 'नहीं' शब्द कहना चाहेंगे। परंतु शास्त्रीय चर्चामें इस प्रकारके जबानी उत्तरोंका कुछ भी मूल्य नहीं है। इसमें केवल वही उत्तर ग्राह्य हो सकते हैं जो शास्त्रप्रमाणको लिये हुए हों। अतः उक्त प्रश्नका समाधान करनेके लिये शास्त्रीय प्रमाणोंके अनुसंधानकी जरूरत है। हम भी इस विषयमें आज कुछ यत्न करते हैं।—

दिगम्बर सम्प्रदायमें 'मूलाचार' नामका एक अतिशय प्राचीन और प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसे श्रीवट्टकेर आचार्यने बनाया है। श्वेताम्बरोंमें 'आचारांगसूत्र' को जो पद प्राप्त है दिगम्बरोंमें मूलाचारको उससे कम पद प्राप्त नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदायमें यह एक बड़ा ही पूज्य और माननीय ग्रंथ समझा जाता है। श्रीवसुनन्दी सैद्धान्तिकने इस पर 'आचारवृत्ति' नामकी एक संस्कृत टीका भी लिखी है जो सर्वत्र प्रसिद्ध है और बड़े गौरवके साथ देखी जाती है। इस ग्रंथकी निम्नलिखित दो गाथाओं और उनकी संस्कृतटीका परसे उक्त प्रश्नका अच्छा समाधान हो जाता है, इसीसे हम उन्हें नीचे उद्धृत करते हैं:—

फलकंदमूलवीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि ।
णच्चा अणेसणीयं णवि य पडिच्छंति ते धीरा ॥९-५९॥

टीका—फलानि कंदमूलानि बीजानि चाग्निपक्कानि न भवंति यानि अन्यदपि आमकं यत्किंचिदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छंति नाभ्युपगच्छंति ते धीरा इति। यदशनीयं तदाह:—

जं हवदि अणव्वीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव ।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति ॥९-६०॥

टीका—यद्भवत्यबीजं निर्बीजं निर्वर्तिमं निर्गतमध्यसारं प्रासुकं कृतं चैव ज्ञात्वाऽशनीयं तद्भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छंति ॥

इन दोनों गाथाओंमेंसे पहली गाथामें मुनिके लिये 'अभक्ष्य क्या है' और दूसरीमें 'भक्ष्य क्या है,' इसका कुछ विधान किया है। पहली गाथामें लिखा है कि जो फल, कंद, मूल तथा बीज अग्निसे पके हुए नहीं हैं और और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ हैं उन सबको अनशनीय (अभक्ष्य) समझकर वे धीरमुनि भोजनके लिये ग्रहण नहीं करते हैं। दूसरी गाथामें यह बतलाया है कि जो बीजरहित हैं, जिनका मध्यसार (जलभाग ?) निकल गया है अथवा जो प्रासुक किये गये हैं ऐसे सब खानेके पदार्थोंको भक्ष्य समझकर मुनि लोग भिक्षामें ग्रहण करते हैं।

मूलाचारके इस संपूर्ण कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट है और अनशनीय कंद-मूलोंका 'अनग्निपक्क' विशेषण इस बातको साफ बतला रहा है कि जैन मुनि कच्चे कंद मूल नहीं खाते परंतु अग्निमें पकाकर शाक-भाजी आदिके रूपमें प्रस्तुत किये हुए कंद-मूल वे जरूर खा सकते हैं। दूसरी गाथामें प्रासुक किये हुए पदार्थोंको भी भोजनमें ग्रहणकर लेनेका उनके लिये विधान किया गया है। यद्यपि अग्निपक्क भी प्रासुक होते हैं, परंतु प्रासुककी सीमा उससे कहीं अधिक बढ़ी हुई है। उसमें सुखाए, तपाए, खटाईनमक मिलाए और यंत्रादिकसे छिन्न भिन्न किये हुए सचित्त पदार्थ भी शामिल होते हैं; जैसा कि निम्न लिखित शास्त्रप्रसिद्ध गाथासे प्रकट है।—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेहिं मिस्सियं दव्वं ।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥

प्रासुकके इस लक्षणानुसार जैन मुनि अग्नि-पक्कके अतिरिक्त दूसरी अवस्थाओं द्वारा प्रासुक हुए कंद मूलोंको भी खा सकते हैं, ऐसा आता है। परंतु पहली गाथामें साफ तौरसे उन कंद मूलोंको अभक्ष्य ठहराया है जो अग्निद्वारा पके हुए नहीं हैं और इससे सूखने, तपने, आदि दूसरी अवस्थाओं द्वारा प्रासुक हुए कंद मूल मुनियोंके लिये अभक्ष्य ठहरते हैं। अतः या तो पहली गाथामें कहे हुए 'अनग्निपक्क' विशेषणको उपलक्षण मानना चाहिये जिससे सूखे, तपे आदि सभी प्रकारके प्रासुक कंद-मूलोंका ग्रहण हो सके और नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि मुनिलोग फलों तथा बीजोंको भी अग्निपक्कके सिवाय दूसरी अवस्थाओंद्वारा प्रासुक होनेपर ग्रहण नहीं कर सकते; क्योंकि गाथामें 'फलमूलकंदबीयं' ऐसा पाठ है, जिसका 'अनग्निपक्क' विशेषण दिया गया है परंतु जहाँ तक हम समझते हैं उक्त अनग्निपक्क विशेषणको उपलक्षणरूपसे मानना ज्यादह अच्छा होगा और उससे सब कथनोंकी संगति भी ठीक बैठ जावेगी। अस्तु; उक्त विशेषण उपलक्षणरूपसे हो या न हो परंतु इसमें तो कोई संदेह नहीं रहता कि दिगम्बर मुनि अग्निद्वारा पके हुए—शाक भाजी आदिके रूपमें प्रस्तुत किये हुए कंद मूल जरूर खा सकते हैं। हाँ, कच्चे कंद-मूल वे नहीं खा सकते। छठी प्रतिमा-धारक गृहस्थोंके लिये भी उन्हींका निषेध किया गया है जैसा कि श्रीसमंतभद्रके निम्नवाक्यसे प्रकट है:—

मूलफलशाकशाखाकरीरकंदप्रसूनबीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥

परन्तु आजकलके श्रावकोंका त्यागभाव बड़ा ही विलक्षण मालूम होता है, वह मुनियोंके त्यागसे भी बढ़ा हुआ है! मुनि तो अग्निद्वारा पके हुए कंद मूलोंको खासकते हैं परन्तु वे गृहस्थ जो छठी प्रतिमा तो क्या पहली प्रतिमाके भी धारक नहीं हैं उनके खानेसे इनकार करते हैं, इतना ही नहीं बल्कि उनका खाना शास्त्र-विहित नहीं समझते! यह सब अज्ञान और रूढ़िका माहात्म्य है!!

२—क्या सभी कंदमूल अनंत-काय होते हैं?

आमतौर पर जैनियोंमें यह माना जाता है कि कंदमूल सब अनंतकाय होते हैं—उनमें एक एक शरीरके आश्रित अनंते जीव विद्यमान हैं—इस लिये हमारे बहुतसे पाठकोंको यह प्रश्न भी कुछ नया सा मालूम होगा। परन्तु नया हो या पुराना, प्रश्न अच्छा है और इसका निर्णय भी शास्त्राधारसे ही होना चाहिए। हम भी ऐसा ही यत्न करते हैं:—

गोम्मटसारके जीवकांडमें, प्रत्येक और अनंत-कायकी पहिचान बतलाते हुए, विशेष नियमके तौर पर एक गाथा इस प्रकारसे दी है:—

मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया॥ १८७॥

इसमें यह बतलाया है कि जिस किसी कंद-मूलादिकके तोड़ने पर समभंग हो जायँ उसे अनंतकाय और जिसके समभंग न हों—बीचमें तंतु रहें, ऊँचा नीचा टूटे—उसे प्रत्येक समझना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि कंदमूल भी दो प्रकारके होते हैं, एक प्रत्येक और दूसरे अनंतकाय। उक्त गाथाके अनन्तर एक दूसरे विशेष नियम-की प्रतिपादक गाथा इस प्रकार है:—

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वावि बहुलतरी।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी॥१८८॥

---

१ यथा शुष्कपक्वध्वस्ताम्ललवणसंमिश्रदग्धादिद्रव्यं प्रासुकं। इति

—गोम्मटसारटीकायां।

१ आदिक शब्दसे छाल, कोंपल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल और बीज समझना चाहिये।

इस गाथामें कंदमूलादिककी छाल (त्वचा) के सम्बंधमें एक विशेष नियम दिया है और यह बतलाया है कि जो छाल ज्यादह मोटी होती है उसे अनंतकाय और जो ज्यादह पतली होती है उस छालको प्रत्येक जानना चाहिए। इससे यह पाया जाता है कि कंदमूलादिक अपने सर्वांगरूपसे अनंतकाय अथवा प्रत्येक नहीं होते, उनमें उनकी छालसे विशेष रहता है—अर्थात्, कोई कंदमूलादिक ऐसे होते हैं जिनकी छाल अनंतकाय होती है परंतु वे स्वयं-भीतरसे अनंतकाय नहीं होते और कोई कोई ऐसे भी होते हैं जो खुद भीतरसे तो अनंतकाय होते हैं परंतु उनकी छाल अनंतकाय नहीं होती, वह प्रत्येक ही रहती है।

इसके बाद गोम्मटसारमें एक अपवाद नियम और भी दिया है और वह यह है कि ये कंद-मूलादिक ('आदि' शब्दसे प्रथम गाथोक्त छाल, कोंपल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल और बीज सभी ग्रहण करने चाहियें) अपनी प्रथमावस्थामें प्रत्येक होते हैं। यथाः—

> जे विय मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ॥

यह नियम इस बातको सूचित करता है कि कंदमूलादिक—चाहे वे समभंग हों या न हों, उनकी छाल मोटी हो अथवा पतली—अपनी प्रथमावस्थामें सब प्रत्येक होते हैं। उत्तरकी अवस्थाओंमें वे प्रत्येक भी होते हैं और अनंतकाय भी और उनकी खास पहिचान ऊपर बतलाई गई है।

नतीजा इस सारे कथनका यह निकलता है कि सभी कंदमूल अनंतकाय नहीं होते, न सर्वांगरूपसे ही अनंतकाय होते हैं और न अपनी सारी अवस्थाओंमें अनंतकाय रहते हैं। बल्कि वे प्रत्येक और अनंतकाय (साधारण) दोनों प्रकारके होते हैं; किसीकी छाल ही अनंतकाय होती है, भीतरका भाग नहीं और किसीका भीतरी भाग अनंतकाय होता है तो छाल अनंतकाय नहीं होती; कोई बाहर भीतर सर्वांगरूपसे अनंतकाय होता है और कोई इससे बिलकुल विपरीत कतई अनंतकाय नहीं होता; इसी तरह एक अवस्थामें जो प्रत्येक है वह दूसरी अवस्थामें अनंतकाय हो जाता है और जो अनंतकाय होता है वह प्रत्येक बन जाता है। प्रायः यही दशा दूसरी प्रकारकी वनस्पतियोंकी भी है। वे भी प्रत्येक और अनंतकाय दोनों प्रकारकी होती हैं—आगममें उनके लिये भी इन दोनों भेदोंका विधान किया गया है—जैसा कि ऊपरके वाक्योंसे ध्वनित है और मूलाचारकी निम्नगाथाओंसे भी प्रकट है, जिनमें पहली गाथा गोम्मटसारमें भी नं० १८५ पर दी है:—

> मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा ।
> संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥२१३॥
> कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवालपुप्फफलं ।
> गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्वकायाय २१४

ऐसी हालतमें कंद-मूलों और दूसरी वनस्पतियोंमें अनंतकायकी दृष्टिसे आमतौर पर कोई विशेष भेद नहीं रहता। अतः जो लोग अनंतकायकी दृष्टिसे कच्चे कंदमूलोंका त्याग करते हैं उन्हें इस विषयमें बहुत कुछ सावधान होनेकी जरूरत है। उनका संपूर्णत्याग विवेकको लिये हुए होना चाहिये। अविवेकपूर्वक जो त्याग किया जाता है वह कायकष्टके सिवाय प्रायः किसी विशेष फलका दाता नहीं होता। उन्हें कंदमूलोंके नाम पर ही भूलकर सबको एकदम अनंतकाय न समझ लेना चाहिये; बल्कि इस बातकी जाँच करनी चाहिये कि कौन कौन कंदमूल अनंतकाय हैं और कौन कौन अनंतकाय नहीं हैं. किस कंदमूलका कौनसा अवयव अनंतकाय है और कौनसा अनंतकाय नहीं हैं, साथ ही यह भी कि, किस किस अवस्थामें वे अनंतकाय होते हैं और किस किसमें अनंतकाय नहीं रहते। अनेक वनस्पतियाँ भिन्न भिन्न देशोंकी अपेक्षा जुदा जुदा रंग, रूप, आकार, प्रकार और गुण-स्वभावको लिये हुए होती हैं। बहुतोंमें वैज्ञानिक रीतिसे अनेक प्रकारके परिवर्तन कर दिये जाते हैं। नाम-साम्यकी वजहसे उन सबको एक ही लाठीसे नहीं हाँका जा सकता। संभव है कि एक देशमें जो वनस्पति

अनंतकाय हो दूसरे देशमें वह अनंतकाय न हो, अथवा उसका एक भेद अनंतकाय हो और दूसरा अनंतकाय न हो। इन सब बातोंकी विद्वानोंको अच्छी तरह जाँच करनी चाहिये और जाँचके द्वारा जैनागमका स्पष्ट व्यवहार लोगोंको बतलाना चाहिये।

ऊपरकी कसौटीसे दो एक कंदमूलोंकी जो सरसरी जाँच की गई है उसे भी हम आज अपने पाठकोंके सामने रखते हैं और आशा करते हैं कि विद्वान् लोग उन पर विचार करके अपनी सम्मति प्रकट करेंगे:—

१—हमारे इधर अदरक बहुत तंतुविशिष्ट होता है। तोड़ने पर वह समभंग रूपसे नहीं टूटता, ऊँचा नीचा रहता है और बीचमें तंतु खड़े रहते हैं। छाल भी उसकी मोटी नहीं होती। ऐसी हालतमें वह अनंतकाय नहीं ठहरता। बम्बईकी तरफका अदरक हमने नहीं देखा, परंतु उसकी जो सोंठ इधर आती है वह 'मैदा सोंठ' कहलाती है और उसके मध्यमें प्रायः वैसे तंतु नहीं होते, इस लिये संभव है कि वह अनंतकाय हो।

२—गाजर भी अक्सर तोड़ने पर समभंग रूपसे नहीं टूटती और न उसकी छाल मोटी होती है। इस लिये वह भी अनंतकाय मालूम नहीं होती।

३—मूलीकी छाल मोटी होती है और इस लिये उसे अनंतकाय कहना चाहिये। परंतु छालको उतार डालने पर मूलीका जो भीतरका भाग प्रकट होता है उसकी शिराएँ, रग रेशे अच्छी तरहसे दिखाई देने लगते हैं, तोड़ने पर वह समभंग रूपसे भी नहीं टूटता। ऐसी हालतमें संभव है कि मूलीका भीतरी भाग अनंतकाय न हो।

४—आलूका ऊपरका छिलका बहुत पतला होता है। अतः वह अनंतकाय न होना चाहिये।

विद्वानोंको चाहिये कि वे भी इसी तरह कंद-मूलादिककी जाच करें और फिर उसके नतीजेसे हमें सूचित करनेकी कृपा करें। हम भी इनकी विशेष जाँच करेंगे और साथ ही दूसरे कंदमूलोंकी भी जाँचका यत्न करेंगे।

हमारी शिक्षा-संस्थाएँ।

(लेखक, श्रीयुक्त बाबूलालजी मास्टर।)

इस बातके बतलानेकी जरूरत नहीं कि जैन-समाजने शिक्षाको अपनी उन्नतिका साधन समझ उसके प्रचारकी ओर ध्यान दिया है, जिसके फलस्वरूप अकेले दिगम्बर सम्प्रदायकी ही २०—२५ वर्षमें अनेक शिक्षासंस्थाएँ नजर आने लगी हैं। इन संस्थाओंसे प्रतिवर्ष अनेक शास्त्री, तीर्थ, विशारद तैयार हो रहे हैं, संस्कृत न्याय व्याकरण साहित्य और धर्मशास्त्रोंके विद्वानोंकी संख्या सैकड़ोंपर पहुँच चुकी है और अब वह समय दूर नहीं है कि जब, हमारे कतिपय विद्वान् नेताओंकी इच्छापूर्तिस्वरूप, जैनसंस्थाओंमें संस्कृत व्याकरणादि पढ़ानेके लिये अजैन विद्वानोंको न ढूँढ़ना पड़ेगा। परंतु यह सब होते हुए भी समाजको शिक्षाविषयक वास्तविक संतोष नहीं हुआ, और यदि इन संस्थाओंकी कार्यप्रणाली ऐसी ही बनी रही तो भविष्यमें भी उक्त संतोषकी आशा करना व्यर्थ है।

थोड़ा भी समय विचार करनेमें लगानेसे विदित हो जायगा कि समाजने शिक्षाकी साधनस्वरूप संस्थाओंको स्थापित कर उनमें लक्षावधि रुपया खर्च करके जो शिक्षाप्रचारका कार्य किया है वह औरोंकी अपेक्षा बहुत ही कम है, इतना ही नहीं, किंतु इन संस्थाओंद्वारा जो पंडित तय्यार हुए हैं वे प्रायः वर्तमान समयसे हजार आठसौ वर्ष पहलेके युगमें विचरण करनेवाले व्यक्ति हैं। इन विचारोंको, अन्य देशोंकी कौन कहे, स्वदेशके ही हुए और होनेवाले परिवर्तनोंका ज्ञान नहीं, उनके हृदयकमलमें इतिहास, गणित, विज्ञान, समाजनीति, अर्थनीति, स्वास्थ्य आदि आवश्यकीय विषयोंकी वायु भी नहीं लगी।

यदि वे कोई काम करना भी सीखे हैं तो वह प्रायः अध्यापकी और उपदेशकी करना है।

और देशोंकी बातको न लेकर जब हम अपने देशवासियोंकी ओर देखते हैं तब हमें चकित होना पड़ता है। अल्पवयस्क आर्यसमाजने थोड़े ही दिनोंमें अपने तथा औरोंके हजारों बालकोंको प्राचीन तथा अर्वाचीन जगत्की बातोंका ज्ञाता बना दिया है। उनके कालेजों, विद्यालयों तथा गुरुकुलोंमें बालक बालिकाओंको धार्मिक और जीवनमें काम आनेवाले अनेक विषयोंकी अच्छी शिक्षा दी जाती है। इन संस्थाओंसे निकले हुए छात्र प्रायः स्वाभिमानी, निर्भीक, देशसेवक और स्वावलम्बी होते हैं। यह सब श्रेय उक्त समाजकी शिक्षापद्धति और संस्थाओंकी शासनप्रणालीको प्राप्त है। उसके यहाँ सामाजिक संस्थाओंमें काम करनेवालोंकी कमी नहीं है। विपरीत इसके जैनसंस्थाओंमें इस बातका अकाल रहता है। हमें बराबर अपनी जैनसंस्थाओंके कार्यकर्त्ताओंसे "पाठशालामें लड़के ही नहीं आते, पंच ध्यान ही नहीं देते, सहायकों पर चंदा बकाया पड़ा है, वेतन थोड़ा है" इत्यादि बातोंका दुखड़ा सुनना पड़ता है। और हजारों लाखोंका ध्रुवफंड रहते भी संस्थासे संतोषप्रद फल नहीं निकलता। यद्यपि हम इन संस्थाओंमें बरबाद होनेवाले रुपयों पर समय समय पछतावा करते रहते हैं, तथापि पंचमकालके माथे सम्पूर्ण दोष मढ़ शिक्षा और प्रबंधकी पद्धतिसे अपरिचित होनेके कारण यही सोचकर खर्चकी धारा बहाये चले जाते हैं कि शालाके रहनेसे भ्रमण करते हुए आनेवाले पंडित या धनी जन हमें कृपण तो न कहेंगे। हमारी पंचमकाल महाराजसे विनय है कि आप इस शिक्षाविहीन जैन जातिपरसे अपनी शनि दृष्टि उठानेकी शीघ्र कृपा कीजिये, ताकि यह जाति अधिक नहीं तो, अपनी ही संतानको पारसी महाराष्ट्र आदि अपने देशभाइयोंके समान तो अवश्य शिक्षित बना सके।

जैनसमाजने विद्याप्रेमियोंके कहनेसे लाखों रुपये शिक्षा प्रचारमें खर्च कर दिये और कर रहा है, इसके एक नहीं अनेक विद्यालय खुल चुके हैं जिनमें सैकड़ों समर्थ और असमर्थ छात्र शिक्षा पा रहे हैं। अनेक छात्रालय भी जारी हो चुके हैं। इतना होनेपर चाहिये तो यह था कि समाज अपने कृत्यपर प्रसन्न होता और इस परमोपयोगी कार्यमें अधिक भाग लेता। परंतु ऐसा नहीं हुआ। वह दिनोंदिन उदास होताजाता है। जहाँ पाठशालाओंकी चर्चा छिड़ी कि लोगोंके चेहरेपर उदासी झलकी। चंदेकी बात उठी कि खिसकनेका नंबर जारी हुआ। बड़ी कठिनाईसे रुपयेके देनेवाले आने दो दो आने चिट्ठेपर चढ़ाते हैं। पाठशालाओंसे लोग इतना क्यों चिढ़ते हैं? सहायता देनेमें क्यों आगा पीछा करते हैं? यदि ऐसा कहा जावे कि वे अपने बालकोंको पढ़ाना नहीं चाहते, अथवा उनके मनमें कृपणता बहुत बढ़ गई है, तो यह ठीक नहीं जँचता। कारण कि, ऐसे बहुतसे जैनी अपने लड़के लड़कियोंको, शिक्षा दिलानेके लिये, सरकारी पाठशालाओंमें भेजते हैं और उनकी रुचि विद्याभ्यासमें बढ़ानेके लिये उन्हें प्रतिदिन मिठाई, फल, पैसा आदि देते रहते हैं। प्रतिवर्ष रथ चलाने, मंदिर बनवाने, जीर्णोद्धार करने, औषधालय स्थापित करने और जीवदयाका प्रचार करने आदि धर्मकार्योंमें भी जैनी बहुत कुछ धन खर्च करते हैं, इससे उनमें विद्याप्रेमका अभाव अथवा दानशीलताकी कमी कहना भारी भूल करना है।

जैनियोंकी उदासीनताका कारण क्या है, इसकी खोज करनेकी ओर अभी समाजने ध्यान नहीं दिया। समाजमें विद्वानोंके दो प्रधान दल हैं एक पंडितदल दूसरा बाबूदल। ये

दोनों दल अपनी ही धुनमें मस्त हैं । जब सुनो तब इनसे यही सुननेको मिलता है कि अभी विद्यालय थोड़े हैं, लोग अपने लड़कोंको पढ़नेके लिये नहीं भेजते । बाबुओंको बिना दस बीस जैन हाईस्कूल और चार छे जैन-कालेज खुले समाजकी उदासीनता घटनेकी आशा नहीं दिखती । उनको रात दिन यही धुन रहती है कि समाजमें ग्रेज्युएटोंकी संख्या खूब बढ़ाई जावे और यह तभी हो सकेगा जब जैन हाईस्कूल और कालेज काफी संख्यामें खुलेंगे । शिक्षाप्रचारक विद्यालय, कालेज आदिकी वृद्धि और स्थापनासे लाभ तो अवश्य होगा परंतु इन दोनों दलवालोंने अभीतक इसका विचार नहीं किया है कि उस लाभसे समाजकी शिक्षाविषयक उदासीनतामें कितनी कमी होगी । हमारी उदासीनता • वास्तवमें उस समय घटेगी जिस समय हमारी संतानको उपयुक्त व्यावहारिक शिक्षा देनेवाली संस्थाओंकी स्थापना होकर उनका परिचालन भलीभाँति होने लगेगा ।

हम वणिक् हैं, हमारी जीविकाका द्वार वाणिज्य है, जिन्दगीमें पद पद पर काम पड़नेवाले (जीवोंके ग्यारहवें प्राण) धनकी प्राप्तिका हमारा प्रतिष्ठित और सुखसाध्य मार्ग व्यापार ही है । व्यापारियोंका ही हमारे यहाँ अधिक मान है । अपरिचित व्यक्तिके परिचयके लिये हम उसके शास्त्रज्ञानकी विशेष पूँछताछ न करके प्रायः उसके व्यवसायको ही पूँछा करते हैं । अपरिमित साहित्यका ज्ञाता और अतुलनीय बलशाली जैनी यदि व्यापारमें पटु नहीं है तो हम उसका प्रायः उतना मान नहीं करते जितना कि इन दोनों गुणोंसे शून्य व्यापारकुशल व्यक्तिका करते हैं । पैतृक सम्पत्ति पानेवाले धनिक जैन भले ही व्यापार न करें, अपने कारोबारका सम्हालना और हिसाब किताबका लिखना वे भले ही न जानें; परंतु साधारण स्थितिवालोंका बिना व्यापार किये अथवा हिसाब-किताब लिखे काम नहीं चलता, अतएव हमारे लिये व्यापारिक शिक्षा परम आवश्यक है और यही कारण है कि अपनी शिक्षासंस्थाओंमें इसका अभाव देखकर हम लोग उनसे उदासीन होते जाते हैं ।

हम लोग अपने लड़कोंको पढ़ानेमें लाभ तो समझते हैं परंतु उच्च शिक्षा दिलानेमें प्रमादी हैं । अपनी निजी शालाओंमें व्यावहारिक विषयोंकी शिक्षाकी कमी देख वहाँ बालकोंको भेजनेमें विशेष लाभ नहीं समझते । जब कोई हमसे कहता है कि लड़का मिडिल पास हो गया है इसे अब हाईस्कूलमें क्यों नहीं भेजते, तो हमसे यही कहते बनता है कि क्या हमें उससे नौकरी कराना है ? कामलायक उसने पढ़ ही लिया है, अब दुकानमें बैठाल कर व्यापार सिखायँगे । यद्यपि हम उच्च शिक्षासे अनभिज्ञ हैं तथापि हमारा उपर्युक्त कथन सारहीन नहीं है । हम प्रतिवर्ष देखते हैं कि हमारे यहाँ हाईस्कूलों और कालेजोंकी परीक्षाओंमें बैठे हुए छात्र निर्वाहके लिये नौकरी ढूँढ़नेमें घोर परिश्रम करते हैं, नौकरी चाहे वह कितने ही परिश्रमकी क्यों न हो परंतु हो ऐसी जिसमें कुरसीपर बैठना और टेबिल पर कागज रखकर लिखनेको मिले । ये विचारे वैसे भी इतने कमजोर और साहसहीन हो जाते हैं कि यदि कहीं परीक्षामें फेल हो गये तो महीनों रोते रहते हैं और कई एक तो विद्याभ्यासको ही तिलांजलि दे बैठते हैं । शिक्षाविभागने पठनक्रममें साहित्य गणित भूगोल आदिकी भरमार तो कर दी है परंतु पढ़नेके पश्चात्, हमें ही नहीं किंतु अन्य व्यवसायवालोंको भी उनसे कितनी कम सहायता मिलती है उसे सभी जानते हैं । अपने घरमें लाखोंका व्यापार होते हुए भी, एक सिंघईजीको बी० ए० तक पढ़नेके बाद साधारण वेतन पर स्कूल मास्टरका कार्य करते देख हमने अपनी उपर्युक्त

कल्पनाको यदि ठीक समझ लिया तो इसमें हमारा दोष ही क्या है? यथार्थमें हम उच्चशिक्षाके विरोधी नहीं हैं, विरोधी हैं तो केवल आजकलकी शिक्षाप्रणालीके। क्यों कि उसके द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेमें हमें जितना अर्थव्यय करना और कष्ट उठाना पड़ता है उतना लाभ नहीं होता। इसीसे हम उच्च शिक्षा प्राप्त करानेमें प्रमादी बन रहे हैं और यही कारण है कि हम, अपनी उदासीनताके इस वास्तविक कारणको ठीक तौर पर न जतला सकनेकी वजहसे, शिक्षाकी चर्चा छिड़ते ही 'मौनी बाबा' बन जाते हैं।

जिस समय शिक्षाका अभाव कह कर समाजमें शिक्षाप्रचारके लिये आन्दोलन जारी किया गया था उस समय लोगोंको यही सूझी थी कि जहाँ तहाँ संस्थाएँ खुलनेसे शिक्षाका प्रचार हो जायगा। उनकी इस भोली समझने ही उन्हें आज इस परमोपकारी कार्यसे उदासीन बना दिया है। वे बेचारे तो संस्थाओंकी पठन-प्रणाली रचने और उनके प्रबंध करनेका भार पंडितोंपर रखकर इस आशासे निश्चिन्त हो गये कि ये लोग हमारी आवश्यकताओंको अवश्य दूर करेंगे, परंतु उनकी वह आशा सफलीभूत नहीं हुई। पंडितोंने जिस पाठ्यप्रणालीका आश्रय लिया वह उस समाजकी थी जिसके यहाँ पठन, पाठन, यज्ञ, हवन आदि धार्मिक कृत्य करने तथा वादविवादमें पांडित्य प्रकट करने योग्य ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे ही जीवकी जीविका चलती और अंतमें जीवका उद्धार होना माना जाता है। साथ ही, इन कृत्योंके करनेपर ही उस समाजके व्यक्तियोंकी प्रतिष्ठा होती है। परंतु हमारी समाजमें यह बात नहीं है। हम लोग भगवानकी पूजा स्वयं करते हैं, भगवानके निकट अपनी प्रार्थना किसी दूसरे व्यक्तिके द्वारा पहुँचाना अच्छा नहीं समझते, बल्कि धार्मिक कृत्योंको मिहनताना लेकर करनेवाले सजातीय भाईयोंको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। हमारे यहाँ तो प्रायः मुनि और गृहत्यागी श्रावक ही गृहस्थोंसे भोजन, शास्त्र तथा पिच्छी आदि ग्रहण करनेके अधिकारी हैं। यही कारण है कि ब्राह्मणोंकी पद्धतिका अनुकरण करनेवाले हमारे पंडितजन इन संस्थाओंसे समाजको संतोषित करनेमें विफल हुए हैं। परंतु अब इन लोगोंको अपने कामकी समालोचना करनेमें प्रमादी न होना चाहिये, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है।

कला बहत्तर पुरुषकी, तामें दो सरदार।
एक जीवकी जीविका, दूजी जीव उद्धार॥

जबतक नीतिके इस दोहेपर ध्यान देकर काम न किया जायगा तबतक जातिमें शिक्षाका प्रचार होना असम्भव है। उसे आजकलके विद्यालयोंमें धार्मिक शिक्षाके साथ व्यावहारिक शिक्षाका प्रबंध करना होगा और अपनी ज्ञानप्रसार चाहनेवाली इच्छाको पूर्ण करनेके लिये ऐसे मिडिलस्कूल (पाठशाला), हाईस्कूल (विद्यालय), कालेज (महाविद्यालय) खोलने पड़ेंगे जिनमें जीविकाके साधनोंकी शिक्षा प्रधानतः देशभाषामें दी जाय। प्राचीन जैनसाहित्यके जाननेके लिये प्राकृत, संस्कृतादि भाषाएँ और शासकों तथा विदेशीव्यापारियोंसे व्यवहार करनेके लिये अँगरेजीभाषा सीखनेकी भी आवश्यकता है परंतु वह उतने ही अंशमें, जितनेसे दूसरेके भाव समझ सकें और अपने दूसरों पर प्रकट कर सकें।

वर्तमानमें जैनियोंकी जितनी शिक्षा संस्थाएँ हैं वे सब स्वतंत्र हैं और अपनी अपनी ढफली अपना अपना राग आलापनेमें मस्त है। उनके प्रबंधक और कार्यकर्त्ता अपनी अपनी संस्थाकी पढ़ाई और व्यवस्थाकी सदैव प्रशंसा ही किया

करते हैं। यदि कभी किसीके कहनेसे उन्हें संस्थामें किसी प्रकारकी त्रुटि स्वीकार करनी पड़ती है तो उसका कारण वे धनाभाव बतलाकर दोषमुक्त हो जाते हैं। इन संस्थाओंमें पारस्परिक सम्बन्ध न होनेसे एक बड़ी हानि यह हो रही है कि इनमें काम करनेके लिये योग्य व्यक्ति व पढ़नेके लिये योग्य छात्र नहीं मिलते। कहीं कहीं तो साल भरमें तीन तीन चार चार पाठकोंका परिवर्तन हो जाता है। पाठ्य ग्रन्थोंका यह हाल है कि शालाके प्रारम्भसे जारी हुए ग्रंथ हानिलाभ पर ध्यान दिये बिना अबतक पढ़ाये जा रहे हैं और कहीं कहीं सालमें एक ही विषयके तीन तीन ग्रंथोंका परिवर्तन हो जाता है। प्रबंधका विचित्र ही हाल है। शुद्धाम्नायियोंकी विशुद्ध संस्थाओंकी प्रबंधकारिणी सभाओंमें अजैनोंका चुनाव ही नहीं होता; यदि भूलसे किसी अभागिनी संस्थामें हो भी जावे तो लोग उसकी सम्मतिमात्र सुनते हैं, उसके अनुकूल कार्य करनेमें उन्हें सदैव संस्थाके मिथ्यत्विनी बननेका डर लगा रहता है। अजैन पंचने पाठ्य ग्रंथ, प्रबंध, पाठककी नियुक्ति, पृथक्त्व आदिके विषयमें कितनी ही अच्छी सलाह क्यों न दी हो, वह अपनी सम्मतिके अनुकूल नि:स्वार्थ भावसे काम करनेको कितना ही तैयार क्यों न हो जावे, परंतु अजैनोंको मिथ्यात्वकी ही मूर्ति समझनेवाले हमारे जैनीभाई अपने इस पंचकी बात पर चलनेका साहस नहीं कर सकते। "समय क्या बतला रहा है, हमारे पड़ोसी अपनी अपनी उन्नतिके लिये क्या क्या कर रहे हैं, उन्नतिपथमें दूसरी जातियों तथा धर्मोंवाले हमसे कितने आगे बढ़ रहे हैं" इन बातोंको अव्वल तो, सबेरेसे आधी राततक व्यापार धंधोंमें फँस रहनेके कारण, हमें जाननेकी फुरसत ही नहीं मिलती, दूसरे हमें सदैव अपनेको साधुओंके स्थानापन्न माननेवालोंके मुँहसे यही उपदेश सुननेको मिलते हैं कि "भाई मिथ्यात्वियोंकी बातोंमें क्या धरा है, अपनेसे जो बने सो करो, इस पंचम कालमें उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है।" आदि अपने गुरुओंके ऐसे वचनामृतोंसे हमारी हार्दिक संकीर्णता सदैव बलवती बनी रहती है। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि एक पाठशालामें व्यापारिक शिक्षा दिलानेके पक्षपाती अजैन पंचकी सम्मति मानकर कार्य करनेकी तैयारी देख हमारे एक बाबाजीको यह चिंता हो गई थी कि कहीं ऐसा न हो कि ऐसी सलाह देनेवाले महाशयके फेरमें पड़कर गरीबिनी पाठशालाके माथे जैनपाठशालाके बदले महाजनी पाठशालाके कुनामका धब्बा लग जावे। इसी आशंकासे शंकित हो आपने खूब उछल कूद मचाई, जिससे फल वही हुआ जो होना चाहिये था, अर्थात् अजैन पंचोंने उस पाठशालाके काममें योग देना बंद कर दिया और पाठशाला उनकी संगतिसे बढ़नेवाले परिग्रहके पापसे बच गई!

हमारी रायमें समाजको अब अपने इन कुसंस्कारोंको दूर कर देना चाहिये।

उसे अपने धनिक भाईयोंकी सम्पत्तिके रक्षणार्थ और निर्धनोंकी सुखसाध्य जीविका बनानेके लिये व्यापारिक विद्यालय खोलनेमें बिलम्ब न करना चाहिये। देशमें निर्धनताकी बाढ़ जोरों पर है, महँगाई मुँह फाड़े गरीबोंकी ओर बढ़ रही है, जैनसमाजमें गरीबोंकी संख्या भी कम नहीं है, इससे अब शिक्षाकार्यको बड़ी सावधानताके साथ चलानेका समय है। दुःखकी बात है कि अपने धनिक भाईयोंके यहाँ मुनीम मुख्तारगारीके सैकड़ों स्थान खाली होने पर भी इन पदों पर काम करनेकी योग्यता न रखनेसे तथा नाना प्रकारके व्यापारोंको देखते हुए भी उद्योगधंधोंके ज्ञानसे शून्य

होनेके कारण हजारों जैनी बंजी और मजदूरी सरीखे घोर परिश्रमसाध्य पेशोंको कर रहे हैं; परंतु तो भी इनका "नो खाये तेरहकी भूख" से नाता नहीं टूटता। ये समाजके तीन चौथाई भागको दबाये बैठे हैं। इनकी उन्नतिसे ही समाजकी उन्नति है। धनिक भागसे इनका घनिष्ठ सम्बंध है, इस कारण डर है कि कहीं द्रव्योपार्जनके साधनों और शक्तिके अभावमें ये गरीब शाखामृग बने रहकर अपने धनी सम्बन्धियोंके सम्पत्ति-बागको चट न कर जावें। कहावत है कि "सूखा ईंधन गीलेको लेकर जल जाता है।" धनिक कहाँ तक हाथ सिकोड़ेंगे? देनेकी इच्छा तथा सामर्थ्य न होते भी दया और लोकलाजके दबावसे दबने पर कुछ न कुछ देना ही पड़ेगा। इससे श्रीमानोंको चाहिये कि शीघ्र समयोपयोगी शिक्षासंस्थाएँ स्थापित करें और विद्वानोंको चाहिये कि शास्त्री और ग्रेजुएटोंके बनानेकी धुनको कम करके इन गरीबोंको व्यापारिक (औद्योगिक) शिक्षा देनेका शीघ्र प्रबंध करें।

संस्थाओंसे सम्यक् फल प्राप्त करनेके लिये उनकी व्यवस्था और पाठ्यप्रणालीको सम्यक् बनाना आवश्यक है। व्यवस्थाके लिये शिक्षापद्धतिके ज्ञाता, चतुर, उद्योगी और समयानुकूल व्यवहार करनेवाले अध्यापकोंकी खोज होनी चाहिये, और संस्थाको ऐसे पंचोंके हाथोंमें सौंपनेकी जरूरत है जो उन अध्यापकोंके कार्योंका भले प्रकार निरीक्षण करने और उन्हें समय समय पर निर्दिष्ट तथा यथोचित सहायता देनेके लिये तैय्यार हों। विना ऐसा किये अब काम नहीं चलेगा। आवश्यकीय विषयोंका निर्धार कर उनपर विद्वानोंद्वारा ग्रंथ लिखवानेसे ग्रंथोंका अभाव दूर हो सकता है।

और प्रान्तोंकी अपेक्षा बुंदेलखंड और मध्यप्रांत शिक्षामें बहुत पीछे हैं। यहाँ अक्षर और अंक ज्ञानवाले जैनी भाई सैकड़े पीछे २०-२५ भले ही मिल जावें, परंतु जिन्हें सभ्य समाज शिक्षित कह सके ऐसे व्यक्ति सैकड़ेमें एक दो ही मिलेंगे। इन्हीं दोनों प्रांतोंमें परवार, गोलापूरब, गोलालारे भाइयोंका बहुतायतसे निवास है। इससे परवार महासभा अथवा मध्यप्रांत बुंदेलखंड प्रांतिक सभाको अधिक नहीं तो, एक ऐसे विद्यालयकी स्थापना अवश्य करनी चाहिये जिससे पाठशालाओं और विद्यालयोंमें काम करनेके लिये अध्यापक तैयार होवें, तथा व्यापारी और व्यापारियोंके यहाँ काम करनेवाले मुनीम मुख्तार भी तैयार होवें। यद्यपि ऐसे विद्यालयको स्थापित करना और उससे इच्छित फल पानेके लिये उसे भली भाँति चलाना कष्टसाध्य कार्य है, तथापि वह असाध्य नहीं है। हमारे धनिक बंधुओंके दिलमें यदि आ जाय तो वे आर्थिक सहायता देकर सहजहीमें इसे स्थापित कर सकते हैं और विद्वान् भाई अपने मित्र अजैन विद्वानोंकी सहायता लेकर उसे सहजमें चला सकते हैं। अब समय बदल गया है। लोग धार्मिक उत्सवोंमें भिन्नधर्मावलम्बियोंको, मिथ्यात्वी नास्तिक आदि कहकर, बुलाने और सम्मति लेनेके विरोधी भाइयोंको तुच्छ दृष्टिसे देखने लगे हैं। फिर शिक्षा सरीखे व्यावहारिक और आवश्यकीय कार्यमें अपने अनुभवी, शिक्षातत्त्वज्ञ अजैन बंधुओंकी सम्मति और सहायतासे वंचित रहना यह कौनसी अक्लमंदी है? अतः इस प्रस्तावित औद्योगिक विद्यालयकी प्रबंधकारिणी सभामें ऐसे ही व्यक्तियोंको नियत करना चाहिये जो समाजकी स्थिति और सामयिक बातोंके जानकार होनेके सिवाय उद्योगी और शिक्षातत्त्वज्ञ हों, चाहे वे जैन हों या अजैन।

पुस्तकालयोंकी सहायता।

(ले०—गुलाबचंद जैनवैद्य, अमरावती।)

"सार्वजनिक पुस्तकालय जनसमुदायके विश्वविद्यालय हैं।"

वास्तवमें देखा जाय तो जितना लाभ पुस्तकालयों द्वारा हो सकता है, उतना अन्य संस्थाओं द्वारा नहीं हो सकता। अन्य विद्यासंस्थाओंसे शिक्षा केवल विद्यार्थियोंको ही मिलती है दूसरोंको नहीं। परंतु पुस्तकालयोंसे समाजकी प्रायः सभी व्यक्तियोंको शिक्षा मिला करती है। पुस्तकालयके द्वारा बच्चोंसे लगाकर वृद्ध अवस्थातकके सभी स्त्री पुरुष समरूपमें अपनी इच्छानुसार ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। संसारमें ज्ञानप्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ और सहज उपाय पुस्तकालय ही है। पुस्तकालयोंके समान उदारतापूर्वक ज्ञानामृतकी वर्षा करनेवाला दूसरा कोई भी उपाय इस समय नहीं है। जिस देश, समाज और जातिमें पुस्तकालयोंका आदर है, जहाँपर असंख्य पुस्तकालय विद्यमान हैं और जहाँके कार्नेगी सरीखे महा धनकुबेर अपनी अटूट संपत्तिको रूढ़ियोंके प्रवाहमें न बहाकर समयोपयोगी आवश्यकीय कार्योंमें दान करते हैं, वह अमेरिका देश, वहाँका समाज और जाति कैसे अज्ञ और धनहीन रह सकती है? नहीं कदापि नहीं। 'सार्वजनिक पुस्तकालय मनुष्यसमाजके धर्ममंदिरोंसे बढ़कर हैं,' 'सार्वजनिक पुस्तकालय मानव समुदायके विश्वविद्यालय हैं,' ऐसी जहाँके देशवासियोंकी मनोभावनाएँ हैं, फिर वह देश कला, कौशल्य, विज्ञानादिका महान् केंद्र तथा धनवैभवसंपन्न रहा, तो इसमें क्या आश्चर्य है। जिस समय हमारे भारतवर्षमें तथा हमारे जैनसमाजमें इसी प्रकारकी उच्च भावनाएँ थीं उससमय हमारे धार्मिक और लौकिक वैभवको देखकर अन्य धर्म और देश मारे लज्जाके नतमस्तक दिखाई देते थे। लेकिन दुःखकी बात है, कि कुछ शताब्दियोंसे हमारा जैनसमाज ग्रंथालयोंके महत्त्वको बिलकुल भूल गया। इसीसे ऐसी हीन और शोचनीय दशा हो गई।

हमारे प्राचीन जैन महर्षियोंने दशधर्मके स्वरूपमें चार प्रकारका त्याग (दान) बतलाया है, उसमें शास्त्रदान भी है। इस शास्त्रदानमें तीनों (आहार, औषध और अभय) दान गर्भित हो जाते हैं। अनेक विद्वान् शास्त्रदानको विद्यादानमें गर्भित कर विद्यादानकी ही महिमा गाते हैं। समाजमें विद्याका अभाव देखकर उनका आलाप एक प्रकारसे उचित भी है। किन्तु वास्तवमें शास्त्रदानका अर्थ शास्त्रालयोंका निर्म्माण करना है। ग्रंथालयोंके द्वारा धर्मका प्रचार और सामाजिक उन्नति बहुत कुछ हो सकती है। इसी लिए हमारे पूर्वज जिनमंदिरोंके साथ साथ ग्रंथसंग्रहालय (शास्त्रभंडार) स्थापित करते आए हैं। परन्तु खेद है कि हमारे ही जैनसमाज पर विशेष कर परिवार जाति पर रूढ़ियोंका, भेड़ियाधसान बुद्धिके अंधेरका और मानकषायका इतना आक्रमण हुआ है कि उसके द्वारा समाजका सत्त्व नष्ट हो गया। रूढ़ियोंने उसे अपना दास बना लिया, भेड़ियाधसान बुद्धिने समाजमें अपना आडंबर फैलाया और इसी आडंबरके द्वारा मानकषाय प्रज्वलित हो गई। इन त्रिकूटोंके एकत्र होनेसे धड़ाधड़ मंदिरोंपर मंदिर बनने लगे। फिर किसीका लक्ष्य शास्त्रोद्धारकी तरफ नहीं गया। इन त्रिकूटोंके आक्रमणसे मंदिर बनवाने और रथ चलानेका उद्देश भ्रष्ट होता गया। यहाँतक कि जहाँपर अनेक मंदिर होनेके कारण नये मंदिरोंकी किंचित् भी आवश्यकता नहीं थी

वहाँपर अनेक और भी नये नये मंदिर तैयार हो गये, जिनमें पूजा तक नहीं होती। तीर्थोंके अतिरिक्त कहीं कहीं पर इतने मंदिर हैं जितने कि वहाँपर जैनियोंके घर भी नहीं हैं। इतने पर भी प्रत्येक मंदिरमें बहुसंख्यक प्रतिमाएँ हैं जिनकी सँभालतक नहीं होती। पुराने जीर्ण-शीर्ण मंदिर नष्ट भले ही हो जावें, पर हमारी जातिके धनिक सज्जन,और पंचायतियोंके मुखिया अपने द्रव्यका व्यय घरके कार्योंमें अर्थात् संतानोंकी ब्याह सगाईमें, वेश्याओंके नाच मुजरोंमें करते हैं और या धार्मिक दृष्टिसे नये मंदिर बनवाकर रथप्रतिष्ठा आदिमें करते हैं। रूढ़ि, भेड़ियाधसान बुद्धि और मानकषाय इन त्रिकूटोंके कारण पदवियोंके लिये, अथवा बुढ़ापेमें ब्याह शादी करके संतानोत्पादनके लिये हमारे धनिक और मुखिया लोग इतने लालायित रहते हैं, कि मेरे पास उसके लिखनेके लिये शब्द नहीं हैं। सिंघई बनना मानों इंद्रका सिंहासन प्राप्त करना है। जो विशेष श्रीमान् हैं उनकी इच्छा केवल सिंघई पदवीसे ही तृप्त नहीं होती, किन्तु वे उत्तरोत्तर और भी विशेष पदवियोंकी आकांक्षा रखते हुए सिंघईसे सवाईसिंघई, सेठ, सवाई सेठ, श्रीमंत सेठ और महा महा श्रीमंत सेठ बननेके लिये लालायित रहते हैं। इन्हीं मंदिरोंकी अधिकताको देखकर 'बऱ्हाड़-शालापत्रक' के संपादकने "जैनपंथाची माहिती" शीर्षक लेखमें इधर उधरकी बातें लिख कर जैनियोंके कार्यकी विवेचना करते हुए मंदिरोंके निर्माणरूपी एक बड़ेभारी कार्यका दिग्दर्शन कराया है। उन्होंने लिखा है "जैनियोंका आज तकका कर्त्तव्य कर्म मंदिरोंके निर्माण करनेका ही रहा है।" आप लोगोंको शायद इस परसे स्वाभिमान उत्पन्न हो, पर स्वाभिमानकी बात नहीं, यह हृदयभेदक कटाक्ष है। कटाक्ष न भी हो तो क्या यही हमारे कर्त्तव्यकी परम सीमा है? हमको लज्जा आनी चाहिए कि अन्य लोग हमारा कार्य केवल मंदिरनिर्म्माण करनेका ही बतलाते हैं! हमारे पास इसका उत्तर भी क्या है? यदि हमने कोई अन्य आर्थिक महत्कार्य किया होता, सार्वजनिक हितका कार्य स्थापित किया होता, या किसी सार्वजनिक कार्योंमें योग दिया होता तो आज हमें यह आक्षेप न सुनना पड़ता। हमारी कौमके मुखिया और धनिक लोगोंकी दातृत्वलालसाका श्रेय इन त्रिकूटोंको ही मिलना चाहिये। इसी लिये ये लोग न तो समयकी आवश्यकताको जानते हैं और न द्रव्यका उपयोग करना ही इन्हें आता है। ये तो केवल इन त्रिकूटोंके शिकार बन गये हैं। ये बातें कुछ वर्ष पहलेकी हैं। वर्तमानसमयका प्रवाह पहलेके समान जोरों पर नहीं है, तब भी प्रतिवर्ष दो चार नये मंदिरोंके निर्माणके साथ साथ रथप्रतिष्ठाएँ भी होती ही रहती हैं। अब भी हम लोग नहीं चेतते। यद्यपि नये मंदिर बनाना कम हो गया है, तथापि उसके बदलेमें लोग मंदिरोंकी मीनाकारी आदि अनेक सजावटके कार्योंमें बेहद रुपया खर्च करते रहते हैं। इन्हीं कार्योंके सबबसे हमारी वर्तमान संस्थाएँ जर्जरित अवस्थामें अपना जीवन व्यतीत कर रही हैं। हमारी परंपरागत रूढ़ियों, भेड़ियाधसान बुद्धि और मान कषायके कुसंस्कार जैनसमाजके धनिकोंको अपने कर्तव्यपथ पर आरूढ़ नहीं होने देते। यदि ऐसी ही अवस्था बराबर बनी रही तो भविष्यत्में वर्तमानकी अनेक संस्थाएँ मृत्युमुखमें पतित हुए विना न रहेंगी और समाजको उन्नतिके बदलेमें हानि ही उठानी होगी।

वर्तमानमें जितनी प्रसिद्ध जैनसंस्थाएँ हैं उनका उद्देश विद्यार्थियोंको धार्मिक और लौकिक शिक्षा देनेका है। वे अपने उद्देश्यकी पूर्ति

अनेक अंशोंमें कर भी रही हैं, परन्तु जबतक समाजमें बच्चोंसे लगाकर वृद्ध अवस्थातकके सभी स्त्रीपुरुष शिक्षित न होंगे तब तक उन्नति होना एक बड़ा ही विकट कार्य है। अभी हमारे समाजमें ऐसे बहुसंख्यक स्त्रीपुरुष विद्यमान हैं जिन्हें एक अक्षर भी पढ़ना लिखना नहीं आता। अब बतलाइये, ऐसी अवस्थामें, वे कहाँतक अपनी संतानोंको शिक्षित बनानेके विचार रखते होंगे। हमारे हुल्लड़ मचानेसे भले ही कुछ बालक स्कूलोंकी प्रवेश कक्षाओंतक पढ़ा लिये जायँ, पर इतनेसे ही विद्यार्थी शिक्षित नहीं हो सकते। शिक्षाके लिये योग्य आचरण और बुद्धिके विकासकी आवश्यकता है और इसकी पूर्ति विना मातापिताके सुशिक्षित हुए कदापि हो नहीं सकती। इन सब त्रुटियोंको दूर करने और समाजके प्रत्येक स्त्रीपुरुषको शिक्षित बनानेके लिये ग्राम ग्राम तथा नगर नगरमें **नूतन ढंगके सार्वजनिक जैनपुस्तकालयों-की और प्रान्तप्रान्तमें एक बृहत् ऐति-हासिक ग्रंथसंग्रहालयकी बहुत बड़ी आवश्यकता है।**

अमेरिकाके एक श्रीमानकी इच्छा कोई भारी रकम अपने निवासस्थानके पुस्तकालयको दान करनेकी हुई। उसके सलाहकारोंने उसके दिलमें अनेक संशय पैदा कर दिये। उन्होंने अनेक संस्थाएँ बतलाईं। किसीने कहा अस्पतालमें दान करो—अर्थात् औषधदान दो, किसीने कहा देवालय बनवा दो; कोई कहने लगा अनाथालयको क्यों नहीं देते जिसमें आहार और अभयदानादि अनेक लोकोपकारी कार्य शामिल हैं, कुछ लोगोंने पूछा कि यंगमेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन आदि अनेक दानपात्र संस्थाओंके होने पर भी केवल पुस्तकालयको आप क्यों दान देते हो? इसप्रकारके अनेक प्रश्न उसके मित्र और सलाहकार करते थे और उसे समझाते थे। परन्तु उसने एककी भी न मानी और उपर्युक्त नाना प्रकारकी शंकाओंसे परिपूर्ण एक पत्र न्यूयार्क-पुस्तकालयविभागको लिखा और पूछा कि पुस्तकालयको दान करना कहाँतक आवश्यक और उपयुक्त है? उसके पत्रका समाधानकारक उत्तर 'न्यूयार्क लायब्रेरीज' नामके मासिकपत्रके संपादकने पुस्तकालय-विभागकी तरफसे निम्न प्रकार दिया है। इसी प्रकारके संदेह अनेक लोगोंके मनमें बारबार उठा करते हैं। यह जानकर संपादक महोदयने इस उत्तरको सर्वसाधारणरूप दिया है और यह संपूर्ण उत्तर पाठकोंके लिये 'लायब्रेरी मिसेलेनी' से यहाँ उद्धृत किया जाता है,—

संपादक महोदय लिखते हैं, कि किस प्रकारके सार्वजनिक कार्यको सहायता करना चाहिए; इसका दृढ निश्चय करनेके लिये प्रत्येक कार्यके भले बुरे स्वरूपका भलीभाँति अवलोकन करनेका हक्क दातारोंको है। उसमें अन्य लोगोंको अपने स्वयं स्थिर किये मत बिलकुल सत्य हैं ऐसा कहनेका यद्यपि अधिकार नहीं है, तथापि "पुस्तकालयकी ही सहायता करें" यह जो हम आग्रह करते हैं, उसमें जितनी उपयुक्तता है वही दिखानेका हमारा विचार है। वह युक्ति-वाद इस प्रकार है—

१—प्रथम यह ध्यानमें रखना चाहिए कि पुस्तकोंके द्वारा मनके भीतर जो विचार, जितनी जितनी भावनाएँ और जिस जिस प्रकारके ध्येय होते हैं, उनके योगसे मनुष्यजीवनमें परिवर्तन होते हुए, एक प्रकारकी जीवनशक्तिका संचार और मानव-जीवनका जो विकास होता है वैसा प्रत्यक्ष और स्थिर रहनेवाला परिणाम अन्य किसी कार्यके द्वारा नहीं होता। प्रत्यक्ष धर्मोंका अस्तित्व भी बायबल, कुराण, वेद आदि धार्मिक ग्रंथों द्वारा ही है। मनुष्य जीवनका जितना भला या

बुरा संचालन होना संभव है वह ग्रंथों द्वारा जितना सहजसाध्य होता है उतना अन्य किसी द्वारा नहीं बन सकता । जीवित और स्फूर्तिदायक ग्रंथसंग्रहालयमें जैसी शक्ति और सामर्थ्य है वैसी भला अन्य किस संस्थामें है ?

२—'धर्मादाय' विभागमें आनेवाली जितनी संस्थाएँ हैं उनमें पुस्तकालयही एक ऐसी संस्था है जिसके सम्बंधमें मि० कार्नेगी सरीखे महा दानवीर पुरुषने कहा है "यह किसीको कुछ भी मुफ्त नहीं देती और न भिखारी बनाती है।" दान करना एक बड़ा बिकट और धोखेका कार्य है । किसीका भी सांपत्तिक कल्याण किया जाता है तो उसकी स्वतंत्रता, आत्मविश्वास, उपकार बुद्धि आदि गुण कुछ कुछ परिमाणमें तो अवश्य ही हुए विना नहीं रहते; और इन सब गुणोंका मूल्य मिले हुए दानकी अपेक्षा बहुत अधिक होनेके कारण वे गुण उससे न छुड़ाकर उसका कल्याण करना महा विकटसे विकट है । अस्पताल, यंगमेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन, अनाथालय आदि संस्थाओंके कारण ऐसे गुणोंके अपहरण होनेका बारबार भय रहता है । पर सार्वजनिक पुस्तकालय लोगोंको जो कुछ अमूल्य निधि अर्पण करता है उसकी प्राप्तिके लिये लोगोंको जितनी मानसिक शक्ति और शारीरिक श्रमका व्यय करना पड़ता है, उसीके मानसे वह निधि उनको श्रीमान् बनाती है । पुस्तकालय अपना भंडार ऐसे ही व्यक्तियोंको खोलकर देता है जो उसे अपनानेका परिश्रम करते हैं । इस लिये सब धार्मिक दानोंमें पुस्तकालय (शास्त्रदान) का एक अद्वितीय और अशंकनीय है, ऐसा ही कहना उचित है । कार्नेगीने जो कहा है कि "सब लोगोंके लिये मुफ्त खुले हुए सार्वजनिक पुस्तकालय मुफ्त कुछ भी नहीं देते, किन्तु प्रत्येक वाचक वृंदको स्वयं अपने ज्ञानसोपान पर चढ़ना पड़ता है और चढ़ते समय इसबातका ज्ञान प्राप्त करना होता है कि अपने इस जीवनको अच्छा किसप्रकारसे बनाया जाय " यह बिलकुल सत्य है ।

३—'सार्वजनिक पुस्तकालय' समाजकी ऐसी एक ही संस्था है कि जिसका द्वार सदा मुफ्त रहता है और जो लोगोंको सर्व समयोंमें कुछ न कुछ देती ही है । हृष्टपुष्ट और निर्बलको, श्रीमानों तथा गरीबोंको, वृद्धों और युवकोंको, जगतकी आवश्यकताओंको खोज करनेवालों और जगत्के बन्धनोंसे मुक्त होनेवालोंको समान भावसे देखनेवाली ऐसी पुस्तकालय ही एक संस्था है । संपूर्ण समाजको समृद्ध बनानेवाले केवल पुस्तकालय ही हैं । अन्य धार्मिक संस्थाओंके उद्देश कुछ ही लोगोंको लाभ पहुँचानेवाले होते हैं, परन्तु पुस्तकालय बहुतों क्या, सभी लोगोंको लाभ पहुँचाते हैं ।

४—किसी भी नगर या ग्राममें एकता और प्रेम बढ़ानेवाला सार्वजनिक पुस्तकालयके समान अन्य दूसरा प्रबल साधन नहीं है । दूसरी संस्थाओंके कारण समाजमें भेद और पंथ उपस्थित होते हैं, अनेक समाजों तथा जातियोंमें तड़ (धड़े) पड़ जाते हैं । समाजमें एकमत और एक विचार होनेके मार्गमें वे संस्थाएँ बाधक हो बैठती हैं । पर सार्वजनिक पुस्तकालय पर समाजकी सर्व जातियोंका चाहे उनमें परस्परमें कितना ही मतभेद, आदि क्यों न हो, समान प्रेम रहता है । किसी भी समाजमें सामाजिक केन्द्र बननेके लिए सार्वजनिक पुस्तकालय नामकी संस्था सब प्रकारसे योग्य है ।

५—सार्वजनिक पुस्तकालयोंमें जो खर्च होता है वह उनके द्वारा प्राप्त हुए नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक हितके कारण ही नहीं किन्तु उनके द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष सांपत्तिक लाभोंके कारण भी उचित समझा जाना चाहिये ।

अन्य धार्मिक संस्थाओं द्वारा यद्यपि नैतिक और सामाजिक लाभ होते हैं, तथापि आर्थिक दृष्टिसे सांपत्तिक हानि ही होती है। सार्वजनिक पुस्तकालयों द्वारा नैतिक और उसी प्रकार सांपत्तिक भी लाभ होता है; क्योंकि जिन जिन लोगोंको पुस्तकोंकी, खबरोंकी, या अन्य किसी वस्तुके प्राप्तिस्थलके ज्ञानकी आवश्यकता होती है तो वे सब पुस्तकें या जरूरी बातें मुफ्तमें मिलनेके कारण उन लोगोंके उतने पैसे बचते हैं और उन पैसोंको वे लोग अपने घरके जरूरी कामोंमें खर्च कर सकते हैं।

६—सर्व साधनोंसे युक्त और सुव्यवस्थित-रूपसे चलनेवाले पुस्तकालय सब जगह होनेसे अन्य प्रकारकी धार्मिक संस्थाओंकी जरूरत बहुत कम हो जाती है। जिस समाजको किसी भी प्रकारके धर्मादायकी जरूरत नहीं वही समाज आदर्शभूत है। जिस समाजमें सार्वजनिक धर्मादाय प्रचलित रहते हैं उस समाजकी रचनामें अनेक त्रुटियाँ हैं, ऐसा पर्यायसे कुबूल करना पड़ता है और उन त्रुटियोंको दूर करनेके लिये ही धर्मादायोंका (दान करनेका) अस्तित्व हुआ। पुस्तकालयोंके द्वारा जो अच्छे विचार, जो बौद्धिकस्फूर्ति, उद्योग व्यापारादिमें जो प्रवीणता वगैरह प्राप्त होती हैं उनके द्वारा मनुष्य-जीवन ऐसा समृद्धिवान् होता है, कि लोगोंको सामुदायिक धर्मादाय पर (आहार, औषध और अभयादि दानोंपर) अवलंबित रहनेका प्रसंग दिन पर दिन कम होता जाता है। कुछ परिमाणसे यह कार्य सचमुच ही सार्वजनिक पुस्तकालय कर रहे हैं। लॉर्ड ॲव्हबरीने एक जगह कहा है कि "किसी भी समाजको पुस्तकालयों पर जो खर्च करना पड़ता है, वह दरिद्रता और उसके द्वारा होनेवाले अपराधोंका परिमाण कम होनेसे समाजको व्याजसहित वापिस मिल जाता है।"

७—अंतमें समाजकी अन्य संस्थाओंके सुव्यवस्थित रूपसे चलने और उनके द्वारा श्रेष्ठ लाभकी प्राप्तिके लिये पुस्तकालयोंकी बड़ीभारी आवश्यकता हुआ करती है। कोई भी पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, औद्योगिक संस्था, देवालय, समाजसेवासंघ अर्थात् सभा सुसाइटियाँ मंडल वगैरह अंतर्राष्ट्रीय धर्मादायके कार्य इन सबको अपने अपने उद्देशकी योग्य रीतिसे पूर्ति करनेके लिये और उसमें कौशल्य तथा प्रवीणता संपादन करनेके लिये अच्छे अच्छे ग्रंथसंग्रहालयोंकी ही सहायता लेनी पड़ती है। विना ग्रंथसंग्रहालयकी सहायताके अन्य संस्थाओंका कार्य भली भाँति परिपूर्ण नहीं होने पाता।

इस युक्तिवादको पढ़नेसे प्रत्येक मनुष्यको विश्वास हो जायगा कि पुस्तकालय स्थापन करने और उनकी सहायता करनेसे अन्य सब सब धार्मिक कार्योंमें नूतन सामर्थ्य और कर्तृत्व पैदा करनेके समान समाजकी प्रत्येक अच्छी संस्थाको अधिक अच्छी और अधिक संपन्न करना है।

क्या हमारी जैनकौमके नेता, श्रीमान् और समाजकी सभा सुसाइटियोंके सदस्य जैन पुस्तकालय स्थापित करेंगे? बन्धुओ, अब इन रूढ़ि आदि त्रिकुटोंका सत्यानाश करो जिन्होंने तुम्हारे सत्य धर्मके प्रचारमें रोड़ा अटका रक्खा है और सामाजिक उन्नतिके मार्गसे तुम्हें नीचे ढकेल दिया है। प्रत्येक नगर और ग्राममें अपने पुस्तकालय खोल दो और सबके लिये उनका द्वार मुक्त कर दो। उन्हीं पुस्तकालयोंमें एक एक रात्रिशालाका भी विभाग रख दो जिसमें लोगोंको पुस्तकें पढ़नेको दी जायँ और साधारण लिखना पढ़ना सिखलाया जाय। बड़े बड़े नगरोंमें पुस्तकालयके साथ साथ एक ऐसा औद्योगिक विभाग भी होना चाहिये, जिसमें समाजके नव युवक शिक्षा प्राप्त कर अपनी आजीविकासे वंचित न रह सकें।

सबसे पहले एक विराट् पुस्तकालय हो जिसमें प्राचीन हस्तलिखित शास्त्रोंका संग्रह-विभाग, छपे हुए शास्त्रोंका और अन्यान्य हिन्दी तथा प्रांतिक भाषाओंके उत्तमोत्तम साहित्यका संग्रह-विभाग, ऐतिहासिक खोज और उसका संग्रह-विभाग, स्त्रीशिक्षा और बालशिक्षोपयोगी पुस्तक-विभाग, औद्योगिक और वैद्यकोपयोगी ग्रंथसंग्रह-विभाग वगैरह रहें, तथा प्रसिद्ध प्रसिद्ध दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्वैमासिक और त्रैमासिक आदि पत्र आते रहें। इसी पुस्तकालयका एक ऐसा विभाग रहे जिसके द्वारा समाजके प्रत्येक व्यक्ति इसके सभासद बनकर अपने अपने स्थलों पर इस पुस्तकालयसे पुस्तकें मँगाकर नियत समय तक पढ़ सकें और पढ़नेके बाद वापिस भेज दें। इसके लिये चाहे डिपाजिट और पोष्ट-खर्च सभासदोंसे ले लिया जावे। दूसरे एक ऐसा विभाग रक्खा जाय कि प्रत्येक सभाके उपदेशक जो जगह जगह घूमते हैं उन्हें उपयुक्त पुस्तकोंका एक एक बक्स तैयार करके दे दिया जाय। जहाँ वे जावें वहाँके लोगोंको पुस्तकें विना किसी अपेक्षाके नियत समयके नियमानुसार पढ़नेके लिये दिया करें। दूसरी जगह जानेपर वे पुस्तकें पढ़नेवालोंसे माँगकर पुस्तकालयकी सहायताके लिये अपील करें। इस प्रकारसे अभी थोड़ा बहुत काम चल सकता है। कुछ दिन बाद समाजके अधिकांश व्यक्ति स्वयं ही पुस्तकालयकी उपयोगिता जान जायँगे और तब अपने अपने स्थलोंमें खुद पुस्तकालय खोल लेंगे।

आशा है कि इन बातों पर जैनसमाजका ध्यान आकर्षित होगा। इसके द्वारा यदि एक भी नया पुस्तकालय खुल गया तो मैं अपने परिश्रमको सफल समझूँगा।

तामिल भाषामें जैनग्रंथ।

(अनु०—कुमार देवेंद्रप्रसादजी, आरा।)

प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानोंका यह मत है कि ईसाकी ९ वीं शताब्दीके पहले तामिल साहित्य ही नहीं था। पर वास्तवमें बात यह मालूम होती है कि तामिल साहित्यमें जो कुछ भी मौलिक और अत्युत्तम है वह सब नवीं (९ वीं) शताब्दीके पहले ही लिखा गया था और इसके बाद जो कुछ लिखा गया है वह अधिकतर या तो संस्कृत ग्रंथोंका केवल अनुकरण है और या उनका अनुवाद मात्र है। प्राचीन तामिल काव्योंका ध्यानपूर्वक अनुशीलन करनेसे यह बात आसानीसे समझमें आ जाती है कि तामिल साहित्यके कुछ प्राचीनतम ग्रंथ दो हजार वर्षसे भी पहले रचे गये थे और उसी समय तामिल लोगोंने अरब, ग्रीस (यूनान), रोम और जावा जैसी विदेशी जातियोंके साथ व्यापारसम्बंध स्थापित करके प्रचुर धन और सभ्यताको प्राप्त किया था। सांसारिक उन्नतिके साथ साथ उनकी साहित्यिक उन्नतिका भी प्रारंभ हुआ। ईसाकी पहली शताब्दी तामिल साहित्यकी उन्नतिका सर्वोत्तम काल है और इसी समय मदुरामें तामिल राजा उग्रपाण्ड्यकी राजसभामें कवियोंका अन्तिम सम्मेलन हुआ था। इस कालके उन कवियोंकी संख्या जिनके ग्रंथ हम लोगोंको उपलब्ध हैं पचाससे कम नहीं है। ये कविलोग भिन्न भिन्न जातियों, मतों और तामिल देशके भिन्न भिन्न प्रांतोंके रहनेवाले थे। इनमेंसे कुछ जैन, कुछ बौद्ध और कुछ वैदिक मतानुयायी थे।

नीचेकी पंक्तियोंमें, तामिल साहित्यमें निर्ग्रंथों (जैनियों) द्वारा लिखे हुए ग्रंथोंकी आलोचना करने और यह दिखलानेकी चेष्टा की गई है कि

जैनियोंकी प्रतिभाने चोल और पांड्य राज्योंकी राजभाषाओंकी उन्नति करनेमें कितना योग दिया है। जैनियोंके लिखे हुए असंख्य तामिल ग्रंथोंमेंसे अनेकों ग्रंथ भिन्न भिन्न कारणोंसे नष्ट हो गये हैं—कितने अग्नि और वर्षा आदि नैसर्गिक कारणोंसे नष्ट हो गये है, कितनोंका काम चूहों तथा दीमकोंने तमाम किया है और कितनोंको जैनमतके शत्रुओंने नाश कर डाला है। जो इने गिने ग्रंथ रह गये हैं उनमेंसे आधेसे अधिक ताड़के पत्तोंपर लिखे हुए अंधे तहखानोंमें प्रच्छन्न हैं।

तामिल साहित्यमें जैनियोंके लिखे हुए ग्रंथ महाकाव्य, नीतिकाव्य, व्याकरण, कोश और फलितज्योतिष इन पॉच भागोंमें विभाजित किये जा सकते हैं।

महाकाव्य।

१ **जीवक-चिन्तामणि**। इस महाकाव्यके रचयिता **थिरुथ्थक देवर** (Tniruththaka devar) हैं। इसको बने हुए लगभग १०२० वर्ष हुए हैं और यह ९०० ईसवीसे बादका बना हुआ मालूम नहीं होता। इसमें भगवान् महावीरके समकालीन राजा **जीवककी** जीवनकथा है, जो कि हेमांगदमें राज्य करते थे। कथा १३ कांडों और ३१४५ पद्योंमें वर्णित है। वर्णन-सौंदर्य और अत्युत्तम लेखनशैलीके कारण तामिल साहित्यमें जीवक-चिन्तामणिको प्रथम स्थान दिया गया है। तामिल साहित्यके पाँच महा काव्योंमें यह सबसे प्रधान काव्य है। इसमें राजा जीवकके साहसिक जीवनका मनोरंजक वर्णन देनेके साथ साथ लोगोंके रहन-सहन, उनके सामाजिक रीति-रिवाजों और व्यापार, धन तथा वैभवका भी सजीव वर्णन दिया है।

संस्कृतमें प्रसिद्ध वाल्मीकि रामायणके सदृश अनुपम काव्य-सौन्दर्यको लिये हुए, चिन्तामणि काव्य उत्तरकालीन तामिल कवियोंके लिये मार्ग-दर्शक और इस बातको बतलानेके लिये ज्वलन्त आदर्श है कि जीवनकी भिन्न भिन्न दशाओं और प्रकृतिके भिन्न भिन्न सौंदर्योंका हृदयहारी वर्णन कैसे किया जा सकता है।

इस काव्यमें बहुतसी शिक्षाकी बातें भरी हुई है, जिनमेसें कुछ इस प्रकार हैः—(१) कोई काम करनेके पहले राजाको चाहिये कि अपने मन्त्रियोंसे कई बार परामर्श करे; (२) जो मनुष्य स्त्रीकी इच्छाके अधीन है उसे अनेक कष्टोंका सामना करना होगा; (३) मनुष्यको हमेशा अपने गुरुकी आज्ञाके अनुसार काम करना चाहिये; (४) शत्रुओंको वशमें करनेके लिये मनुष्यको धैर्यपूर्वक सुअवसरकी प्रतीक्षा करनी चाहिये; (५) मनुष्यको चाहिये कि यदि किसी जीवको दुःखमें देखे तो उसे दुःखसे छुड़ाकर उसकी रक्षा करे, (६) प्रत्येक व्यक्तिको अपने मातापिताकी आज्ञाका सदा पालन करना चाहिये; (७) जिस व्यक्तिका साथी बुद्धिमान और दयालु होता है वह जिस कामको चाहे कर सकता है; (८) सुख और दुःखमें मनुष्यको अपना चित्त हमेशा समभाव रूपसे स्थिर रखना चाहिये और यह समझना चाहिये कि जीवनकी प्रत्येक घटना उसके कर्मोंका नतीजा है; (९) दान उन्हींको देना चाहिये जो अच्छे भले आदमी, धर्मात्मा तथा पात्र हों; (१०) जो लोग ठीक रास्तेपर नहीं हैं उनके साथ सहानुभूति रखनी चाहिये और उन्हें मुक्तिके यथार्थ मार्गपर लानेका यत्न करना चाहिये और (११) जिन्होंने अपने ऊपर उपकार किया है अथवा जो अपने सहायक रहे है उन्हें कभी न भूलना चाहिये।

२ **सीलप्पथिहरम्** (Silppathiharam)। इसका नम्बर पाँचों महाकाव्योंमें दूसरा है। इसे भी पहले महाकाव्यकी तरह अतिशय प्राचीन

और अत्युत्तम होनेका मान प्राप्त है। बड़े बड़े टीकाकार अक्सर प्रामाणिक ग्रंथके तौर पर इसमेंसे अनेक वाक्योंको अपनी टीकाओंमें उद्धृत किया करते हैं। यह पुस्तक लंकाके तामिल लोगोंके बड़े कामकी है; क्योंकि यही एक प्राचीन पुस्तक है जिसमें रावणके समयके बाद लंकाका वर्णन पाया जाता है और जिसमें, स्वयं ग्रंथकर्ताके कथनानुसार, उस टापूमें बहुत पूजी जानेवाली काव्यकी नायिका **पट्टिनी कन्निका** (Pattini Kannika) का जीवनवृत्तांत दिया हुआ है। यद्यपि इस काव्यकी कथा पूर्णरूपसे जैनकथा नहीं है तथापि इसके रचयिताके जैन होनेमें संदेह नहीं है; क्योंकि परलोकवासी वी० कनकसबाई पिल्ले जो तामिलके एक बड़े भारी विद्वान् थे, अपनी किताब " The Tamils Eighteen hundred years ago " में लिखते हैं:—"सबसे अन्तिम चेर राजा (इमायवर्मा Imayavarmau) का एक छोटा भाई **इलंकोआडिगल्** (Illam-koadigal) था जो जैनमतका साधु हो गया था। यह इलंकोआडिगल 'चीलप्पथिकरं' (Chilappathikaram) नामक एक बड़े काव्यका रचयिता था।" इस ग्रंथका रचनाकाल ईसाकी पहली शताब्दी मालूम किया गया है। शेष तीन महाकाव्योंमें **वलयपति** और **कुंडलकेसी** ये दो ग्रंथ दूसरे दो जैन विद्वानोंके बनाये हुए बतलाये जाते हैं। इनमेंसे कुंडलकेसीका कुछ पता ही नहीं चलता, पर दूसरेके सिर्फ कुछ खंड समय समय पर प्रकाशित हुए हैं।

पाँच महाकाव्योंके सदृश पाँच छोटे काव्य भी हैं जिनके नाम हैं चूलामणि, यशोधरकाव्य, उदयनकुमारकाव्य, नागकुमारकाव्य और नीलकेसी। इन काव्योंकी रचनाका क्रम ज्ञात नहीं है।

१ इन काव्योंमें, **चूलामणि** सबसे बड़ा है। इसमें काव्यसौन्दर्य और उत्तम भाव भरे पड़े हैं। काव्यकी शैली मनोहारिणी है और जिन शब्दोंका इसमें प्रयोग किया गया है वे 'अजेय' कहे जाते हैं। प्राचीन तामिल विद्वान् जब इस काव्यको पढ़ा करते थे तब इसके रचयिताका नाम मालूम न होनेके कारण इसके कर्ताको '**थोलमोलिथेवर**' (Tholamoli thewar) अर्थात् "**शब्दाजेयके**" तौरपर पुकारा करते थे। तभीसे यह ग्रंथ शब्दाजेयका बनाया हुआ कहा जाता है। इसमें २१३१ पद्य और १२ परिच्छेद हैं जिनमें जैनपुराणोक्त नौ वासुदेवोंमेंसे 'थृप्पृष्ट' (त्रिपृष्ठ) वासुदेव और उसके शत्रु 'अयक्रुव' प्रथि—(प्रति) वासुदेवकी कथा लिखी हुई है। यह कथा गुणभद्राचार्यके **उत्तरपुराण**से ली गई है (?) इस काव्यका रचनाकाल अभी तक ठीक तौरसे मालूम नहीं हुआ, परंतु चूलामणिके स्वसंपादित संस्करणकी भूमिकामें, तामिलके नामी विद्वान् मिस्टर सी० वी० थामोधरं पिल्ले लिखते हैं कि चूलामणि कमसे कम १५०० वर्ष×से कमका बना हुआ नहीं है।

२ **यशोधरकाव्य**के रचयिता एक जैनी हैं जिनके नामका पता नहीं लगा। इस ग्रंथमें ३२० पद्य और चार सर्ग हैं, जिनमें पौराणिक राजा 'यशोधर' की कथा है। अच्छे और बुरे कर्मोंका फल कैसा होता है, यह इस कथामें दिखलाया गया है। साथ ही, उदाहरण द्वारा यह भी बतलाया गया है कि जो कोई किसी जीवको कष्ट पहुँचाता है उसे नरकयातना सहनी पड़ती है और अपनी इच्छाके विरुद्ध पशुपक्षियों तथा कीड़ोंमकोड़ोंमें जन्म लेना पड़ता है।

× हमारी रायमें, जब यह ग्रंथ गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराणके आधार पर बनाया गया है तब इतना पुराना नहीं हो सकता; क्योंकि गुणभद्राचार्यका समय विक्रमकी १० वीं शताब्दी है और उनका उत्तरपुराण शक संवत ८२० में बनकर समाप्त हुआ था।

३ **उदयनकुमारकाव्यमें** वत्स देशके राजा उदयनकी कथा है। इसके रचियता भी एक अज्ञातनामा जैन हैं। यह काव्य छह सर्गोंमें है और अब प्रकाशित किया जा रहा है।

४ **नागकुमार काव्य** अभी हस्तलिपिके रूपमें है, और एक छोटा किन्तु रोचक काव्य है।

५ **नीलकेसीके** रचयिताका नाम ज्ञात नहीं, पर यह भी एक जैन थे। यह ग्रंथ दस सर्गोंमें है और इसमें जैनधर्मके तथ्योंका वर्णन है। इस पर '**श्रीसमयदिवाकर वामन**' मुनिकी एक अच्छी टीका है।

नीतिकाव्य।

१ **थिरुक्कुरल्** (Thirukkural)। यह वास्तवमें एक ऊँचे दर्जेका तामिलग्रंथ और एक जैनाचार्यकी अमरकृति है, जिन्हें उनकी अधिक प्रसिद्धिके कारण हिन्दू लोग भी अपनानेकी चेष्टा कर सकते हैं, पर इस विषयके अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हैं कि वे जैनी थे। इस पुस्तकमें धर्म, धन और प्रेमका वर्णन १३३ परिच्छेदोंमें किया गया है और प्रत्येक परिच्छेदमें १० दोहे (Couplets) हैं। यह पुस्तक अपने ढंगकी ऐसी सार्वभौमिक है कि विभिन्नमतोंके अच्छे अच्छे लेखक प्रमाणके तौरपर इसमेंसे अवतरण दिया करते हैं और इसका अनुवाद योरुपकी चारसे अधिक भाषाओंमें हो गया है। यह पुस्तक ईसाकी दूसरी शताब्दीके बादकी बनी हुई मालूम नहीं होती। (जैनहितैषीमें इसका अनुवाद प्रकाशित हो रहा है।)

२ **नालडियार** (Naladiyar)। यह एक काव्यसंग्रह है, जिसके ४० परिच्छेदोंमें ४०० चतुष्पदी (Quartrasin) हैं। इसमें धन, सांसारिक यश, शारीरिक सुन्दरता और यौवनकी क्षणभंगुरता तथा धर्म, सत्य और साधुताके गुणोंकी महत्ता और स्थिरशीलताका वर्णन है।

इस ग्रंथके रचे जानेकी कथा इस प्रकार है:—

दो हजार वर्ष हुए जब कि उत्तर भारतमें घोर दुर्भिक्षसे पीड़ित होकर आठहजार जैनमुनियोंने दक्षिण भारतको प्रस्थान किया और वे **पांड्य** देशमें पहुँचे, जहाँके पांड्यराजा **उग्रपेरुवली** (Ugraperuvali) ने उनका हृदयसे स्वागत किया। विद्वानोंकी संगतिसे राजाको बड़ा प्रेम था, इस लिये उसने मुनियोंपर बड़ा अनुग्रह रक्खा और उनका अच्छा आदर सत्कार किया। कुछ महीनोंके बाद मुनियोंको मालूम हुआ कि अब उनके देश उत्तरभारतमें अकाल नहीं है और वहाँकी दशा फिरसे अच्छी हो गई है। अतः उन लोगोंकी इच्छा स्वदेश लौटनेकी हुई और उन्होंने उग्रपेरुवलीसे जानेकी इजाजत माँगी। राजाको उनका संग छूट जाना दुःखदायक जान पड़ता था और वह नहीं चाहता था कि वे लोग उसके राज्यसे चले जायँ, इसलिये उसने अपने ही देशमें अपनी रक्षातले रहनेके लिये उनसे विनय किया। पर मुनियोंको यह बात पसंद नहीं थी। राजासे दूसरी बार अनुमति माँगनेसे डरकर मुनियोंने एकदिन प्रातःकाल अपने अपने आसनके नीचे तालपत्रके टुकड़ेपर एक एक श्लोक (पद्य) लिखकर रख दिया और वे वहाँसे चल दिये। जब राजाने सुना कि मुनिलोग चले गये तो वह उस विशाल भवनमें आया जहाँ वे लोग बैठते थे और आसन हटानेपर उसे तालपत्रके टुकड़े मिले। राजाने क्रोधवश अपने आदमियोंसे कहा कि इन टुकड़ोंको '**वैगाइ**' नदीमें फेंक दो। नौकरोंने राजाकी आज्ञाके अनुसार काम किया। परंतु आश्चर्यकी बात यह हुई कि इनमेंसे लगभग चारसौ टुकड़े धाराके विरुद्ध तैरते हुए किनारेपर जा लगे, जहाँपर लोगोंने आश्चर्यके साथ उनको उठा लिया और राजाके पास जाकर इस आश्चर्यजनक घटनाको कह-

सुनाया। राजाको सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने साधुओंकी ऐसी उत्तम यादगार (स्मृतिचिह्न) को फेंक देनेकी अपनी सहसा आज्ञापर बहुत अफसोस किया, साथ ही साधुओंके प्रति अपना सम्मान प्रकट करनेके लिये उसने उन पद्योंको इकट्ठा करके नीतिकी एक पुस्तक बनाई और उसका नाम ' नालडियार ' रक्खा; क्योंकि उसके प्रत्येक पद्यमें ' नालडी ' अर्थात् चार पंक्तियाँ (चरण) थीं। कुछ कालके पश्चात् **पद्मनर** नामके एक तामिल विद्वानने इस पर एक टीका लिखी और इसके पद्योंको ४० परिच्छेदोंमें विभाजित कर दिया।

३ **पालमोलिननरु** Palmolinanuru(चारसौ कहावतें)। यह एक पुस्तक है जिसमें ४०० पद्य हैं और जिसे एक जैन राजाने बनाया है, जो कि पांड्यदेशके ' **मुनरुराइ** ' भागपर राज्य करता था। इस पर एक जैनकी लिखी हुई प्राचीन टीका है। मिस्टर टी० चेल्वकेसवराय मुदालियर द्वारा संपादित ' पालमोलिननरु ' की भूमिकासे कुछ अवतरण यहाँ दिये जाते हैं जिनके पढ़नेसे पुस्तकके महत्त्वका अच्छा परिचय मिल सकता है:—

" यह पुस्तक ' पालमोलिननरु ' इस वजहसे कही जाती है कि इसके प्रत्येक पद्यके अन्तमें एक पालमोलि (कहावत) लगी हुई है। ये कहावतें छन्दकी आवश्यकतानुसार जहाँ तहाँ बदल दी गई हैं। "

" यद्यपि कुछ कहावतें समयके फेरसे इस समय प्रचलित नहीं हैं तो भी उनमेंसे बहुतसी आजतक व्यवहारमें आती हैं। कहावतें ग्रंथमालाकी दूसरी बहुतसी पुस्तकोंमें भी पाई जाती हैं, पर प्राचीन अथवा मध्यमकालीन उच्च साहित्यके किसी भी दूसरे ग्रंथमें कहावतोंकी ऐसी भरमार नहीं है। यही इस पुस्तककी सबसे अधिक विलक्षणता है। "

" जो चारसौ कहावतें इस ग्रंथमें प्रयुक्त हुई हैं वे मदुराकी अन्तिम विद्वज्जन सभाके समयमें प्रचलित थीं। वे ग्रंथकर्ताकी प्रस्तावनामें ' प्राचीन कहावतें ' बतलाई गई हैं। अतः इस ग्रंथसे तामिल लोगोंकी प्राचीन सभ्यताका बहुमूल्य उल्लेख मिलता है। प्रायः हर एक पद्यकी तीसरी पंक्तिमें ग्रंथकार किसी राजा (शायद उस समयके पांड्य राजा) को या किसी स्त्रीको सम्बोधन करके लिखता है। पहली दो पंक्तियोंमें आम तोर पर वह विषय रक्खा गया है जिसे ग्रंथकार सुझाना चाहता है और अन्तिम पंक्ति कहावतकी है। बहुतसे पद्योंमें विषय और कहावतके बीचमें जो सादृश्य है वह प्रशंसनीय है और कहीं कहीं पर बड़ा ही चमत्कारिक है, यद्यपि कोई कोई सादृश्य कुछ कहावतोंके प्रचलित न रहनेके कारण अब समझमें नहीं आता है। कुछ पद्योंमें कहावतें उपमाओंका काम देती हैं; दूसरे पद्योंमें किसी कहावतकी यथार्थताका उदाहरण किसी प्राचीन तथा प्रसिद्ध उल्लेखद्वारा दिया गया है। "

" यद्यपि साहित्यसम्बन्धी उत्तम प्रकारके व्यवहारोंका इस पुस्तकमें, जहाँ तहाँ, प्रयोग पाया जाता है, तो भी इसकी शब्दरचना ' नालडी ' और ' कुरल ' जैसी प्रासादगुणविशिष्ट नहीं है। लेखनशैली इसकी तीक्ष्ण है और वह अर्थकी सुस्पष्टता, और व्याख्यानकी महत्त्वपूर्णताको लिये हुए है। ग्रंथकारकी विद्वत्ता उसकी कवित्तशक्तिसे बढ़ी हुई है। इस ग्रंथमें जो कुछ मुग्धकारी गुण है वह उन कहावतों द्वारा उत्पन्न है जो प्रत्येक पद्यमें वर्णित बातों पर पाठकोंका ध्यान खींच लेती हैं। "

" ग्रंथकार जैनमतावलम्बी होने पर भी कट्टर जैनी नहीं है। किसी किसी पद्यमें धार्मिक तथ्यका वर्णन वह बिलकुल पक्षपातरहित होकर करता नजर आता है। "

" ग्रंथमालाके अन्य ग्रंथोंकी भाँति यह ग्रंथ भी पुरुषार्थका वर्णन करनेवाला है। इसमें जीवनके अनुभवोंका संग्रह है, जिनमेंसे कोई कोई ऐसे बहुमूल्य और व्यावहारिक संकेतों तथा सूचनाओंको लिये हुए हैं जो कि 'नालडी' और 'कुरल' में भी उपलब्ध नहीं हैं।"

४ थिनैमलै (Thinaimalai)। इसके लेखक '**कनिमेधावियर**' हैं। इसमें १५० पद्य हैं और उनमें पाँच अंतरंग पदार्थोंका वर्णन है।

५ **सिरुपंचमूलं** (Siru-Panchamulam)। यह **करियासन्**का बनाया हुआ ९८ पद्योंका ग्रंथ है। इसके प्रत्येक पद्यमें पाँच चीजोंका वर्णन है और इसीसे 'पंच' शब्द साथमें जोड़ा गया है।

६ **येलाडी** (Yeladi)। **कनिमेधावियर**का लिखा हुआ यह ८० पद्योंका ग्रंथ है और इसके प्रत्येक पद्यमें ६ शिक्षाएँ हैं।

ये छहों पुस्तकें मदुराकी अन्तिम विद्वज्जनसभासे स्वीकृत होकर प्रसिद्ध १८ किलकनक्कुओं (खंडकाव्यों) में परिगणित की गई थीं।

७ **अरनेरिच्चरं** (Araneriohcharam)। यह पुस्तक **मुनैप्पडियर** (Munaippadiar) की बनाई हुई है और इसमें जैनधर्म तथा नीतिविषयक २२२ पद्य हैं।

व्याकरण।

१ **अहप्पोरुल्–इलक्कनम्** (Ahapporul-ilakkanam)। '**नर्कविराजनम्बियर**' विरचित यह तामिल व्याकरण पर लिखे हुए 'तोलहप्पियम्' नामक एक अतिशय प्राचीन ग्रंथके तृतीय भागका सारांश है।

२ **यप्परुंगलम्**। **कनकसागर** मुनिरचित यह अलंकार और छंदशास्त्र विषयका एक ग्रन्थ है। इसमें तीन परिच्छेदोंमें ९५ पद्य हैं।

३ **यप्परुंगलकारिकै**। **अमृतसागर** मुनिकी बनाई हुई यह उपर्युक्त ग्रन्थकी टीका है।

४ **वीरचोलियम**। यह भी एक व्याकरण ग्रन्थ है, जो 'बुद्धमित्र' नामके, सम्भवतः एक जैन व्यक्ति द्वारा रचा गया और वीरचोल राजाके नामसे अंकित किया गया है। इसमें १८१ पद्य हैं, और उन पर एक टीका है। ग्रंथमें अक्षर, शब्द, वाक्यरचना, छंद और अलंकारका वर्णन है और वह प्रायः ईसाकी ११ वीं शताब्दीका बना हुआ है।

५ **नन्नुल**। यह प्रसिद्ध '**पविनन्दि**' मुनिकी रचना है, जिसने कुलोत्तुंग तृतीयके अधीनस्थ राजा चोलवंशीय अमराभरण सीप ंगकी प्रार्थना पर इस ग्रन्थको प्रायः १२ वीं शताब्दीके अन्तमें लिखा था; क्यों कि यह अच्छी तरह ज्ञात है कि कुलोत्तुंग तृतीय सन् ११७८ ई० में राज्यसिंहासन पर बैठा था। इस ग्रन्थमें केवल अक्षरों और शब्दोंका वर्णन है, और आज कल यह सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थके तौर पर माना जाता है। प्रत्येक वर्ष मद्रास विश्वविद्यालयके द्वारा, उसकी मैट्रीक्यूलेशन, एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षाओंमें, यह पुस्तक व्याकरणविषयकी एक मात्र उपयोगी पाठ्य पुस्तकके तौर पर नियत की जाती है।

६ **नेमिनादम**। **गुणवीर**पण्डितरचित। इस ग्रंथमें अक्षरों और शब्दोंका वर्णन ९६ पद्योंमें दिया है और उन पर एक टीका भी है।

७ **अच्चनन्दिमलै**। **गुणवीर**-पण्डितरचित यह छंदः शास्त्रविषयक एक काव्य है।

कोश।

चूडामणि निघण्टु। इसमें १२ अध्याय हैं और इसके रचयिताका नाम **मण्डलपुरुष** है,

जो अपनेको उत्तरपुराणके लेखक गुणभद्र आचार्यके शिष्य बतलाते हैं। यह भली भाँति विदित है कि उत्तर पुराण ८९८ ई० में समाप्त हुआ है। और लेखक उसमें राष्ट्रकूट—नृप अकालवर्ष कृष्णरायका उल्लेख करता है, जिसने ८७५ और ९११ ई० के मध्यवर्ती समयमें राज्य किया है, इस लिए यह ग्रन्थ दसवीं शताब्दीके प्रथम पादका बना हुआ होना चाहिये।

ज्योतिष।

जिनेन्द्रमाले। तामिलमें फलित-ज्योतिषका यह एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है : इसके रचयिता सम्भवतः जिनेन्द्रव्याकरणके कर्ता (पूज्यपाद) हैं।

अन्य ग्रन्थ।

१ **मेरुमन्दरपुराणम्**। वामनाचार्यरचित। इस ग्रन्थमें १३ सर्ग और १४०६ पद्य हैं। इसमें 'मेरु' और 'मन्दर' नामके दो भाईयोंकी कथा और जैन-सिद्धान्तोंकी व्याख्या है।

२ **थीरुनुत्रान्धान्धि**। यह अविरोध नाथका बनाया हुआ है। (देखो अं० जैनगजट भाग ९, २, पृ० ११)

३ **थीरुकलम्बकम्**। उथीसे देवविरचित। इस ग्रन्थमें जैन-सिद्धान्तों (दर्शनशास्त्र) की अच्छी व्याख्या है।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त भगवान अर्हतके गुणगानको लिए हुए सैकड़ों स्तोत्र हैं।

जैन-लेखकोंद्वारा लिखे हुए तामिलके इतने ही ग्रन्थ अभीतक हमको मालूम हुए हैं। इनमेंसे अनेक ग्रन्थ मद्रास-विश्वविद्यालयकी साहित्य-परीक्षाओंमें नियत हो चुके हैं। बहुत ग्रन्थोंको कुछ प्रतिभाशाली अजैन विद्वानोंने प्रकाशित किया है और उनमेंसे अनेकके साथमें अत्युत्तम टीकाएँ लगी हुई हैं। यह शोकका विषय है कि दक्षिण भारतके जैन लोगोंने अपने सहधर्मी विद्वानों द्वारा रचे हुए दक्षिणी साहित्यके इन अमूल्य ग्रन्थोंको प्रकाशित करने अथवा उन दूसरे पवित्रतम स्थिर किरणोंवाले ग्रन्थरत्नोंको प्रकाशमें लानेके लिये, जो कि बहुतसे पुराने घरानों और मठोंके अंधेरे एकांतस्थानों तथा मैले-कुचैले शास्त्रभंडारोंमें दबे पड़े हैं, अब तक बहुत ही कम ध्यान दिया है। जब कि उनके उत्तरीय जैन-बन्धु जैनोन्नतिका विस्तार करनेको बड़े ही उत्साहके साथ अग्रसर हुए हैं—उन्होंने जैनियोंके लिए विद्यालय और छात्रालय खोल रक्खे हैं, संस्कृत प्राकृतके जैन-ग्रन्थोंको प्रकाशित कराया है, जैन-ग्रन्थोंके पुस्तकालय खोल रक्खे हैं, जिनमें संस्कृत, बंगला, हिन्दी, मराठी, गुजराती, तामिल आदि भाषाओंके ग्रन्थ हैं। वे अँगरेजी, हिन्दी, मराठी और गुजरातीमें जैनपत्र सम्पादन करते हैं—और भी अनेक ऐसे कार्य करते हैं जोकि अपने उन सहधर्मीभाईयोंकी उन्नति तथा उत्थानमें सहायक हों जो कि सारे उत्तरभारतमें फैले हुए हैं। आशा है कि दक्षिणके जैन लोग भी अब शीघ्र जागेंगे और स्वसमाजके उत्थानके लिये अपनी जिम्मेदारीको समझते हुए अपने उत्तरीय भाईयोंका अनुकरण करेंगे।*

---

* यह लेख एक तामिल जैनद्वारा लिखे हुए 'जैनी और तामिल साहित्य' नामके अँगरेजी लेखका, जो कि अँगरेजी जैनगजटके कई अंकोंमें प्रकाशित हुआ है, भावानुवाद है। इसके लिये हम मूल लेखक तथा संपादक जैनगजटके बहुत आभारी हैं।—अनुवादक।

विधवा-विवाह-खण्डन।

(ले०–श्रीयुत **नाथूराम प्रेमी** ।)

श्रीयुत पं० झमनलालजी तर्कतीर्थने अभी कुछ ही समय पहले कलकत्तेके 'पद्मावती पुरवाल' नामक मासिकपत्रमें 'विधवा-विवाह-खण्डन' नामका एक लेख लिखा था। यह लेख पत्रसम्पादक लेखक और उनके अनुयायियोंको इतना पसन्द आया कि उन्हें उसे विशेष रूपसे प्रचार करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई और तदनुसार अब वह जुदा पुस्तकाकार छपा लिया गया है। इसकी जो समालोचनायें जैनमित्र आदि पत्रोंमें प्रकाशित हुई हैं, उन्हें तो पाठक भी पढ़ चुके होंगे और निबन्ध-लेखक भी; परन्तु इधर हमारे गुजराती सहयोगी जैनहितेच्छु (सितम्बर सन् १९२०) ने इस पुस्तककी जो समालोचना की है, उसे शायद ही किसीने पढ़ा हो, अतएव हम यहाँ उसका अनुवाद प्रकाशित कर देते हैं। हमें आशा है कि जो लोग पूर्वोक्त मधुर समालोचनाओंका उपभोग कर चुके हैं उन्हें यह तीखी और चटपटी समालोचना बहुत अरुचिकर न होगी।

"**विधवा-विवाहखण्डन**। लेखक, पं० झम्मनलालजी तर्कतीर्थ, कलकत्ता, मूल्य तीन आने। बेचारे पण्डितजी अभी तक सौ वर्ष पहलेकी पुरानी दलीलोंमें ही मस्त हैं। उन्हें खबर ही नहीं कि ये भद्दी दलीलें हजारों बार काटी गई हैं और कभीकी साफ कर दी गई हैं। यदि अब उनका कहीं भी अस्तित्व है तो केवल तर्कतीर्थ पण्डितोंके मास्तिष्कमें। हमें तो अब ये तर्कतीर्थ पण्डित दुनियाके लिये भाररूप ही प्रतीत होते हैं। इन बेचारोंमें जान पड़ता है कि सामान्य बुद्धि (Common Sense) का भी टोटा है। एक उदाहरण देकर मैं अपनी इस कठोर समालोचनाका औचित्य सिद्ध करूँगा। तर्कतीर्थजी फरमाते हैं कि सिंह एक ही बार संभोग करता है, कदली (केल) एक ही बार फलती है, स्त्रीको एक ही बार तेल चढ़ता है अर्थात् वह एक ही बार परण सकती है और राणा हमीरकी प्रतिज्ञा भी एक ही हो सकती है, और इस दलीलसे पण्डितजी यह सिद्धान्त गढ़ डालना चाहते हैं कि कोई स्त्री दूसरी बार व्याही ही नहीं जा सकती। सचमुच पण्डितजीकी तर्कतीर्थता बड़ी ही जबर्दस्त है! यदि पण्डितजी विवाहित हैं तो मैं उनसे पूछता हूँ कि आप अपने माने हुए सिंहके आदर्शके अनुसार सारे जीवनमें एक ही बार संभोग करके सन्तुष्ट हो गये हैं या नहीं? यदि वे विवाहित हैं तो उन्हें इसका उत्तर नकारमें ही देना पड़ेगा। और यदि विवाहित नहीं हैं तो उन्हें कहना पड़ेगा कि मेरे माने हुए नीतिधर्मके अनुयायी गृहस्थ जीवनमें एक ही बार स्त्रीसंभोग करके तृप्त नहीं हो सकते। और यदि यह ठीक है तो हम पण्डितजीके ही न्यायसे कहेंगे कि स्वय पण्डितजी और उनकी पसन्द की हुई उच्चनीतिके माननेवाले गृहस्थ एक तिर्यंचसे भी बदतर हैं, अतएव मनुष्यवर्गमेंसे उनका बहिष्कार कर डालना चाहिए। क्यों नहीं? सिंह जो तिर्यंच है वह तो सारी जिन्दगीमें एक ही बार सभोग करे और धर्मशास्त्री मनुष्य प्रतिदिन या प्रति महीने करे, यह तो तिर्यंचसे भी बुरा काम है और इस लिए इन पण्डितजीको मनुष्यसमाजमेंसे क्यों न खारिज किया जाय? यह बात मैं मानता हूँ कि केलेका झाड़ एक ही बार फलता है, परन्तु साथ ही तर्कतीर्थजीसे पूछता हूँ कि क्या आपको यह खबर नहीं है कि दूसरे ऐसे भी झाड़ हैं जो अनेक बार फलते हैं और फिर भी झाड़ोंके वर्गमेंसे न उनका बहिष्कार ही किया जाता है और न वे वारंवार फलनेसे रोके ही

जाते हैं ? राणा हमीरकी प्रतिज्ञा एक ही वार होती है, इस लिए सारी स्त्री जातिका वाग्दान भी एक ही वार होना चाहिए—इस तरहका तर्क स्वीकार करनेके पहले पूछना पड़ेगा कि सारी स्त्रीजातिका राणा हमीरके साथ क्या सम्बन्ध है और यदि स्त्रीजातिके सिर पर राणा हमीर (जो एक पुरुष थे) का उदाहरण कानूनके रूपमें लाद देना धर्म है तो राणा हमीरके सजातीय पुरुषसमूहके लिए तो यह उदाहरण खास तौरसे कानून बन जाना चाहिए। पण्डितजीको चाहिए कि पहले वे राणा हमीरके सजातीय पुरुषवर्गके लिए दूसरी बार ब्याह न करनेका कायदा जारी करावें और तब स्त्रीजाति पर अपना यह निरंकुश शासन चलानेके लिए बाहर निकलें। राणा हमीरके उदाहरणको जनसाधारणकी नीतिमें घुसेड़नेके लिए छटपटानेवालों पर मुझे सचमुच ही बड़ी दया आती हे ! मालूम नहीं इन बेचारे पोथा-पण्डितोंमें, इतनी सामान्य बुद्धि भी कब आयगी !

इन पढ़े लिखे बालकोंको इतना भी ज्ञान नहीं है कि पृथ्वीके भूषण राणा हमीर या राणा प्रताप तो बिरले ही पैदा होते हैं, दुनियाके सभी आदमी वेसे नहीं हो सकते। ये पोथापण्डित इस बातका विचार नहीं कर सकते कि किस चीजको 'आदर्श' मानना चाहिए और किसे आवश्यक—बलादाचरणीय—ठहराना चाहिए, और यही इनको सबसे बड़ी बीमारी है। तमाम स्त्री-पुरुषोंका विकास हो, इस ओर समाजकी दृष्टि रहना चाहिये और इस कारण हमीर, प्रताप, महावीर आदिके चरित्र लोगोंके आगे आदर्शके रूपमें रखना चाहिए; परंतु इनके नियम सब लोगोंके बलादाचरणीय नहीं ठहराये जा सकते। यह तो शक्तिका प्रश्न है। प्रत्येक गृहस्थको कुबेरके समान धनी होना ही चाहिए, नहीं तो उसका सिर काट डाला जायगा; प्रत्येक साधुको भगवान् महावीरके समान साढे बारह वर्षकी उग्र तपस्या करके कैवल्य प्राप्त करना ही चाहिए, नहीं तो उसका बहिष्कार किया जायगा; प्रत्येक पण्डित और तर्कतीर्थको शंकराचार्यके समान दिग्विजय करना ही चाहिए, नहीं तो उसे देश निकालेकी सजा दी जानी चाहिए,—समाज यदि इस तरहके नियम बना चुका हो, तभी वह यह नियम बनानेका अधिकारी हो सकता है कि प्रत्येक विधवा सम्पूर्णतया कामको जीतनेवाली होनी चाहिए, नहीं तो उसका बहिष्कार किया जायगा।

आदर्श और व्यवहार, व्यक्तिगत धर्म और सामाजिक नियम, फर्जियात (बलात्पालनीय) धर्म, और मार्जियात (स्वेच्छया पालनीय) धर्म, इनके बीचमें क्या अन्तर है, इसका 'विवेक' न कर सकनेके कारण ही ये धर्मके खिलौने विधवाविवाहके प्रश्नका रहस्य नहीं समझ सकते। एक पाठशालामें सातवीं कक्षाके विद्यार्थीको स्थान चाहिए और 'अ इ उ' पढ़नेवालेके लिए भी स्थान चाहिए। पाठशालाके विवेकी संचालकका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह 'अ इ उ' घोखनेवालोंको पहली कक्षामें और उनके बाद दूसरोंको दूसरी तीसरी और सातवीं कक्षाओंमें बिठावे। शालामें केवल उन्हींको स्थान न मिलना चाहिए जो 'अ इ उ' पढ़ना भी पसन्द न करते हों और केवल इधर उधर भटकते फिरनेमें ही खुश हों। इसी तरह समाजमें सब तरहके ऊँची नीची श्रेणीके मनुष्य रह सकें और जी सकें, ऐसी मध्यम ढंगकी उसकी रचना होनी चाहिए—केवल आवारा—व्यभिचारी स्त्री-पुरुषोंको ही उसमें स्थान न मिलना चाहिए। एक बार क्यों इक्कीस बार भी पुनर्विवाह करनेवाला समाजसे दूर नहीं किया जा सकता; हाँ उसका दर्जा अवश्य ही नीचा गिना जाना चाहिए और शुद्ध सधवा धर्म तथा विधवा धर्मको वीरतासे पालनेवाले स्त्री-पुरुष, खास करके सर्वथा विवाह ही न करके आजन्म ब्रह्मचर्य पालनेवाले स्त्री-पुरुष,

दर्जेमें बहुत ऊँचे गिने जाने चाहिए। हम अपनी गृह व्यवस्थामें भी क्या किया करते हैं? आपने कभी कोई ऐसा गृहस्थ देखा है जो केवल सोने और हीरे मोतियोंको ही घरमें रखता हो और लोहे पीतलकी चीजोंको पास भी न आने देता हो? यह ठीक है कि वह सोनेको तिजोरीमें रक्खेगा, चाँदीको आलमारीमें रक्खेगा, पीतल ताँबेको मँडवे पर रक्खेगा और लोहेकी तथा मिट्टीकी चीजोंको जहाँ तहाँ—जरूरत पड़ने पर बाहरके आँगन तकमें—रख देगा; परन्तु जरूरत उसे इन सभी चीजोंकी पड़ेगी—इनके बिना वह अपना काम नहीं चल सकेगा। ऐसी ऐसी सीधी सादी बातें भी ये धर्मशास्त्रोंके पन्ने पलटनेवाले नहीं समझते और इतने पर भी समाजके नेता और शास्त्रोंके उपदेशक बनने चलते हैं। हमारी समझमें तो शास्त्रोंके अर्थ भी इन लोगोंके दो अंगुलके मास्तिष्कोंमेंसे विकृत हो कर ही बाहर निकलते होंगे और इस कारण ऐसे उपदेशकोंको समाजके लिए सदा भयंकर ही समझने चाहिए।"

'ईश्वर उनकी मदद करता है जो अपनी मदद आप करते हैं—God helps those who help themselves, यह जिस महात्माका वचन है उसे इस बातका अनुभव हो चुका था कि वास्तवमें कोई एक ईश्वर या परमात्मा जगतका कर्ता हर्ता नहीं है। परतु जिस वातावरणमें वह साँस लेता था, जिन लोगोंमें उसे जीवन व्यतीत करना था और जिनका हित करना उसे इष्ट था, उनकी परिस्थिति उस समय ऐसी नहीं थी कि वह परमात्माके कर्ताहर्तापनेके विरुद्ध कुछ जबान खोले और उससे कोई लाभ उठाए। इसीलिये उसको लोगोंमें स्वावलम्बनका भाव पैदा करनेके लिये उपर्युक्त सूरत अख्तियार करनी पड़ी थी—अपने उपदेशके साथमें एक ऐसा गुरुमंत्र लगाना पड़ा था जिससे जनता केवल ईश्वरके भरोसेपर ही रहकर अकर्मण्य न बन जाय। —खंडविचार।

विविध प्रसङ्ग।

१—जातिबहिष्कारके सम्बंधमें सोमदेवसूरिके विचार।

भारतकी उच्च जातियोंमें पंचायतोंकी हालत प्रायः बड़ी ही शोचनीय है। वे अपने अविवेक और पक्षपातादि दूषणोंके कारण समाज परसे अपनी सत्ता—अपना प्रभुत्व—उठा चुकी हैं, उनका प्रभाव समाजके व्यक्तियों पर अब बहुत कम अवशिष्ट है। यही वजह है कि देशमें दिन पर दिन मुकद्दमेबाजी बढ़ती चली जाती है और उससे उसका बहुत कुछ पतन हो रहा है। जैन पंचायतोंकी हालत और भी ज्यादह खराब है। जिसके जो जीमें आता है-विना सोचे समझे, विना गहरा परामर्श किये और विना अपनी सत्ताका विचार किये वह उसे सहसा कर डालती है और फल पर कुछ भी दृष्टि नहीं रखती। नतीजा जिसका यही होता है कि या तो पंचायतकी वह तजवीज कागज़ोंमें ही रक्खी रह जाती है—उस पर कुछ भी अमल नहीं होता—और या उसके द्वारा समाज तथा धर्मको बहुत बड़ी हानि उठानी पडती है। इन दोनों ही बातोंके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। परंतु यहाँ पर हम पंचायतोंकी हालतको दिखलाने और उनके कार्याकार्य पर विवेचन करना नहीं चाहते; हमारा अभिप्राय इस समय सिर्फ इतना ही बतलानेका है कि जैनपंचायतोंने जातिबहिष्कार नामके तीक्ष्ण हथियारको जो खिलौनेकी तरह अपने हाथमें ले रक्खा है और, विना उसका प्रयोग जाने तथा अपने बलादिकको समझे, जहाँ तहाँ यद्वा तद्वा उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिये बड़ा ही भयंकर तथा हानिकारक है। श्रीसोमदेव आचार्य अपने 'यशस्तिलक' ग्रंथमें लिखते हैं—

" नवैः संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद्गणवर्धनम् ।
एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ॥
यतः समयकार्यार्थो नानापंचजनाश्रयः ।
अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद्दूरतरो नरः ।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥ "

इन पद्योंका आशय इस प्रकार है:—

ऐसे ऐसे नवीन मनुष्योंसे अपनी जातिकी समूह वृद्धि करनी चाहिये जो संदिग्धनिर्वाह हैं अर्थात्, जिनके विषयमें यह संदेह है कि वे जातिके आचार विचारका यथेष्ट पालन कर-सकेंगे। (और जब यह बात है तब) किसी एक दोषके कारण कोई विद्वान् जातिसे बहिष्कारके योग्य कैसे हो सकता है ? चूँकि धर्मका प्रयोजन नाना पंचजनोंके आश्रित होता है, अतः समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमें लगाना चाहिये—जातिसे पृथक् न करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी—खासकर विद्वान्की—उपेक्षा की जाती है, उसे जातिसे पृथक् किया जाता है—तो उस उपेक्षासे वह मनुष्य तत्त्वसे बहुत दूर जा पड़ता है। तत्त्वसे दूर जा पड़नेके कारण उसका संसार बढ़ जाता है और धर्मकी भी क्षति होती है, अर्थात् समाजके साथ साथ धर्मको भी हानि उठानी पड़ती है।

आचार्य महोदयने अपने इन वाक्यों द्वारा जैन जातियों और जैन पंचायतोंको जो गहरा परामर्श दिया है और जो दूरकी बात सुझाई है वह सभीके ध्यान देने और मनन करनेके योग्य है। हम बम्बईकी दि० जैन खंडेलवाल पंचायतसे खास तौर पर आचार्य महाराजके इन वाक्यों पर विचार करनेका अनुरोध करते हैं, जिसने हालमें पं० अर्जुनलालजी सेठी जैसे विद्वानोंको अपनी जातिसे पृथक् करनेका असमीक्षित कार्य ही नहीं बल्कि दुःसाहस किया है। मालूम नहीं जब उक्त पंचायत सेठीजीके कार्यको धर्मविरुद्ध नहीं समझती, तो फिर वह कैसे उसके द्वारा अपनी जातिके गौरवका नष्ट होना मानती है। हमारे खयालमें तो जिस जातिमें धर्माविरुद्ध कार्य करनेवालोंको भी स्थान नहीं है वह जाति कुछ भी गौरवान्वित नहीं है। हम पूछते हैं कि जब जैनशास्त्रोंमें जाति तो जाति भिन्नवर्ण तकके व्यक्तियोंमें परस्पर विवाह संबंधके सैकड़ों उदाहरण पाये जाते हैं तब क्या बम्बईकी खंडेलवाल जैनपंचायत उन सभी ऐसे विवाह करनेवालोंको, जिनमें अच्छे अच्छे पूज्य पुरुष भी शामिल हैं, घृणा और तिरस्कारकी दृष्टिसे देखती है ? यदि नहीं देखती तो फिर सेठीजीके साथ ऐसा व्यवहार किये जानेमें कौनसा विशेष कारण है। उसकी इस कार्रवाईसे तो ऐसा मालूम होता है कि वह अपने वर्तमान रीतिरिवाजोंके मुकाबलेमें जैनशास्त्रोंकी आज्ञाओं और उसके विधिविधानोंको कोई चीज नहीं समझती और न सोमदेवसूरि आदिके उन वाक्योंको मानती है जिनमें लिखा है कि 'जैनियोंको वे सर्वलौकिक विधियाँ प्रमाण हैं जिनसे सम्यक्त्वको हानि नहीं पहुँचती और न व्रतोंमें कोई दूषण आता है *।' क्या सेठीजीके इस विवाहकार्यसे सम्यक्त्वमें कोई बाधा आती है और श्रावकीय व्रतोंमें कोई दूषण लगता है ? यदि ऐसा नहीं है तो क्या उक्त पंचायतके सदस्योंको अजैन समझा जाय जो वे सेठीजीकी उक्त कार्रवाईका अभिनंदन न करके—उसे प्रामाणिक न मानकर—उलटा उसका तिरस्कार करते हैं ? अथवा यही समझा जाय

*यथाः—
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥
—यशस्तिलके सोमदेवः ।

कि वे शास्त्रोंकी उक्त आज्ञाओंको नहीं मानते ? दोनोंमेंसे एक बात जरूर स्वीकार करनी होगी। बम्बई पंचायतकी इस अनुचित कर्रवाई पर यद्यपि बहुत कुछ युक्तिपूर्वक लिखा जा सकता है, परंतु यहाँ हमें उसकी कोई विशेष आलोचना करना इष्ट नहीं है, सिर्फ सूचनाके तौरपर ये कुछ पंक्तियाँ लिखी गई हैं। आशा है बम्बईकी उक्त पंचायत अपनी कार्रवाई पर फिरसे विचार करेगी और जिस प्रकार एक निष्पक्ष विचारवान् जज तजवीज सानी (Review) में—पुनर्विचार प्रसंगमें—अपने ही पूर्व फैसलेको लौटकर यशका भागी बनता है उसी प्रकार पंचायत भी प्रकृत विषय पर गहरा विचार करके अपने पूर्व प्रस्तावको रद्द करेगी, और इस तरह अपनी विचारपटुता तथा निष्पक्षपातताका सर्वसाधारणको परिचय देगी।

२–दृष्टि-विकार।

मालूम होता है कलकत्तेकी दिगम्बर जैन सभाका दृष्टि-विकार दिन पर दिन बढ़ता जाता है। पहले उसे 'सत्योदय' और 'जातिप्रबोधक' ये दो पत्र ही भयंकर तथा उसकी श्रद्धादेवीके मंदिरको गिरा देनेवाले दिखलाई देते थे, परंतु अब कुछ ही दिन बाद, जैनहितैषी भी उसे वैसा ही नजर आने लगा है—सभाकी निर्बल और विकृतदृष्टिमें अब उसका मधुर तथा हितकर तेज भी नहीं समाता, वह भी उसे कष्टकर बोध होता है—और इस लिये अब उसने उसकी तरफसे भी आँखें बंद कर लेनेका विधान किया है—अर्थात्, एक प्रस्तावके द्वारा उक्त पत्रोंके समान उसे भी अजैन पत्र करार देकर उसके पढ़नेका निषेध किया है। जहाँतक हम समझते हैं और दूसरे विद्वान् समझ सकते हैं, जैनहितैषीकी जो नीति इस वर्षके शुरूमें थी वही अबतक बराबर चली आती है—उसमें जरा भी परिवर्तन नहीं हुआ—बल्कि, पिछले वर्षोंकी नीतिसे भी उसकी इस वर्षकी नीतिमें कोई खास फर्क नहीं पड़ा—हाँ, इतना जरूर है कि पिछले वर्षोंकी अपेक्षा इस वर्ष जैनाचार्योंके शासन-भेदको दिखलानेवाले कुछ नये ढंगके लेख जरूर निकाले गये हैं। यदि सभा वास्तवमें इन लेखोंसे ही भयभीत होती है, इन्हें ही जैनधर्मके विरुद्ध और जैनधर्मकी इमारतको धराशायी करनेवाले समझती है तो कहना होगा कि सभाको सत्यसे बिलकुल प्रेम नहीं है, सत्यके सामने उसकी आँखें चौंधियाती हैं, वह सत्यकी दुश्मन है और इस लिये उसने अपनी इस कार्रवाईके द्वारा सर्वसाधारणको यह बतलानेकी चेष्टा की है कि, सच्ची बात मत कहो—सच्ची बातोंके कहनेसे जैनधर्म स्थिर नहीं रहेगा!" क्यों कि इन लेखोंमें दिगम्बर जैनशास्त्रोंसे जो कुछ भी प्रमाण वाक्य उद्धृत किये गये हैं, और जिनसे बहुत स्पष्टताके साथ आचार्योंका परस्पर शासनभेद पाया जाता है, उन्हें कोई गलत साबित नहीं कर सकता—यह सिद्ध नहीं कर सकता कि वे वाक्य स्वयं लेखकद्वारा कल्पित किये गये हैं और उक्त ग्रंथोंमें मौजूद नहीं हैं। परंतु ये लेख तो इस वर्षके प्रथम अंकसे ही निकलने प्रारंभ हुए हैं और जिस समय 'सत्योदय' आदिकके संबंधमें सभाने प्रस्ताव पास किया था उस समय दो लेख निकल चुके थे, बादमें, हितैषीसम्बंधी दूसरे प्रस्तावके पास होने तक, और कोई लेख उस प्रकारका नहीं निकला। ऐसी हालतमें इन लेखोंके कारण सभाके कुपित, क्षुभित अथवा भयभीत होने आदिकी कोई बात समझमें नहीं आती—यदि इनके कारण ऐसा हुआ होता तो वह सत्योदयादि संबंधी प्रथम प्रस्तावके समय ही

१ ता० २१ अप्रेल सन् १९२० को
२ ता० २३ जुला (जैनमार्तंड।

होता—परंतु उस समय वैसा होना तो दूर रहा, जैनहितैषी सभाकी दृष्टिमें एक जैनपत्र था और इसी लिये प्रस्तावानुसार प्रस्तावकी एक नकल उसके संपादकके पास भी भेजी गई थी। अस्तु। दूसरा भी कोई ऐसा नवीन कारण मालूम नहीं होता जिसका अस्तित्व उस समय न हो। इस लिये यही कहना होगा कि सभाका दृष्टिविकार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। उसे जो वस्तु थोड़े ही दिन पहले अपने असली रंगरूपमें दिखलाई देती थी वही वस्तु, उसी रंगरूपमें होते हुए भी, अब विकृत दशामें नजर आती है—सफेद चीज पीली, काली अथवा हरी नजर आने लगी है—इसीका नाम दृष्टिविकार है।

३—विक्रीत देह।

सहयोगी 'जैनमार्तंड' ने अपना शरीर २५०) रुपयेमें ला० देवीसहायजी जैन रईस व बेंकर फ़ीरोजपुर छावनीके हाथ कुछ शर्तों पर बेच डाला है। अब उसके संपादक महाशय इच्छा रहने पर भी उसमें अपने स्वतंत्र विचार प्रकट नहीं कर सकेंगे और न शर्तोंके विरुद्ध अपनी किसी इच्छाको चरितार्थ कर सकेंगे। अतः जैनमार्तंडको अबसे 'विक्रीत देह' समझना चाहिये। पहली शर्तके अनुसार उसमें सिर्फ वही लेख निकला करेंगे जो दिगम्बर शुद्धाम्नायके अनुसार होंगे, दूसरे लेखोंको स्थान नहीं मिलेगा। मालूम नहीं 'दि० शुद्धाम्नाय' के स्वरूपकी लाला साहबसे कोई रजिष्टरी कराई गई या कि नहीं। दूसरी शर्तके अनुसार उन मिथ्यावादियोंका प्रत्येक अंकमें खंडन निकला करेगा जो इस (शुद्धाम्नायी) धर्मपर कलंक लगा रहे हैं। परंतु यदि किसी अंकमें खंडनके योग्य कोई बात न हो अथवा कोई लेखक खंडनविषयक लेख लिख कर न भेजे और संपादक महाशय स्वयं कोई वैसा लेख लिखनेके लिये तय्यार न हों तो अंक विना खंडनके निकलेगा या कि नहीं, और यदि निकल जाय तो पत्रको क्या तावान (जुर्माना) देना पड़ेगा यह सब कुछ मालूम नहीं हुआ। तीसरी शर्तके मुताबिक पत्रमें विधवाविवाहके प्रतिकूल लेख निकाले जावेंगे। अनुकूल लेखोंको, चाहे वे महात्मा-गाँधी जैसे विद्वानोंके विचार ही क्यों न हों, सूचना रूपसे भी, कोई स्थान नहीं मिलेगा। इसतरह मार्तंडके पाठकोंको दूसरी तरहके विचारोंकी गड़बड़में पड़ने और सोचने समझनेका कष्ट उठानेसे सुरक्षित रक्खा जायगा। चौथी शर्तके अनुसार शास्त्रोंके श्लोक तथा गाथाओंको अब इस पत्रमें छपनेका सौभाग्य प्राप्त न होगा। हाँ, उनका कुछ अंश जरूर छप सकेगा, चाहे वह किसी विवादके लिये पर्याप्त हो या न हो। मालूम नहीं, इस शर्तमें लालाजीका क्या रहस्य है और उसके अनुसार पत्रमें शास्त्रोंका गद्य भाग भी उद्धृत हो सकेगा या कि नहीं।

अपने शरीरके इस तरह बिक जानेपर जैन मार्तंडने बहुत हर्ष मनाया है और अपने खरीदारको 'परम धर्मात्मा' की पदवी प्रदान की है! इससे पाठक पत्रके हृदयकी गहराईको बहुत कुछ माप सकते हैं।

४—शुभ चिह्न।

सहयोगी जैनमित्रसे यह मालूम करके हमें बहुत प्रसन्नता हुई कि पापढ जि० अमरावतीकी एक स्त्री श्रीमती राधाबाईजीने अमरावतीमें एक 'जैन बोर्डिंग हाउस' खोलनेके लिये २० हजार रुपये मकानके वास्ते और ९ हजार रुपये वार्षिक आमदनीके पाँच खेत चिरस्थायी खर्चके लिये दान किये हैं। हमारी रायमें जैनियोंके लिये यह बड़ा ही शुभचिह्न है जो उनके स्त्री-समाजकी परिणति ऐसे समयोपयोगी कार्योंकी तरफ होने लगी है। हम श्रीमतीकी इस उदारता, दूरदृष्टता और परोपकार बुद्धिकी हृदयसे प्रशंसा

करते हैं। आशा है दूसरी स्त्रियाँ भी आपके इस दानका अनुकरण करेंगी और समयोपयोगी कार्योंमें धन व्यय करना सीखेंगी।

५–सेठी अर्जुनलालजीके विषयमें शीतलप्रसादजीके विचार।

श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने सेठी अर्जुनलालजीको, उनके पत्रके उत्तरमें, जो पत्र २८ जून सन् १९२० को देहलीसे भेजा था वह सत्योदयके हालके अंक नं० ७–८ में मुद्रित हुआ है। इस पत्रमें ब्रह्मचारीजीने सेठीजीके जैनधर्मविषयक ज्ञानके प्रति अपने जो विचार प्रकट किये हैं और उनकी पुत्रीके विवाहसम्बंध पर जिस सम्मतिका इजहार किया है उस सबको हम अपने पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत करते हैंः—

" आप जैनसिद्धान्तके मर्मको जाननेवाले हैं तथा जीवन कैसे सार्थक करना इस बातसे भी पूर्ण विज्ञ हैं। मैं आपको किसी प्रकारकी शिक्षा देनेका पात्र अपनेको नहीं समझता हूँ।"

" आपने जो अपनी पुत्रीका विवाह एक ढूमड़ व्यक्तिके साथ किया, सो भी जैनपद्धतिके अनुसार, (वह) किसी भी तरह जैनशास्त्रके विरुद्ध नहीं है। जैन जाति ८४ जातियोंमें विभक्त होकर अपनी २ जातिमें योग्य सम्बंध न पाकर जो धीरे धीरे नष्ट हो रही है उसकी रक्षाके उपायका एक नमूना आपने पेश किया है। मेरी अन्तःकरणकी भावना है कि जैसे जयपुरके पं० जयचंद, टोडरमल, दौलतराम, सदासुख आदिने जैन जातिका उपकार किया है उससे कहीं अधिक उपकार आपकी आत्मा तथा मन वचन कायके द्वारा संपादन हो तथा आपके द्वारा जैनधर्म व उसका अहिंसा तत्त्व जगतमें विस्तरै।"

ब्रह्मचारीजीके इन प्राइवेट तथा अन्तरिक विचारोंसे प्रकट है कि वे सेठीजीको कितने गौरवकी दृष्टिसे देखते हैं और उनके जैनधर्मविषयक ज्ञानको कितना ऊँचे दर्जेका समझे हुए हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि वे अंतर्जातीय विवाहोंको अच्छा मानते हैं। इतने पर भी उनके पत्र जैनमित्रमें जो कभी कभी कुछ विरुद्ध विचार निकला करते हैं उन्हें किसी दूसरी ही बाह्य पालिसी पर अवलम्बित समझना चाहिये। हो सकता है कि उनका मूल कारण लोकानुरंजन हो और उसके द्वारा ही अपने सम्मानकी रक्षा की जाती हो।

६–विशेष युद्धकी तय्यारी।

बम्बईमें दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटीकी स्पेशल मीटिंग हो गई। इसमें दूर दूरसे समाजके बहुतसे कर्णधार पधारे थे, जिनका मिशन तीर्थोंकी रक्षा पर विचार करना था। विचार हो गया, और उसमें किसीको भी युद्धके सिवाय रक्षाका कोई दूसरा उपाय सूझ नहीं पड़ा! बल्कि मीटिंगका यही निष्कर्ष निकला कि अभी तक धनाभावके कारण काफी युद्ध नहीं हो सका और विना पूर्ण युद्धके सफल मनोरथ होना असंभव है, अतः श्वेताम्बरोंके साथ विशेष युद्ध करनेके लिये, प्रचुर धन एकत्र होना चाहिये। कमेटीने फिलहाल सिर्फ २० लाख रुपयेका फंड एकत्र करनेका प्रस्ताव पास किया है! जब दिगम्बरोंमें २० लाख रुपया एकत्र होगा तब श्वेताम्बरोंमें चालीस लाख रुपया इकट्ठा हो जाना कोई बड़ी बात नही है। इससे ऐसे लक्षण पाये जाते हैं कि अब जैनसमाजमें युद्धकी आग और भी ज्यादह भड़केगी और अपना वह उग्ररूप धारण करेगी, जिसमें जैनियोंकी रही सही शांति सब नष्ट हो जायगी, और ये लोग घरू झगड़ोंमें अपनी शक्तिके दुरुपयोग द्वारा न कुछ देशके काम आ सकेंगे और न अपना ही भला कर सकेंगे। नहीं

मालूम ऐसे लोगोंको कब सद्बुद्धिकी प्राप्ति होगी और कब वह दिन आयगा जब ये लोग महावीर भगवानके शासनका रहस्य समझकर उसके अनुयायी बनेंगे और इस प्रकार व्यर्थके झगड़ोंसे मुक्ति प्राप्त करेंगे।

७—शूद्रमुक्ति।

सहयोगी पद्मावती पुरवालके संपादक पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ, स्त्रीमुक्ति पर विचार करते हुए, अपने गतांकमें लिखते हैं कि, **विदेह क्षेत्रके शूद्रतक मोक्षके अधिकारी हैं।** इससे ऐसा पाया जाता है कि आप शास्त्रानुसार शूद्र-पर्यायसे मुक्तिका होना मानते हैं, परंतु वह भरत-क्षेत्रमें नहीं। विदेह क्षेत्रमें भरतक्षेत्रके शूद्रोंकी पर्याय, चाहे वे चतुर्थ कालवर्ती ही क्यों न हों, उन्हें वह अधिकार प्रदान नहीं करती। अच्छा होता यदि संपादक महाशय उन शास्त्रीय प्रमाणोंको भी साथमें उद्धृत कर देते जिनके आधार पर उन्होंने ऐसा लिखा है। इससे पाठकोंको बहुत कुछ संतोष होता और विद्वानोंको उस पर विचार करनेका अवसर मिलता।

८—सफेद झूठ।

हालके पद्मावती पुरवाल अंक नं० ३ में 'विचित्र समाचारकी विरसता' नामका एक लेख पंडित झम्मनलालजी तर्कतीर्थकी ओरसे प्रकाशित हुआ है। यह लेख कषायसे कितना लबालब भरा हुआ है, कितना पक्षापातपूर्ण है, सभ्यताका इसमें कितना खून किया गया है, सबको एक लाठीसे हाँक कर कितना 'वाहीतवाही' बका गया है और कितनी झूठी, ऊटपटाँग तथा बेसिर पैरकी बातें लिखी गई हैं उन सबको यहाँ पर बतलानेकी जरूरत नहीं है। यहाँ हम अपने पाठकों पर सिर्फ इतना ही प्रकट करना चाहते हैं कि इस लेखमें जैनहितैषीके संपादक पर यह बिलकुल झूठा कलंक लगाया गया है कि वह श्रीसमंतभद्रादि मुनिश्रेष्ठोंकी हँसी उड़ाता और उनके वचनों पर कुठाराघात करता है। जो निष्पक्ष विद्वान् जैनहितैषीको पढ़ते हैं अथवा जिनमें कुछ भी विवेक अवशिष्ट है वे हितैषीके संपादकीय लेखोंको देखकर कह सकते हैं कि तर्कतीर्थजीने जो इलजाम लगाया है वह बिलकुल उनका 'सफेद झूठ' है और उसमें कुछ भी सार नहीं है। जान पड़ता है पंडितजी जोशतीर्थमें कुछ ऐसे डूबे हैं कि उन्हें अच्छे बुरे तथा हेयादेयकी कुछ भी तमीज नहीं रही। जो हृदय स्वामी समंतभद्र जैसे आचार्योंके प्रति अपनी गाढ भक्ति रखता है, उनके नामका नित्य स्मरण करता है और उनकी कृतियोंको बड़ी पूज्य दृष्टिसे देखता है, जिसने उनकी कृतिके रूपमे 'देवागम' नामके मंगलाचरणविशिष्ट 'गंधहस्ति-महाभाष्य' का नाम सुनकर एक बार यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि वह महान् ग्रंथ उसे उपलब्ध हो जाय तो वह उसके अध्ययन, मनन और प्रचारमें अपना जीवन व्यतीत करेगा, उस पर ऐसे इलजामका लगाया जाना निःसन्देह असहनीय है। हमें तर्कतीर्थजीके सारे लेखको पढ़कर उतना दुःख और खेद नहीं हुआ जितना कि उनके इस मिथ्या दोषारोपणसे हुआ। हमारे चित्तको इससे बहुत आघात पहुँचा है। हमारा दृढविश्वास है कि स्वामी समन्तभद्रके प्रति हम अभीतक जितना पूज्यभाव रखते हैं उसकी कल्पना भी तर्कतीर्थजी नहीं कर सकते। और इस लिये हम, बातको अधिक न बढ़ाकर तीर्थजीसे इस समय सिर्फ इतना ही निवेदन करते हैं कि वे हमारे उन वाक्योंको प्रकट करें जिनमें समंतभद्रस्वामीकी हँसी उड़ाई गई है और उनके वचनों पर कुठाराघात किया गया है। यदि वे ऐसा प्रकट करनेमें असमर्थ हैं तो उन्हें अपनी इस महती भूल पर पश्चाताप करना

चाहिये और बन सके तो कुछ प्रायश्चित्त लेना चाहिये, तभी उनके आत्माकी इस गुरुतर पापसे शुद्धि हो सकेगी।

अन्तमें हम पद्मावती पुरवालके संपादक तथा प्रकाशक दोनों महाशयोंसे निवेदन करते हैं कि वे ऐसे लेखोंको जरा सोच समझकर निकाला करें, उनपर भी कुछ जिम्मेदारी है; केवल जैसे तैसे लेखोंको अँधाधुंध प्रकाशित कर देना कोई बहादुरीका काम नहीं है, बल्कि यह बात संपादकीय धर्मके विरुद्ध है। ऐसे मिथ्या असभ्य और ऊटपटाँग लेखोंसे उनके पत्रका कुछ भी गौरव नहीं रह सकता, और न समाजमें अशांति फैलनेके सिवाय दूसरा कोई नतीजा निकल सकता है। आप लोग जैसे विद्वान् हैं—न्यायतीर्थ और काव्यतीर्थ हैं—अपना पत्र भी आपको वैसे ही ऊँचे आदर्शपर रखना चाहिये। विपक्षियोंकी बातोंका उत्तर आपके पत्रमें बड़ी ही जँचीतुली और संयत भाषामें निकलना चाहिये। इससे आपके पत्रका गौरव बढ़ेगा और समाजको भी उससे विशेष लाभ पहुँचेगा।

९ संपादक जैनगजटका स्वप्न।

हालमें हिन्दी जैनगजटके संपादक पं० रघुनाथदासजीको, अमावस्याकी मध्यरात्रिके समय जब कि उनकी प्रकृति अस्वस्थ थी, एक स्वप्न हुआ है जिसमें उन्होंने देखा है कि जैनहितैषी दिगम्बर मतसे श्वेताम्बर मतको अधिक महत्त्व दे रहा है और साथ ही जैनधर्मके विरुद्ध लेख लिखकर जैनसमाजका अहित कर रहा है! इस आश्चर्यजनक और अभूतपूर्व घटनाको देखकर सम्पादकमहाशय सहसा चकित हो उठे हैं और आपने विद्वन्मंडलीसे इस बातकी पुकार की है कि वह सूक्ष्मदृष्टिसे उनके इस स्वप्नकी जाँच करे; क्योंकि स्थूल दृष्टिसे हितैषीके सम्बंधमें उन्हें ऐसा कुछ भी मालूम नहीं होता। हमारी रायमें विद्वानों, खासकर स्वप्नशास्त्रियोंको संपादकजीकी इस पुकार पर अवश्य ध्यान देना चाहिये और दया करके उनके स्वप्नका फल बतलाते हुए उनके चित्तका समाधान करना चाहिये।

१०—विरुद्धप्रतीति।

जैनहितैषीके गतांकमें 'जगतकी रचना और उसका प्रबंध' नामका जो लेख बाबू सूरजभानजी वकीलका लिखा हुआ छपा है और जिसमें ईश्वरके जगतकर्तृत्वका निषेध किया गया है उसे हिन्दी जैनगजटके वयोवृद्ध संपादक पं० रघुनाथदासजी 'विरुद्ध' लिखते हैं! जान पड़ता है उन्हें ऐसा ही प्रतीत हुआ है। परंतु मालूम नहीं उनकी इस विरुद्धप्रतीतिका कारण क्या है। कहीं बाबूसूरजभानजीका नाम ही तो उसका कारण नहीं? अथवा ऐसा तो नहीं कि साधारण जैनजनताकी परणति कर्तृत्ववादकी ओर झुकी हुई देखकर तथा लोगोंके व्यवहारोंको उसके अनुकूल पाकर पंडितजी भी कर्तृत्ववादको पसंद करते हों और इस लिये ऐसा लिखकर उसका विधान करनेके लिये तय्यार हुए हों। कुछ भी हो, विना किसी विशेष बातका उल्लेख किये, साधारण तौर पर संपूर्ण लेखके विषयमें ऐसा लिख देना समाजमें बहुत कुछ भ्रम पैदा करेगा, और लोगोंको संपादकजीकी नीतिके समझनेमें बहुत कठिनाई होगी। आपने प्रेमीजीके लेखोंको भी विरुद्ध लिखा है, जिनमें हरिषेणकृत कथाकोश, श्रीअमृतचंद्रसूरि, लायब्रेरी, और प्राचीनग्रंथोंका संग्रह नामके लेख शामिल हैं! परंतु कुशल हो गई कि इस संयुक्तांकके संपादकीय लेखोंके मस्तक पर आपने विरुद्धताका कलंक नहीं लगाया।

———

डाँकखानेका नया नियम ।

अब डाँकखानेके नये नियमके अनुसार अनरजिस्टर्ड वी० पी० नहीं जा सकेंगे, सब वी० पी० रजिस्टर्ड ही लिये जावेंगे । अर्थात् पुस्तकके प्रत्येक पाकेट पर अभी जो पोस्टेज और म० आ० चार्ज लगता था उसके सिवाय दो आने और भी अधिक लगा करेंगे । पुस्तक चाहे चार आनेकी ही हो तो भी उसपर म० आ० और पोस्टेजके सिवाय ये दो आने भी अवश्य लगेंगे । इस लिए ग्राहक महाशयोंको चाहिए कि वे पुस्तकोंका आर्डर भेजते समय इस खर्चका विचार अवश्य कर लेवें । एक रुपयेसे कमका वी० पी० हम अब नहीं भेजते । कमका आर्डर हो तो टिकट आदि भेज देने चाहिए ।

जैनहितैषीका मूल्य अब म० आ० से ही भेजनेमें लाभ हैं । वी० पी० मँगानेसे नाहक दो आने अधिक पड़ेंगे ।

—मैनेजर ।

Printed by Chintaman Sakharam Deole, at the Bombay Vaibhav Press, Servants of India Society's Building, Sandhurst Road, Girgaon, Bombay.

Published by Nathuram Premi, Proprietor, Jain-Granth-Ratnakar Karyalaya. Hirabag, Bombay.

श्रीवर्द्धमानाय नमः ।

भाग १४।

जैनहितैषी।

अंक १२।

आश्विन १९७७। सितम्बर १९२०।

विषय-सूची ।

डाकखानेका नया नियम ।

अब डाकखानेके नये नियमके अनुसार अनरजिस्टर्ड वी० पी० नहीं जा सकेंगे, सब वी० पी० रजिस्टर्ड ही लिये जावेंगे। अर्थात् पुस्तकके प्रत्येक पाकेट पर अभी जो पोस्टेज और म० आ० चार्ज लगता था उसके सिवाय दो आने और भी अधिक लगा करेंगे। पुस्तक चाहे चार आनेकी ही हो तो भी उसपर म० आ० और पोस्टेजके सिवाय ये दो आने भी अवश्य लगेंगे। इस लिए ग्राहक महाशयोंको चाहिए कि वे पुस्तकोंका आर्डर भेजते समय इस खर्चका विचार अवश्य कर लेवें। एक रुपयेसे कमका वी० पी० हम अब नहीं भेजते। कमका आर्डर हो तो टिकट आदि भेज देने चाहिए।

जैनहितैषीका मूल्य अब म० आ० से ही भेजनेमें लाभ है। वी० पी० मगानेसे नाहक दो आने अधिक पड़ेंगे। —मैनेजर।

३-११-१९२०।

सम्पादक, बाबू जुगलकिशोर मुख्तार।

मुंबई वैभव प्रेस.

प्रार्थनायें ।

१ जैनहितैषी किसी स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर निजी लाभके लिए नहीं निकाला जाता है। इसके लिए जो समय, शक्ति और धनका व्यय किया जाता है वह केवल निष्पक्ष और ऊँचे विचारोंके प्रचारके लिए। अतः इसकी उन्नतिमें हमारे प्रत्येक पाठकको सहायता देनी चाहिए।

२ जिन महाशयोंको इसका कोई लेख अच्छा मालूम हो उन्हें चाहिए कि उस लेखको वे जितने मित्रोंको पढ़कर सुना सकें अवश्य सुना दिया करें।

३ यदि कोई लेख अच्छा न मालूम हो अथवा विरुद्ध मालूम हो तो केवल उसीके कारण लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव धारण न करनेके लिए सविनय निवेदन है।

४ लेख भेजनेके लिए सभी सम्प्रदायके लेखकोंको आमंत्रण है। —सम्पादक।

नियमावली ।

१ जैनहितैषीका वार्षिक मूल्य ३) तीन रुपया पेशगी है।

२ ग्राहक वर्षके आरंभसे किये जाते हैं और बीचमें ७ वें अंकसे। आधे वर्षका मूल्य १॥)

३ प्रत्येक अंकका मूल्य चार आने।

४ लेख, बदलेके पत्र, समालोचनार्थ पुस्तकें आदि "बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा (सहारनपुर)" के पास भेजना चाहिए। सिर्फ प्रबन्ध और मूल्य आदि सम्बन्धी पत्रव्यवहार इस पतेसे किया जायः—

मैनेजर, जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई।

विचारशील जैनियोंके पढ़नेके लिए ।

नीचे लिखी आलोचनात्मक पुस्तकें विचारशीलोंको अवश्य पढ़नी चाहिए। साधारण बुद्धिके गतानुगतिक लोग इन्हें न मँगावें।

१ ग्रंथपरीक्षा प्रथम भाग। इसमें कुन्दकुन्द-श्रावकाचार, उमास्वामिश्रावकाचार और जिनसेन-त्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थोंकी समालोचना है। अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध किया है कि ये असली जैनग्रन्थ नहीं हैं—भेषियोंके बनाये हुए हैं। मूल्य ।≈)

२ ग्रन्थपरीक्षा द्वितीय भाग। यह भद्रबाहुसंहिता नामक ग्रन्थकी विस्तृत समालोचना है। इसमें बतलाया है कि यह परमपूज्य भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ ग्रन्थ नहीं है, किन्तु ग्वालियरके किसी धूर्त भट्टारकने १६–१७ वीं शताब्दिमें इस जाली ग्रन्थको उनके नामसे बनाया है और इसमें जैनधर्मसे विरुद्ध सैकड़ों बातें लिखी गई हैं। इन दोनों पुस्तकोंके लेखक श्रीयुक्त बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं। मू० ।)

३ दर्शनसार। आचार्य देवसेनका मूल प्राकृत ग्रन्थ, संस्कृतच्छाया, हिन्दी अनुवाद और विस्तृत विवेचन। जैन इतिहासका एक महत्त्वका ग्रन्थ है। इसमें श्वेताम्बर, यापनीय, काष्ठासंघ, माथुरसंघ, द्राविड़संघ, आजीवक (अज्ञानमत) और वैनेयिक आदि अनेक मतोंकी उत्पत्ति और उनका स्वरूप बतलाया गया है। बड़ी खोज और परिश्रमसे इसकी रचना हुई है।

पार्श्वपुराण भाषा ।

कविवर भूधरदासजीका यह अपूर्व ग्रन्थ दूसरीबार छपाया गया है। इसकी कविता बड़ी ही मनोहारिणी है। जैनियोंके कथाग्रन्थोंमें इससे अच्छी सुन्दर कविता आपको और कहीं न मिलेगी। विद्यार्थियोंके लिए भी बहुत उपयोगी है। शास्त्रसभाओंमें बाँचनेके योग्य है। बहुत सुन्दरतासे छपा है। मू० सिर्फ १)रु०

नियमसार ।

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यका यह बिलकुल ही अप्रसिद्ध ग्रन्थ है। लोग इसका नाम भी नहीं जानते थे। बड़ी मुश्किलसे प्राप्त करके यह छपाया गया है। नाटक समयसार आदिके समान ही इसका प्रचार होना चाहिए। मूल प्राकृत, संस्कृतच्छाया, आचार्य पद्मप्रभमलधारि देवकी संस्कृत टीका और श्रीयुत शीतलप्रसादजी ब्रह्मचारीकृत सरल भाषाटीकासहित यह छपाया गया है। अध्यात्मप्रेमियोंको अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए। मूल्य दो रुपया

मैनेजर, जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, बम्बई।

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।

जैनहितैषी ।

चौदहवाँ भाग । अंक ११

सितम्बर १९२०
आश्विन २४४६

न हो पक्षपाती बतावे सुमार्ग, डरे ना किसीसे कहे सत्यवाणी ।
बने है विनोदी भले आशयोंसे, सभी जैनियोंका हितैषी ' हितैषी ' ॥

जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दी ।

[लेखक—श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमी ।]

जैनेन्द्र ।

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनाः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥
—धातुपाठ ।

मुग्धबोधकर्ता पं० बोपदेवने उक्त श्लोकमें जिन आठ वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उनमें एक ' जैनेन्द्र ' भी है। ये जैनेन्द्र अथवा जैनेंद्र व्याकरणके कर्त्ता कौन थे इस विषयमें इतिहासज्ञोंमें कुछ समय तक बड़ा विवाद चला था। डॉ० कीलहार्नने इसे जिनदेव अथवा भगवान् महावीरद्वारा इन्द्रके लिए कहा गया सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था और इसके सुबूतमें उन्होंने कल्पसूत्रकी समयसुन्दरकृत टीका, और लक्ष्मीवल्लभकृत उपदेशमालाकरणिकाका यह उल्लेख पेश किया था कि जिनदेव महावीर जिस समय ८ वर्षके थे उस समय इन्द्रने उनसे शब्दलक्षणसंबंधी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तररूप यह व्याकरण बतलाया गया, इसलिये इसका नाम जैनेन्द्र पड़ा।

यदिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारेपि निरूपितम् ।
ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम् ॥

श्वेताम्बरसम्प्रदायके और भी कई ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्रकी विनयविजयकृत सुबोधिकाटीकामें लिखा है:—

" [शक्रः] यत्र भगवान् तिष्ठति तत्र पण्डितगेहे समाजगाम । आगत्य च पण्डितयोग्ये आसने भगवन्तं उपवेश्य पण्डितमनोगतान् सन्देहान् पप्रच्छ; श्रीवीरोऽपि बालोऽयं किं वक्ष्यतीत्युत्कर्णेषु सकललोकेषु सर्वाणि उत्तराणि ददौ, ततो ' जैनेन्द्रव्याकरणं जज्ञे । यतः—

सक्को य तस्समक्खं भगवंतं आसणे निवेसित्ता ।
सद्दस्स लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इंदं ॥ "

---

1 इंडियन एण्टिक्वेरी जिल्द १०, पृ० २५।

अर्थात् भगवानको माता-पिताने पाठशालामें गुरुके पास पढ़नेके लिए भेजा है, यह जानकर इन्द्र स्वर्गसे आया और पण्डितके घर, जहाँ भगवान् थे वहाँ, गया। उसने भगवानको पण्डितके आसनपर बिठा दिया और पण्डितके मनमें जो जो सन्देह थे, उन सबको पूछा। जब सब लोग यह सुननेके लिए उत्कर्ण हो रहे थे कि देखें यह बालक क्या उत्तर देता है; भगवान् वीरने सब प्रश्नोंके उत्तर दे दिये, तब 'जैनेंद्र व्याकरण' बना।

परंतु इस प्रसंगके वे सब उल्लेख अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं जिनमें भगवानके उत्तररूप इस व्याकरणका नाम 'जैनेन्द्र' बतलाया है। प्राचीन उल्लेखोंमें इसका नाम जैनेन्द्रकी जगह 'ऐन्द्र' प्रकट किया गया है, जैसा कि आवश्यकसूत्रकी हारिभद्रीयवृत्तिके पृष्ठ १८२ में—

"शक्रश्च तत्समक्षं लेखाचार्यसमक्षं भगवन्तं तीर्थंकरं आसने निवेश्य शब्दस्य लक्षणं पृच्छति। भगवता च व्याकरणं अभ्यधायि। व्याक्रियन्ते लौकिकसामयिकाः शब्दाः अनेन इति व्याकरणं शब्दशास्त्रम्। तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः, ततश्च ऐन्द्रं व्याकरणं संजातम्।"

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र अपने योगशास्त्रके प्रथम प्रकाशमें लिखते हैं:—

"मातापितृभ्यामन्येद्युः प्रारब्धेऽध्यापनोत्सवे।
शक्रः सर्वज्ञस्य शिष्यत्वमितीन्द्रस्तमुपास्थित ॥ ५६ ॥
उपाध्यायासने तस्मिन्वासवेनोपवेशितः।
प्रणम्य प्रार्थितः स्वामी शब्दपारायणं जगौ ॥ ५७ ॥
इदं भगवतेन्द्राय प्रोक्तं शब्दानुशासनम्।
उपाध्यायेन तच्छ्रुत्वा लोकेष्वैन्द्रमितीरितम् ॥ ५८ ॥

इसके अनुसार भगवानने इन्द्रके लिए जो शब्दानुशासन कहा, उपाध्यायने उसे सुनकर लोकमें 'ऐन्द्र' नामसे प्रकट किया। अर्थात् इन्द्रके लिए जो व्याकरण कहा गया, उसका नाम 'ऐन्द्र' हुआ।

प्राचीन कालमें इन्द्रनामक आचार्यका बनाया हुआ एक संस्कृत व्याकरण था[1]। इसका उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। ऊपर दियेहुए बोपदेवके श्लोकमें भी उसका नाम दर्ज है। हरिवंशपुराणके कर्त्ताने देवनन्दिको 'इन्द्रचंद्रार्कजैनेंद्रव्यापिव्याकरणेक्षिणः' विशेषण दिया है। शब्दार्णवचंद्रिकाकी ताड़पत्रवाली प्रतिमें, जो १३ वीं शताब्दिके लगभगकी लिखी हुई मालूम होती है, "इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनयः" आदि श्लोकमें इन्द्रके व्याकरणका उल्लेख है। बहुत समय हुआ यह नष्ट होगया है[2]। जब यह उपलब्ध ही नहीं है तब इसके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यद्यपि आजकलके समयमें इस बातपर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीरने भी कोई व्याकरण बनाया होगा और वह भी मागधी या प्राकृतका नहीं, किन्तु ब्राह्मणोंकी खास भाषा संस्कृतका—तो भी यह निस्सन्देह है कि वह व्याकरण 'जैनेन्द्र' तो नहीं था। यदि बनाया भी होगा तो वह 'ऐन्द्र' ही होगा। क्यों कि हरिभद्रसूरि और हेमचंद्रसूरि उसीका उल्लेख करते हैं, जैनेन्द्रका नहीं। जान पड़ता है, विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभने पीछेसे 'ऐन्द्र' को ही 'जैनेन्द्र' बना डाला है। उनके समयमें भी 'ऐन्द्र' अप्राप्य था, इसलिये उन्होंने प्राप्य 'जैनेंद्र' को ही भगवान महावीरकी कृति बतलाना विशेष सुखकर और लाभप्रद सोचा होगा।

---

१ डॉ० ए० सी० बर्नेलने इन्द्रव्याकरणके विषयमें चीनी तिब्बतीय और भारतीय साहित्यमें जो जो उल्लेख मिलते हैं उनको संग्रह करके 'ओन दि ऐन्द्रस्कूल ऑफ संस्कृत ग्रामेरियन्स' नामकी एक बड़ी पुस्तक लिखी है।

२ "देव प्रणष्टमैन्द्रं तदस्मद्व्याकरणं भुवि"
—कथासरित्सागर, तरंग ४।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हरिभद्र- ...रि विक्रमकी आठवीं शताब्दिके और हेमचन्द्र- ... तेरहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं जिन्होंने ...न्द्र ’ को भगवानका व्याकरण बतलाया है; परंतु ‘ जैनेन्द्र ’ को भगवत्प्रणीत बतलानेवाले विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभ विक्रमकी अठारहवीं शताब्दिमें हुए हैं ।

विनयविजयजीके इस उल्लेखने बड़ा काम किया कि भगवत्प्रणीत व्याकरणका नाम ‘ जैनेन्द्र ’ है । यह निश्चय है कि भगवत्प्रणीत व्याकरणको ‘ जैनेन्द्र ’ लिखते समय उनका लक्ष्य इस देवनन्दि या पूज्यपादकृत ‘ जैनेन्द्र ’ पर ही रहा होगा; परन्तु जान पड़ता है कि वे इस विषयमें उक्त उल्लेखके सिवाय और कुछ प्रयत्न नहीं कर सके । यह काम बाकी ही पड़ा रहा कि वह जैनेन्द्र व्याकरण लोगोंके समक्ष उपस्थित कर दिया जाय और भक्तजन अपने भगवानकी व्याकरणज्ञता देखकर गद्गद हो जायँ । खुशीकी बात है कि उनके कुछ ही समय बाद वि० सं० १७९७ में एक श्वेताम्बर विद्वान्ने इस कार्यको पूरा कर डाला—साक्षात् महावीर देवका बनाया हुआ व्याकरण तैयार कर दिया और उसका दूसरा नाम ‘ भगवद्वाग्वादिनी ’ रक्खा !

इस भगवद्वाग्वादिनीकी सबसे पहली प्रतिके दर्शन करनेका सौभाग्य हमें पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें प्राप्त हुआ । यह तक्षक नगरमें रत्नर्षि नामक लेखकद्वारा वि० सं० १७९७ में लिखी गई थी । इसकी पत्रसंख्या ३०, और श्लोकसंख्या ८०० है । प्रत्येक पत्रमें ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ४० अक्षर हैं । प्रति बहुत शुद्ध है । जैनेन्द्रका सूत्रपाठ मात्र है—और वह सूत्रपाठ है जिसपर शब्दार्णवचन्द्रिका टीका लिखी गई है । इस वाग्वादिनीके आविष्कारक अच्छे वैय्याकरण दिखते हैं । उन्होंने शक्तिभर इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि इसके कर्त्ता साक्षात् महावीर भगवान् हैं । दिगम्बरी देवनन्दीका बनाया हुआ यह कभी नहीं हो सकता । उनकी सब युक्तियाँ हमने इस ग्रन्थके परिचयमें—जो परिशिष्टमें दिया गया है—उद्धृत कर दी हैं । उन सब पर विचार करनेकी यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । इस लेखको पूरा पढ़ लेने पर पाठकोंको वे सब युक्तियाँ स्वयं ही सारहीन प्रतीत होने लगेंगी ।

हमारा अनुमान है कि डॉ० कीलहार्नके हाथमें यह ‘ भगवद्वाग्वादिनी ’ की प्रति अवश्य पड़ी होगी और इसीकी कृपासे प्रेरित होकर उन्होंने अपना पूर्वोक्त लेख लिखा होगा । उनके लेखमें जो श्लोकादि प्रमाणस्वरूप दिये गये हैं वे भी सब इसी परसे लिये गये जान पड़ते हैं । अस्तु ।

डॉ० कीलहार्नके इस भ्रमको सबसे पहले प्रो० पाठकने दूर किया था और अब तो जैनेन्द्र व्याकरणकी बहुत प्रसिद्धि हो चुकी है । उसकी या उसके परिशोधित—परिवर्तित संस्करणकी कई टीकायें भी छप चुकी हैं । इस लिए अब सभी विद्वान् इस विषयमें सहमत हो गये हैं कि जैनेन्द्र व्याकरण किसी तीर्थंकर या भगवानका नहीं किन्तु अन्य वैयाकरणोंके समान ही एक विद्वानका बनाया हुआ है और उनका नाम देवनन्दि या पूज्यपाद था ।

देवनन्दि अथवा पूज्यपाद ।

श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः ।
चारित्रचञ्चुरखिलावनिपालमौलि-
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः ॥ १ ॥
एवं महाचार्यपरम्परायां
स्यात्कारमुद्राङ्किततत्त्वदीपः ।
भद्रः समन्ताद्गुणतो गणीशः
समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः ॥ २ ॥

ततः—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो
बुद्धया महत्या स जिनेंद्रबुद्धिः ॥ २ ॥
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभि-
र्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥ ३ ॥

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः ।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदामा-
ख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥*

इस अवतरणके तीसरे श्लोकका अभिप्राय यह है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

श्रवणबेल्गोलके नं० १०८ के मंगराज कविकृत शिलालेखमें जो शकसंवत् १३६५ (वि० सं० १५००) का लिखा हुआ है, नीचे श्लोक उपलब्ध होते हैं:—

श्रीपूज्यपादोध्दृतधर्मराज्य-
स्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः ।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं
वदन्ति शास्त्राणि तदुध्दृतानि ॥ १५ ॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्रयोगिभिः
कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः ।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत्स
जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥ १६ ॥
श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि-
र्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शनप्रभावात्
कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥ १७ ॥

इन श्लोकोंसे भी उनके पूज्यपाद और जिनेंद्रबुद्धि नाम प्रकट होते हैं।

नन्दिसंघकी पट्टावलीके नीचे लिखे हुए श्लोकसे भी देवनन्दिका दूसरा नाम पूज्यपाद था, यह स्पष्ट होता है।

यशःकीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः ।
श्रीपूज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकरः ॥

इनका संक्षिप्त नाम 'देव' भी था। आचार्य जिनसेन, वादिराजसूरि, और पुन्नाटसंघीय जिनसेनने इन्हें इसी संक्षिप्त नामसे स्मरण किया है—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरां तत्र वर्ण्यते ।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥५२॥
—आदिपुराण प्रथम पर्व।

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलंभिताः॥१८॥
—पार्श्वनाथचरित प्रथम सर्ग।

इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापि (डि) व्याकरणेक्षिणः ।
देवस्य देववन्द्यस्य न वंदते गिरः कथम् ॥ ३१ ॥
—हरिवंशपुराण।

अनेक लेखकोंने उन्हें केवल देवनन्दि नामसे और केवल पूज्यपाद नामसे स्मरण किया है और दोनों नामोंसे उन्हें वैयाकरण माना है। आचार्य शुभचन्द्र पाण्डवपुराणमें लिखते हैं—

पूज्यपादः सदापूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम् ।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः ॥

महाकवि धनंजय अपनी नाममालामें पूज्यपादको लक्षणग्रन्थ (व्याकरण) का कर्त्ता मानते हैं:—

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ २० ॥

श्रवणबेल्गोलके ४७ वें नंबरके शिलालेखमें श्रीमेघचन्द्र त्रैविद्यदेवकी स्तुतिमें नीचे लिखा हुआ श्लोक दिया है:—

सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्त्राब्जिनीभास्करः,
षट्तर्केष्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले ।
सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयं,
त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपञ्चाननः ॥

---

* ये श्लोक श्रीयुक्त पं० कलापा भरमापा निटवेने सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें उध्दृत किये हैं; पर यह नहीं सूचित किया है कि ये कहाँके हैं।

इसमें मेघचन्द्रको पूज्यपादके समान व्याकरणका ज्ञाता बतलाया है। इससे पूज्यपादका वैयाकरण होना सिद्ध है। ये मेघचन्द्र आचारसारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु थे और इनका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ (वि० सं० ११७२) में हुआ था।

अनगारधर्मामृतटीकाकी प्रशस्तिमें—जो वि० सं० १३०० में लिखी गई है—पण्डित आशाधरजीने लिखा है कि मैंने जैन न्याय और जैनेन्द्र व्याकरणशास्त्र पण्डित महावीरसे धारा नगरीमें पढ़े—"धारायामपठज्जिनप्रमिति-वाक्शास्त्रे महावीरतः।" और 'जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे' की टीका में लिखा है—"जैनेन्द्रं प्रमाणशास्त्रं जैनेन्द्रव्याकरणं च।" इससे यह निश्चय होता है कि आशाधरके समयमें जैनेन्द्र व्याकरणका पठन-पाठन होता था। सागार और अनगारधर्मामृतटीकामें कई जगह प्रमाणरूपमें व्याकरणके सूत्र दिये हैं और वे इसी देवनन्दिकृत जैनेन्द्रव्याकरणके हैं।

कर्नाटक देशमें वृत्तविलास नामके एक जैन कवि हो गये हैं। उन्होंने अमितगतिकृत धर्मपरीक्षाके आधारसे वि० सं० १२१७ के लगभग 'धर्मपरीक्षा' नामका ग्रन्थ कनड़ी भाषामें लिखा है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें पूज्यपाद आचार्यकी बड़ी प्रशंसा लिखी है और वे जैनेन्द्रव्याकरणके रचयिता थे, इस बातका स्पष्ट उल्लेख किया है। साथ ही उनकी अन्यान्य रचनाओंका भी परिचय दिया है:—

भरदिं जैनेन्द्र भासुरं=एनल् ओरेदं पाणिनीयक्के टीकुं बरेदं तत्त्वार्थमं टिप्पणदिन् अरिपिदं यंत्र-मंत्रादिशास्त्रोत्करम्।

भूरक्षणार्थं विरचिसि जसमुं ताळ्दिदं विश्वविद्याभरणं भव्यालियाराधितपदकमलं पूज्यपादं व्रतीन्द्रम्॥

इसका अभिप्राय यह है कि व्रतीन्द्र पूज्यपादने-जिनके चरणकमलोंकी अनेक भव्य आराधना करते थे और जो विश्वभरकी विद्याओंके शृंगार थे—प्रकाशमान जैनेन्द्र व्याकरणकी रचना की, पाणिनि व्याकरणकी टीका लिखी, टिप्पण द्वारा (सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थसूत्रटीका) तत्त्वार्थका अर्थावबोधन किया और पृथ्वीकी रक्षाके लिए यंत्रमंत्रादि शास्त्रकी रचना की।

आचार्य शुभचन्द्रने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानार्णवके प्रारंभमें देवनन्दिकी प्रशंसा करते हुए लिखा है।

> अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।
> कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥

अर्थात् जिनकी वाणी देहधारियोंके शरीर, वचन और मनसम्बन्धी मैलको मिटा देती है, उन देवनन्दीको मैं नमस्कार करता हूँ। इस श्लोकमें देवनन्दीकी वाणीकी जो विशेषता बतलाई है, वह विचारयोग्य है। हमारी समझमें देवनन्दिके तीन ग्रन्थोंको लक्ष्य करके यह प्रशंसा की गई है। शरीरके मैलको नाश करनेके लिए उनका वैद्यकशास्त्र, वचनका मैल (दोष) मिटानेके लिए जैनेन्द्र व्याकरण और मनका मैल दूर करनेके लिए समाधितंत्र है। अतएव इससे मालूम होता है कि वचनदोषको दूर करनेवाली उनकी कोई रचना अवश्य है और वह जैनेन्द्र व्याकरण ही हो सकती है।

इनके सिवाय विक्रमकी आठवीं शताब्दिके बाद कनड़ी भाषामें जितने काव्यग्रन्थ लिखे गये हैं, प्रायः उन सभीके प्रारंभिक श्लोकोंमें पूज्यपादकी प्रशंसा की गई है *।

इन सब उल्लेखोंसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि पूज्यपाद एक बहुत ही प्रसिद्ध ग्रंथकार हो गये हैं और देवनन्दि उनका ही दूसरा नाम था। साथ ही वे सुप्रसिद्ध

* देखो हिस्ट्री आफ दि कनडी लिटरेचर।

जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता थे इस बातको इतना विस्तारसे लिखनेकी आवश्यकता इसी कारण हुई कि बहुत लोग पूज्यपाद और देवनन्दिको जुदा जुदा मानते थे और कोई कोई पूज्यपादको देवनन्दिका विशेषण ही समझ बैठे थे।

जैनेन्द्रकी प्रत्येक हस्तलिखित प्रतिके प्रारंभमें नीचे लिखा श्लोक मिलता है:—

लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते।
देवनन्दितपूजेशं नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

इसमें ग्रन्थकर्ताने 'देवनन्दितपूजेशं' पदमें जो कि भगवानका विशेषण है अपना नाम भी प्रकट कर दिया है। संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंके मंगलाचरणोंमें यह पद्धति अनेक विद्वानोंने स्वीकार की है *। इससे स्वयं ग्रन्थकर्ताके वचनोंसे भी जैनेन्द्रके कर्ता 'देवनन्दि' ठहरते हैं।

× गणरत्न महोदधिके कर्ता वर्धमान (श्वेताम्बर) और हैम शब्दानुशासनके लघुन्यास बनानेवाले कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताका नाम देवनन्दि ही बतलाते हैं। अतः हम समझते हैं कि अब इस विषयमें किसी प्रकारका कोई सन्देह बाकी नहीं रह जाता है कि यह व्याकरण देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ है।

प्रथम जैनव्याकरण।

जहाँ तक हम जानते हैं, जैनोंका सबसे पहला संस्कृत व्याकरण यही है। अभी तक इसके पहलेका कोई भी व्याकरणग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। शाकटायन, सिद्धहैमशब्दानुशासन आदि सब व्याकरण इससे पीछेके बने हुए हैं। इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके सूत्र बहुत ही संक्षिप्त हैं। 'अर्धमात्रालाघवं पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैय्याकरणाः'। इस प्रवादकी सचाई इसके सूत्रोंपर दृष्टि डालनेसे बहुत अच्छी तरह स्पष्ट होती है। संज्ञाकृत लाघवको भी इसमें स्वीकार किया है, जब कि पाणिनीयमें संज्ञाकृत लाघव ग्रहण नहीं किया है। इसकी प्रशंसामें जैनेंद्रप्रक्रियामें लिखा है:—

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत् क्वचित् ॥

संस्करण-भेद।

जैनेन्द्र व्याकरणका मूल सूत्रपाठ दो प्रकारका उपलब्ध है—एक तो वह जिसपर आचार्य अभयनन्दिकी 'महावृत्ति' तथा श्रुतकीर्तिकृत 'पंचवस्तु' नामकी प्रक्रिया है; और दूसरा वह जिसपर सोमदेवसूरिकृत 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' और गुणनन्दिकृत 'जैनेन्द्र-प्रक्रिया'[1] है। पहले प्रकारके पाठमें लगभग ३००० और दूसरेमें लगभग ३७०० सूत्र हैं, अर्थात् एकसे दूसरेमें कोई ७०० सूत्र अधिक हैं, और जो ३००० सूत्र है वे भी दोनोंमें एकसे नहीं हैं। अर्थात् दूसरे सूत्रपाठमें पहले सूत्रपाठके सैकड़ों सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित भी किये गये हैं। पहले प्रकारका सूत्रपाठ पाणिनीय सूत्रपा-

* १—देखिए नीतिवाक्यामृतके मंगलाचरणमें सोमदेव कहते हैं:—

"सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम्।
सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥"

२—आचार्य अनन्तवीर्य लघीयस्त्रयकी वृत्तिके प्रारंभमें कहते हैं—

जिनाधीशं मुनिं चन्द्रमकलंकं पुनः पुनः।
अनन्तवीर्यमानौमि स्याद्वादन्यायनायकम् ॥"

३—भावसंग्रहमें देवसेनसूरि मंगलाचरण करते हैं:—

पणमिय सुरसेणणुयं मुणिगणहरवंदियं महावीरं।
वोच्छामि भावसंगहमिणमो भव्वप्पबोहट्ठं ॥

× शाकातुरीयशकटाङ्गजचन्द्रयोमि—
दिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्याः।

१ यह जैनेन्द्रप्रक्रिया गुणनन्दिकृत है या नहीं, इसमें हमें बहुत कुछ सन्देह है। आगे चलकर इस विषयका खुलासा किया गया है।

ठके ढंगका है, वर्तमानदृष्टिसे वह कुछ अपूर्णसा जान पड़ता है और इसी लिए महावृत्तिमें बहुतसे वार्तिक तथा उपसंख्यान आदि बनाकर उसकी पूर्णता की गई दिखलाई देती है, जब कि दूसरा पाठ प्रायः पूर्णसा जान पड़ता है और इसी कारण उसकी टीकाओंमें वार्तिक आदि नहीं दिखलाई देते। दोनों पाठोंमें बहुतसी संज्ञायें भी भिन्न प्रकार की हैं।

इन भिन्नताओंके होते हुए भी दोनों पाठोंमें समानता भी कमी नहीं है। दोनोंके अधिकांश सूत्र समान हैं, दोनोंके प्रारंभका मंगलाचरण बिलकुल एक ही है और दोनोंके कर्ताओंका नाम भी देवनन्दि या पूज्यपाद लिखा हुआ मिलता है।

असली सूत्रपाठ ।

अब प्रश्न यह है कि इन दोनोंमेंसे स्वयं देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ असली सूत्रपाठ कौनसा है। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो० के० बी० पाठकका कथन है कि दूसरा पाठ जिसपर सोमदेवकी शब्दार्णवचन्द्रिका लिखी गई है वास्तविक पाठ है। हमारे दिगम्बर सम्प्रदायके विद्वानोंमें श्रीयुत पं० पन्नालालजी बाकलीवाल और उनके अनुयायी पं० श्रीलालजी व्याकरणशास्त्री भी इसी मतको माननेवाले हैं। इसके विरुद्ध न्यायतीर्थ और न्यायशास्त्री पं० वंशीधरजी तथा पं० पन्नालालजी सोनी दूसरे पाठको वास्तविक मानते हैं, जिसपर कि अभयनन्दिकी वृत्ति लिखी गई है। यद्यपि इन दोनों ही पक्षके विद्वानोंकी ओरसे अभीतक कोई ऐसे पुष्ट प्रमाण उपस्थित नहीं किये गये हैं जिनसे इस प्रश्नका अच्छी तरह निर्णय हो जाय; परन्तु हमको पं० वंशीधरजीका मत ठीक मालूम होता है और पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि हमें इस मतको करीब करीब निर्भ्रान्त मान लेनेके अनेक पुष्ट प्रमाण मिल गये हैं।

इन प्रमाणोंके आधारसे हम इस सिद्धान्तपर पहुँचे हैं कि आचार्य देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है जिसपर अभयनन्दिने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समयतक तो ठीक समझा जाता रहा जबतक पाल्यकीर्तिका शाकटायन व्याकरण नहीं बना था। शायद शाकटायनको भी जैनेन्द्रके होते हुए एक जुदा व्याकरण बनानेकी आवश्यकता इसी लिए मालूम पड़ी होगी कि जैनेन्द्र अपूर्ण था, और बिना वार्तिकों और उपसंख्यानों आदिके काम नहीं चल सकता था। परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वांगपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरणके भक्तोंको उसकी त्रुटियाँ विशेष खटकने लगीं और उनमेंसे आचार्य गुणनन्दिने उसे सर्वांगपूर्ण बनानेका प्रयत्न किया। इस प्रयत्नका फल ही यह दूसरा सूत्रपाठ है जिस पर सोमदेवकी शब्दार्णवचन्द्रिका रची गई है। इस सूत्रपाठको बारीकीके साथ देखनेसे मालूम पड़ता है कि गुणनन्दिके समय तक व्याकरणसिद्ध जितने प्रयोग होने लगे थे उन सबके सूत्र उसमें मौजूद हैं और इसलिए उसके टीकाकारोंको वार्तिक आदि बनानेके झंझटोंमें नहीं पड़ना पड़ा है। अभयनन्दिकी महावृत्तिके ऐसे बीसों वार्तिक हैं जिनके इस पाठमें सूत्र ही बना दिये गये हैं। नीचे लिखे प्रमाणोंसे हमारे इन सब विचारोंकी पुष्टि होती है:—

१—शब्दार्णवचन्द्रिकाके अन्तमें नीचे लिखा हुआ श्लोक देखिए—

> श्रीसोमदेवयतिनिर्मितिमादधाति
> या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवार्धौ ।
> सोऽयं सताममलचेतसि विस्फुरन्ती
> वृत्तिः सदानुतपदा परिवर्तिषीष्ट ॥

इसमें सुप्रसिद्ध गुणनन्दि आचार्यके शब्दवार्धि या शब्दार्णवमें प्रवेश करनेके लिए सोमदेवकृत वृत्तिको नौकाके समान बतलाया है।

इससे यह जान पड़ता है कि आचार्य गुणनन्दिके बनाये हुए व्याकरण ग्रन्थकी यह टीका है और उसका नाम शब्दार्णव है । इस टीकाका 'शब्दार्णवचन्द्रिका' नाम भी तभी अन्वर्थक होता है, जब मूल सूत्रग्रन्थका नाम शब्दार्णव हो । हमारे इस अनुमानकी पुष्टि जैनेन्द्रप्रक्रियाके नीचे लिखे अन्तिम श्लोकसे और भी अच्छी तरहसे होती है—

सत्संधिं दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोन्नतं,
निर्ह्रातं बहुतद्धितं क्रम [कृत] मिहाख्यातं
यशःशालिना (न) म् ।
सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णयं,
नावत्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥

इसका आशय यह है कि गुणनन्दिने जिसके शरीरको विस्तृत किया है, उस शब्दार्णवको जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए तथा आश्रय लेनेवालोंके लिए यह प्रक्रिया साक्षात् नावके समान काम देगी । इसमें 'शब्दार्णव' को 'गुणनन्दितानितवपुः' विशेषण दिया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है । उससे साफ समझमें आता है कि गुणनन्दिके जिस व्याकरणपर ये दोनों टीकायें—शब्दार्णवचन्द्रिका और जैनेन्द्रप्रक्रिया—लिखी गई हैं उसका नाम 'शब्दार्णव' है और वह मूल (असली) जैनेन्द्र व्याकरणके संक्षिप्त शरीरको तानित या विस्तृत करके बनाया गया है ।

शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रारंभका मंगलाचरण भी इस विषयमें ध्यान देने योग्य है:—

श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं
सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम् ।
सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं
सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥

इसमें ग्रन्थकर्ताने भगवान् महावीरके विशेषणरूपमें क्रमसे पूज्यपादका, गुणनन्दिका और अपना (सोमामर या सोमदेवका) उल्लेख किया है और इसमें वे निस्सन्देह यही ध्वनित करते हैं कि मुख्य व्याकरणके कर्ता पूज्यपाद हैं, उसको विस्तृत करनेवाले गुणनन्दि हैं और फिर उसकी टीका करनेवाले सोमदेव (स्वयं) हैं । यदि यह चन्द्रिका टीका पूज्यपादकृत ग्रन्थकी ही होती, तो मंगलाचरणमें गुणनन्दिका नाम लानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी । गुणनन्दि उनकी गुरुपरम्परामें भी नहीं हैं, जो उनका उल्लेख करना आवश्यक ही होता । अतः यह सिद्ध है कि चन्द्रिका और प्रक्रिया दोनोंके ही कर्ता यह समझते थे कि हमारी टीकायें असली जैनेन्द्रपर नहीं किन्तु उसके 'गुणनन्दितानितवपु' शब्दार्णवपर बनी हैं ।

२—शब्दार्णवचन्द्रिका और जैनेन्द्रप्रक्रिया[1] इन दोनों ही टीकाओंमें 'एकशेष' प्रकरण है; परन्तु अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति' वाले सूत्रपाठमें एकशेषको अनावश्यक बतलाया है—"स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः ।" (१-१-९९) और इसी लिए देवनन्दि या पूज्यपादका व्याकरण 'अनेकशेष' कहलाता है । चन्द्रिका टीकाके कर्ता स्वयं ही "आदावुपज्ञोपक्रमम्" (१-४-११४) सूत्रकी टीकामें उदाहरण देते हैं कि "देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम् ।" यह उदाहरण अभयनन्दिकृत महावृत्तिमें भी दिया गया है । इससे सिद्ध है कि शब्दार्णवचन्द्रिकाके कर्ता भी उस व्याकरणको देवोपज्ञ या देवनन्दिकृत मानते हैं, जो अनेकशेष है, अर्थात् जिसमें 'एकशेष' प्रकरण नहीं है । और ऐसा व्याकरण वही है जिसकी टीका अभयनन्दिने की है ।

आचार्य विद्यानन्दि अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृष्ठ २६५) में 'नैगमसंग्रह—' आदि सूत्रकी

१ हमारा अनुमान है कि इस प्रक्रियाका भी नाम 'शब्दार्णव-प्रक्रिया' होगा, जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं ।

व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"नयश्च नयौ च नयाश्च नया इत्येकशेषस्य स्वाभाविकस्याभिधाने दर्शनात् केषांचित्तथा वचनोपलम्भाच्च न विरुध्यते।" इसमें स्वाभाविकताके कारण, एकशेषकी अनावश्यकता प्रतिपादित है और यह अनावश्यकता जैनेन्द्रके वास्तविक सूत्रपाठमें ही उपलब्ध होती है। "स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः" (१–१–९९) यह सूत्र शब्दार्णववाले पाठमें नहीं है, अतः विद्यानन्द भी इसी सूत्रवाले जैनेन्द्रपाठको माननेवाले थे। पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिए कि उपलब्ध व्याकरणोंमें 'अनेकशेष' व्याकरण केवल देवनन्दिकृत ही है, दूसरा नहीं।

३—'सर्वार्थसिद्धि' तत्त्वार्थसूत्रकी सुप्रसिद्ध टीका है। इसके कर्ता स्वयं पूज्यपाद या देवनन्दि हैं जिनका कि बनाया हुआ प्रस्तुत जैनेन्द्र व्याकरण है। इस टीकामें अध्याय ५ सूत्र २४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—"'अन्यतोऽपि' इति तसि कृते सर्वतः।" इसी सूत्रकी व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार लिखते हैं—"'दृश्यतेऽन्यतोपीति' तसि कृते सर्वेषु भवेषु सर्वत इति भवति।" जान पड़ता है या तो सर्वार्थसिद्धिकारने इस सूत्रको संक्षेप करके लिखा होगा, या लेखकों तथा छपानेवालोंने प्रारंभका 'दृश्यते' शब्द छोड़ दिया होगा। कुछ भी हो, पर यह पूरा सूत्र 'दृश्यतेऽन्यतोपि' ही है और यह अभयनन्दिवाले सूत्रपाठके अ० ४ पा० ७ का ७५ वाँ सूत्र है। परन्तु शब्दार्णववाले पाठमें न तो यह सूत्र ही है और न इसके प्रतिपाद्यका विधानकर्ता कोई और ही सूत्र है। अतः यह सिद्ध है कि पूज्यपादका असली सूत्रपाठ वही है जिसमें उक्त सूत्र मौजूद है।

४—भट्टाकलंकदेवने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें 'आद्ये परोक्षं (अ० १ सू० ११)' की व्याख्यामें "सर्वादि सर्वनाम।" (१–१–३५) सूत्रका उल्लेख किया है, इसी तरह पण्डित आशाधरने अनगारधर्मामृत टीका (अ० ७ श्लो० २४) में "स्तोके प्रतिना" (१–३–३७) और "भार्थे" (१–४–१४) इन दो सूत्रोंको उद्धृत किया है और ये तीनों ही सूत्र जैनेन्द्रके अभयनन्दिवृत्तिवाले सूत्रपाठमें ही मिलते हैं। शब्दार्णववाले पाठमें इनका अस्तित्व ही नहीं है। अतः अकलंकदेव और पं० आशाधर इसी अभयनन्दिवाले पाठको ही माननेवाले थे। अकलंकदेव वि० की नौवीं शताब्दिके और आशाधर १३ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं।

५—पं० श्रीलालजी शास्त्रीने शब्दार्णवचन्द्रिकाकी भूमिकामें लिखा है कि "आचार्य पूज्यपादने स्वनिर्मित 'सर्वार्थसिद्धि' में 'प्रमाणनयैरधिगमः' (अ० १ सू० ६) की टीकामें यह वाक्य दिया है—'नयशब्दस्याल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः प्राप्नोति नैषदोषः। अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपातः।' और अभयनन्दिवाले पाठमें इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला कोई सूत्र नहीं है। केवल अभयनन्दिका 'अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति' वार्तिक है। यदि अभयनन्दिवाला सूत्रपाठ ठीक होता तो उसमें इस विषयका प्रतिपादक सूत्र अवश्य होता जो कि नहीं है। पर शब्दार्णववाले पाठमें 'अर्च्यं' (१-३-११५) ऐसा सूत्र है जो इसी विषयको प्रतिपादित करता है। इसलिए यही सूत्रपाठ देवनन्दिकृत है।" बस, प० श्रीलालजीकी सबसे बड़ी दलील यही है जिससे वे शब्दार्णववाले पाठको असली सिद्ध करना चाहते हैं। इसके सिवाय वे और कोई उल्लेखयोग्य प्रमाण अपने पक्षमें नहीं दे सके हैं। अब इसपर हमारा निवेदन सुन लीजिए—

"अल्पाच्तरम्" (२–२–३४) यह सूत्र पाणिनिका है और इसके ऊपर कात्यायनका

" अभ्यर्हितं च " वार्तिक तथा पतंजलिका " अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति " भाष्य है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिटीकाके इस स्थलमें पाणिनि और पतंजलिके ही सूत्र तथा भाष्यको लक्ष्यकर उक्त विधान किया है। अब इस पर यह प्रश्न होगा कि जब सर्वार्थसिद्धिकार स्वयं एक व्याकरणके कर्ता हैं, तब उन्होंने पाणिनिका और उसके भाष्यका आश्रय क्यों लिया ? हमारी समझमें इसका उत्तर यह है कि पूज्यपाद स्वामी यद्यपि सर्वार्थसिद्धिकी रचनाके समय अपना व्याकरण तो बना चुके होंगे, परन्तु उस समय उनके व्याकरणने विशेष प्रसिद्धि लाभ नहीं की होगी और इस कारण स्वयं उनके ही हृदयमें उसकी इतनी प्रमाणता नहीं होगी कि वे अन्य प्रसिद्ध व्याकरणों तथा उनके वार्तिकों और भाष्योंको सर्वथा भुला देवें--या उनका आश्रय नहीं लेवें। कुछ भी हो परंतु यह तो निश्चय है कि उन्होंने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें अन्य वैयाकरणोंके भी मत दिये हैं। इस विषयमें हम एक और प्रमाण उपस्थित करते हैं जो बहुत ही पुष्ट और स्पष्ट है—

सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र २२ की व्याख्यामें लिखा है—" यथाहुः द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानमिति ।" इसकी अन्य पुरुषकी ' आहुः ' क्रिया ही कह रही है कि ग्रन्थकर्ता यहाँ किसी अन्य पुरुषका वचन दे रहे हैं। अब पतंजलिका महाभाष्य देखिए। उसमें १-२-१ के ५ वें वार्तिकके भाष्यमें बिलकुल यही वाक्य दिया हुआ है—एक अक्षरका भी हेरफेर नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिके कर्त्ता अन्य व्याकरण ग्रन्थोंके भी प्रमाण देते हैं। और भी एक प्रमाण लीजिए—

सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सूत्र १६ की व्याख्यामें लिखा है—" शास्त्रेऽपि ' अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायामि ' त्येवमादिषु तदेव गृह्यते ।" यह पाणिनिके ७-१-५१ सूत्रपर कात्यायनका पहला वार्तिक है। वहाँ " अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम् " इतने शब्द हैं और इन्हींको सर्वार्थसिद्धिकारने लिया है। यहाँ कात्यायनके वार्तिकको उन्होंने ' शास्त्र ' शब्दसे व्यक्त किया है।

सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र ४ की व्याख्यामें 'नित्य' शब्दको सिद्ध करनेके लिए पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं:— " नेः ध्रुवे त्यः इति निष्पादितत्वात् ।" परन्तु जैनेन्द्रमें ' नित्य ' शब्दको सिद्ध करनेवाला कोई मूल सूत्र नहीं है, इस लिए अभयनन्दिने अपनी वृत्तिमें " त्यक्त्येस्तुट् " (३-२-८१) सूत्रकी व्याख्यामें " नेर्ध्रुवः इति वक्तव्यम्" यह वार्तिक बनाया है और ' नियतं सर्वकालं भवं नित्यं ' इस तरह स्पष्ट किया है। जैनेन्द्रमें ' त्य ' प्रत्यय ही नहीं है, इसके बदले ' य ' प्रत्यय है। इससे मालूम होता है कि सर्वार्थसिद्धिकारने स्वनिर्मित व्याकरणको लक्ष्यमें रखकर पूर्वोक्त बात नहीं कही है। अन्य व्याकरणोंके प्रमाण भी वे देते थे और यह प्रमाण भी उसी तरहका है।

परन्तु इससे पाठकोंको यह न समझ लेना चाहिए कि सर्वार्थसिद्धिमें ग्रन्थकर्ताने अपने जैनेन्द्रसूत्रोंका कहीं उपयोग ही नहीं किया है। नहीं, कुछ स्थानोंमें उन्होंने अपने निजके सूत्र भी दिये हैं। जैसे पाँचवें अध्यायके पहले सूत्रके

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिकमें इसी ' प्रमाणनयैरधिगमः ' सूत्रकी व्याख्यामें पतंजलिका यह भाष्य ज्योंका त्यों अक्षरशः दिया है। अभयनन्दिका भी यही वार्तिक है।

२ राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें भी यह वाक्य उद्धृत किया गया है।

१ तत्त्वार्थराजवार्तिकमें भी है " शास्त्रेऽपि अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायामित्येवमादौ तदेव कर्माश्रयते ।"

व्याख्यानमें लिखा है "'विशेषणं विशेष्येण' इति वृत्तिः।" यह जैनेन्द्रका १-३-५२ वाँ सूत्र है। यह सूत्र शब्दार्णवचन्द्रिका (१-३-४८) वाले पाठमें भी है।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि जैनेन्द्रका असली सूत्रपाठ वही है जिसपर अभयनन्दिकृत वृत्ति है। शब्दार्णवचन्द्रिकावाला पाठ असली सूत्रपाठको संशोधित और परिवर्धित करके बनाया गया है और उसका यह संस्करण संभवतः गुणनन्दि आचार्यकृत है।

अब एक प्रश्न यह रह जाता है कि जब गुणनन्दिने मूल ग्रंथमें इतना परिवर्तन और संशोधन किया था, तब उस परिवर्तित ग्रन्थका नाम जैनेन्द्र ही क्यों रक्खा? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक तो शब्दार्णवचन्द्रिका और जैनेन्द्रप्रक्रियाके पूर्वोल्लिखित श्लोकोंसे गुणनन्दिके व्याकरणका नाम 'जैनेन्द्र' नहीं किन्तु 'शब्दार्णव' मालूम होता है। संभव है कि लेखकोंके भ्रमसे इन टीकाग्रंथोंमें 'जैनेन्द्र' नाम शामिल हो गया हो। दूसरा यदि 'जैनेन्द्र' नाम भी हो, तो ऐसा कुछ अनुचित भी नहीं है। क्यों कि गुणनन्दिने जो प्रयत्न किया है, वह अपना एक स्वतंत्र ग्रंथ बनानेकी इच्छासे नहीं किन्तु पूर्वनिर्मित 'जैनेन्द्र' को सर्वांगपूर्ण बनानेकी सदिच्छासे किया है और इसी लिए उन्होंने जैनेन्द्रके आधेसे अधिक सूत्र ज्योंके त्यों रहने दिये हैं, तथा मंगलाचरण आदि भी उसका ज्योंका त्यों रक्खा है। हमारा विश्वास है कि गुणनन्दि इस संशोधित और परिवर्तित सूत्रपाठको ही तैयार करके न रहे गये होंगे, उन्होंने इसपर कोई वृत्ति या टीकाग्रंथ भी अवश्य लिखा होगा, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। सनातनजैनग्रंथमालामें जो जैनेन्द्र-प्रक्रिया छपी है, वह जैसा कि हम आगे सिद्ध करेंगे गुणनन्दिकी बनाई हुई नहीं है।

जैनेन्द्रकी टीकायें।

पूज्यपादस्वामीकृत असली जैनेन्द्रकी इस समय तक केवल तीन ही टीकायें उपलब्ध हैं-१ अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति,' २ आर्यश्रुतकीर्तिकृत 'पंचवस्तु-प्रक्रिया,' और ३ बुधमहाचन्द्रकृत 'लघु जैनेन्द्र'। परन्तु इनके सिवाय इसकी और भी कई टीकायें होनी चाहिए। पंचवस्तुके अन्तमें नीचे लिखा हुआ एक श्लोक है:—

> सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति,
> श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्यौघशय्यातलम्।
> टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं,
> प्रासादं पृथुपंचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्॥

इसमें जैनेन्द्र शब्दागम या जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी गई है। वह मूलसूत्ररूप स्तम्भोंपर खड़ा किया गया है, न्यासरूप उसकी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके किवाड़ हैं, भाष्यरूप शय्यातल है, और टीकारूप उसके माल या मंजिल हैं। यह पंचवस्तु टीका उसकी सोपानश्रेणी है। इसके द्वारा उक्त महल पर आरोहण किया जासकता है। इससे मालूम होता है कि पंचवस्तुके कर्ताके समयमें इस व्याकरणपर १ न्यास, २ वृत्ति, ३ भाष्य और ४ टीका, इतने व्याख्याग्रन्थ मौजूद थे। इनमेंसे श्रीमद्वृत्ति या वृत्ति तो यह अभयनन्दिकी महावृत्ति ही होगी, ऐसा जान पड़ता है। शेष तीन टीकायें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं। हमारा अनुमान है कि इनमेंसे एक टीकाग्रन्थ चाहे वह न्यास हो या भाष्य हो, स्वयं पूज्यपादस्वामीका बनाया हुआ होगा। क्यों कि वे केवल सूत्रग्रन्थ ही बनाकर रह गये होंगे, यह बात समझमें नहीं आती। अपनी मानी हुई

अतिशय सूक्ष्म संज्ञाओं और परिभाषाओंका स्पष्टीकरण करनेके लिए उन्हें कोई टीका, वृत्ति या न्यास अवश्य बनाना पड़ा होगा, जिस तरह शाकटायनने अपने व्याकरणपर अमोघवृत्ति नामकी स्वोपज्ञ टीका बनाई है।

आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्री (पृष्ठ १३२ में 'प्यसे कर्मण्युपसंख्यानात् का' यह वचन उद्धृत किया है। यह किसी व्याकरण ग्रन्थका वार्तिक है; परन्तु पाणिनिके किसी भी वार्तिकमें यह नहीं मिलता। अभयनन्दिकी महावृत्तिमें अवश्य ही "प्यसे कर्मणि का वक्तव्या" (४-१-३८) इस प्रकारका वार्तिक है; परन्तु हमारा खयाल है कि अभयनन्दिकी वृत्ति विद्यानन्दसे पीछेकी बनी हुई है, इस लिए विद्यानन्दने यह वार्तिक अभयनन्दिकी वृत्तिसे नहीं किन्तु अन्य ही किसी ग्रन्थसे लिया होगा और आश्चर्य नहीं जो वह स्वयं पूज्यपादकृत टीकाग्रन्थ हो। सुनते हैं, जैनेन्द्रका न्यास कर्नाटक प्रान्तके जैन पुस्तकभण्डारोंमें है। उसके प्राप्त करनेकी बहुत आवश्यकता है। उससे इस व्याकरणम्बन्धी अनेक संशयोंका निराकरण हो जायगा।

आगे हम उपलब्ध टीकाग्रन्थोंका परिचय देते हैं:--

१-महावृत्ति। इसकी एक प्रति पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें मौजूद है। इसकी श्लोकसंख्या १३००० के लगभग है। इसके प्रारंभके ३१४ पत्र एक लेखकके लिखे हुए और शेष ७४ पत्र, चैत्र सुदी २ सं० १९३३ को किसी दूसरे लेखकके लिखे हुए हैं। प्रतिके दोनों ही भाग जयपुरके लिखे हुए मालूम होते हैं। कई स्थानोंमें कुछ पंक्तिया छूटी हुई हैं। इसका प्रारंभ इस तरह हुआ है:—

ओं नमः। श्रीमत्सर्वज्ञवीतरागतद्वचनतदनुसारिगुरुभ्यो नमः।

देवदेवं जिनं नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम्।
शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥
यच्छब्दलक्षणमसुव्रजपारमन्यै-
रव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः।
तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यै-
र्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणंमंगलमिदमाहाचार्यः।

और अन्तमें कोई प्रशस्ति आदि न देकर सिर्फ इतना ही लिखा है—

"इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पंचमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः। समाप्तश्चायं पंचमोऽध्यायः।"

इससे मालूम होता है कि इस महावृत्तिके कर्ता अभयनन्दि मुनि हैं। उन्होंने न तो अपनी गुरुपरम्पराका ही परिचय दिया है और न ग्रन्थरचनाका समय ही दिया है, इससे निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वे कब हुए हैं। परन्तु उन्होंने सूत्र ३-२-५५ की टीकामें एक जगह उदाहरण दिया है—"तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते।" इससे मालूम होता है कि भट्टाकलंकदेवके बाद अर्थात् वि० की आठवीं शताब्दिके बाद—और पंचवस्तुके पूर्वोल्लिखित श्लोकमें इसी वृत्तिका उल्लेख जान पड़ता है, इस लिए आर्य श्रुतकीर्तिके अर्थात् विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके पहले—किसी समयमें वे हुए हैं। हमारा अनुमान है कि चन्द्रप्रभकाव्यके कर्ता महाकवि वीरनन्दिने जिन अभयनन्दिको अपना गुरु बतलाया है, ये वे ही अभयनन्दि होंगे*। आचार्य नेमिचन्द्रने भी गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी ४३६ वीं गाथामें इनका उल्लेख किया है। अत

१ नं० ५९० A और B सन् '१८७५-७६ की रिपोर्ट।

* वीरनन्दि और अभयनन्दिका समय जाननेके लिए देखो त्रिलोकसार ग्रन्थकी मेरी लिखी भूमिका।

एव इनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दिके पूर्वार्धके लगभग निश्चित होता है। जैनेन्द्रकी उपलब्ध टीकाओंमें यही टीका सबसे प्राचीन मालूम होती है। प्रो० एस० के० बेलवलकरने अभयनन्दिका समय ई० सन् १३००-१३५० के लगभग मालूम नहीं किन प्रमाणोंसे निश्चित किया है।

२—पंचवस्तु। भांडारकर रिसर्च इन्स्टिटयूटमें इसकी दो प्रतियाँ मौजूद हैं, जिनमें एक ३००, ४०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई है और बहुत शुद्ध है। पत्रसंख्या ९१ है। इस पर लेखकका नाम और प्रति लिखनेका समय आदि नहीं है। इसके अन्तमें केवल इतना लिखा हुआ है—

"कृतिरियं देवनंद्याचार्यस्य परवादिमथनस्य ॥छ॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः ॥ श्रीसंघस्य ॥"

दूसरी[2] प्रति रत्नकरण्डश्रावकाचारवचनिका आदि अनेक भाषाग्रन्थोंके रचयिता सुप्रसिद्ध पण्डित सदासुखजीके हाथकी लिखी हुई है और संवत् १९१० की लिखी हुई है[3]। इसके अन्तमें प्रतिलेखकने अपना परिचय इस तरह दिया है:—

अब्दे नभश्चन्द्रविधिस्थिरांके
शुद्धेसहस्यैम (?) युक्चतुर्थ्याम्।
सत्प्रक्रियाबन्धनिबन्धनेयं सद्वस्तुवृत्तीरदनात्समाप्ता (?)॥
श्रीमन्नराणामधिपेशराशि श्रीरामसिंहे विलसत्यलेखि।
श्रीमद्बुधेनेह सदासुखेन श्रीयुक्फतेलालनिजात्मबुद्ध्यै॥
शाब्दीयशास्त्रं पठितं न यैस्तैः स्वदेहसंपालनभारवद्भिः।
किं दर्शनीयं कथनीयमेतद् वृथांगसंभावपलापवद्भिः॥

यह प्रति भी प्रायः शुद्ध है।

यह टीका प्रक्रिया-बद्ध टीका है और बड़े अच्छे ढंगसे लिखी गई है। इसकी श्लोकसंख्या ३३०० के लगभग है। प्रारंभके विद्यार्थियोंके लिए बड़ी उपयोगी है। इसका प्रारंभ इसप्रकार किया है—

ओं नमः श्रीशान्तिनाथाय।
जगत्त्रितयनाथाय नमो जन्मप्रमाथिने।
नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये ॥ १॥
प्रत्याहारस्यादावभीष्टदेवतास्तुतिवचनं मंगलार्थमुपात्तम्।

आगे चलकर पाँचवें पत्रमें इस प्रकार लिखा है—

याम-वैर-वर्ण.कर-चरणादीनां संधीनां बहूनां संभवत्वात् संशयानः शिष्यः संपृच्छतिस्म—कस्सन्धिरिति।

संज्ञास्वरप्रकृतिहल्जविसर्गजन्मा
संधिस्तु पंचक इतीत्थमिहाहुरन्ये।
तत्र स्वरप्रकृतिहल्जविकल्पतोऽस्मि-
न्संधिं त्रिधा कथयति श्रुतकीर्तिरार्यः॥

इस ग्रन्थके आदि-अन्तमें कहीं भी इसके कर्त्ताका नाम नहीं है। केवल इसी जगह यह नाम आया है और इससे मालूम होता है कि पंचवस्तुके रचयिता आर्य श्रुतकीर्ति हैं।

कनड़ी भाषाके चन्द्रप्रभचरित नामक ग्रन्थके कर्ता अग्गल कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है—"इति परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथ—श्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्रीमदग्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते—" इत्यादि। और यह चरित शक संवत् १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ है। अतएव पंचवस्तुको भी अभयनन्दि महावृत्तिके कुछ ही पीछे की—विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके प्रारंभ की—रचना समझना चाहिए। नंदिसंघकी गुर्वावलीमें श्रुतकीर्तिको वैयाकरणभास्कर लिखा है:—

---

१ नं० १०५९ सन् १८८७-९१ की रिपोर्ट। २ नं० ५९४ सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट। ३ इस ग्रन्थकी एक प्रति परतावगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरके भंडारमें भी है। देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५।

१ देखो प्रो० पिटर्सनकी दूसरी रिपोर्ट सन् १८८४ पृष्ठ १६४।

"त्रैविद्यः श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्करः ।"
ये नन्दिसंघ, देशीयगण और पुस्तकगच्छके आचार्य थे । श्रुतकीर्ति नामके और भी कई आचार्य हो गये हैं ।

३—लघुजैनेन्द्र । इसकी एक प्रति अंकलेश्वर (भरोंच) के दिगम्बर जैनमन्दिरमें है और दूसरी अधूरी प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरमें है । उसमें इस तरह प्रारंभ किया गया है—

महावृत्तिं शुंभत्सकलबुधपूज्यां सुखकरीं,
त्रिलोक्योद्यद्ज्ञानप्रभुविभयनन्दीप्रवहिताम् ।
अनेकैः सच्छब्दैर्भ्रमविगतकैः संदृब्धभूतां (?)
प्रकुर्वेऽहं तनुमतिमहाचन्द्रविबुधः (।)

इससे मालूम होता है कि यह अभयनन्दी वृत्तिके आधारसे लिखी गई है । पण्डित महाचन्द्रजी विक्रमकी इसी बीसवीं शताब्दिके ग्रन्थकर्ता हैं । इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और भाषामें कई ग्रन्थ लिखे हैं ।

४—जैनेन्द्र-प्रक्रिया । इसे न्यायतीर्थ न्यायशास्त्री पं० वंशीधरजीने अभी हाल ही लिखी है । इसका अभी केवल पूर्वार्ध ही छपकर प्रकाशित हुआ है ।

शब्दार्णवकी टीकायें ।

जैनेन्द्र सूत्रपाठके संशोधित परिवर्धित संस्करणका नाम—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है—शब्दार्णव है । इसके कर्ता आचार्य गुणनन्दि हैं । यह बहुत संभव है कि सूत्रपाठके सिवाय उन्होंने उसकी कोई टीका या वृत्ति भी बनाई होगी जो कि अभीतक उपलब्ध नहीं हुई है ।

गुणनन्दि नामके कई आचार्य हो गये हैं । उनमेंसे एक शक संवत् ३८८ (वि० सं० ५२३) में पूज्यपादसे भी पहलेके हैं[1] । दूसरे गुणनन्दिका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके ४२, ४३ और ४७ वें नम्बरके शिलालेखोंमें मिलता है । ये बलाकपिच्छके शिष्य और गृध्रपिच्छके प्रशिष्य थे । तर्क, व्याकरण और साहित्य शास्त्रोंके बहुत बड़े विद्वान् थे । इसके ३०० शास्त्रपारंगत शिष्य थे और उनमें ७२ शिष्य सिद्धान्तशास्त्री थे । आदि पंपके गुरु देवेन्द्र भी इन्हींके शिष्य थे । अनेक ग्रन्थकारोंने इन्हें कई काव्योंका कर्त्ता बतलाया है; परन्तु अभीतक इनका कोई काव्य नहीं मिला है । कर्नाटककविचरितके कर्ताने इनका समय वि० संवत् ९५७ निश्चय किया है । क्यों कि इनके शिष्य देवेन्द्रके शिष्य आदि पंपका जन्म वि० सं० ९५९ में हुआ था और उसने ३९ वर्षकी अवस्थामें अपने सुप्रसिद्ध कनड़ी काव्य भारतचम्पू और आदिपुराण निर्माण किये हैं । हमारा अनुमान है कि ये ही गुणनन्दि शब्दार्णवके कर्त्ता होंगे । श्रवणबेलगोलके ४७ वें शिलालेखमें इनके सम्बन्धमें नीचे लिखे श्लोक मिलते हैं:—

श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः
शिष्योऽजनिष्ट रत्नत्रयवर्तिकीर्तिः ।
चारित्रचञ्चुराखिलावनिपालमौलि-
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः ॥ ६ ॥

तच्छिष्यो गुणनन्दिपण्डितयतिः चारित्रचक्रेश्वरः ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रनिपुणः साहित्यविद्यापतिः ॥ ७ ॥
मिथ्यात्वादिमदान्धसिन्धुरघटासंघातकण्ठीरवो ।
भव्याम्भोजदिवाकरो विजयतां कन्दर्पदर्पापहः ॥ ८ ॥
तच्छिष्यास्त्रिशतं विवेकनिधयः शास्त्राब्धिपारंगताः ।
तेषूत्कृष्टसमा द्विसप्ततिमिताः सिद्धान्तशास्त्रार्थकाः ॥ ९ ॥
व्याख्याने पटवो विचित्रचरिताः तेषु प्रसिद्धो मुनिः ।
नानानूननयप्रमाणनिपुणो देवेन्द्रसैद्धान्तिकः ॥ १० ॥

---

१ देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५।

[1] मर्कराका ताम्रपत्र, इंडियन एण्टिक्वेरी, जिल्द १, पृष्ठ ३६३—६५ । तथा एपिग्राफिका कर्णाटिका—जिल्द १, का पहला लेख ।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यके कर्त्ता वीरनन्दिका समय शक संवत ९०० के लगभग निश्चित होता है। क्यों कि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथकाव्यमें उनका स्मरण किया है। और वीरनन्दीकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—१ श्रीगुणनन्दि, २ विबुधगुणनन्दि, ३ अभयनन्दि और वीरनन्दि। यदि पहले गुणनन्दि और वीरनन्दिके बीचमें हम ७८ वर्षका अन्तर मान लें, तो पहले गुणनन्दिका समय वही शक संवत् ८२२ या वि० सं० ९५७ के लगभग आ जायगा। इससे यह निश्चय होता है कि वीरनन्दिकी गुरुपरम्पराके प्रथम गुणनन्दि और आदिपंपके गुरु देवेन्द्रके गुरु गुणनन्दि एक ही होंगे और जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं ये ही शब्दार्णवके कर्त्ता होंगे।

गुणनन्दि नामके एक और आचार्य शक संवत् १०३७ (वि०सं० ११७२) में हुए हैं जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके गुरु थे। संभव है कि शब्दार्णवके कर्त्ता ये ही हों।

शब्दार्णवकी इस समय दो टीकायें उपलब्ध हैं और दोनों ही सनातनजैनग्रन्थमालामें छप चुकी हैं—१ शब्दार्णवचन्द्रिका, और २ शब्दार्णवप्रक्रिया।

१ शब्दार्णवचन्द्रिका। इसकी एक बहुत ही प्राचीन और अतिशय जीर्ण प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें मौजूद है[1]। यह ताड़पत्रपर नागरी लिपिमें है। इसके आदि–अन्तके पत्र प्रायः नष्ट हो गये हैं। इसमें छपी हुई प्रतिमें जो गद्यप्रशस्ति है, वह नहीं है। और अन्तमें एक श्लोक है जो आधा पढ़ा जाता है—मंगलमस्तु।......इन्द्रश्चंद्रःशकटतनयः पाणिनिः पूज्यपादो यत्प्रोवाचापिशलिरमरः काशकृत्स्न....... शब्दपारायणस्येति।"

इसके कर्त्ता श्रीसोमदेव मुनि हैं। ये शिलाहार वंशके राजा भोजदेव (द्वितीय) के समयमें हुए हैं और अर्जुरिका नामक ग्रामके त्रिभुवनतिलक नामक जैनमन्दिरमें—जो कि महामण्डलेश्वर गंडरादित्यदेवका बनवाया हुआ था—उन्होंने इसे शक संवत् ११२७ (वि० सं० १२६२) में बनाया है। यह ग्राम इस समय आजरें नामसे प्रसिद्ध है और कोल्हापुर राज्यमें है। वादीभवज्रांकुश श्रीविशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयावृत्यसे इस ग्रन्थकी रचना हुई है[1]:—

" श्रीसोमदेवयतिनिर्मितिमादधाति
या नौः प्रतीतगुणनंदितशब्दवार्धौ।
सेयं सताममलचेतसि विस्फुरंती
वृत्तिः सदा नुतपदा परिवर्तिषीष्ट ॥

स्वस्ति श्रीकोल्हापुरदेशांतर्वर्त्यार्जुरिकामहास्थानयुधिष्ठिरावतारमहामण्डलेश्वरगंडरादित्यदेवनिर्मापितत्रिभुवनतिलकजिनालये श्रीमत्परमपरमेष्ठिश्रीनेमिनाथश्रीपादपद्माराधनबलेन वादीभवज्रांकुशश्रीविशालकीर्तिपंडितदेववैयावृत्यतः श्रीमच्छिलाहारकुलकमलमार्तंडतेजःपुंजराजाधिराजपरमेश्वरपरमभट्टारकपश्चिमचक्रवर्तिश्रीवीरभोजदेवविजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैकशतसप्तविंशति ११२७ तमक्रोधनसंवत्सरे स्वस्ति समस्तानवद्यविद्याचक्रचक्रवर्तिश्रीपूज्यपादानुरक्तचेतसा श्रीमत्सोमदेवमुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णवचन्द्रिका नाम वृत्तिरिति। इति श्रीपूज्यपादकृतजैनेन्द्रमहाव्याकरणं सम्पूर्णम्।"

---

[1] नं० २५ सन् १८८०–८८ की रिपोर्ट।

[1] ये विशालकीर्ति वे ही मालूम होते हैं जिनका उल्लेख पं० आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी प्रशस्तिकी टीकामें 'वादीन्द्रविशालकीर्ति' के नामसे किया है और जिनको उन्होंने न्यायशास्त्रमें पारंगत किया था। पं० आशाधर वि० सं० १२४९ के लगभग धारामें आये थे और वि० सं० १३०० तक उनके अस्तित्वका पता लगता है। (देखो मणिकचिन्द्र विद्वद्रत्नमालामें 'पण्डितप्रवर आशाधर' शीर्षक लेख) अतः सोमदेवका वैयावृत्य करनेवाले विशालकीर्ति दूसरे नहीं हो सकते। पं० आशाधरके पाससे पढ़कर ही वे दक्षिणकी ओर चले आये होंगे।

यशस्तिलकचम्पूके कर्त्ता सुप्रसिद्ध सोमदेव-सूरि इनसे पहले हुए हैं। क्यों कि उनका उक्त चम्पू शक संवत् ८८१ (वि० १०१६) में समाप्त हुआ था। अतएव उनसे और इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है, यह स्पष्ट है।

इस ग्रन्थके मंगलाचरणमें नीचे लिखे दो श्लोक दिये हैं:—

श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं
सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम्।
सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं
सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम्॥ १॥
श्रीमूलसंघजलजप्रतिबोधभानो-
र्मेघेन्दुदीक्षितभुजंगसुधाकरस्य
राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकरस्य वृत्तिं
रेभे हरीन्दुयतये वरदीक्षिताय॥ २॥

इनमेंसे पहले श्लोकमें पूज्यपाद, गुणनन्दि और सोमदेव ये विशेषण वीर भगवानको दिये हैं। दूसरे श्लोकमें कहा है कि यह टीका मूलसंघीय मेघचन्द्रके शिष्य नागचन्द्र (भुजंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यतिके लिए बनाई जाती है।

गुणनन्दिकी प्रशंसा चुरादि धातुपाठके अन्तमें भी एक पद्यमें की गई है जिसका अन्तिम चरण यह है:—

शब्दब्रह्मा स जीयाद् गुणनिधिगुणनंदिव्रतीशस्सुसौख्यः।

अर्थात् इसमें शब्दब्रह्मा विशेषण देकर गुणनन्दिको शब्दार्णवव्याकरणकर्ता ही प्रकट किया गया है।

अब देखना चाहिए कि ये मेघचन्द्र और नागचन्द्र आदि कौन थे और कब हुए हैं:—

ये मेघचन्द्र[1] आचारसारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरु ही मालूम होते हैं। ये बड़े भारी विद्वान् थे। इन्हें सिद्धान्तज्ञतामें जिनसेन और वीरसेनके सदृश, न्यायमें अकलंकके समान और व्याकरणमें साक्षात् पूज्यपाद-सदृश बतलाया है। श्रवणबेल्गोलके नं० ४७, ५० और ५२ नम्बरके शिलालेखोंसे मालूम होता है कि इनका स्वर्गवास शक संवत् १०-३७ (वि० सं० ११७२) में और उनके शुभचन्द्रदेव नामक शिष्यका स्वर्गवास शक संवत् १०६८ (वि० सं० १२०३) में हुआ था। तथा उनके दूसरे शिष्य प्रभाचंद्रदेवने शक सं० १०४१ (वि० सं० ११७६) में एक महापूजाप्रतिष्ठा कराई थी। जब सोमदेवने शब्दार्णवचन्द्रिका मेघचन्द्रके प्रशिष्य हरिचन्द्रके लिए शक सं० ११२७ (वि० सं० १२६२) में बनाई थी, तब मेघचन्द्रका समय वि० सं० ११७२ के लगभग माना जा सकता है।

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये हैं, एक पम्परामायणके कर्ता नागचन्द्र जिनका दूसरा नाम अभिनव पंप था और दूसरे लब्धिसारटीकाके कर्ता नागचन्द्र। पहले गृहस्थ थे और दूसरे मुनि। अभिनव पंपके गुरुका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाध्यायी थे, और दूसरे स्वयं बालचन्द्रके शिष्य थे। इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है। इन्हें जो 'राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या सिद्धान्तशास्त्रोंके ज्ञाता या टीकाकार होंगे।

(अपूर्ण)

---

[1] मेघचन्द्रके विषयमें विशेष जाननेके लिये देखो माणिकचन्द्रग्रन्थमालाके 'आचारसार' की भूमिका।

[1] देखो, 'इन्स्क्रिप्शन्स एट श्रवणबेल्गोल' का ४७ वाँ शिलालेख।

जैनधर्मपर बड़ा भारी कलङ्क।

(लेखक—श्रीयुत नाथूराम प्रेमी।)

जैनधर्म क्यासे क्या हो गया है और उसके अनुयायियोंका कितना पतन हो गया है, इसका सबसे बड़ा स्पष्ट प्रमाण वे मुकद्दमें हैं, जो सम्मेदशिखर, अन्तरीक्ष, मक्सी आदि तीर्थोंके सम्बन्धमें लड़े जाते हैं। जो जैनधर्म वीतराग भावनाओंका बढ़ानेवाला था, मनुष्यजातिमेंसे द्वेषके बीजोंको जीर्ण शीर्ण कर डालना जिसका ध्येय था, जो शत्रुके प्रति भी क्षमा करनेकी शिक्षा देता था, विपरीत वृत्तिवालोंको मध्यस्थ भावनाके बल पर जो बातकी बातमें शान्त कर देना जानता था, उसी जगत्पूज्य जैनधर्मके अनुयायी—दिगम्बर और श्वेताम्बर—आज आपसमें एक दूसरेके हकोंको हड़पनेके लिए निरन्तर कटिबद्ध हैं, प्रतिवर्ष लाखों रुपया ऐसी बुरी तरहसे बरबाद करते हैं कि सुन कर तरस आता है और जब सारा संसार एकता और भ्रातृभाव बढ़ानेके लिए पागल हो रहा है—और तो क्या हिन्दू और मुसलमान भी एक दूसरेके गले मिल रहे हैं, तब ये आपसी फूटकी खाईको और भी अधिक गहरी और चौड़ी बनानेमें व्यस्त दिखलाई देते हैं।

जिस समय देशमें जहाँ तहाँ दुर्भिक्ष पड़ रहे हैं, हजारों निर्धन कुटुम्ब अन्नके बिना तड़प तड़प कर मर रहे हैं, बुंदेलखंड आदि प्रान्तोंमें स्वयं जैनोंके ही बच्चे टुकड़ोंके लिए मोहताज हो रहे हैं, हजारों लड़के सहायताके अभावसे इच्छित शिक्षा प्राप्त करनेमें असमर्थ होकर अज्ञानकी कीचड़में फँसनेके लिए मजबूर हो रहे हैं, देशसेवाके कार्योंके लिए जब अगणित धनकी आवश्यकता है, तब इधर तो दिगम्बर जैनसमाजके बड़े बड़े धनी एकट्ठे होकर सम्मेदशिखरके मुकद्दमेके लिए बीस लाख रुपयेका चन्दा करनेकी घोषणा कर रहे हैं, और उधर श्वेताम्बर सम्प्रदायके एक अगुए इससे भी दूना रुपया बातकी बातमें जमा कर लेनेकी आशा करते हैं! यह सब क्या हो रहा है? यह हमारे घोर अधःपतनका जीताजागता चित्र नहीं तो और क्या है? क्या कोई अब भी कह सकता है कि हम उसी जैनधर्मके अनुयायी हैं जो एक समय संसारमें मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावनाओंका प्रचारक था और जिसने द्वेषक्लेशदग्ध संसारको शान्ति प्रदान करनेका बीड़ा उठाया था?

उधर महात्मा गाँधी आदि देशपूज्य नेता वकीलोंको वकालत छोड़नेका और जनसाधारणको अपने आपसी झगड़े पंचायतों द्वारा तय करनेका उपदेश दे रहे हैं और उसके अनुसार काम भी होना शुरू हो गया है, और इधर हमारे समाजके अगुए सम्मेदशिखरका मुकद्दमा प्रिवी कौन्सिलतक ले जानेके लिए और देशका बुरी तरहसे रक्त शोषण करनेवाले वकील बैरिस्टरोंको उत्तेजना देनेके लिए कमर कस रहे हैं!

उधर भारतके इतिहासमें जो मुसलमान धर्मोन्मादके लिए सबसे अधिक बदनाम हैं, वे भी आज इस धार्मिक कलहको मिटानेके लिए गोवध करना छोड़ रहे हैं और हिन्दुओंके धार्मिक उत्सवोंमें प्रसन्नतासे शामिल हो रहे हैं, इसी तरह हिन्दू लोग भी मुसलमानोंके धार्मिक उत्सवोंमें मदद करते नजर आ रहे हैं; और इधर हम दिगम्बर और श्वेताम्बर—जो बहुत ही नजदीकके भाई हैं, जिनके धार्मिक विचारोंमें विशेष अन्तर नहीं है—कमसे कम हिन्दू-मुसलमानोंके बराबर तो नहीं है—एक दूसरेको फूटी आँखों नहीं देख सकते और उन्हीं तीर्थंकरोंकी निर्वाणभूमियोंपर निरंतर कलह करनेमें व्यस्त

रहते हैं, जिन्हें हम दोनों ही अपने परमपूज्य मार्गदर्शक मानते हैं और जिन्होंने उन भूमियों-पर एक समय संसारको राग-द्वेषसे मुक्त होनेका और परस्पर प्रेम और शान्तिसे रहनेका उपदेश दिया था! सचमुच हम लोग अपने पूज्य पुरुषोंके बड़े ही अनोखे भक्त हैं।

हिन्दू और मुसलमानोंके समाचारपत्र इस समय दोनोंकी एकता बढ़ानेके सम्बन्धमें बहुत ही अच्छा प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें सफलता भी खूब हो रही है, परन्तु इधर हमारे जैन समाचारपत्रोंको जो जैनसमाजको उन्नत करनेका दम भरते हैं, देखिए कि वे क्या कर रहे हैं। वे भोले भाले भाइयोंको रणभेरी बजाकर इस युद्धके लिए उत्तेजित कर रहे हैं। वे बड़े जोरोंसे इस ' जेहाद ' के झंडेको उठानेके लिए चिल्ला रहे हैं और जो उनसे जरा भी विरुद्ध आवाज निकालता है उसे कायर, डरपोंक, धर्म-द्रोही आदि पदवियोंसे पुरस्कृत करते हैं।

जो मुकद्दमे चल रहे हैं, उनसे ही खैर नहीं है। नये नये झगड़े भी ईजाद किये जाते हैं और उन्हें देखते हुए यह आशा नहीं की जा सकती कि आगे कभी निकट भविष्यमें इन धर्मयुद्धोंका अन्त आ जायगा। ये बराबर चलते ही रहेंगे और जैनधर्मकी कीर्तिको दिग्दिगन्तव्यापिनी करनेमें कभी पीछे न रहेंगे!

कुछ समाचारपत्रोंमें बीच बीचमें बहुत ही धीमे स्वरमें यह आवाज भी सुनाई पड़ती है कि यह आपसकी लड़ाई अच्छी नहीं; इससे बदनामी होती है, परन्तु साथ ही उनमें जो दिगम्बरसम्प्रदायके हैं वे कहते हैं " कि हमारा इसमें कोई दोष नहीं है। श्वेताम्बर भाई हमें नाहक सता रहे हैं। वे ही जगह जगह हमें छेड़ते हैं और हमारे हकोंको छीनना चाहते हैं। हमारा कोई अपराध नहीं है। हमें लाचार होकर अपने हकोंकी रक्षा करनेके लिए अदालतोंकी शरण लेनी पड़ती है। " ठीक इसी तरह जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके हैं वे अपनेको निर्दोष और दिगम्बर सम्प्रदायको सारे झगड़ोंकी जड़ करार देते हैं और इतना कहकर ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझ लेते हैं। हम कह चुके हैं कि इस प्रकारकी आवाजें कभी कभी ही सुन पड़ती हैं और वे भी बड़ी मन्दतासे। उनमें इतनी तेजी नहीं जिससे यह आशा की जा सके कि वे बढ़कर इस धर्म-युद्धके मारूके उत्तेजित स्वरको कभी दबा भी सकेंगी।

यह तो सुनिश्चित है कि इन सब मामलोंमें गल्तियाँ दोनों ही तरफसे होती हैं। ताली दोनों हाथोंसे ही बजा करती है। यह संभव है कि किसी झगड़ेमें एक पक्षका अधिक अपराध हो और दूसरेका कम और किसीमें दूसरेका अधिक हो और पहलेका कम। यह भी संभव है कि किसी एक मामलेमें एक पक्ष बिल्कुल ही निर्दोष हो और सब दोष दूसरे ही पक्षका हो; परतु साथ ही यह मानना पड़ेगा कि वह पहला पक्ष यदि उस मामलेमें नहीं तो दूसरे किसी मामलेमें अवश्य दोषी होगा, जिसका बदला लेनेके लिए दूसरे पक्षने इस नये मामलेको खड़ा किया होगा।

परन्तु इन झगड़ोंके निबटारेका यह मार्ग ही नहीं है कि हम इस बातकी जाँच करने बैठें कि कुसूर किस पक्षका है, और इस तरहकी जाँच हो भी नहीं सकती है कमसे कम हम। लोग जो अपनेको दिगम्बर और श्वेताम्बर कहते हैं, इसका निर्णय नहीं कर सकते। इसके हम अधिकारी भी नहीं हैं। क्योंकि जहाँ पक्ष-मोह होता है, वहाँ निर्णय और सत्यान्वेषक-की बुद्धिके पैर नहीं टिक सकते। गरज यह

कि इन सब झगड़ोंका निबटारा करनेके लिए यह निर्णय करनेकी झंझटमें पड़नेसे कोई लाभ न होगा कि कुसूर किसका है। दोनों ही सम्प्रदायवालोंको यह मान लेना चाहिए कि कुसूर दोनोंका ही है। यदि दोनोंका ही कुसूर न होता तो जैनधर्मके नामको बदनाम करनेवाले इन झगड़ोंमें हम पड़ते ही क्यों, और अपनी शक्तियोंका दुरुपयोग ऐसी निर्दयताके साथ क्यों करते।

अभी कुछ ही महीनों पहले हम श्वेताम्बर सम्प्रदायके एक अगुएसे—जिनका शिखरजीके मुकद्दमेमें बहुत कुछ हाथ है—मिले थे। उनसे हमने अपील की कि इस झगड़ेको आपसमें तय कर लेना चाहिए। उन्होंने बातोंमें तो बहुत सहानुभूति दिखलाई, परंतु कहा यही कि "भाई साहब हम तो बहुत चाहते हैं कि यह झगड़ा शान्त हो जाय, परंतु करें क्या, आपके सम्प्रदायवाले मानते ही नहीं। वे अपनी बात ऊँची रखना चाहते हैं।" इत्यादि। ठीक इसी तरहकी बात हमने अपने एक दो दिगम्बर सम्प्रदायके मुखियोंसे सुनी थी जिन्होंने एक बार आपसमें फैसला कर लेनेका प्रयत्न किया था। उनका भी यही कहना था कि हम "क्या करें, वे तो किसी तरह मानते ही नहीं।" इससे हम इस निश्चय पर आये हैं कि अभीतक दोनों ही सम्प्रदायके मुखिया इन धर्मयुद्धोंको इतना बुरा नहीं समझ रहे हैं जितने कि ये वास्तवमें हैं। अपनी बात रह जावे और फैसले हो जावें, तो इन्हें मंजूर है। परन्तु 'बात' अवश्य रहनी चाहिए। मुकद्दमे लड़ने न लड़नेको वे अपनी इस 'बात' से बड़ा नहीं समझते। जब तक इन्हें यह ज्ञान न होगा कि हम जो कर रहे हैं वह बुरा है, धर्मको बदनाम करनेवाला है और एक तरहसे देशद्रोह है, तब तक इन मामलोंका अन्त नहीं आ सकता।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि जिस तरह हमें अपना धर्म या सम्प्रदाय प्यारा है, उसी तरह दूसरोंको भी अपने धर्म और सम्प्रदाय पर भक्ति होती है। जिस तरह हम चाहते हैं कि कोई हमारे धार्मिक कार्योंमें बाधा न डाले, उसी तरह दूसरे भी चाहते हैं। ऐसी दशामें इन धार्मिक मामलोंमें सभी धर्मवालोंको—यदि वे यह चाहते हैं कि धर्मकार्य बिना विपत्तिके, बाधाविघ्नरहित होकर पाले जावें—इतना उदार अवश्य हो जाना चाहिए कि वे किसी भी धर्मवालोंके कार्यमें कोई बाधा उपस्थित न करें, बल्कि बन सके तो अन्य धर्मवालोंके लिए अपनी ओरसे कुछ सुविधायें भी कर दें—उन्हें उनके कार्योंमें सहायता पहुँचावें। अवश्य ही ऐसा करते समय अपने धर्मको कोई वास्तविक हानि न पहुँचे, इसका विचार कर लेना चाहिए। इस तरहकी नीतिका पालन किये बिना संसारमें न तो शान्ति ही रह सकती है और न धार्मिक कलहोंका अन्त ही हो सकता है।

ऊपर एक जगह लिखा जा चुका है कि दिगम्बरसमाजके मुखियोंने अबकी बार मुकद्दमेबाजीके लिये बीस लाख रुपयेका चन्दा करना निश्चय किया है और लगभग ढाई लाख रुपयेका चन्दा हो भी गया है जैसा कि सुना गया है। सम्मेद शिखरपर श्वेताम्बरियोंकी ओरसे दिगम्बरियोंपर बहुत ज्यादतियाँ हो रही हैं, उनके उपद्रव असह्य हो रहे हैं। हमारे अगुए इन्हीं ज्यादतियोंका उल्लेख करके अपनी इस तैयारीको आवश्यक कर्तव्य बतला रहे हैं। परन्तु हमारा उनसे यह प्रश्न है कि यह जो आप अपनी रक्षाके लिए प्रयत्न कर रहे हैं, उसके लिए तो हम आपको विशेष दोष नहीं देना चाहते; परन्तु यह तो

बतलाइए कि आप इन झगड़ोंको मिटानेके लिए क्या प्रयत्न कर रहे हैं ? यह कैसे माना जावे कि आप इस झगड़ेको मिटानेके लिए सचमुच ही उत्सुक हैं ? जिस तरह आपने मुकद्दमे लड़नेके लिए ढाई लाखका चन्दा किया है, उसी तरह क्या आपका यह फर्ज नहीं है कि दस बीस हजार रुपयाका चन्दा इस बातके लिए भी करें जिससे दोनों सम्प्रदायोंमें एकताके भाव जाग्रत हों और ये बखेड़े हमेशाके लिए शान्त हो जायँ ? इसी तरह वे श्वेताम्बरी भाई भी—जो दिगम्बरियोंका दोष बतलाकर अपने हकोंकी रक्षाके लिए पानीकी तरह रुपये बहा रहे हैं—इन झगड़ोंको मिटानेका कौनसा प्रयत्न कर रहे हैं ? उनका भी क्या यह कर्तव्य नहीं है कि इस कामके लिए भी कुछ चन्दा करें ? इससे तो यही मालूम होता है कि या तो दोनों ही पक्षवाले अपनी अपनी ऐंठमें मरे जा रहे हैं और अपनी अपनी जीतके स्वप्न देख रहे हैं, मेल-मिलापकी जो थोड़ी बहुत बातें बीच-बीचमें कर बैठते हैं, वे खाली दुनियासाजीकी बातें हैं, और या वे जैनधर्मके तत्त्वोंसे इतने अनभिज्ञ हैं कि इस लड़ने मरनेको ही पुण्यका कार्य समझते हैं।

जिसमें थोड़ीसी भी बुद्धि है, वह विचार करनेसे इस बातको समझ सकता है कि इन मुकद्दमोंके लड़नेसे—चाहे ये कितने ही जोरोंसे लड़े जावें और इनमें चाहे जितना रुपया खर्च किया जाय—ये तीर्थोंके झगड़े कभी नहीं मिटेंगे। यदि आज एक झगड़ा मिट जायगा तो कल कोई दूसरा खड़ा हो जायगा और परसों कोई तीसरा। इनकी परम्परा तो चलती ही रहेगी। क्रोधसे क्रोध नहीं जीता जा सकता; उसके जीतनेके लिए तो अक्रोध या क्षमाकी ही ढाल लेनी पड़ेगी। ये झगड़े उस समय तक शान्त नहीं हो सकते जबतक दोनों पक्षवाले एकताकी, क्षमाकी, दयाकी, प्रेमकी, और सहानुभूतिकी महिमाको न जानें।

हमारा विश्वास है कि जितने बलके साथ मुकद्दमा लड़नेके आन्दोलन किये जा रहे हैं उतने ही बलके साथ यदि आपसमें सब झगड़े तय कर डालनेका आन्दोलन एक व्यवस्थित पद्धतिसे किया जायगा तो केवल एक ही वर्षके भीतर सारे झगड़े शान्त हो जावेंगे और दोनों सम्प्रदायोंमें प्रेम-प्रीति बढ़कर जैनधर्मके मस्तक-परसे यह बड़ाभारी कलङ्कका टीका मिट जायगा।

इस कामके लिए दोनों सम्प्रदायके शिक्षितोंको आगे बढ़ना चाहिए। दोनों सम्प्रदायोंकी ओरसे इस कामके लिए एक एक संस्था स्थापित होनी चाहिए और उसकी ओरसे जगह जगह व्याख्यान देनेकी, पेम्फलेट बाँटनेकी, लेख प्रकाशित करनेकी, प्रत्येक तीर्थपर जाकर झगड़ोंकी जड़का पता लगानेकी और इसतरह लोकमत तैयार करनेकी, व्यवस्था होनी चाहिए। इसके बाद जब लोकमत तैयार हो जाय, अधिकांश लोग यह समझने लगें कि मुकद्दमा लड़ना बुरा है, और मेल बढ़ाना आवश्यक है तब समाजके मुखियोंसे कहा जाय कि वे आपसमें समझौता कर लेनेका प्रयत्न करें। इसके बाद दोनों सम्प्रदायके लोगोंकी सम्मतिसे महात्मा गाँधी, माननीय मालवीयजी आदि निष्पक्ष नेताओंको मध्यस्थ बनाकर ये झगड़े निबटा लिये जायँ। हम समझते हैं, कि इस पद्धतिसे आन्दोलन करनेसे अवश्य सफलता होगी और जैनसमाजके लिए वह दिन बड़े सौभाग्यका होगा जिस दिन वह अपनी इन झगड़ोंमें नष्ट भ्रष्ट होती हुई शक्तिको किसी दूसरे अच्छे कार्योंमें लगानेको समर्थ होगा।

हम यह मानते हैं कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दो जुदा जुदा सम्प्रदाय हैं। उनमें जो मतभेद पड़ गये हैं, वे धीरे धीरे इतने मजबूत हो गये हैं कि उनके एक होनेकी आशा नहीं की जा सकती। परन्तु क्या जैनधर्मकी उदार नीतिके नाम पर हम यह भी आशा नहीं कर सकते कि दोनों सम्प्रदायवाले, अपने अपने विश्वासोंके अनुसार अपने अपने धर्मकृत्य सम्पादन करते हुए और एक दूसरेको हानि न पहुँचाते हुए एकत्र रह सकें? एक जमाना था जब एक ही घरमें, एक ही कुटुम्बमें जैन, बौद्ध और वैदिक धर्मोंको माननेवाले प्रेम प्रीतिसे निवास करते थे और यह तो बहुत पिछले समयकी बात है जब दिगम्बर और श्वेताम्बर लोग एक साथ बड़े बड़े संघ लेकर तीर्थयात्राको निकलते थे और तीर्थोंपर एक साथ धर्मकार्य सम्पादन करके पुण्य सम्पादन करते थे। क्या अब हम इतनी भी उदारता नहीं बतला सकते कि तीर्थोंपर इस तरहके झगड़े बखेड़े तो खड़े न करें और एक दूसरेको सतानेकी तैयारियोंमें तो अपनी शक्तियोंका क्षय न करें?

क्या हम जैनसमाजके धनिकोंसे यह आशा करें कि उनमेंसे दो चार सज्जन ऐसे भी निकल आवेंगे जो मुकद्दमे लड़ानेके लिए नहीं किन्तु उनके मिटानेका आन्दोलन करनेके लिए कुछ दान करनेकी आवश्यकता समझेंगे?

दोनों सम्प्रदायके पत्रसम्पादकोंसे प्रार्थना है कि वे इस आवश्यक विषयपर अपने अपने पत्रोंमें चर्चा करें और जैनधर्म और जैनसमाजके सिरसे इस कलङ्कको पोंछ डालनेके उद्योगमें शामिल हों।

शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण।

कुछ समय हुआ जब हमने 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नामका एक लेख 'सत्योदय' में प्रकाशित कराया था। आज हम उसे उपयोगी समझकर अपने पाठकोंके विचारार्थ नीचे प्रकट करते हैं—सम्पादक।

"श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरके चचा और श्रीकृष्ण महाराजके पिता वसुदेवजी जैनसमाजमें एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं। हरिवंशपुराणादि जैनकथाग्रन्थोंमें आपका विस्तारके साथ वर्णन दिया है। यहाँ पर हम आपके जीवनकी सिर्फ चार घटनाओंका उल्लेख करते हैं; एक 'देवकीसे विवाह' दूसरी 'जरा नामकी म्लेच्छ कन्यासे विवाह' तीसरी 'प्रियंगुसुन्दरीसे विवाह,' और चौथी घटना 'रोहिणीका स्वयम्बर'।

१—देवकीसे विवाह।

देवकी राजा उग्रसेनकी पुत्री, नृप भोजकवृष्टिकी पौत्री और महाराजा सुवीरकी प्रपौत्री थी। वसुदेव राजा अन्धकवृष्टिके पुत्र और नृप शूरके पौत्र थे। ये नृप 'शूर' और देवकीके प्रपितामह 'सुवीर' दोनों सगे भाई थे। दोनोंके पिताका नाम 'नरपति' और पितामह (बाबा) का नाम 'यदु' था। ऐसा श्रीजिनसेनाचार्य्यने अपने हरिवंशपुराणमें सूचित किया है और इससे यह प्रकट है कि राजा उग्रसेन और वसुदेवजी दोनों आपसमें चचा-ताऊजाद भाई लगते थे और इस लिये उग्रसेनकी लड़की 'देवकी' रिश्तेमें वसुदेवकी भतीजी (भ्रातृजा) हुई। इस देवकीसे वसुदेवका विवाह हुआ जिससे स्पष्ट है कि इस विवाहमें गोत्र तथा गोत्रकी शाखाओंका टालना तो दूर रहा एक वंश और एक कुटुम्बका भी कुछ खयाल नहीं रक्खा गया। वसुदेवजीने गोत्रादि सम्बन्धी इन सब बातोंको कुछ भी महत्त्व न देकर, बिना किसी संकोचके अपनी भतीजीके

साथ विवाह कर लिया और उनका यह विवाह उस समय कुछ भी अनुचित नहीं समझा गया। इस विवाहसे अनेक सुप्रतिष्ठित और बहुमान्य पुत्ररत्नोंका उद्भव हुआ; अर्थात् देवकीने श्रीकृष्णके अतिरिक्त छः तद्भवमोक्षगामी पुत्रोंको भी जन्म दिया। यह तो हुई देवकीसे विवाहकी बात, अब जराकी विवाहवार्ताको लीजिये।

२-जरासे विवाह।

जरा किसी म्लेच्छ राजाकी कन्या थी जिसने गङ्गा तट पर वसुदेवजीको परिभ्रमण करते हुए देखकर उनके साथ अपनी इस कन्याका पाणिग्रहण कर दिया था। पं० दौलतरामजीने, अपने हरिवंशपुराणमें, इस राजाको 'म्लेच्छखण्डका राजा' बतलाया है और पं० गजाधरलालजी उसे 'भीलोंका राजा' सूचित करते हैं। वह राजा म्लेच्छखण्डका राजा हो या आर्य्यखण्डोद्भव म्लेच्छ राजा, और चाहे उसे भीलोंका राजा कहिये, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह आर्य्य तथा उच्चजातिका मनुष्य नहीं था। और इसलिये उसे अनार्य्य तथा म्लेच्छ कहना कुछ भी अनुचित नहीं होगा। म्लेच्छोंका आचार आम तौर पर 'हिंसामें रति, मांसभक्षणमें प्रीति और जबरदस्ती दूसरोंकी धन-सम्पत्तिका हरना इत्यादिक' होता है; जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्य्य-प्रणीत आदिपुराणके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है:—

म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च।
बलात्परस्वहरणं निर्धूतत्वमिति स्मृतम् ॥ ४२-१८४ ॥

वसुदेवजीने, यह सब कुछ जानते हुए भी, बिना किसी झिझक और रुकावटके बड़ी खुशीके साथ इस म्लेच्छ राजाकी उक्त कन्यासे विवाह किया और उनका यह विवाह भी उस समय कुछ अनुचित नहीं समझा गया। बल्कि उस समय और उससे पहिले भी इस प्रकारके विवाहोंका आम दस्तूर था। अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित, उच्चकुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषोंने म्लेच्छ राजाओंकी कन्याओंसे विवाह किया, जिनके उदाहरणोंसे जैनसाहित्य परिपूर्ण है। अस्तु; इस विवाहसे वसुदेवजीके 'जरत्कुमार' नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो बड़ा ही प्रतापी, नीतिवान् और प्रजाप्रिय राजा हो गया है और जिसने अन्तको, राजपाट छोड़कर जैनमुनिदीक्षा तक धारण की थी। इसी राजाके वंशमें 'जितशत्रु' नामका राजा हुआ, जिससे भगवान् महावीरके पिताकी छोटी बहिन ब्याही गई। अब प्रियंगुसुन्दरीके विवाहको लीजिये।

३—प्रियंगुसुंदरीसे विवाह।

प्रियंगुसुन्दरीके पिताका नाम 'एणीपुत्र' था। यह एणीपुत्र ऋषिदत्ता नामकी एक अविवाहिता तापसकन्यासे व्यभिचार द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रसवसमय उक्त ऋषिदत्ताका देहान्त हो गया और वह मरकर देवी हुई, जिसने एणी अर्थात् हरिणीका रूप धारण करके जङ्गलमें अपने इस नवजात शिशुको स्तन्यपानादिसे पाला और पालपोषकर अन्तको शीलायुध राजाके सुपुर्द कर दिया। इस प्रियंगुसुन्दरीका पिता एणीपुत्र 'व्यभिचार जात' था, जिसको आजकलकी भाषामें 'दस्सा' या 'गाटा' भी कहना चाहिये। वसुदेवजीने विवाहके समय यह सब हाल जानकर भी इस विवाहको किसी प्रकारसे दूषित, अनुचित अथवा अशास्त्रसम्मत * नहीं समझा।

* शास्त्रोंमें तो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यके लिये 'शूद्र' तककी कन्यासे विवाह करना भी उचित ठहराया है, यथाः—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥
—आदिपुराण।

'आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मणक्षत्रियविशः।' नीतिवाक्यामृत।

और इसलिये उन्होंने बड़ी खुशीके साथ प्रियंगुसुन्दरीका भी पाणिग्रहण किया।

यद्यपि ये तीनों विवाह आजकलकी हवाके बहुत कुछ प्रतिकूल पाये जाते हैं तो भी, उस समय, इन विवाहोंको करके वसुदेवजी जरा भी पतित नहीं हुए।

पतित होना अथवा जातिसे च्युत किया जाना तो दूर रहा, तत्कालीन समाजने उन्हें घृणाकी दृष्टिसे भी नहीं देखा। उनकी कीर्त्ति और प्रतिष्ठामें इन विवाहोंसे जरा भी बट्टा या कलङ्क नहीं लगा; बल्कि वह उलटी वृद्धिंगत हुई और यहाँ तक बनी रही कि उसके कारण आज तक भी अनेक ऋषि-मुनियों तथा विद्वानोंके द्वारा वसुदेवजीके पुण्य चरित्रका चित्रण और यशोगान होता रहा। श्रीजिनसेनाचार्य्यने हरिवंशपुराणमें, वसुदेवजीकी कीर्तिका अनेक प्रकारसे कीर्त्तन कर उन्हें यदुवंशमें श्रेष्ठ, उदारचरित्र, शुद्धात्मा, स्वभावसे ही निर्मल चित्तके धारक, अनन्य साधारण (जो औरोंमें न पाया जाय) विवेकसे युक्त और ऐसे महान् धर्मज्ञ तथा तत्त्ववेत्ता प्रकट किया है कि जिनके मुनि और श्रावकधर्मसम्बन्धी उपदेशको सुनकर बहुतसे मिथ्यामती तापसियोंने भी तत्काल ही अपना वह मिथ्यामत छोड़ दिया था और जैनधर्मका शरण लेकर उसके व्रतोंको ग्रहण किया था। श्रीजिनदास ब्रह्मचारी भी, अपने हरिवंशपुराणमें, वसुदेवजीका ऐसा ही यशोगान करते हैं और उन्हें 'महामति' आदिक लिखते हैं। साथ ही, उन्होंने बलभद्रके मुखसे श्रीकृष्णके प्रति जो वाक्य कहलाया है उससे मालूम होता है कि वसुदेवजीका सौभाग्य जगत्में विख्यात था और उनकी सत्कीर्त्तिका खेचर और भूचर सभी जन गान किया करते थे। वह वाक्य इस प्रकार है:—

> जगद्विख्यातसौभाग्यो वसुदेवः पिता तव।
> गीयते यस्य सत्कीर्त्तिः खेचरीभूचरीजनैः॥
>
> सर्ग १४ श्लोक १४३।

इन दोनों ग्रन्थोंके अवतरणोंसे ही इस बातका भले प्रकार पता चल जाता है कि वसुदेवजी कितने यशस्वी, विवेकी, प्रखर विद्वान् और धार्मिक पुरुष थे। ऐसी हालतमें उनके ये तीनों विवाह उस समयकी दृष्टिसे जरा भी हीन अथवा जघन्य नहीं समझे जा सकते। उन्हें अनुचित समझना ही अनुचित होगा। अस्तु; अब रोहिणीके स्वयम्बरकी ओर चलिये।

४—रोहिणीका स्वयंवर।

रोहिणी अरिष्टपुरके राजाकी लड़की और एक सुप्रतिष्ठित घरानेकी कन्या थी। इसके विवाहका स्वयम्वर रचाया गया था, जिसमें जरासन्धादिक बड़े बड़े प्रतापी राजा दूर देशान्तरोंसे एकत्र हुए थे। स्वयम्वरमण्डपमें वसुदेवजी, किसी कारण विशेषसे अपना वेष बदल कर, 'पणव' नामका वादित्र हाथमें लिये हुए एक ऐसे रङ्क तथा अकुलीन बाजन्त्री (बाजा बजानेवाला) के रूपमें उपस्थित थे कि जिससे किसीको उस वक्त वहाँ उनके वास्तविक कुल जाति आदिका कुछ भी पता मालूम नहीं था। रोहिणीने सम्पूर्ण उपस्थित राजाओं तथा राजकुमारोंको प्रत्यक्ष देखकर और उनके वंश तथा गुणादिका परिचय पाकर भी जब उनमेंसे किसीको भी अपने योग्य वर पसन्द नहीं किया तब उसने, सब लोगोंको आश्चर्य्यमें डालते हुए, बड़े ही निःसङ्कोच भावसे उक्त बाजन्त्री रूपके धारक एक अपरिचित और अज्ञातकुलजातिनामा व्यक्ति (वसुदेव) के गलेमें ही अपनी वरमाला डाल दी। रोहिणीके इस कृत्य पर कुछ ईर्षालु, मानी और मदान्ध राजा, अपना अपमान समझकर कुपित हुए और रोहिणीके पिता तथा

वसुदेवसे लड़नेके लिये तैयार हो गये । उस समय विवाहनीतिका उल्लंघन करनेके लिये उद्यमी हुए उन कुपितानन राजाओंको सम्बोधन करके, वसुदेवजीने बड़ी तेजास्विताके साथ जो वाक्य कहे थे उनमेंसे स्वयंवर-विवाहके नियम-सूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं ।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे ॥
—सर्ग ११, श्लो० ७१ ।

अर्थात् स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसन्द होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन। क्योंकि स्वयंवरमें इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होनेका—कोई नियम नहीं होता । ये वाक्य सकलकीर्त्ति आचार्य्यके शिष्य श्रीजिनदास ब्रह्मचारीने अपने हरिवंशपुराणमें उद्धृत किये हैं और श्रीजिनसेनाचार्य्यकृत हरिवंशपुराणमें भी प्रायः इसी आशयके वाक्य पाये जाते हैं । वसुदेवजीके इन वचनोंसे उनकी उदार परिणति और नीतिज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है, और साथ ही स्वयंवर-विवाहकी नीतिका भी बहुत कुछ अनुभव हो जाता है । यह स्वयंवर-विवाह, जिसमें वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नहीं होता, वह विवाह है जिसे, आदिपुराणमें श्रीजिनसेनाचार्य्यने 'सनातनमार्ग' लिखा है और सम्पूर्ण विवाहविधानोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है* । युगकी आदिमें सबसे पहले जब राजा अकम्पन द्वारा इस (स्वयंवर) विवाहका अनुष्ठान हुआ था तब भरत चक्रवर्तीने भी इसका बहुत कुछ अभिनन्दन किया था। साथ ही, उन्होंने ऐसे सनातन मार्गोंके पुनरुद्धारकर्त्ताओंको सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था* । अस्तु । विवाहकी यह सनातन विधि भी आजकलकी हवाके प्रतिकूल पाई जाती है । आजकल इस प्रकारके विवाहोंका प्रायः अभाव ही देखनेमें आता है । परन्तु आजकल कुछ ही होता रहे, उस समय वसुदेवजीका रोहिणीके साथ इस स्वयंवर-विधिसे बड़े आनन्दपूर्वक विवाह हो गया और रोहिणीका एक बाजन्त्रीके गलेमें वरमाला डालना भी कुछ अनुचित नहीं समझा गया । इस विवाहसे वसुदेवजीको बलभद्र जैसे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई ।

इन चारों घटनाओंको लिये हुए वसुदेवजीके इस एक पुराने बहुमान्य शास्त्रीय उदाहरणसे, और साथ ही वसुदेवजीके उक्त वचनोंको आदिपुराणके उपर्य्युल्लिखित वाक्योंके साथ मिलाकर पढ़नेसे विवाह-विषय पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और उसकी अनेक समस्यायें खुद ब खुद (स्वयमेव) हल हो जाती हैं । इस उदाहरणसे वे सब लोग बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो प्रचलित रीति-रिवाजोंको ब्रह्मवाक्य तथा आप्तवचन समझे हुए हैं, अथवा जो रूढ़ियोंके इतने भक्त हैं कि उन्हें गणितशास्त्रके नियमोंकी तरह अटल सिद्धान्त समझते हैं और इसलिये उनमें जरा भी फेरफार करना जिन्हें रुचिकर नहीं होता; जो ऐसा करनेको धर्मके विरुद्ध चलना और जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना मान बैठे हैं; जिन्हें विवाहमें कुछ संख्याप्रमाण गोत्रोंके न बचाने तथा अपने वर्णसे भिन्न वर्णके साथ शादी करनेसे धर्मके डूब जानेका भय लगा हुआ है; इससे भी अधिक, जो एक ही धर्म और एक ही

*सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः ।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥ ४४-३२॥

* तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः ।
कः प्रवर्त्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥५४॥
मार्गाश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् ।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ५५
—आ० पु० पर्व ४५ ।

आचारके मानने तथा पालनेवाली अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि समान जातियोंमें भी परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार एक करनेको अनुचित समझते हैं—पातक अथवा पतनकी शङ्कासे जिनका हृदय सन्तप्त है-और जो अपनी एक जातिमें भी आठ आठ गोत्रों तकको टालनेके चक्करमें पड़े हुए हैं। ऐसे लोगोंको वसुदेवजीका उक्त उदाहरण और उसके साथ विवाहसम्बन्धी वर्त्तमान रीति-रिवाजोंका मीलान बतलायगा कि रीति-रिवाज कभी एक हालतमें नहीं रहा करते, वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञायें और अटल सिद्धान्त नहीं होते, उनमें समयानुसार बराबर फेरफार और परिवर्त्तनकी जरूरत हुआ करती है। इसी जरूरतने वसुदेवजीके समय और वर्त्तमान समयमें जमीन आसमानका सा अन्तर डाल दिया है। यदि ऐसा न होता तो वसुदेवजीके समयके विवाहसम्बन्धी नियम-उपनियम इस समय भी स्थिर रहते और उसी उत्तम तथा पूज्य दृष्टिसे देखे जाते जैसे कि वे उससमय देखे जाते थे। परन्तु ऐसा नहीं है और इसलिये कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञायें अथवा अटल सिद्धान्त नहीं थे और न हो सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि यदि वर्त्तमान वैवाहिक रीतिरिवाजोंको सर्वज्ञ-प्रणीत—सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त—माना जाय तो यह कहना पड़ेगा कि वसुदेवजीने प्रतिकूल आचरणद्वारा बहुत स्पष्टरूपसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया। ऐसी हालतमें आचार्यों द्वारा उनका यशोगान नहीं होना चाहिये था, वे पातकी समझे जाकर कलङ्कित किये जानेके योग्य थे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और न होना चाहिये था; क्योंकि शास्त्रों द्वारा उस समयके मनुष्योंकी प्रायः ऐसी ही प्रवृति पाई जाती है, जिससे वसुदेवजी पर कोई कलङ्क नहीं आ सकता। तब क्या यह कहना होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज सर्वज्ञप्रणीत थे और आजकलके सर्वज्ञ-प्रणीत अथवा जिनभाषित नहीं हैं? ऐसा कहने पर आजकलके रीति-रिवाजोंको एकदम उठाकर उनके स्थानमें वही वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाज कायम कर देना ही समुचित न होगा बल्कि साथ ही अपने उन सभी पूर्वजों-को कलङ्कित और दोषी भी ठहराना होगा जिनके कारण वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थानमें वर्त्तमान रीति-रिवाज कायम हुए और फिर हम तक पहुँचे। परन्तु ऐसा कहना और ठहराना दुःसाहस मात्र होगा। वह कभी इष्ट नहीं हो सकता और न युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। इस लिये यही कहना समुचित होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज भी सर्वज्ञभाषित नहीं थे। वास्तवमें गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका वर्णन किया गया है, एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रय और पारलौकिक आगमाश्रय होता है *। विवाहकर्म गृहस्थोंके लिये एक लौकिक धर्म है और इसलिये वह लोकाश्रित है—लौकिक जनोंकी देशकालानुसार जो प्रवृत्ति होती है उसके अधीन है—लौकिक जनोंकी प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमें नहीं रहा करती। वह देशकालकी आवश्यकताओंके अनुसार कभी पञ्चायतियोंके निर्णय द्वारा और कभी प्रगतिशील व्यक्तियोंके उदाहरणोंको लेकर, बराबर बदला करती है और इसलिये वह पूर्णरूपमें प्रायः कुछ समयके लिये ही स्थिर रहा करती है। यही वजह है कि भिन्न भिन्न देशों, समयों और जातियोंके विवाहविधानोंमें बहुत बड़ा अन्तर पाया जाता है। एक समय था जब इसी भारतभूमि पर सगे भाई बहिन भी परस्पर

---

* द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥—सोमदेवः।

स्त्री पुरुष होकर रहा करते थे और इतने पुण्याधिकारी समझे जाते थे कि मरने पर उनके लिये नियमसे देवगतिका विधान किया गया है ×। फिर वह समय भी आया जब उक्त प्रवृत्तिका निषेध किया गया और उसे अनुचित ठहराया गया। परन्तु उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्बमें विवाह होना, एक स्त्रीके अनेक भर्तार होना, अपनेसे भिन्न वर्णके साथ शादीका किया जाना और शूद्र ही नहीं किन्तु म्लेच्छों-तककी कन्याओंसे विवाह करना भी अनुचित नहीं माना गया। साथ ही, मामा-फूफीकी कन्याओंसे विवाह करनेका तो आम दस्तूर रहा और वह एक प्रशस्त विधान समझा गया। इसके बाद समयके हेरफेरसे उक्त प्रवृत्तियोंका भी निषेध प्रारम्भ हुआ, उनमें भी दोष निकलने लगे—पापोंकी कल्पनायें होने लगीं—और वे सब बदलते बदलते वर्त्तमानके ढाँचेमें ढल गईं। इस अर्सेमें सैकड़ों नवीन जातियों, उपजातियों और गोत्रोंकी कल्पना होकर विवाहक्षेत्र इतना सङ्कीर्ण बन गया कि उसके कारण आजकलकी जनता बहुत कुछ हानि तथा कष्ट उठा रही है और क्षतिका अनुभव कर रही है—उसे यह मालूम होने लगा है कि कैसी कैसी समृद्धिशालिनी जातियाँ इन वर्त्तमान रीतिरिवाजोंके चुङ्गलमें फँसकर संसारसे अपना अस्तित्व उठा चुकी हैं और कितनी मृत्युशय्यापर पड़ी हुई हैं—इसीसे अब वर्त्तमान रीतिरिवाजोंके विरुद्ध भी आवाज उठानी शुरू हो गई है। समय उनका भी परिवर्त्तन चाहता है। संक्षेपमें, यदि सम्पूर्ण जगत्के भिन्न भिन्न देशों, समयों और जातियोंके कुछ थोड़े थोड़ेसे ही उदाहरण एकत्र किये जायँ तो विवाहविधानोंमें हजारों प्रकारके भेद, उपभेद और परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होंगे, और इसलिये कहना होगा कि यह सब समय समयकी जरूरतों, देश देश देशकी आवश्यकताओं और जाति जातिके पारस्परिक व्यवहारोंका नतीजा है; अथवा इसे कालचक्रका प्रभाव कहना चाहिए। जो लोग कालचक्रकी गतिको न समझकर एक ही स्थान पर खड़े रहते हैं और अपनी पोजीशन (Position) को नहीं बदलते—स्थितिको नहीं सुधारते—वे निःसन्देह कालचक्रके आघातसे पीड़ित होते और कुचले जाते हैं। अथवा संसारसे उनकी सत्ता उठ जाती है। इस सब कथनसे अथवा इतने ही संकेतसे लोकाश्रित (लौकिक) धर्मोंका बहुत कुछ रहस्य समझमें आ सकता है। साथ ही यह मालूम हो जाता है कि वे कितने परिवर्तनशील हुआ करते हैं। ऐसी हालतमें विवाह जैसे लौकिक धर्मों और सांसारिक व्यवहारोंके लिये किसी आगमका आश्रय लेना, अर्थात्—यह ढूँढ़ खोज लगाना कि आगममें किस प्रकारसे विवाह करना लिखा है, बिल्कुल व्यर्थ है। कहा भी है "**संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः** *।" अर्थात्, संसारव्यवहारके स्वतः सिद्ध होनेसे उसके लिये आगमकी जरूरत नहीं। वस्तुतः आगम ग्रन्थोंमें इस प्रकारके लौकिक धर्मों और लोकाश्रित विधानोंका कोई क्रम निर्द्धारित नहीं होता। वे सब लोकप्रवृत्ति पर अवलम्बित रहते हैं। हाँ, कुछ त्रिवर्णाचारों जैसे अनार्ष ग्रन्थोंमें विवाह-विधानोंका वर्णन जरूर पाया जाता है। परन्तु वे आगम ग्रन्थ नहीं हैं—उन्हें आप्त भगवान्के वचन नहीं कह सकते और न वे आप्तवचनानुसार लिखे गये हैं—इतने पर भी कुछ ग्रन्थ तो उनमेंसे बिल्कुल ही जाली और बनावटी हैं; जैसा कि 'जिनसेनत्रिवर्णाचार' और 'भद्रबाहुसंहिताके' के परीक्षालेखोंसे प्रकट है ×।

× यह कथन उस समयका है जब कि यहाँ भोगभूमि प्रचलित थी।

* यह श्रीसोमदेव आचार्य्यका वचन है।

× ये सब लेख 'ग्रन्थपरीक्षा' नामसे पहिले जैनहितैषी पत्रमें प्रकाशित हुए थे और अब कुछ समयसे अलग पुस्तकाकार भी छप गये हैं। बम्बई और इटावा आदि स्थानोंसे मिलते हैं।

वास्तवमें यह सब ग्रन्थ एक प्रकारके लौकिक ग्रन्थ हैं। इनमें प्रकृत विषयके वर्णनको तात्कालिक और तद्देशीय रीतिरिवाजोंका उल्लेखमात्र समझना चाहिये, अथवा यों कहना चाहिये कि ग्रन्थकर्त्ताओंको समाजमें उस प्रकारके रीतिरिवाजोंका प्रचलित करना इष्ट था। इससे अधिक उन्हें और कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जा सकता—वे आजकल प्रायः इतने ही कामके हैं—एकदेशीय, लौकिक और सामयिक ग्रन्थ होनेसे उनका शासन सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं हो सकता। अर्थात्—सर्व देशों और सर्व समयोंके मनुष्योंके लिये वे समान रूपसे उपयोगी नहीं हा सकते। और इसलिये केवल उनके आधार पर चलना कभी युक्तिसङ्गत नहीं कहला सकता। विवाही विषयमें आगमका मूलविधान सिर्फ इतना ही पाया जाता है कि वह गृहस्थधर्मका वर्णन करते हुए गृहस्थके लिये आम तौरपर गृहिणीकी अर्थात् एक स्त्रीकी जरूरत प्रकट करता है। वह स्त्री कैसी, किस वर्णकी, किस जातिकी, किन किन सम्बन्धोंसे युक्त तथा रहित और किस गोत्रकी होनी चाहिये अथवा किस तरह पर और किस प्रकारके विधानोंके साथ विवाह कर लानी चाहिये, इन सब बातोंमें आगम प्रायः कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता। ये सब विधान लोकाश्रित हैं। आगमसे इनका प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नहीं है। यह दूसरी बात है कि आगममें किसी घटना विशेषका उल्लेख करते हुए उनका उल्लेख आजाय और तात्कालिक दृष्टिसे उन्हें अच्छा या बुरा भी बतला दिया जाय; परन्तु इससे वे कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त नहीं बन जाते—अर्थात्, ऐसे कोई नियम नहीं हो जाते कि जिनके अनुसार चलना सर्व देशों और सर्व समयोंके मनुष्योंके लिये बराबर जरूरी और हितकारी हो। हाँ, इतना जरूर है कि आगमकी दृष्टिमें सिर्फ वही लौकिक विधियाँ अच्छी और प्रामाणिक समझी जा सकती हैं जो जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध न हों, अथवा जिनके कारण जैनियोंकी श्रद्धा(सम्यक्त्व)-में बाधा न पड़ती हो और न उनके व्रतोंमें ही कोई दूषण लगता हो। इस दृष्टिको सुरक्षित रखते हुए जैनी लोग प्रायः सभी लौकिक विधियोंको खुशीसे स्वीकार कर सकते हैं और अपने वर्त्तमान रीति-रिवाजोंमें, देशकालानुसार, यथेष्ट परिवर्तन कर सकते हैं *। उनके लिये इसमें कोई बाधक नहीं है। अस्तु; इस सम्पूर्ण विवेचनसे प्राचीन और अर्वाचीनकालके विवाह-विधानोंकी विभिन्नता, उनका देशकालानुसार परिवर्त्तन और लौकिक धर्मोंका रहस्य इन सब बातोंका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हो सकता है, और साथ ही यह भले प्रकार समझमें आ सकता है कि वर्त्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञभाषित ऐसे अटल सिद्धान्त नहीं हैं कि जिनका परिवर्तन न हो सके अथवा जिनमें कुछ फेरफार करनेसे धर्मके डूब जानेका कोई भय हो। हम, अपने सिद्धान्तोंका विरोध न करते हुए, देश, काल और जातिकी आवश्यकताओंके अनुसार उन्हें हर वक्त बदल सकते हैं। वे सब हमारे ही कायम किये हुए नियम हैं और इस लिये हमें उनके बदलनेका स्वतः अधिकार प्राप्त है। इन्हीं सब बातोंको लेकर, एक शास्त्रीय उदाहरणके रूपमें, यह नोट लिखा गया है। आशा है कि हमारे जैनी भाई इससे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे, और विवाहतत्त्वको समझकर, जिसके समझनेके लिये 'विवाहका उद्देश्य' × नामक निबन्ध भी साथमें पढ़ना विशेष उपकारी होगा, अपने वर्त्तमान रीति-रिवाजोंमें यथोचित फेरफार करनेके लिये समर्थ होंगे। और इस तरह पर कालचक्रके आघातसे बचकर अपनी सत्ताको चिरकाल तक यथेष्टरीतिसे बनाये रक्खेंगे। इत्यलम्।

---

* सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥ —सोमदेवः।

× यह पुस्तक 'जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय' बम्बई द्वारा प्रकाशित हुई है, और लेखकके पाससे बिना मूल्य भी मिलती है।

पं० उदयलालजीका विवाह ।

(लेखक—श्रीयुत, नाथूराम प्रेमी ।)

आखिर गत 'विजयादशमी' को सत्यवादीके भूतपूर्व सम्पादक, अनेक जैनग्रन्थोंके अनुवादक, लेखक और प्रकाशक पं० उदयलालजीका विवाह ब्राह्मणजातीय बालविधवा श्रीमती मर्यादा-देवीके साथ हो गया । श्रीयुक्त पं० अर्जुनलालजी सेठी बी० ए० द्वारा जैनविवाहविधिसे यह विवाहकार्य बड़े आनन्द और उत्साहके साथ समाप्त हुआ । बम्बईके और बाहरके लगभग ३००—३५० गण्यमान्य दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन और अजैन गृहस्थोंने विवाहोत्सवकी शोभा बढ़ाई थी । लगभग २५—३० स्त्रियाँ भी उपस्थित थीं । उत्सवका सारा प्रबन्ध जैनहितेच्छुके प्रतिभाशाली सम्पादक श्रीयुत वाडीलाल मोतीलाल शाह और उनके सहयोगी स्वयंसेवकोंने किया था । श्रीयुत शाह और सेठीजीके प्रासंगिक व्याख्यान भी इस समय हुए। इसी प्रसंग पर वरकी ओरसे ३००), श्रीयुत शाहकी ओरसे २००) और वर्धानिवासी श्रीमान् सेठ चिरंजीलालजी बढ़जात्याकी ओरसे १००) इस तरह ६००) का दान हुआ । इस द्रव्यसे स्त्रीसमाजमें विदेशी वस्तु बहिष्कार और असहकारका प्रचार किया जायगा । उत्सवके अन्तमें उपस्थित सज्जनोंका दुग्ध, मिष्टान्न, फल और मेवोंसे सत्कार किया गया । अन्तमें विवाहित दम्पतिने कई पुरुषों और स्त्रियोंके साथ चौपाटीके चन्द्रप्रभ जिनालयमें जाकर दर्शन किये और इस तरह यह विवाहकार्य समाप्त हुआ ।

बम्बईकी खण्डेलवाल पंचायतीकी ओरसे इस बातका खास प्रबन्ध किया गया था कि कोई जैनी भाई इस विवाहमें शामिल न हो, इस कारण बहुतसे भाई इच्छा होते हुए भी उपस्थित न हुए, फिर भी लगभग ५०—६० खंडेलवाल, परवार, हूमड़, पंचम, चतुर्थ, सेतवाल, पद्मावती पुरवाल, कठनेरा, बद्नेरा, अग्रवाल, और पल्लीवाल भाई उत्सवकी शोभा बढ़ाने पहुँच ही गये थे ! इस पर पंचायतीके सूत्रधारोंका क्रोध बहुत ही बढ गया है और वे जानेवाले सज्जनोंको दण्डित करने या करानेकी तैयारी कर रहे हैं । पंचायतीने उस दिन मन्दिरमें तीन ताले लगवाये थे और ५—६ पुर्बियोंकी नियुक्ति इस लिए की थी कि कहीं विवाहितदम्पत्ति दर्शन करनेके लिए न आजावें ! यदि जाते तो संभवतः उनके स्वागतका भी प्रबन्ध किया जाता ! इन्दौरकी पंचायतसे ऐन मौकेपर सुना है कि एक इस आशयका तार आया था कि यदि उदयलालजीका विवाह जैन विधिसे होता हो तो उसको रोको ! पर यहाँकी पंचायती उक्त आज्ञाके पालनका कोई प्रबन्ध न कर सकी । स्वर्गीय पं० गोपालदासजी और उनके अनुयायी अपने अनेक व्याख्यानोंमें कह चुके हैं कि जैनधर्म 'सार्वधर्म' है । उसे 'सार्वधर्म' बना[illegible] चाहिए । इसके लिए एक 'सार्वधर्मपरिषत्' भी स्थापित हुई थी; परंतु बम्बईकी खंडेलवाल पंचायत—जिसके संचालक स्वर्गीय पण्डितजीके परम मित्र पं० धन्नालालजी हैं—चाहती है कि उदयलालजी केवल खंडेलवाल जातिसे ही च्युत होकर रिहाई नहीं पा सकें—उन्हें जैनधर्म भी छोड़ देना चाहिए । जिनदर्शन भी उन्हें न मिलना चाहिए और जैनविधिके अनुसार चलनेका भी उनसे अधिकार छीन लिया जाना चाहिए !

हम पहले लिख चुके हैं कि खंडेलवाल समाजका बहुमत जब विधवाविवाहके विरुद्ध है और उसके अधिकांश सभ्य जब इसे घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, तब उसको अधिकार है कि वह विधवा-विवाह करनेवालेसे अपना सम्बन्ध तोड़ दे

और उस पर अपने अस्त्रागारके सबसे तेज अस्त्र 'जातिबहिष्कार' का प्रयोग करे। ऐसा करनेसे उसको कोई मना भी नहीं कर सकता,—उस समय तक जब तक कि विधवा-विवाहको पसन्द करनेवाले लोग समाजमें अपना बहुमत न कर लें। बम्बईकी पंचायतका कार्य यहाँ तक तो न्यायानुमोदित कहा जा सकता है; परन्तु इसके आगे यह समझमें नहीं आता कि वह लोगोंके जन्मसिद्ध हक विचारस्वाधीनता और धर्मस्वाधीनता पर क्यों हस्तक्षेप करती है। उसे क्या अधिकार है कि वह किसीको जैनधर्म पालनेसे और दर्शन करनेसे रोके और उसके रोकनेसे कोई रुक भी कैसे सकता है? अरे भाई, यदि तुम उदयलालजीको खण्डेलवाल जातिमें रखनेसे नाराज हो तो मत रक्खो—उनके साथ रोटी-बेटीका व्यवहार बन्द कर दो-बस। पर इस ईर्षाग्निसे तुम क्यों जलते हो कि वे जैनधर्मपर विश्वास रखते हैं और जिनदेवको अपना परमोपकारी इष्टदेव समझते हैं? यदि तुम्हारी समझमें उन्होंने पापकार्य किया है, तो उससे मुक्त होनेका दरवाजा भी उनके लिए क्यों बन्द करते हो? संसारकी सभ्य सरकारें तो कैदियों और अपराधियोंको सुधारनेके लिए—उनकी बुरी आदतें छुड़ानेके लिए—जेलखानोंमें उपदेशक भेजती हैं—धर्मोपदेश देनेका प्रबन्ध करती हैं और तुम जगदुद्धारक धर्मके अनुयायी होकर चाहते हो कि कोई पापी भगवानका दर्शन स्मरण भी न कर सके! जैनधर्मपर इतनी तो दया करो, उसका जैनत्व इस दर्जे तक तो नष्ट मत कर दो कि वह अपराधियों और दुःखसन्तप्त आत्माओंको भी अपने पास न फटकने दे।

पं० उदयलालजीने यहाँकी पंचायतको जो उत्तर दिया था उसमें उन्होंने इस आशयकी कुछ बातें लिखी हैं कि "खंडेलवाल जातिके हजारों युवकोंने निर्धनताके कारण विवाह न कर सकनेसे, लश्कर, इन्दौर, बड़नगर, जयपुर आदि स्थानोंमें अपनी जातिकी और गैर जातिकी विधवाओंको यह कहकर रख छोड़ा है कि ये हमारे यहाँ रसोई बनाती हैं और जगत जानता है कि वे सब तरहसे उनकी स्त्रियाँ हैं; परन्तु उनको खण्डेलवाल जाति कोई दण्ड नहीं देती है। खास बम्बईमें ही एक खण्डेलवाल सज्जन एक ब्राह्मणीको रक्खे हुए है और उसके सन्तान भी उन्हींकी मौजूद है! ऐसी दशामें मैं ही क्यों दोषी समझा जाता हूँ जो स्पष्ट रूपसे एक विधवाके साथ शादी करना चाहता हूँ?" हमारी समझमें पण्डितजीकी यह दलील निरर्थक है। उन्हें जानना चाहिए कि खंडेलवाल जातिमें और उसके समान और भी अनेक जातियोंमें इस विषयमें बहुत समयसे बहुमत हो गया है—अधिकांश लोगोंकी यह राय बन चुकी है कि चुपचाप गुप्तरूपसे किसी विधवाको रख लेना इतना बड़ा अपराध नहीं है कि वह जातिसे खारिज किया जाय या उसका मन्दिर बन्द कर दिया जाय। यह संभव भी नहीं है। क्योंकि ऐसे लोगोंकी संख्या कम नहीं है। परन्तु विधवाविवाहके सम्बन्धमें अभी तक बहुमत नहीं हुआ है। प्रायः सभी लोग उसे बुरा समझते हैं और छुपकरके वह किया भी नहीं जा सकता है। ऐसी दशामें वह जायज कैसे ठहर सकता है? जिस समय इस तरहके विवाह करनेवाले अनेक हो जायँगे, बहुमत इसके पक्षमें आ जायगा उस समय यह भी जायज हो जायगा।

श्रीयुक्त पं० धन्नालालजीके अनुयायी एक पण्डितजीने, जो न्यायतीर्थ हैं और जैनधर्मके अच्छे ज्ञाता हैं, एक बार पं० उदयलालजीको समझाया था कि "तुम यह विवाह मत करो। यदि तुम्हें अपनी जातिमें कोई लड़की नहीं मिलती है, तो मैं कोशिश करके—स्वयं २—३ महीने घूम फिरकर—किसी दूसरी दिगम्बर जैन जातिकी

कन्या तुम्हारे लिए तलाश कर दूँगा।" इस पर उदयलालजीने कहा कि "एक तो यह सर्वथा असंभव जान पड़ता है कि दूसरी जातिका कोई आदमी अपनी कन्या मुझ गैर जातिवालेको दे देगा और यदि यह संभव भी हो, तो यह तो बतलाइए कि इस ब्राह्मण विधवाकी क्या दशा होगी जो मेरे विश्वास पर यहाँ आई है और जिसने मुझे हृदयसे स्वीकार कर लिया है?" इस पर न्यायतीर्थजीने कहा कि "विवाह तो किसी दूसरी कन्याके ही साथ करना चाहिए; इसे चाहे तो तुम दासीके तौर पर अपने पास रक्खे रहना। इसमें कुछ हानि भी नहीं है। उसे विवाहिताके तौर पर रखना ही अपराध है!" इसी तरह खण्डेलवाल जातिके और भी कई सज्जनोंने उनसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा था कि तुम "विधवाको दासी या रसोई बनानेवालीके तौर पर रक्खे रहो, तो हम तुमसे कुछ भी न कहेंगे!—इस तरह रखनेका अपने यहाँ रिवाज है। पर यदि शादी करोगे तो उसे हम सहन न करेंगे!" कहनेकी आवश्यकता नहीं कि पं० उदयलालजीने उक्त दोनों ही सम्मतियोंकी अवहेलना की। उन्होंने कहा कि "मैं इस तरह किसी स्त्रीको अपने घरमें डाल रखना पाप समझता हूँ। जब मैं उसे रखना चाहता हूँ तो खुले आम विवाह करके ही रक्खूँगा।"

इन बातोंसे पाठक समझ सकेंगे कि पंचायतियाँ पाप या अपराधकी तर-तमता देखकर किसीको दण्ड नहीं देती हैं—वे केवल एक लकीरको पीटती हैं और जिन बातोंका उनके यहाँ चलन नहीं है—चाहे वे अच्छी हों या बुरी—उनके करनेवालोंपर अपना हथियार उठाती हैं; और बुरी बातोंको भी अभ्यास पड़ जानेके कारण खुशी खुशी चलने देती हैं। उनसे यह आशा करना कि ये सदा धर्मके अनुकूल ही चलेंगी, व्यर्थ है।

हम पं० उदयलालजीके इस विवाहको कोई आदर्श कार्य नहीं समझते हैं। हमने मित्रताके तौर पर उन्हें कई बार समझाया भी था कि आप विद्वान् हैं, आपको चाहिए कि विवाहकी झंझटोंमें न पड़ें और ब्रह्मचारी रहकर देश और समाजकी सेवा करते हुए अपने जीवनको बिता दें। विवाहको आप जितना आवश्यक और आकर्षणीय समझते हैं उतना वह नहीं है। वह केवल अपने लिये जीना है। उससे कहीं अधिक सुख दूसरोंके लिए जीनेमें है। परन्तु उन्होंने अपनेको इतना समर्थ सिद्ध नहीं किया और वे इस विवाहके प्रपंचमें पड़ गये। फिर भी हम इसके कारण उन्हें दोष नहीं दे सकते। इसमें सन्देह नहीं कि वे साधुओं और महापुरुषोंकी श्रेणीमें नहीं बिठाये जा सकते, परंतु साथ ही खण्डेलवाल जातिमें ऐसे हजारों पुरुष हैं जिनसे उनका चरित्र कई गुणा अच्छा है। यह ठीक है कि यदि वे आज स्वार्थत्यागी ब्रह्मचारी होते तो हम लोगोंके लिए आदर्श और पूज्य होते; परन्तु यदि उन्होंने विवाह कर लिया है तो केवल इसी कारण, वे तिरस्करणीय भी नहीं ठहर सकते—कमसे कम उन लोगोंसे तो वे बहुत अच्छे हैं जो चुपचाप पापपङ्कमें लौटा करते हैं और अपने पापोंको छुपानेके लिए अपने बाहरी चरित्रपर धर्मात्मापनकी कलई चढ़ाये रहते हैं। विधवाओंके साथ गुप्त सम्बन्ध रखनेकी अपेक्षा स्पष्ट विवाह कर लेना हजार गुणा अच्छा है और इस सत्यको हजार खण्डेलवाल पंचायतियाँ भी असत्य सिद्ध नहीं कर सकतीं।

पं० उदयलालजीने खण्डेलवाल बिरादरीको क्षुभित करनेके लिए एक साथ दो काम किये हैं। एक तो विधवा-विवाह और वह भी एक अजैन ब्राह्मणकी लड़कीके साथ। यदि अपनी जातिकी विधवाके साथ ही वे विवाह करते तो शायद इतना क्षोभ न होता—कमसे कम कुछ लोग अवश्य उनके अनुमोदक होते। परन्तु एक साथ उन्होंने दो छलाँगें मरी हैं। ऐसी दशामें उनका जातिसे

खारिज किया जाना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं समझी जा सकती। सभी जगहकी जैन पंचायतियाँ उनके साथ यही व्यवहार करतीं। इस सम्बन्धमें पुराणों और धर्मशास्त्रोंकी दोहाई देना और यह कहना कि पहले जैनोंमें असवर्ण विवाह होते थे, अथवा विधवा-विवाहका कोई स्पष्ट निषेध जैनशास्त्रोंमें नहीं है—निरर्थक है। क्योंकि जातियाँ सभी काम धर्मशास्त्रोंकी आज्ञानुसार करती हों, ऐसी बात नहीं है। उनके लिए सबसे पहले रिवाज और रूढ़ियाँ मान्य हैं और उनके बाद धर्मशास्त्र। 'शास्त्राद्रूढिः बलीयसी' यह प्रवाद बहुत पुराना है। यदि वर्तमान जैन जातियाँ शास्त्रोंके अनुसार ही चलती होतीं तो आज उनका यह पृथक् पृथक् अस्तित्व ही नहीं होता। कमसे कम वैश्य वर्णकी जैन जातियोंमें—जिनकी संख्या सबसे अधिक है—परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार अवश्य होता, मामाके लड़कियोंके साथ भानजोंके विवाह प्रचलित होते, पुराणोंमें जो बहुतसे असवर्ण विवाहके उदाहरण मिलते हैं उनके समान बीच बीचमें इन जातियोंमें भी असवर्ण तथा म्लेच्छ विवाह होते और हालके समान चार चार और आठ आठ गोत्र मिलानेके टंटे प्रत्येक जातिमें न होते। ये सब जातियाँ शास्त्रोंका सहारा उसी समय ढूँढ़ती हैं, जब उन्हें कोई नये आचरणको करणीय और अकरणीय ठहराना होता है, अन्यथा वे अपनी रूढ़ियों पर ही चला करती हैं। ऐसी दशामें खण्डेलवाल पंचायतको शास्त्रोंके प्रमाण दिखाकर बुरा भला कहनेसे कोई लाभ नहीं हो सकता। हाँ, उसे और अन्य पंचायतियोंको सिर्फ एक ही बातकी आगाही कर देनी उचित जान पड़ती है कि उनके पास जातिच्युत कर देनेके और (किसी किसी के पास) मन्दिर बन्द कर देनेके जो दो हथियार हैं, वे तभी तक काम दे सकते हैं और उनके वार भी तभी तक कारगर हो सकते हैं जब तक कि उनका प्रयोग बहुत सोच समझकर यदा कदा ही किया जायगा। यदि इनसे अधिक काम लिया जायगा तो ये स्वयं भोथले हो जायँगे और लोग इनकी परवा करना भी छोड़ देंगे। अधिक प्रयोग न किया जाय, इसके लिए यह आवश्यक है कि जातियोंमेंसे वे सब दोष निकालनेका प्रबन्ध किया जाय, जिनके कारण लोग विधवा-विवाह या वर्णान्तरविवाह करनेके लिए तैयार होते हैं। यह अप्राकृतिक अन्धाधुन्धी अब बहुत समय तक नहीं चल सकती कि इधर तो धनियोंके मारे और एक स्त्रीके मरनेके बाद दूसरी, तीसरी, चौथी बार विवाह करनेवालोंके मारे युवकोंको लड़कियाँ न मिलें—उनके लिए जीवनभर कुँआरे रहनेकी व्यवस्था की जाय और उधर उन्हें असमानजातीय विवाह, वर्णान्तर-विवाह और विधवा-विवाह करनेसे भी रोका जाय। इसी तरह पुरुषोंको तो बुढ़ापे तक चाहे जितने विवाह करनेकी छुट्टी दी जाय और जिनके दूधके भी दाँत नहीं टूटे हैं उन अबोध विधवाओंको जीवनभर ब्रह्मचारिणी रहनेके फरमान जारी रहें! देशमें जो नये विचारोंकी लहरें उठ रही हैं, वे इन असमान व्यवस्थाओंको बहुत समय तक नहीं टिकने देंगी। रूसकी प्रचण्ड जारशाहीके समान ये भी लोकमतकी अनवरत टक्करोंसे चूर चूर हो जायँगी। इसलिए पंचायतियोंको बहुत सोच समझकर अपना आगामी कार्यक्रम बनाना चाहिए। रस्सीको उतना ही खींचना चाहिए जितनेसे वह टूट न जाय। यदि वह असावधानीसे कहीं टूट गई तो फिर उसका जुड़ना मुश्किल हो जायगा।

× × × ×

इस लेखके लिखे जा चुकनेपर मालूम हुआ कि खंडेलवाल पंचायतने पं० अर्जुनलालजी सेठीको जैनविधिसे विवाह करानेके अपराधमें बहिष्कृ

बन्द किया, विवाहमें शामिल होनेवालोंमेंसे जिन्होंने यह कह दिया कि हम सहज तमाशा देखनेके लिए गये थे, हमारी कोई सहानुभूति नहीं थी, वे माफ़ कर दिये गये और जिन लोगोंने ऐसा नहीं कहा अपनी सहानुभूति बतलाई, उनके साथ अपना भोजन व्यवहार तोड़ दिया। ऐसे लोग खंडेलवाल बिरादरीके नहीं किन्तु दूसरी दिगम्बर जैन जातियोंके थे।

× + + ×

खण्डेलवाल भाइयोंकी यह पंचायत दर्शनीय थी। चीखना-चिल्लाना, उछलना-अड़कना, बेसिलसिले बेजरूरत चाहे जिसका बोलना, न सुनना न सुनने देना, एक दूसरे पर टूट पड़ना और यहाँ तक बेकाबू हो जाना कि अश्लील शब्दों तक का बकने लगना, आदि सभी बातें अपूर्व थीं। सभी नेता और सभी समझदार बन रहे थे। धन्य है पण्डित धन्नालालजीके साहसको, जो ऐसे लोगोंके भरोसेकी नींव पर खण्डेलवाल महासभाका महल चिननेका प्रयत्न कर रहे हैं।

आगामी वर्षके लिए सूचनायें।

१—इस अंकके साथ जैनहितैषीका वर्ष समाप्त होता है। आगामी अंकसे नया वर्ष शुरू होगा। एक दो बीचमें लगभग १॥ वर्ष बन्द रहनेके कारण ग्राहकोंकी संख्या पहलेसे कम हो गई और दूसरे वर्षके [illegible] भी कागजके और छपाई आदिके भाव थे, [illegible] दो अंकोंके बाद [illegible] डेढ़ गुनेसे अधिक भाव हो गये और फिर मूल्य बढ़ाया नहीं जा सका, इस कारण हमें इस वर्ष आशासे अधिक घाटा रहा। यद्यपि अभी पूरा हिसाब तैयार नहीं हुआ है; परन्तु अनुमानसे वह ६००-७०० रुपयेसे कम न होगा। ऐसी दशामें [illegible] के लिए हमें इसका मूल्य बढ़ाकर ३) तीन रुपया करना पड़ा है। आशा है कि हमारी आर्थिक परिस्थितियोंको देखते हुए यह बढ़ाया हुआ मूल्य ग्राहकगण स्वीकार कर लेंगे।

२—डाकखानेके नये नियमके अनुसार अब बिना रजिस्टरीके वी० पी० नहीं हो सकता और इस कारण यदि हम वी० पी० करेंगे तो ग्राहकोंको ३≈) देने पड़ेंगे। अतः ग्राहकोंको, वे व्यर्थके दो आने बचानेके लिए आगामी वर्षका मूल्य ३) तीन रुपया मनीआर्डरसे भेज देना चाहिए। जो महाशय म० आ० से भेजेंगे वे हम पर भी एक उपकार करेंगे, अर्थात् हमें वी० पी० करनेकी झंझटोंसे मुक्त कर देंगे। आशा है कि ग्राहकगण इस अंकको पाते ही आगामी वर्षका पेशगी मूल्य म० आ० से भेज देनेकी कृपा करेंगे।

३—जो महाशय म० आ० से न भेजना चाहें वे एक कार्ड द्वारा सूचना दे देवें, जिससे हम उन्हें पहला अंक वी० पी० से भेजनेकी व्यवस्था कर सकें। जिन महाशयोंकी कोई सूचना न आवेगी, उनके पास दूसरा अंक न भेजा जायगा।

४—जो सज्जन आगामी वर्ष ग्राहक न रहना चाहें, उन्हें भी एक एक कार्ड द्वारा सूचना कर देनेकी कृपा करनी चाहिए।

५—जैनहितैषी कमाईके लिए नहीं निकाला जाता। ऊँचे और निष्पक्ष विचारोंके प्रचारके लिए ही इसमें समय और श्रमका व्यय किया जाता है। अतः जिन पाठकोंको हितैषीके इस मिशनसे सहानुभूति है, उन्हें इसे अपनी ही चीज समझकर इसके ग्राहक बढ़ानेका प्रयत्न करना चाहिए। पर यह खयाल रहे कि केवल संख्या बढ़ानेके लिए ही ग्राहक न बढ़ाये जावें, पात्र अपात्रका ध्यान अवश्य रक्खा जाय। इसके लिए किसीपर अनुचित दबाव भी न डाला जाय। [illegible] इतनेसे घाटा कुछ कम हो सकता है, [illegible] तैयार नहीं हो सकते, [illegible] लिए [illegible] —प्रकाशक।

हिन्दीके नये और अपूर्व ग्रन्थ।

जीवन-निर्वाह।

लेखक, श्रीयुत बाबू सूरजभानुजी वकील। बड़ी खोज और चिरकालके अनुभवसे लिखा हुआ अपूर्व ग्रन्थ। प्रत्येक धर्मात्मा, प्रत्येक विचारक, प्रत्येक सुधारक और प्रत्येक सुख-शान्तिके चाहनेवालेके पढ़नेकी चीज। घरघरमें इसका पाठ होना चाहिए। तमाम बच्चों और स्त्रियोंको इसका स्वाध्याय करा देना चाहिए। भाषा ऐसी सरल है और समझानेका ढंग ऐसा अच्छा है कि साधारण पढ़े लिखे लोग भी इसे समझ सकेंगे। जैनी और अजैनी सभी इससे लाभ उठा सकते है। इसके पढ़नेसे लोग असली धर्मका, सच्चे सदाचारका और सच्ची देशोन्नतिका स्वरूप समझ सकेंगे। देवमूढ़ता, लोकमूढता और गुरुमूढ़ताका स्वरूप दर्पणके समान स्पष्ट हो जायगा। धार्मिक और साम्प्रदायिक झगड़ोंसे, अन्धश्रद्धासे, झूठे तंत्र-मंत्रों और भूतप्रेतोंके विश्वासोसे तबीयत हट जायगी। सच्चे धर्म, सच्ची दानशीलता, सच्चे सदाचार, और सच्चे ज्ञानसे हार्दिक प्रीति उत्पन्न हो जायगी। जो धर्म लड़ाई झगडोंकी, पापोंकी और देशको डुबानेकी जड बन रहे हैं, उनका असली स्वरूप खूब अच्छी तरह समझमें आ जायगा। एक धर्मात्मा सज्जनने इसकी ५०० प्रतियाँ खरीदकर अपने भानजेके विवाहोत्सवमें मुफ्त वितरण की हैं। अन्य धर्मात्माओंको भी इसका प्रचार करना चाहिए। बाँटनेके लिए कमसे कम १०० प्रतियाँ एक साथ लेनेसे बहुत किफायतसे दी जायँगी। मूल्य एक प्रतिका एक रुपया। पृष्ठ-संख्या २०० से ऊपर।

महादजी (माधवराव) सिन्धिया।

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजका ४२ वाँ ग्रन्थ। इतिहासका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। यदि आप यह जानना चाहते हों कि मुगलसाम्राज्यका अन्त कैसे हुआ और उनके हाथसे मराठोंके हाथमें राज्यसत्ता आकर अन्तमें अँगरेजोंके हाथमें कैसे चली गई तो यह ग्रन्थ अवश्य पढ़िए। सिन्धियाकी गणना देशके महान् पुरुषोंमें है। यदि महादजी सिन्धिया थोड़े ही दिन और जीते, अथवा उनका उत्तराधिकारी उन ही जैसा योग्य पुरुष होता तो आज हिंदुस्तानके इतिहासका रूप कुछ और ही होता। इस मराठासाम्राज्यके स्तंभस्वरूप वीरपुरुषका आलोचनात्मक चरित्र हिन्दीमें सबसे पहला यही है। मूल्य १)

पुष्प-लता।

हिन्दीमें एक नये लेखककी लिखी हुई अपूर्व गल्पें। प्रत्येक गल्प मनोरंजक, शिक्षाप्रद और भाव-पूर्ण है। सभी गल्पें स्वतंत्र हैं और हिन्दीसाहित्यके लिए गौरवकी चीजें हैं। जो लोग अनुवादग्रन्थोंसे अरुचि रखते हैं उन्हें यह मौलिक गल्पग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिए। ७-८ चित्रोंसे पुस्तक और भी सुन्दर हो गई है। हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजका यह ४१ वाँ ग्रन्थ है। मूल्य १) सजिल्दका १॥)

आनन्दकी पगडंडियाँ।

जेम्स एलेन अँगरेजीके बड़े ही प्रसिद्ध आध्यात्मिक लेखक हैं। उनके ग्रन्थ बड़े ही मार्मिक और शान्ति-प्रद गिने जाते हैं। अँगरेजीमें उनका बड़ा मान है। यह ग्रन्थ उन्हींके 'Byways of Blessedness' नामक ग्रन्थका अनुवाद है। प्रत्येक विवेकी और विचारशील पुरुषको यह ग्रन्थ पढना चाहिए। मूल्य १ु सजिल्दका १।ु

सुखदास।

जार्ज इलियटके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'साइलस माइनर' का हिन्दी रूपान्तर। इस पुस्तकको हिन्दीके लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासलेखक श्रीयुत प्रेमचन्दजीने लिखा है। बढ़िया एण्टिक पेपर पर बड़ी ही सुन्दरतासे छपाया गया है। उपन्यास बहुत ही अच्छा और भावपूर्ण है। मूल्य ॥=)

नकली और असली धर्मात्मा।

श्रीयुत बाबू सूरजभानुजी वकीलका लिखा हुआ सर्वसाधारणोपयोगी सरल उपन्यास। ढोंगियोंकी बड़ी पोल खोली गई है।

मूल्य ॥)

नया सूचीपत्र।

उत्तमोत्तम हिन्दी पुस्तकोंका ९२ पृष्ठोंका [illegible] सूचीपत्र छपकर तैयार है। पुस्तक-प्रेमियोंको [illegible] एक एक कापी मँगाकर रखना चाहिए।

मैनेजर, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर [illegible]
हीराबाग, पो० गिरगाँव, [illegible]

Printed by Chintaman Sakharam Deole, at the Bombay Vaibhav Press, Servants of India Society's Building, Sandhurst Road, Girgaon, Bombay.

Published by Nathuram Premi, Proprietor, Jain-Granth-Ratnakar Karyalaya, Hirabag, Bombay.